संस्कृत-व्याकरण का उद्भव और विकास

सत्यकाम वर्मा

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास

सत्यकाम वर्मा
एम्० ए०, पी-एच्० डी०
रीडर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

मो ती ला ल ब ना र सी दा स
प्रधान कार्यालय : बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७
शाखाएँ : (१) चौक, वाराणसी-१ (उ० प्र०)
(२) अशोक राजपथ, पटना-४ (बिहार)

प्रथम संस्करण : १९७१

मूल्य : ३०.००

सुन्दरलाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७
द्वारा प्रकाशित तथा शान्तिलाल जैन, जैनेन्द्र प्रेस, बंगलो रोड,
जवाहर नगर, दिल्ली-७ द्वारा मुद्रित ।

दो शब्द

पीठिका

एक समय था जब 'संस्कृत व्याकरण' का अभिप्राय सामान्य जन के लिए 'पाणिनीय व्याकरण' ही होता था। भारतीय पठन-पाठन में पाणिनीय 'अष्टाध्यायी' का इतना प्रभुत्व छाया हुआ था कि संस्कृत व्याकरण का अध्येता उस विशाल व्याकरण-साहित्य से सर्वथा अपरिचित ही रह जाता था, जिसे पाणिनि से बाद के युग में अन्यान्य वैयाकरणों ने रचा और जो उपलभ्य भी था। महाभाष्य, काशिका और सिद्धान्त-कौमुदी का अत्यधिक प्रचलन भ्रम को सुदृढ़ करने का हेतु बना। जैन परम्परा में हेमचन्द्र सूरि के 'सिद्धहैमशब्दानुशासन' को प्रमुखता प्राप्त होने पर भी यह प्रभाव व्यापकतर ही होता गया।

आरम्भ

सर विलियम जोन्स के ध्यानाकर्षण के बाद पश्चिम के विद्वानों ने संस्कृत साहित्य और संस्कृत व्याकरण के अलौकिक और चमत्कारी जगत् में प्रवेश किया। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से संस्कृत भाषा के सम्बन्ध में उनकी धारणा में कितना ही परिवर्त्तन आया हो, संस्कृत के साहित्य और व्याकरण की उत्कृष्टता ने उन्हें चमत्कृत ही किया। समय आया जब संस्कृत से भी बढ़कर पाणिनि और उसकी 'अष्टाध्यायी' ने पश्चिम के विद्वानों का ध्यान अपनी ओर खींचा। शीघ्र ही पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' का प्रगाढ़ अनुशीलन अनेक दृष्टियों से होना आरम्भ हुआ। और तब उसे एकमत से विश्व का अद्यतन सर्वाधिक प्रौढ़ व्याकरण-ग्रन्थ स्वीकार किया गया और पाणिनि को प्रमुखतम भाषावैज्ञानिक घोषित किया गया।

गोल्डस्टुकर, कीलहॉर्न, वेबर, मैकडॉनल आदि अनेकानेक विद्वानों ने पर्याप्त आरम्भ में ही पाणिनि का गहन अध्ययन किया। इनके अनुशीलन के परिणामस्वरूप अनेकानेक संस्कृत वैयाकरणों एवं उनकी उपलब्धियों के विषय में परिचय मिला। निश्चय ही गोल्डस्टुकर का 'पाणिनि' इस विषय में अप्रतिम इतिहास-ग्रन्थ कहा जा सकता है; यद्यपि वह 'मानवधर्म-सूत्र' की

प्रस्तावना के एक अंश के रूप में ही लिखा गया था। इसके बाद तो जैसे पाणिनि-सम्बन्धी अध्ययन की बाढ़ ही आगई हो।

एक मात्र स्रोत

पर यह सब अध्ययन इतना अधिक पाणिनि-केन्द्रित था कि पाणिनि-पूर्व और पाणिनि के बाद की व्याकरण रचना की ओर यदि कुछ ध्यान गया भी, तो वह अष्टाध्यायी, महाभाष्य, काशिका, सिद्धान्तकौमुदी आदि के माध्यम से ही। लगता था कि जैसे पाणिनि के अतिरिक्त और कोई स्रोत विद्यमान ही नहीं था, जिससे पाणिनि-भिन्न व्याकरणात्मक रचनाओं और उपलब्धियों के विषय में कुछ प्रमाण मिल सकें।

विस्तार

पर शीघ्र ही संस्कृत साहित्य एवं संस्कृत व्याकरण के सम्बन्ध में ऐतिहासिक अनुसन्धान की रुचि जागृत हो गई। धीरे-धीरे कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, सारस्वत, सरस्वतीकण्ठाभरण, सिद्धहेमशब्दानुशासन, आदि पाणिनि-भिन्न व्याकरण ग्रन्थ प्रकाश में आने लगे। इनके और इनकी वृत्तियों के प्रकाशन के साथ, स्वयं पाणिनीय परम्परा के भाष्यों-अनुभाष्यों का अनुशीलन इस दृष्टि से होने लगा, जिससे पाणिनिपूर्व और पाणिनि से बाद के सामान्यतः अज्ञात वैयाकरणों के मतों का परिज्ञान हो सके। पाणिनि पूर्व के काशकृत्स्न का 'धातुपाठ' और कन्नड़ कवि चन्नवीरकृत उसकी व्याख्या 'धातुव्याख्यान' भी प्रकाश में आई।

व्यापकता

उधर प्रातिशाख्यों, शिक्षाग्रन्थों एवं ऋक्तन्त्रादि के प्रकाश में आने के बाद यह स्पष्ट होने लगा कि 'संस्कृत व्याकरण' का अर्थ केवल 'पाणिनीय व्याकरण' से ही नहीं लिया जा सकता। इन सबकी उपलब्धियों के तुलनात्मक अध्ययन के बाद यह स्पष्ट हुआ कि पाणिनि से पूर्व व्याकरण की एक दीर्घ परम्परा निश्चय ही विद्यमान थी। यास्क के 'निरुक्त' के सूक्ष्म अध्ययन से यह और भी पुष्ट हुआ कि महाभाष्य में जिन 'नैरुक्त' और 'वैयाकरण' परम्पराओं की चर्चा है, वे पाणिनि से बहुत पूर्व ही स्थापित और सुदृढ़ हो चुकी थीं। धीरे-धीरे पाणिनि द्वारा उद्धृत पूर्वाचार्यों के प्रमाण तो अन्यत्र मिलने ही लगे, उनके द्वारा अनुल्लिखित पूर्वाचार्यों की भी सूची लम्बी होती गई।

परम्परा-संकेत

और इस कार्य में पाणिनि के उत्तरवर्ती व्याकरण-निकाय ने भी पर्याप्त सहायता पहुँचाई। भर्तृहरि-कृत महाभाष्य की 'त्रिपदी टीका' का अध्ययन तो अभी आरम्भ भी नहीं हुआ, किन्तु काशिकाकार, जिनेन्द्रबुद्धि, हरदत्त, कैयट, नागेश, आदि पाणिनीय वैयाकरणों ने ही अन्यान्य वैयाकरणों के उल्लेखों का अम्बार लगा रखा है। 'गणरत्नमहोदधि' के कर्त्ता वर्धमान सूरि, अमरसिंह, 'निरुक्त' की दुर्गवृत्ति के रचयिता दुर्गसिंह, शबरस्वामी, 'माधवीया धातुवृत्ति' के लेखक सायण, भरतमिश्र, आदि ने भी पूर्वाचार्यों के संबन्ध में यथेष्ट संकेत दिए हैं।

उधर पाणिनीयेतर व्याकरणों और उनकी टीकाओं में भी इस प्रकार के अनेक उल्लेख विकीर्ण मिले हैं। कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, सरस्वती-कण्ठाभरण, सारस्वत और हैम व्याकरण का महत्त्व इतने में ही नहीं है कि उन्होंने पाणिनि से भिन्न पथ का निर्माण किया; बल्कि उनका वास्तविक महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने पाणिनिपूर्व की अनेक ऐसी परम्पराओं से लाभ उठाया, जिन्हें स्वयं पाणिनि ने नहीं अपनाया था। उनमें प्रयुक्त संज्ञाओं की भिन्नता भी ऐसी परम्परा-भिन्नता की स्वीकृति की ही प्रतीक है।

माहेश्वर सूत्र

सबसे बड़ी बात स्पष्ट हुई माहेश्वर सूत्रों के विषय में। भारतीय परम्परा में इन्हें 'शिव' या 'महेश्वर' द्वारा पाणिनि को प्रदत्त सूत्र माना जाता है। दूसरे शब्दों में, पाणिनि को इनका प्रथम कर्त्ता माना जाता है। किन्तु प्रातिशाख्य, काशकृत्स्न, आपिशल और चान्द्र परम्पराओं की उपलब्ध सामग्री के अनुशीलन के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि पाणिनि से पहले ही कम से कम दो परम्पराएँ 'वर्णसमाम्नाय' के लिए रूढ़ हो चुकी थीं। इनमें से प्रथम का सम्बन्ध प्रातिशाख्य और शिक्षा से था। इसमें अकारादिक्रम से स्वर-व्यंजनादि का पाठ किया जाता था। व्यंजनों का क्रम भी कण्ठ्यतालव्यादि वर्गों के क्रम से ही रखा जाता था। स्वरों का विभेद ह्रस्व, दीर्घ, सन्ध्यक्षर आदि के ढंग से किया जाता था। विसर्गजिह्वामूलीयादि का भी परिगणन किया जाता था। परन्तु ऐसा किसी प्रत्याहारनिर्माणादि की दृष्टि से नहीं किया जाता था।

दूसरी परम्परा, ऐसा प्रतीत होता है, तथाकथित माहेश्वर सूत्रों जैसी

रही होगी। उसका लक्ष्य वर्णोच्चारण न होकर वर्णों का वैज्ञानिक वर्गीकरण रहा होगा। 'चान्द्र' में 'अच्' प्रत्याहार के स्थान पर पूर्वतर परम्परा में 'अष्' का उल्लेख, एवं अन्यान्य आचार्यों द्वारा इस प्रकार के संकेत, इस बात के प्रमाण हैं कि पाणिनि से पूर्व भी ऐसी परम्परा रही होगी। काशकृत्स्न के उपलब्ध सूत्रों से भी ऐसा ही झलकता है। 'अष्' प्रत्याहार के सम्बन्ध में अन्यत्र से भी संकेत मिले हैं।

दो धाराएं

स्वयं पाणिनीय वैयाकरणों में भी इस विषय पर विवाद रहा है कि प्रत्याहार सूत्रों को 'माहेश्वर' क्यों कहा गया; यद्यपि स्वतः यह नाम पर्याप्त परवर्त्ती है। हमें तो ऐसा लगा, जैसे पाणिनि-पूर्व की पूर्वोक्त दोनों परम्पराएँ व्याकरण की दो धाराओं—'ऐन्द्र' और 'माहेश्वर'—की प्रतिनिधि रही होंगी। 'ऐन्द्र' परम्परा का बाद में विकास भारतीय व्याकरण की प्राच्य शाखा में हुआ, जबकि 'माहेश्वर' का विकास औदीच्य शाखा के रूप में हुआ, जिसके प्रमुखतम प्रवक्ता पाणिनि हुए। प्रत्याहार-पद्धति इसी औदीच्य शाखा की विशेषता है, प्राच्य की नहीं। प्राच्य शाखा में सन्धिसूत्रादि तक में पूरे-पूरे वर्णों का परिगणन किया गया है। 'कातन्त्र' आदि परवर्त्ती प्राच्यशाखा-ग्रन्थों की यह प्रवृत्ति प्रातिशाख्यादि ऐन्द्र परम्परा के ग्रन्थों से ही प्राप्त हुई थी। माहेश्वर-परम्परा इससे भिन्न है। पाणिनि उसके सबसे बड़े प्रवक्ता ही नहीं हुए, बल्कि उन्होंने उस परम्परा की समस्त धरोहर का पूरी तरह उपयोग करके उसे पूर्णता तक भी पहुंचाया। इसीलिए उन्हें 'माहेश्वर शाखा' का प्रधानतम उद्घोषक या 'जनक' भी, कह दिया जाता है।

आवश्यकता

ये बातें स्पष्ट होते ही यह अनिवार्य हो जाता है कि न केवल पाणिनि और उसके व्याकरण पर ही पुनर्विचार की आवश्यकता है, बल्कि सम्पूर्ण वैदिक और संस्कृत व्याकरण के इतिहास के क्रमबद्ध ऐतिहासिक अध्ययन एवं अनुसन्धान की भी परम आवश्यकता है।

इस दिशा में प्रयत्न

ऊपर गोल्डस्टुकर, वेबर, कीलहॉर्न, मैकडॉनल, आदि की चर्चा हुई है। उन सबके प्रयास आलोचनात्मक थे, ऐतिहासिक नहीं। इस पर भी,

यह श्रेय उन्हीं का है कि संस्कृत-व्याकरण के आरम्भिक इतिहास-लेखन के लिए उन्होंने प्रभूत सामग्री जुटा दी थी। दूसरी ओर, कीथ, मैकडॉनल, विंटरनित्स, वेबर आदि ने प्राचीन भारतीय साहित्य या वैदिक-संस्कृत-साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन करते हुए अप्रत्यक्षतः संस्कृत-व्याकरण के आरम्भिक और स्थूलतम इतिहास का आधार भी प्रस्तुत कर दिया।

किन्तु विवेचना और गवेषणा की बढ़ती दौड़ में यह श्रेय सर्वश्री बेल्वेल्कर, पी० सी० चक्रवर्त्ती, गुरुपद हलधर, उमाशंकर दीक्षित आदि को ही दिया जाना चाहिए कि उन्होंने सर्वप्रथम संस्कृत व्याकरण के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दिशा-निर्देश किया। इस पर भी इनमें से किसी ने भी अनुसन्धानात्मक दृष्टि से सप्रमाण 'इतिहास' का सृजन न किया।

मीमांसक जी

यहाँ आते हैं युधिष्ठिर मीमांसक और उनका अमर ग्रन्थ 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास'। संस्कृत व्याकरण का क्रमिक इतिहास अनुसन्धानात्मक दृष्टि से प्रस्तुत करने का प्रथम बार प्रयास किया गया। निस्संदेह इसकी भूमिका उक्त चारों लेखकों ने और आचार्य काशिनाथ वासुदेव अभयंकर की 'डिक्शनरी ऑफ् संस्कृत ग्रामर' ने तैयार कर दी थी। इस पर भी श्री मीमांसक जी ने अपार ग्रन्थराशि का मौलिक परिशीलन करके प्रमाणों के अम्बार के साथ अपने वक्तव्य को प्रस्तुत किया। निस्संदेह तिथि-विनिश्चय के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण सर्वग्राह्य नहीं है। किन्तु इतने से ही उनके प्रयास को महत्त्व-हीन भी नहीं कहा जा सकता।

उनके प्रयास की एक अन्य विशेषता यह है कि उसमें कृतिकार और उसकी रचनाओं की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता पर अत्यधिक कहा गया है। दूसरी ओर इसमें यह कमी भी कही जा सकती है कि इसमें व्याकरण की परम्परा के क्रमिक विकास का परिचय नहीं मिलता। ऐसा करने के लिए जिस तुलनात्मक उपागम की आवश्यकता थी, उसका निदर्शन इस ग्रन्थ के दोनों खण्डों में केवल कहीं-कहीं ही मिलता है। तुलनात्मक दृष्टि के इस अभाव के परिणाम भी कुछ स्थलों पर भ्रान्त निर्णयों के रूप में प्रत्यक्ष हुए हैं।

पर इस पर भी इस ग्रन्थ का अपना गौरव है ही।

आवश्यकता

अतः आवश्यकता थी एक ऐसे प्रयास की, जिसमें अब तक उपलब्ध सभी

सामग्री और परिणामों का भी उपयोग किया जाए, एवं तुलनात्मक रूप में हर कृति और हर प्रगति का मूल्यांकन भी किया जाए। इस कार्य के लिए विशाल अध्यवसाय, समय और विस्तार की आवश्यकता थी।

मेरे शोध-प्रबन्ध 'भाषातत्त्व और वाक्यपदीय' का प्रकाशन सन् १९६३ में हुआ था। उसके बाद से मैं वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड की त्रिभाषी टीका एवं शोध-ग्रन्थ 'व्याकरण की दार्शनिक भूमिका' की तैयारी में व्यस्त रहा। 'व्याकरण की दार्शनिक भूमिका' के प्रकाशन के समय से ही मन में उठ रहा था कि सम्पूर्ण संस्कृत व्याकरण का क्रमिक अध्ययन करके उस पर कुछ लिखूं। पर विषय की व्यापकता को देखते हुए हिम्मत न होती थी।

किन्तु लगता है कि भाग्य को कुछ और ही मंजूर था। इससे पहले कि मैं उतना विस्तृत ग्रन्थ लिखने में प्रवृत्त होता, मेरे विद्यार्थियों की विवशता ने मुझे एक संक्षिप्ततम ग्रन्थ लिखने पर मजबूर कर दिया। विस्तृत अध्ययन को ग्रन्थ का रूप पाने के लिए अभी कुछ और प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

प्रेरणा

आज से लगभग चार वर्ष पूर्व 'संस्कृत व्याकरण का इतिहास' दिल्ली विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर परीक्षा का विषय बना। उस समय तक पं० युधिष्ठिर मीमांसक का पूर्वोक्त 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ था, जिसके द्वारा विद्यार्थी इस दिशा में कुछ लाभान्वित हो सकते थे। पर वह भी मुद्रित रूप में पूर्णतः उपलब्ध न था। सहायक पुस्तकों के रूप में एकाध संस्करण कदाचित् निकले भी। पर उनका लाभ अनुसन्धित्सुओं के लिए कुछ न था।

कदाचित् इसी पृष्ठभूमि पर मित्रवर डा० सत्यव्रत शास्त्री (सम्प्रति अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) ने एक दिन वार्त्ता-प्रसंग में संस्कृत व्याकरण का इतिहास लिखने के लिए मुझे प्रेरित किया। मेरे अशक्ति जताने पर वह हँसने लगे। वर्त्तमान प्रकाशकों के भी आग्रह करने पर मैंने सोचा कि मीमांसक जी का महान् ग्रन्थ सामने रहते यह कार्य कठिन न होगा। परिणामतः मैंने वचन दे दिया कि कुछ ही मास में कार्य पूरा कर दूंगा।

सामग्री-चयन : कठिनाई

पर प्रवेश से पूर्व ही पता चल गया कि काम इतना सरल न था। मीमांसक जी के ग्रन्थ के ही दोनों खण्ड सरलता से उपलब्भ न थे। फिर

उनके ग्रन्थ के प्रथम खण्ड का द्वितीय संस्करण छपकर समाप्त भी हो रहा था, पर मुझे उसका प्रथम संस्करण भी अत्यधिक कठिनता से मिला। द्वितीय खण्ड के तो दर्शन के लिए भी अत्यधिक तपस्या करनी पड़ी। श्री बेल्वेल्कर की 'द सिस्टम्स ऑफ़ संस्कृत ग्रामर' को अधिगत करना इससे भी कठिन रहा। इसी बीच गोल्डस्टुकर की 'पाणिनि' हाथ लग गई। पहले दोनों ग्रन्थों ने केवल दिशा-निर्देश किया था, किन्तु 'पाणिनि' ने मुझे सावधान कर दिया। मुझे लगा कि जिस क्षेत्र को मैंने चुना है, उसके लिए महान् अध्ययन और अध्यवसाय की आवश्यकता होगी। हार मानना सीखा नहीं! परिणामतः जुट पड़ा।

इस प्रयत्न में लगभग ३०० से अधिक ग्रन्थों का पारायण करना पड़ा। इसमें से कितने ही दुष्प्राप्य थे। एक-एक ग्रन्थ के लिए कितने ही पुस्तकालयों और विद्वानों के चक्कर काटने पड़े। जैनशाकटायन पाल्यकीर्त्ति और उनके व्याकरण को तो इसमें स्थान भी न मिल पाता, यदि कहीं इसी बीच मीमांसक जी स्थायी रूप से सोनीपत न आ बसते, और मेरी नम्र प्रार्थना को स्वीकार कर अपनी प्रति मुझे न देदेते। अधिकांशतः मेरी आवश्यकताएं 'भारतीय विद्या संस्थान, दरियागंज' और दिल्ली विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से पूरी होगईं। स्वयं प्रकाशक महोदय ने भी समय-समय पर सहायता दी।

लगभग छह मास में कार्य पूरा हुआ। आशा थी कि गत वर्ष ही यह मुद्रित रूप में पाठकों के हाथों में पहुँच जाएगा, किन्तु विधाता को यह स्वीकृत न था। पूरे डेढ़ वर्ष बाद यह मुद्रण-प्रक्रिया से मुक्ति पाने में समर्थ हुआ है।

स्वरूप और अन्तर

आरम्भ में सोचा था कि यह छात्रोपयोगी रूप में ही रहेगा। अनुमान था पृष्ठ संख्या ३०० से ऊपर नहीं जाएगी। पर दोनों ही बातें असत्य सिद्ध हुईं। अत्यन्त ध्यान रखने पर भी इसका आकार पर्याप्त विस्तृत होगया। अत्यन्त संक्षेप करने पर भी इसमें इतनी नई सामग्री आगई कि इसे महज 'छात्रोपयोगी' कहना कदाचित् सत्य को तिरोहित करना कहलाएगा। अपने पूर्ण प्रकाशन से पूर्व ही अनुसन्धान की दिशा में इसने अनेक छात्रों को अब तक दिशा-निर्देश दिया है और उनका मार्गनिदर्शन भी किया है।

निस्सन्देह आरम्भ में मेरा आदर्श मीमांसक जी का ग्रन्थ ही रहा। किन्तु

कार्यारम्भ करते ही मेरे लक्ष्य का अन्तर स्पष्ट होने लगा। मुझे वैयाकरणों के तिथि-निर्णय, वंश-परिचय एवं ग्रन्थ-निर्णय, आदि तक ही सीमित नहीं रहना था। 'व्याकरण का इतिहास' लिखने के लिए व्याकरणगत उपलब्धियों का तुलनात्मक लेखा-जोखा प्रस्तुत करने की अपनी चिर-संचित अभिलाषा को रूपान्वित करना अनिवार्य लगने लगा। 'इतिहास' की ऐतिहासिकता से मीमांसक जी इतने अभिभूत रहे थे कि उनका ध्यान व्याकरण के क्रम-विकास आदि पर अधिक नहीं गया।

यही अन्तर है हम दोनों के प्रयासों का। मेरे सामने उन्होंने प्रमाणों का अम्बार प्रस्तुत कर दिया है। मैंने भी उनका भरपूर उपयोग किया है; अधिकांशतः नामोल्लेख के साथ, तो अनेकत्र विना नाम लिए भी। यहां तक कि ग्रन्थ का बाह्य स्वरूप भी लगभग वैसा ही रहा है। किन्तु विचार-सामग्री में बहुत कुछ नवीनता भी है और अन्तर भी।

यह नवीनता और अन्तर भले के लिए है या बुरे के लिए, इसका निर्णय तो पाठकगण ही करेंगे।

सामान्य योजना

सामान्यतः मैंने संस्कृत व्याकरण के विकास को तीन कालों में बांटा है: पाणिनिपूर्व युग, पाणिनि युग, एवं उत्तरपाणिनि युग। प्रथम युग की अधिकांश सामग्री प्रायः स्वाध्याय का ही परिणाम है। द्वितीय युग में मैंने पाणिनि के साथ ही कात्यायन और पतंजलि का भी समावेश किया है। तृतीययुग के दो भाग हैं: पाणिनीय और पाणिनीयेतर! पाणिनीय में भाष्यकार, वृत्तिकार, प्रक्रियाकार एवं चान्द्रादि वैयाकरण गृहीत होते हैं। पाणिनीयेतर में कातन्त्र, सारस्वतादि का ग्रहण होता है। परन्तु विभाजन की सुविधा के लिए हमने कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, आदि सभी को 'पाणिनीयेतर' में इसलिए ग्रहण किया है, क्योंकि वे पाणिनि से पृथक् चलकर नव सृजन कर रहे थे, फिर चाहे उनका आधार पाणिनि पर रहा हो, या न भी रहा हो। हां, पाणिनीय वृत्तिकार, भाष्यकार, प्रक्रियाकार, आदि के प्रकरण उनसे पहले ही समाप्त कर दिये हैं; 'पाणिनियुग' के ही शीर्षक के अन्तर्गत!

पंचांग व्याकरण

मीमांसक जी ने अपने ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में 'शब्दानुशासन' के अतिरिक्त व्याकरण-सम्बद्ध धातुपाठ, गणपाठ, उणादि, आदि पाठों के क्रमिक विकास की

भी अध्ययन का विषय बनाया है। इनकी उपेक्षा की जानी असम्भव थी। अतः एक अध्याय इन पाठों के प्रति भी अर्पित कर दिया गया है। निस्सन्देह इस अध्याय की अधिकांश सामग्री मीमांसक जी से ही ऋण में मिली है। कुत्रचित् नवीनता और मतभेद भी है। उणादि का प्रकरण इस बात का साक्षी है।

अन्तिम प्रकरण

अन्तिम अध्याय 'व्याकरण के दार्शनिक व्याख्याता' नाम से है। इच्छा तो इस पर खुल कर लिखने की थी। पर ग्रन्थ का आकार पहले ही डेढ़ गुणा हो चुका था। अतः अत्यधिक संक्षेप और संयम से काम लेकर बाह्य-परिचय मात्र देकर संतोष किया। हाँ, परिशिष्ट के रूप में 'प्रत्याहार-सूत्रों' की विवेचना बाद में दिए गए एक सुझाव का परिणाम है। कदाचित् उसकी विद्यमानता से विद्यार्थियों को कुछ लाभ हो सके।

आभार

अन्त में डा०सत्यव्रत शास्त्री, पं० युधिष्ठिर मीमांसक, पं० चारुदेव शास्त्री, डा० बाबूराम सक्सेना, प्रो० के० ए० एस्० ऐयर, डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, डा० निरूपण विद्यालंकार, आदि उन सभी विद्वज्जनों के प्रति आभार-स्वीकृति एक पुनीत कर्त्तव्य हो जाता है, जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रणयन में प्रेरणा, उत्साह, सुझाव एवं सहायता देकर मुझे लाभान्वित किया है।

प्रकाशकों को धन्यवाद ही कह सकता हूँ, क्योंकि यदि उनकी कृपा न होती तो यह ग्रन्थ न तो लिखा ही जाता और न प्रकाश में आता !

दैवदुर्विपाक से गत सारा ही वर्ष शारीरिक और सांसारिक आपदाओं से घिरा रहा। इसी वर्ष आँखों ने भी साथ देना कुछ कम कर दिया। अतः पूर्ण सावधानी के बाद भी मुद्रणादिजन्य त्रुटियां रह ही गई होंगी। उनके लिए क्षमा ही मांग सकता हूँ।

इस ग्रन्थ की उपयोगिता का निर्णय सुधी पाठकों के ही हाथ है।

विनयावनत—
सत्यकाम वर्मा

स्नातकोत्तर सांध्य संस्थान,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दीपमाला, १९७१ ई०

संकेत-सूची

वेद
अथर्ववेद=अथर्व०
ऋग्वेद संहिता=ऋ०
यजुर्वेद वाजसनेय संहिता=यजु० वाज०, वा० सं०
—,तैत्तिरीय संहिता=यजु०,तै० सं०

ब्राह्मण और प्रातिशाख्य
अथर्व (शौनकीय) चतुरध्यायी= अथ० चतु०
ऋक्तन्त्र=ऋक्त०, ऋक्तन्त्र
ऋग्वेद प्रातिशाख्य=ऋ० प्रा०
गोपथ ब्राह्मण=गो० ब्रा०, गोपथ,
तैत्तिरीय (यजुः),,=तै० प्रा०
मैत्रायणीय प्रातिशाख्य=मै० प्रा०
लघु ऋक्तन्त्र=लघु ऋ०
शतपथ ब्राह्मण=शतपथ, शत०

दर्शन-पुराण
न्याय दर्शन=न्या० सू०
वायु पुराण=वायु पु०
वैशेषिक दर्शन=वै० सू०
सांख्य दर्शन=सांख्य, सां० द०

निरुक्त-शिक्षा
आपिशल शिक्षा=आ० शि०
निरुक्त=नि०
पाणिनीय शिक्षा=पा० शि०
—,लक्ष्मणस्वरूप=नि० ल०
—,दुर्गाचार्यवृत्ति=नि० दु०, दुर्ग०

व्याकरण
उणादि, पंचपादी=उ०
—, दशपादी=दश०, उ० द०
कातन्त्र व्याकरण=का०, कात०
—, कलापचन्द्र=का०, कलाप०
कात्यायनीय वार्त्तिक=म० वा०, म० वार्त्ति०
काशकृत्स्नधातुव्याख्यानम्=काश० धा०
काशकृत्स्नव्याकरणम्=काश० व्या०
चरक, सिद्धिस्थान=च०, च० सि०
चान्द्र वृत्ति=चा० वृ०
चान्द्र व्याकरण=चान्द्र, चा०
जैनेन्द्र व्याकरण=जै०
—, शब्दार्णव (दाक्षिणात्य)=जै०, दा० सं०
पाणिनीय अष्टाध्यायी=पा०, पा० सू०, पा० अ,
महाभाष्य=म०, महा०
—, त्रिपदी (भर्तृहरि टीका)=भ० टी०, म० त्रि०
—, भाष्यसूत्र=म०, भा० सू०
—, प्रदीपभाष्य=म० प्र०, प्रदीप
—, प्रदीपोद्योत=म० उ०, उद्योत०

माहेश्वर सूत्र=मा०
वाक्यपदीय=वा०
—, हेलाराजटीका=वा०, हेला०
—, ब्रह्मकाण्ड=वा० ब्रह्म०
शाकटायन (जैन) व्याकरण=शा०
सरस्वतीकण्ठाभरण=भोज०, सर०,
सिद्धहेमशब्दानुशासन=हेम०, है०

भाष्य-वृत्ति-प्रक्रिया

काशिकावृत्ति=का०, काशि०
क्षीरतरंगिणी=क्षीर०
गणरत्नमहोदधि, वर्धमान सूरि=गण० वर्ध०
दुर्घटवृत्ति, शरणदेव=दु०, दुर्घट०
दैवम्, पुरुषकारोपेतम्=दै०, दै० पुरु०
न्यास, जिनेन्द्र बुद्धि=न्यास
पदमंजरी=पद०, पदमं०
परिभाषावृत्ति=परिभाषा वृ०
प्रक्रियाकौमुदी=प्र० कौ०
भागवृत्ति=भाग०
भाषावृत्ति=भा० वृ०, भाषा०,
—, भूमिका=भाषा० भू०
माधवीया धातुवृत्ति=मा० धा०
रूपावतार=रूपा०
(हर्ष) लिंगानुशासनम्=हर्ष, लिंगानु०
वामनीयलिंगानुशासनम्=वामन, लिंगानु०

शब्दकौस्तुभ=श० कौ०
शब्दशक्तिप्रकाशिका=श० श० प्र०
शब्देन्दुशेखर=शब्देन्दु०
सिद्धान्तकौमुदी=सि० कौ०

काव्य

उत्तररामचरित, भवभूति=भव०
कथासरित्सागर, क्षेमेन्द्र=कथा स०
कृष्णचरित, समुद्रगुप्त=कृष्ण०, कृष्णचरित,
नीतिशतक=नीति०
भट्टिकाव्य=भट्टि०
रघुवंश, मल्लिनाथटीका=रघु०, मल्लि०
राजतरंगिणी, कल्हण=राजत०, राज०,
शिशुपालवध, माघ=शिशु०, माघ०,

समालोचनाग्रन्थ

एंशेण्ट इण्डियन फोनेटिक्स, सिद्धेश्वर वर्मा=सि०, फोने०; डा० वर्मा, प्रा० भा० ध्व०
कात्यायन एण्ड पतंजलि, कीलहॉर्न=कील०, का० पतं०
गणपाठ की परम्परा, कपिलदेव शास्त्री=गण०पर०,कपिल;गण०
टेक्नीकल टर्म्स ऑफ़ संस्कृत ग्रामर, डा० क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय=टेक्नि० सं० ग्रा०
डिक्शनरी ऑफ़ ग्रामर=डि० ग्रा०
पाणिनि, गोल्डस्टुकर=गोल्ड० पा०, पाणिनि
प्राचीन भारतीय साहित्य, वेबर=प्रा० भा० सा०, वेबर,
भाषातत्त्व और वाक्यपदीय, सत्यकाम वर्मा=भाषा० वाक्य०,भा० वा०

व्याकरण की दार्शनिक भूमिका, सत्यकाम वर्मा=व्या० द०

संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन, डा० भोलाशंकर व्यास=संस्कृत का भाषा०, व्यास,

संस्कृत भाषा, टी० बरो=बरो

संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, मीमांसक=मी०; मी० इति०; सं० व्या० इति०

—, प्रथम भाग (द्वि० सं०)=मी०, (द्वि० सं०);मी० प्र० भा०(द्वि० सं०)

द्वितीय भाग=मी०, द्वि० भा०; मी० द्वि० ख०

संस्कृत व्याकरणदर्शनेर इतिहास, गुरुपद हलधर=गुरु०; सं० व्या० द० इति०

संस्कृत साहित्य का इतिहास, कीथ= कीथ, इति०; इतिहास,

—, मैकडॉनल=इति० मैक०

सिस्टम्स ऑफ संस्कृत ग्रामर= बेल्वेल्कर

लेखक

के० ए० सुब्रह्मण्य ऐयर=ऐयर

डा० मनमोहन घोष=डा० घोष

पं० युधिष्ठिर मीमांसक=मी०

डा० शवारिया ऐगुलैर=ऐगु०

डा० श्रीशचन्द्र चक्रवर्त्ती=श्रीशचन्द्र चक्र०

डा० सिद्धेश्वर वर्मा=डा० वर्मा

डा० सूर्यकान्त शास्त्री=सूर्य०

विषय-सूची



विषय-प्रवेश

विषय

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ वा० १.१ ॥
आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः ।
प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः ॥ वा० १.११ ॥

भर्तृहरि के ये दो श्लोक व्याकरण के महत्त्व को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। इनका सम्बन्ध संस्कृत या वैदिक भाषा के व्याकरणमात्र से ही नहीं है, वल्कि मनुष्यमात्र की अभिव्यक्ति की माध्यमभूता भाषामात्र के व्याकरणों से है। 'वाक्' और 'व्याकरण' के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए इससे अधिक सुन्दर उक्ति कदाचित् ही कोई अन्य होगी। व्याकरण के प्रति इस प्रकार की धारणा रखने वाली जाति के अनुसन्धित्सु और निधिगोप्ता ऋषियों ने यदि स्वयं विश्व को अभूतपूर्व 'व्याकरण' की देन दी, तब इसमें आश्चर्य ही क्या !

इन ऋषियों द्वारा प्रसूत व्याकरण के जितने भी अंश से हम परिचित हैं, उसे ही हम 'संस्कृत व्याकरण' के नाम से अभिहित कर देते हैं। हमारे प्रस्तुत अध्ययन का विषय भी यही विस्तृत व्याकरण रहेगा।

भारतीय दृष्टि

भारतीय परम्परा में व्याकरण का पठन-पाठन वैदिक और संस्कृत के पठन-पाठन के साथ इतना अभिन्न होकर होता रहा है कि हमने उसके इतिहास और उसकी परम्परा के सम्बन्ध में विचार करना भी लगभग छोड़-सा ही दिया था। हमारी दृष्टि में, चाहे उनमें से कोई पूर्ववर्ती हो या परवर्ती, सभी वैयाकरणों का महत्त्व केवल उनके द्वारा रचित ग्रन्थों और प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर ही रहा। ऐतिहासिक अनुसन्धान की जिज्ञासा इस क्षेत्र में भी उतनी ही कम रही, जितनी कि अन्य क्षेत्रों में। कारण यह कि

भारतीय दृष्टि में सदा ही विषय की प्रधानता स्वीकृत हुई है, न कि उसके कर्त्ता और अन्य तत्सम्बद्ध ज्ञान की। प्राचीन भारत में आने वाले कितने ही विदेशी विद्वानों ने संस्कृत-व्याकरण के ज्ञान से समृद्ध होकर अपने-अपने देश की भाषाओं के व्याकरण एवं तत्सम्बद्ध साहित्य को कितना ही सम्पन्न किया हो, पर भारतीय मनीषा के लिए न तो यह गर्वानुभूति की बात रही और न ही उन्होंने विदेशी भाषाओं की व्याकरण-हीनता या इस विषयक कमी की ओर ही कभी ध्यान दिया। वे सदा इसी देश की प्रतिभा द्वारा प्रसूत ज्ञान की गुण-दोष-विवेचना को अपनी चरम उपलब्धि मानते रहे।

पश्चिम का सम्पर्क

पर, इस आधुनिक युग में भारत से होने वाले पश्चिम के सम्पर्क ने कुछ चमत्कारी प्रभाव दिखाया। यहाँ आने वाले विदेशी आरम्भ में भले ही व्यापार, राजनीति और सैनिक विजय की दृष्टि से आए थे; पर उनमें अनेक ऐसे भी थे, जिनकी स्वाभाविक रुचि अध्ययन की ओर थी। यूरोप के तत्-कालीन पाठ्यक्रम ने उन्हें अपनी जातीय भाषा के अतिरिक्त ग्रीक और लैटिन (लातीनी) के ज्ञान से सम्पन्न कर दिया था। भारत में आकर यहाँ की भाषाओं के सम्पर्क में उनका आना स्वाभाविक ही था। विदेशी धर्म-प्रचारकों ने यहाँ की भाषाओं के अध्ययन को अनिवार्य माना अवश्य, किन्तु उनका ध्यान तत्कालीन प्रचलित भाषाओं की ओर ही आकृष्ट हुआ। उन्होंने उन आधुनिक भारतीय भाषाओं के व्याकरण आरम्भिक प्रयासों के रूप में लातीनी या यूनानी आधार वाले अपनी भाषाओं के व्याकरणों के आधार पर लिखने का प्रयास भी किया। उनके इस प्रयत्न-मात्र से ही स्पष्ट है कि संस्कृत से अनभिज्ञ या अभिज्ञ होकर भी वे उसके व्याकरण की मौलिकता और समृद्धि से पूरी तरह परिचित न हो सके। कम-से-कम उन्हें उसका 'चमत्कार' किंचिन्मात्र भी प्रत्यक्ष न हुआ था।

विलियम जोन्स

पर शासकों या राजनीतिज्ञों में से कुछ ऐसे भी निकले जिनकी अध्ययन-रुचि ने उन्हें इस देश की सभी छिपी निधियों के सम्पर्क में ला दिया और वे आश्चर्यान्वित हुए बिना न रहे कि भारत का 'सोना' या 'धन' उस स्वर्ण-धन से नितान्त भिन्न था, जिसे वे अब तक पश्चिम में देखते-सुनते आए थे। विद्या-धन की इस अगाधता, अनन्तता और अपारता को पाकर वे स्वयं को मालामाल अनुभव कर ही रहे थे कि उनमें से कुछ का ध्यान संस्कृत के

रचनात्मक पक्ष की ओर भी गया। सर विलियम जोन्स का सर्वाधिक महत्त्व इसी बात में है कि उन्होंने सर्वप्रथम एक अधिकृत और उच्चतर स्वर में उद्घोषित किया कि "ग्रीक और लातीनी भाषा की अपेक्षा संस्कृत कहीं अधिक सुललित, सुगठित और मधुर है। उनसे अधिक सम्पन्न तो वह है ही।"

संस्कृत : वास्तविक महत्त्व

यद्यपि कभी इस उक्ति ने समस्त यूरोप में तहलका मचा दिया था, और संस्कृत के अध्ययन की दिशा में एक होड़ आरम्भ कर दी थी; तब भी इसे एक नई दिशा की उद्घाटिका उक्ति-मात्र ही कहा जा सकता है; अधिक कुछ नहीं। इससे संस्कृत का वास्तविक महत्त्व सामने नहीं आता। संस्कृत का महत्त्व यूरोप और समस्त विश्व के लिए भी, जैसा कि बाद में चलकर सिद्ध भी हुआ, उसके भाषागत वैशिष्ट्य के कारण नहीं था, बल्कि उसका यह महत्त्व उस ज्ञान-विज्ञान के कारण था, जो उसमें सहस्राब्दियों से संचित होता चला आ रहा था, और जो तेजी से प्रगति करते हुए विश्व के अधुनातम ज्ञान से भी कई दिशाओं में अब तक आगे है। ऐसी ही एक दिशा है संस्कृत का व्याकरण और तत्सम्बद्ध साहित्य।

जोन्स और परवर्त्ती भाषाविद्

विलियम जोन्स को आधुनिक भाषा-विज्ञान का जनक कहा जाता है। किन्तु, भाषा-विज्ञान की यह दौड़ और प्रगति तब और भी अधिक तीव्र और सफल हो जाती, यदि उन्हें भी संस्कृत व्याकरण का महत्त्व उसी रूप में पता चल जाता, जिस रूप में वह उनके परवर्ती विद्वानों को ज्ञात हुआ। यही कारण है कि आरम्भिक भाषा-विज्ञान के प्रयास हर अर्थ में आरम्भिक ही कहे जा सकते हैं। बाद में, भाषा-विज्ञान के अनुसन्धित्सुओं में एक दल ऐसे विद्वानों का हुआ, जिसने संस्कृत के किसी भी अन्य साहित्यांग की अपेक्षा उसके 'व्याकरण' को अधिक वैज्ञानिक, पूर्ण और चमत्कारी प्रभाव वाला पाया। उनकी दृष्टि भी आरम्भ में पाणिनि की अष्टाध्यायी और उस पर लिखे गए भाष्य आदि की ओर ही गई। बाद में आने वाले अनुसन्धित्सुओं ने यास्क के निरुक्त और प्रातिशाख्यादि पर भी कार्य किया। इस सब ने मिलकर संस्कृत के महत्त्व को शतगुण कर दिया।

संस्कृतज्ञ पाश्चात्य वैयाकरण

इसीलिए हमने ऊपर कहा है कि विलियम जोन्स की संस्कृत के प्रति इतिहास-प्रसिद्ध प्रशंसात्मक उक्ति आज के संस्कृत-सम्बद्ध पाश्चात्य ज्ञान की

तुलना में निरी आरम्भिक अपिवा उपहासास्पद लगती है। संस्कृत व्याकरण के धुरन्धर और अग्रणी रचयिताओं के लिए इस युग के पाश्चात्य विद्वान् गोल्डस्टुकर, कीलहॉर्न, ऐलन, पॉल थीमे, जोशुआ व्हाट्भाऊ, लुई रेनु और जे० गोण्डा आदि ने जो प्रशस्तियाँ कही हैं, सर विलियम जोन्स की उक्ति की अपेक्षा वे संस्कृत के महत्त्व को कहीं अधिक चिरस्थायी और चिरोज्ज्वल कर रही हैं। इन लोगों ने एक स्वर से संस्कृत व्याकरण को सर्वाधिक पूर्ण और वैज्ञानिक स्वीकार किया है। इनके अतिरिक्त भी भारतीय और विदेशी भाषाविदों की एक बड़ी श्रेणी है, जो पाणिनि और संस्कृत व्याकरण की उपलब्धियों को विश्व की महत्तम वैज्ञानिक उपलब्धियों में स्वीकार करती है।

इतिहास : कठिनाई

ऐसे ही विद्वानों की देख-रेख में जब संस्कृत व्याकरण पर कार्य आरम्भ हुआ, तब आरम्भ में अनुसन्धित्सुओं के सामने सबसे बड़ी कठिनाई संस्कृत व्याकरण के इतिहास की आ खड़ी हुई। पाणिनि का विधिवत् वैज्ञानिक अध्ययन आरम्भ होते ही उसके पूर्वापर परम्परा-सूत्रों के ऐतिहासिक अध्ययन की बात भी उठी। अनुसन्धान की उत्कण्ठा से आकुल इन विद्वानों ने अन्य क्षेत्रों की भांति भारतीयों की अनैतिहासिक वृत्ति पर दोषारोपण करने मात्र तक अपने कर्तव्य की इतिश्री न समझी। उन्होंने अपने आलोचनात्मक प्रयासों में यत्र-तत्र इस परम्परा के पूर्वापर सूत्रों की खोज निकालने का पूरा यत्न किया। पर, कदाचित् इस विषय में यह गौरव किसी भारतीय के भाग्य में ही लिखा था, कि वह संस्कृत व्याकरण के इतिहास को कालक्रम और विचार-विश्लेषण के क्रम के अनुसार विवेचन कर विश्व का मार्ग-प्रदर्शन करे।

यद्यपि कीथ और उनके अन्य सभवर्ती इतिहासकारों ने यास्क, पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि, हेमचन्द्र, चन्द्राचार्य्य, आदि पर परिचयात्मक टिप्पणियाँ यथाप्रसंग लिखी थीं और गोल्डस्टुकर, वेबर, कीलहॉर्न, बौथलिंक और भण्डारकर आदि ने उसका पूरा-पूरा आधार भी प्रस्तुत कर दिया था, तब भी गुरुपद हलदार और जोशी के प्रयत्नों के बाद श्री युधिष्ठिर मीमांसक से पूर्व किसी भी ज्ञात पाश्चात्य विद्वान् ने संस्कृत व्याकरण के इतिहास को इस क्रम से उपस्थित नहीं किया। यूँ प्रसंगवश बटेकृष्ण घोष, पी० सी० चक्रवर्ती, आदि अन्य कतिपय विद्वानों ने भी उस सब विषय की चर्चा पहले से ही की थी। श्री चक्रवर्ती का आलोचन—(१) लिंग्विस्टिक स्पेकुलेशन्स ऑफ़ एन्शेंट हिन्दूज और (२) द फिलासफ़ी ऑफ़ संस्कृत ग्रामर, के रूप में—इस दिशा में बहुत बड़ी

सूचना देता है। गोल्डस्टुकर का 'पाणिनि' भी पूरा विवेचनात्मक आधार प्रस्तुत कर देता है। पर, उसे इतिहास की कोटि में नहीं रखा जा सकता। अतः इस दिशा में प्रथम प्रयत्नों के रूप में डा० बेल्वेल्कर के 'द सिस्टम्स ऑफ़ संस्कृत ग्रामर', श्री गुरुपद हलदार के 'संस्कृत व्याकरणदर्शनेर इतिहास', श्री उमाशंकर जोशी के गुजराती में लिखे 'संस्कृत व्याकरण का इतिहास' एवं पं० युधिष्ठिर मीमांसक के 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है ही; भले ही इनमें से अन्तिम तीनों के प्रयास देशभाषाओं में होने से सर्व-सुलभ न हों। पर, यह दोष लेखक का नहीं है कि पाठाभिलाषी लोग इन भाषाओं को नहीं जानते। हाँ, उनके प्रयास में अन्य कई कमियाँ देखने वालों की कमी भी नहीं है। पर, इन कमियों के रहते भी इन ग्रन्थों का अपना महत्त्व है ही।

संस्कृत व्याकरण की परम्परा : वेदाङ्ग

इतने महत्त्व से परिपूर्ण संस्कृत व्याकरण का आरम्भ कब से हुआ, इस बात का उत्तर एक निश्चित तिथि के रूप में नहीं दिया जा सकता। भारतीय परम्परा में हर ज्ञान का सम्बन्ध वेद से ही खोजने का यत्न किया जाता है। वेद को ईश्वरीय और अपौरुषेय मानने के कारण एक कठिनाई भी आ जाती है। क्या वेदों के प्रौढ़ चिन्तन की तुलना में 'व्याकरण' को परवर्ती और जटिल माना जा सकता है या नहीं ? फिर, मूल प्रश्न यह है कि वेदों की रचना किसी एक कृति या ग्रन्थ के रूप में हुई भी थी या नहीं ? तभी 'वेदांग' के रूप में 'व्याकरण' की मान्यता के प्रश्न पर भी विचार हो सकता है।

कुछ भी हो, 'वेदांग' नामकरण इस बात को स्पष्ट करता है कि इस नाम से ज्ञात सभी विज्ञानों का पृथक् रूप में आविर्भाव अथवा उनकी उस रूप में महत्त्व स्वीकृति, वेदों के संहिता रूप में आविर्भाव और व्यापक रूप में उनकी स्वाध्याय प्रवृत्ति के बाद ही, संभव हुई। निश्चय ही तत्सम्बद्ध धारणाएँ और अनेकानेक सम्बद्ध निष्कर्ष बहुत पहले ही आविर्भूत हो चुके होंगे। प्रबुद्ध मन की विश्लेषण-शक्ति का नाम ही व्याकरण है : व्याकरोत्। वैदिक चिन्तन के साथ ही ऐसे विश्लेषण का आविर्भाव स्वाभाविक ही था। किन्तु विज्ञान के रूप में उसकी स्वीकृति निश्चय ही बाद की बात कही जा सकती है।

ज्ञान की अविभाग वृत्ति

इस को भर्तृहरि के शब्दों में हम यूं कह सकते हैं कि 'आरम्भ में ऋषियों का ज्ञान स्वप्नकालीन अवबोध की भांति अविभक्त ही था' : "अविभागाद् विवृत्तानाम् अभिख्यास्वप्नवच्छ्रुतौ"[1] । 'अविभाग' का अपर पर्याय है 'समग्र'। अर्थात्, उनका दर्शन या ज्ञान विभिन्न ज्ञानांगों के रूप में विभक्त न रहकर अविभक्त, समग्र या एकीभूत रूप में था। अंग्रेजी में इसे 'होल्सम' या 'इण्टेग्रेटेड' कह सकते हैं। जिन्हें बाद में 'वेद के षडंग' नाम से कहा गया, आरम्भ में वे, 'वेद' के रूप में, एक और अविभक्त 'ज्ञान' के रूप में ही विद्यमान थे। वेदनिर्माताओं को स्वतः इन ज्ञानांगों की व्यक्तिशः प्रतीति की आवश्यकता अनुभव नहीं हुई थी। भर्तृहरि के शब्दों में---

अविभागाद् विवृत्तानामभिख्यास्वप्नवच्छ्रुतौ।
भावतत्त्वं तु विज्ञाय लिंगेभ्यो विहिता स्मृतिः ।।

वा० १.१४६ ।

और 'स्मृति' को वे 'व्याकरण' का ही अपर पर्याय मानते हैं : 'उच्यते स्मृतिशास्त्रमिदम्'[2] ।

अतः यह तो स्पष्ट है कि व्याकरण की एक पृथक् ज्ञानांग के रूप में सत्ता 'वेद' के समकाल या उससे पूर्व नहीं थी। या, यूं कह सकते हैं कि उस समय तक विद्वानों ने उसकी इस रूप में आवश्यकता नहीं समझी थी। परन्तु, इसके साथ ही यह भी सत्य है कि उनके उस अविभक्त और एकीभूत ज्ञान में बहुत से ऐसे तत्त्व थे, जिन्हें हम सामान्यतः 'व्याकरण' के अन्तर्गत ही परिगणित करते हैं। ये तत्त्व स्वतः पर्याप्त प्रौढ़ और महत्वपूर्ण थे। महाभाष्य में इनमें से केवल कुछ का ही उल्लेख है।

ब्राह्मण, उपनिषद् और दर्शन

उक्त सत्य ब्राह्मण, उपनिषद् और दर्शन ग्रन्थों पर भी बहुत अंशतक लागू होता है। इन सभी में अनेक ऐसे स्थल हैं, जिन्हें शुद्ध व्याकरणात्मक उपलब्धियों के स्थल कहा जा सकता है। ब्राह्मणों में निरुक्तियों के अतिरिक्त अनेक भाषावैज्ञानिक और व्याकरणात्मक उल्लेख मिलते हैं। व्याकरण के परवर्ती सूत्रों की भांति अनेक 'सूत्र' भी इनमें यत्र-तत्र उपलब्ध हो जाते हैं। उपनिषदों की ऐसी उपलब्धियों को केवल 'भाषावैज्ञानिक' वर्ग में ही रखा

---

१. वा० १.१४६ ।
२. म०त्रि० १.१.१ ।

जा सकता है। 'दर्शन' के सूत्र भी 'भाषावैज्ञानिक तथ्यों' की ओर अधिक इंगित करते हैं, व्याकरणात्मक नियमों की ओर कम।

छह वेदांग और व्याकरण

वेदों और तत्सम्बद्ध साहित्य का जब विधिवत् और शास्त्रीय रूप में अध्ययन होने लगा, तब जिन ज्ञानांगों का विकास हुआ, वस्तुतः किसी भी भाषा और साहित्य के अध्ययन के लिए उनमें से अधिकांश का विकास होना ही चाहिए। वैसे ज्ञानांग के रूप में उन सबका अपना महत्त्व अक्षुण्ण है ही।

व्याकरण, निरुक्त, कल्प, छन्द, ज्योतिष, और शिक्षा में से कम से कम तीन ज्ञानांगों का आधार या मूल उस शास्त्र को कहा जा सकता है, जिसे हम वर्तमान समय में 'व्याकरण' के रूपमें जानते हैं। स्वयं 'व्याकरण' के अतिरिक्त 'निरुक्त' और 'शिक्षा' भी इसी वर्ग में आते हैं। उनमें उल्लिखित बहुत सी बातें, विशुद्ध रूप से, हमारे द्वारा समझे जानेवाले 'व्याकरण' के क्षेत्र में आती हैं। इन वेदाङ्गों के रूप में जो ग्रन्थ हमें वर्तमान काल में उपलब्ध हैं, उनमें बहुत से ऐसे वचन उपलब्ध होते हैं, जिन्हें हम पाणिनीय 'व्याकरण' से अभिन्न और समरूप पाते हैं। शेष तीनों वेदांगों का सम्बन्ध वेदों से अवश्य है, व्याकरण से नहीं।

इनमें से 'व्याकरण' को सर्वप्रथम और सर्वप्रधान 'वेदांग' माना गया है। भर्तृहरि तो स्पष्ट ही इसे सर्वप्रधान घोषित करते हैं : 'प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः[1]'।

ग्रन्थ प्राचीनता

इन अंगों की प्राचीनता, या उनके उपलभ्य ग्रन्थों की प्राचीनता, के सम्बन्ध में इतना ही निवेद्य है कि प्राचीनता की दृष्टि से इनमें से केवल 'शिक्षा' विषय के ग्रन्थ ही अधिक मात्रा में उपलब्ध होते हैं। परन्तु ये ग्रन्थ प्रायः ही पर्याप्त अर्वाचीन रूप में, या बाद में संस्कार पाए हुए प्रतीत होते हैं। इन्हीं ग्रन्थों का प्रधान अंग प्रातिशाख्यों को कहा जा सकता है, जो सम्भवतः इस प्रकार के उपलभ्य साहित्य में सबसे अधिक प्राचीन और प्रामाणिक हैं। उनका वेदों से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनके निर्माण का प्रारम्भ मूलतः वेदों की शिक्षा के अंग रूप में ही हुआ होगा। वर्तमान रूप बाद में विकसित हुए। अब तक इनमें से अनेक का अध्ययन हो चुका है। अनेक पर शोधात्मक

---

१. वा० १.११।

दृष्टि से भी कार्य हुआ है। किन्तु, हमारी दृष्टि से इनके सम्बन्ध में अवधेय तथ्य यह है कि इनमें से अधिकांश को हम शुद्ध रूप से 'व्याकरणात्मक' रचनाएं कह सकते हैं। कुछ एक का तो विषय है ही 'व्याकरण'। वे ही ग्रन्थ उनमें सर्वथा प्राचीन भी हैं, जिनका सम्बन्ध व्याकरण से है। प्रसिद्धि की दृष्टि से डा० मंगलदेव शास्त्री द्वारा सम्पादित 'ऋक्प्रातिशाख्य' और डा० सूर्यकान्त द्वारा सम्पादित 'अथर्व प्रातिशाख्य' अधिक प्रसिद्ध हैं। अथर्व प्रातिशाख्य को इन ग्रन्थों का प्रतिनिधि भी कहा जा सकता है। इस दिशा में भी प्रथम प्रयास पश्चिमीय विद्वानों ने ही किया। ह्विटने, बुर्नेल आदि के नाम इस विषय में आदर के साथ लिए जा सकते हैं।

ब्राह्मण, शिक्षा और निरुक्त

ब्राह्मणों का मुख्य सम्बन्ध भले ही 'विधि' या 'कर्मकाण्ड' से रहा हो, 'निर्वचन' का प्राधान्य उनमें रहा ही है; भले ही 'अर्थवाद' के सहायक रूप में ही सही। 'निर्वचनों' के प्रसंग में ही 'व्याकरण' का कहीं-कहीं समावेश उनमें हो जाता है। व्याकरण के आरम्भिक विभागों से तो वैदिक ऋषि भी स्वतः परिचित थे। पर, धातु की पृथक् खोज और मूलार्थ के अनुसन्धान की न उन्हें आवश्यकता थी और न शंका ही। ब्राह्मणों में व्याकरण और निरुक्त के 'अर्थनित्यः परीक्षेत' वाले सिद्धान्त का ही अनुकरण हुआ है। मूलार्थ और धातु की यह अनुसन्धानपरक वृत्ति ही ब्राह्मणों का मुख्य अवधेय रही है। इसी 'धातु' के पृथक् रूप से प्रथम दर्शन का श्रेय इन्द्र के शिष्य 'भरद्वाज' ऋषि को दिया जाता है।

शिक्षाग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय सामान्यतः वर्णोच्चारण या ध्वनि-विज्ञान रहा है। 'पाणिनीय शिक्षा' से बहुत पूर्व ही शिक्षा ग्रन्थों का निर्माण आरम्भ हो चुका था। पर, उनमें सन्धिनियमादि का समावेश होने के अतिरिक्त अन्य भी बहुत सी बातें 'व्याकरण' के क्षेत्र की आ जाती हैं। 'प्रातिशाख्यों' का मुख्य प्रतिपाद्य 'शिक्षा' से अभिन्न होने पर भी उनमें से अनेक की सूत्रपद्धति 'पाणिनीय व्याकरण' से बहुत अंशों में मिलती-जुलती है। उनके अनेक सूत्र परवर्ती व्याकरणों में अविकल रूप में अनुकृत भी हुए हैं।

'निरुक्तों' की रचना भी यास्क से बहुत पूर्व ही आरम्भ हो चुकी थी। कम से कम नैरुक्त तो यास्क से पूर्व अनेक हो ही चुके थे। 'इति नैरुक्ताः' का अनेकत्र प्रयोग इस विद्या या विज्ञान की व्यापक लोकप्रियता और समृद्धि का संकेत देता है। यास्क ने जिन भी 'नैरुक्तों' का उल्लेख किया है, उनमें से

अनेक का उल्लेख पाणिनि और दूसरे वैयाकरणों ने भी किया है। अर्थात् वे विद्वान् नैरुक्त और वैयाकरण साथ-साथ ही कहे जा सकते हैं। यास्कीय 'निरुक्त' ही इस प्रकार के निरुक्तों में सर्वप्रधान रूप में शेष बचा है। बल्कि, अब उसे ही एकमात्र प्रामाणिक निरुक्त कहा जा सकता है, जबकि वेदाङ्गों की स्थिति के अनुसार व्याकरणादि छहों ज्ञानांगों की स्थिति यास्क से पर्याप्त पूर्व ही दृढ़ हो चुकी थी। शतपथ ब्राह्मण में यास्क, पराशर समेत अनेक नैरुक्तों का उल्लेख मिलता है।[1]

व्याकरण ग्रन्थ

नैरुक्तों की भांति हमें यास्क, पाणिनि और पतंजलि आदि आचार्यों द्वारा अनेकानेक पाणिनिपूर्व वैयाकरणों के नामों और निष्कर्षों का भी पता चलता है। सम्भवतः ब्राह्मण ग्रन्थों के समय तक ही वैयाकरणों की एक परम्परा स्थापित हो चुकी थी। ऐन्द्र व्याकरण की जिस परम्परा का उल्लेख महाभाष्य में और अन्यत्र मिलता है, उसके अनुसार बृहस्पति और इन्द्र की गुरु शिष्य अन्विति इसके आविर्भाव का कारण थी[2]। आज आपिशलि काशकृत्स्न आदि कुछ वैयाकरणों के प्रयत्नों का खण्डात्मक या समग्र रूप में कुछ न कुछ उद्धार हुआ है। 'आपिशलि शिक्षा' सुरक्षित की जा सकी है। 'काशकृत्स्न' के कुछ सूत्रों का संकलन भी 'काशकृत्स्न व्याकरण' के नाम से एकत्र मुद्रित किया जा चुका है।

पर, इस पर भी यह सत्य है कि व्याकरणों की परम्परा में पाणिनिकृत व्याकरण ही ऐसा है, जिसे सर्वप्रथम और सर्वप्रधान संस्कृत व्याकरण के रूप में प्रसिद्धि और ख्याति प्राप्त हुई है। इसमें कहां तक परम्परा का अनुगमन हुआ है और कितनी मौलिकता है, यह बात बाद में विचारी जाएगी। किन्तु यहाँ संक्षेप में इतना कह देना अभीष्ट ही है कि संस्कृत व्याकरण को पूर्णता और वैज्ञानिकता की दृष्टि से जो प्रसिद्धि प्राप्त है, उसका एकमात्र आधार पाणिनि के इसी व्याकरण पर स्थित है। एलन, पॉल थीमे, आदि पश्चिम के जिन वैयाकरणों ने संस्कृत व्याकरण को 'आगामी सदियों तक अनुल्लंघनीय' बताया है, उनकी दृष्टि प्रधानतः पाणिनि और उसकी 'अष्टाध्यायी' पर ही रही है। अपने से पूर्व और समकाल के व्याकरणों में से यही एक व्याकरण

---

१. दे० शतपथ ब्राह्मण, अनुक्रमणिका।

२. म० १.१.१।

ग्रन्थ रूप में अविकल और वैज्ञानिक रूप में अस्खलित रूप से परम्परारक्षित होकर हम तक पहुँच पाया है। अतः आदि-ग्रन्थ न होने पर भी यह संस्कृत व्याकरण का प्रतिनिधि और प्रधान ग्रन्थ अवश्य कहा जा सकता है।

व्याकरण-रचना और कालविभाजन

उक्त विवेचन से कम से कम एक बात नितान्त स्पष्ट है कि पाणिनि से पूर्व अनेक व्याकरण-ग्रन्थ लिखे गए थे और पाणिनि के बाद भी उनमें से अनेक उपलब्ध थे। पाणिनिपूर्व के व्याकरणोंके सम्बन्ध में एक तथ्य हमें भर्तृहरिके 'वाक्यपदीय' से उपलब्ध होता है, जिसकी पुष्टि महाभाष्य में कथित इन्द्र-बृहस्पति-प्रसंग से भी होती है। भर्तृहरि के अनुसार व्याकरण दो प्रकार के होते थे। अविभाग और सविभाग[1] अविभाग व्याकरण वह जिसमें शब्दों और शब्द रूपों का अविकल पाठ हो और जिसमें प्रकृति-प्रत्ययादि के विभाग की योजना न सुझाई गई हो। 'महाभाष्य' के अनुसार इसे 'शब्दपारायण' कहा जाता था। सविभाग व्याकरण स्वभावतः व्याकरण का वह रूप है, जिसका प्रतिनिधि पाणिनीय व्याकरण को कहा जा सकता है, और जिस में मुख्य आधार विश्लेषण अथवा प्रकृति-प्रत्यय-विवेचन को बनाया जाता है। अविभाग व्याकरण का 'बार्हस्पत्य व्याकरण' के अतिरिक्त एक भिन्न उदाहरण व्याडि के 'संग्रह' को भी कहा जा सकता है, जिसमें उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार शब्दापशब्दविवेचन भी था और अनेक नियमों और सिद्धान्तों का विश्लेषण भी था। प्रकृति-प्रत्यय विभाग जैसी कोई बात सम्भवतः वहाँ प्रधान न थी। किन्तु, ऐन्द्र और आपिशलि के जो भी प्रमाण उपलब्ध हैं, उनके अनुसार प्रातिशाख्यों की भाँति उनमें भी सूत्र-रचना या विश्लेषण-पद्धति का ही आश्रय लिया गया था। अतः उनका परिग्रहण 'सविभाग' कोटि में ही करना उचित है। इसके विपरीत औदुम्बरायण, वार्तांक्ष, आदि के विचार सूत्र रूप में होकर भी सम्भवतः इतने विश्लेषणात्मक न थे। उनमें दार्शनिक विश्लेषण की ही प्रधानता थी।

पाणिनि के बाद जो भी व्याकरण लिखे गए, उनमें बोपदेव या स्कन्द-पुराणोक्त व्याकरणादि की प्रकृति श्लोकनिबद्ध होने की दृष्टि से सम्भवतः कुछ भिन्न भले ही है। अन्यथा प्रायः सभी परवर्ती व्याकरण पाणिनि की सविभाग-पद्धति पर ही बढ़े हैं। पाणिनि से उनका मतभेद कितना महत्त्वपूर्ण

---

१. वा० १.१४४-६।

है ?, या उनकी रचनाओं को कितना महत्त्व देना चाहिए ?, इत्यादि प्रश्न विचारणीय हो सकते हैं। किन्तु, उनके अस्तित्व और युगविशेष से सन्नद्ध होने के सत्य से निषेध नहीं किया जा सकता।

अतः पाणिनीय व्याकरण के महत्त्व को देखते हुए हम संस्कृत व्याकरण को निम्न तीन विभागों में रखकर काल-क्रम से उसका अध्ययन कर सकते हैं।

(१) प्रथम युग : पाणिनि-पूर्व युग।
(२) द्वितीय युग : पाणिनीय युग।
(३) तृतीय युग : उत्तर-पाणिनि-युग।

इनमें से अन्तिम दो युगों पर पर्याप्त कार्य हो चुका है। प्रथम युग पर अब तक कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं हुआ है। श्री मीमांसक ने जो कुछ लिखा है, वह चरम प्रामाणिक नहीं है। उसमें शोध की बहुत सम्भावना है। उस दिशा में पृथक् से शोध और अनुसंधान होना अत्यधिक आवश्यक है। विशेष कर प्रातिशाख्यादि के महत्त्व को पूरी तरह समझने के लिए।

आधुनिक प्रयत्न

आधुनिक युग में भी संस्कृत व्याकरण के विस्तार और अध्ययन के सम्बन्ध में विविध प्रयत्न हुए हैं। छात्रोपयोगी भाष्यों और टीकाओं के अतिरिक्त मौलिक दृष्टि से जो प्रयास हुए हैं, उनमें संस्कृत भाषा में कार्य करने की दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती का नाम अग्रणी बैठता है। पाश्चात्य ढंग पर कार्य पर्याप्त अधिक हुआ है। इनमें ए० ए० मैक्डोनल के प्रयास को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। उनके 'वैदिक व्याकरण' आदि ग्रन्थ इस दृष्टि से किसी मौलिक प्रयास से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

पश्चिम में, और उसके अनुकरण पर भारत में भी, होने वाले कार्य को स्पष्टतः दो भागों में बाँटा जा सकता है : संस्कृत व्याकरण का व्याख्या की दृष्टि से किया गया कार्य और आधुनिक भाषाविज्ञान के प्रसंग में संस्कृत व्याकरण पर आधारित अध्ययन। इन दोनों का ही अपना निजी महत्त्व है।

अतः या तो हम स्वामी दयानन्द से आरम्भ होने वाले काल को 'आधुनिक काल' के रूप में संस्कृत व्याकरण-रचना का चतुर्थ युग स्वीकार करें, या फिर पश्चिम के होने वाले प्रयासों को 'आधुनिक युग' के रूप में गिनें। उस अवस्था में स्वामी दयानन्द को पुरातन 'तृतीय युग' का ही अंग मानना होगा। उस मान्यता में एक ही अड़चन आती है कि युगभेद की दृष्टि से स्वामी जी वर्तमान युग के अधिक समीप बैठते हैं। वैसे उनका परिगणन किसी भी युग में करें,

इससे 'आधुनिक युग' को पृथक् मान्यता देने में अड़चन नहीं आती।

एक अन्य दृष्टि से विभाजन

संस्कृत व्याकरण का अध्ययन हम एक अन्य दृष्टि से इसे विभाजित करके भी कर सकते हैं। इसे हम काल-विभाजन न कहकर 'प्रवृत्ति-विभाजन' कह सकते हैं। उस दृष्टि से इतिहास के अध्ययन में अधिक सुविधा तो नहीं होगी, किन्तु समस्त संस्कृत व्याकरण वाङ्मय का विश्लेषण करने में अवश्य सुविधा रहेगी।

इस आधार पर हम समस्त संस्कृत व्याकरण को कुछ वर्गों में बांट सकते हैं तथा साथ ही 'निरुक्त', 'प्रातिशाख्य' और 'शिक्षा' के नाम से गिने जाने वाले साहित्य को हम 'व्याकरण' के व्यापक दायरे में ही ले सकते हैं। कारण यह है कि संस्कृत व्याकरण के प्रणेताओं में तीन प्रकार के कृतिकार हमारे सामने आते हैं :

(१) आधुनिक भाषा विज्ञान की दृष्टि से विचार करने वाले प्राचीन और आधुनिक भाषाविद् वैयाकरण।

(२) सूत्रकार और परम्परानुयायी वैयाकरण।

एवं (३) दार्शनिक वैयाकरण।

भाषा वैज्ञानिक वैयाकरण

इनमें प्रातिशाख्यकारों, नैरुक्तों और शिक्षाकारों का अन्तर्ग्रहण तो हो ही जाएगा। उनके साथ ही आधुनिक युग के भाषावैज्ञानिकों का भी परिगणन हो जाएगा। इसका प्रधान कारण यह है कि इन चारों प्रकार के विचारकों का प्रधान क्षेत्र सूत्ररचनात्मक व्याकरण का निर्माण या व्याख्यान उतना नहीं है, जितना कि ध्वनि और अर्थतत्त्व पर विचार करना है। यूं तो उनमें इतिहास का समावेश भी किसी न किसी सीमा तक हो ही जाता है, किन्तु प्रधानता उसे भी प्राप्त नहीं है। कम से कम वर्तमान दृष्टि से उनके प्रयासों को 'भाषाविज्ञान' के अन्तर्गत ही गिना जाएगा।

(१) **प्रथम चरण**—यास्क का नाम इस दृष्टि से पाणिनिपूर्व के भाषा-वैज्ञानिकों में सर्वप्रमुख ठहरता है। 'अनन्वितेऽपि संस्कारे', 'संस्कारं नाद्रियेत' एवं 'अर्थनित्यः परीक्षेत' आदि वचन कहने वाला यास्क[1] किसी भी आधुनिक भाषावैज्ञानिक से कम महत्त्वपूर्ण उद्घोषणाएं नहीं कर रहा है। 'तत्र चतुष्ट्वं

---

१. नि० २.१.१-३।

नोपपद्यते' कहने वाले औदुम्बरायण[1] और 'सर्वाणि नामान्याख्यातजानि' कहने वाले शाकटायन[2] भी इसी कोटि में आते हैं। गार्ग्य और अन्य कई विद्वानों के नाम इसी वर्ग में बड़े आदर के साथ लिए जा सकते हैं।

(२) द्वितीय चरण—पाणिनि के बाद भी यह परम्परा चलती रही। पतंजलि और कात्यायन के नाम तो इस दृष्टि से विचारणीय हैं ही, महावैयाकरण पदवाक्यप्रमाणज्ञ भर्तृहरि, भट्टोजि दीक्षित, नागेश भट्ट और पुरुषोत्तमदेव आदि के नाम भी इस वर्ग में सादर लिए जा सकते हैं। भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' को तो विशेष अध्ययन का विषय भी बनाया गया है। हमारे मत में उनसे बड़ा भाषाविद् पाणिनि के बाद से आजतक नहीं हुआ।

(३) तृतीय चरण—भाषा वैज्ञानिकों की परम्परा का तीसरा चरण वर्तमान युग में आरम्भ होता है। इसका श्रेय पश्चिम में होने वाले भाषाविज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन को दिया जा सकता है। रैस्क से लेकर अधुनातम भाषावैज्ञानिक इसी वर्ग में गृहीत हो सकते हैं। उनमें से कुछ के नाम निश्चय ही अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। गोल्डस्टुकर, कीथ, वेबर, कीलहार्न, मैक्डोनल्, बोथलिंक, पॉल थीमे, गोण्डा, एलॅन, आदि के नाम इस दिशा में सदा अविस्मरणीय रहेंगे।

दार्शनिक वैयाकरण

ऊपर गिनाए भाषावैज्ञानिक वैयाकरणों में कुछ नाम ऐसे हैं, जिन्हें सुविधापूर्वक 'भाषा के दार्शनिक' भी कहा जा सकता है। पतंजलि और भर्तृहरि कम से कम ये दो तो ऐसे ही महान् दार्शनिक हैं। इन से पूर्व दर्शनों में भी कुछ भाषाविषयक तथ्यों का उल्लेख हुआ था।

ऊपर गिनाए भाषावैज्ञानिकों और इन दार्शनिकों को हम सामान्य वैयाकरणों से अलग करके चलना इसलिए आवश्यक समझते हैं कि इनका इस कोटि का विश्लेषण केवल मात्र 'संस्कृत' पर ही लागू नहीं होता। न ही उस प्रकार का विचार केवल संस्कृत को ध्यान में रखकर किया गया है। इनके अनेकानेक निष्कर्ष समस्त विश्वभाषाओं पर सामान्य रूप से घटते पाए जाते हैं।

---

१. नि० १.१.१। २. नि० १.६.१।

द्वितीय कोटि—मध्यकालीन भारतीय नव्य नैयायिकों के अतिरिक्त आधुनिक युग के ऐसे विचारकों में **ओट्टो येस्पर्सन, ब्रूनो,** नोमान, आदि नाम प्रमुख हैं। उन्हें मूलतः वैयाकरण और भाषा का दार्शनिक ही कहा जा सकता है। वे भाषाविज्ञानी भी हैं, किन्तु उनका वह रूप उतना प्रधान नहीं है। व्याकरण की मान्यताओं पर उनका विचार दार्शनिक-वृत्तिप्रधान ही है। पर, उनका नाता संस्कृत व्याकरण से दूर का भी नहीं है।

तृतीय कोटि—इनके अतिरिक्त एक तीसरी कोटि इस वर्ग के उन विचारकों की है, जिन्होंने दर्शन को उद्देश्य बनाकर उसकी दृष्टि से उपयोगी भाषा पक्ष पर विचार किया है। आचार्य गौतम और जैमिनि ने क्रमशः अपने **'न्यायदर्शन'** और **'मीमांसादर्शन'** में भाषा और वाक् के बहुत से पक्षों पर इसी दृष्टि से विचार किया है। आजकल तो दार्शनिकों का एक वर्ग भाषा के विविध पक्षों के विशिष्ट अध्ययन पर बहुत अधिक बल देने लगा है। बर्ट्रैण्ड रसॅल का नाम ऐसे अधुनातम लेखकों में मूर्धन्य है। ऐसे लोगों का भाषा के व्याकरणात्मक विचार से कतई सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार का विचार मध्यकालीन भारत में पर्याप्त होता रहा है

सूत्रकार और वैयाकरण

इस प्रकार उक्त दोनों कोटियों पर विचार के बाद उन वैयाकरणों का दायरा और क्षेत्र विस्तार स्पष्टतर हो जाता है, जो अपने विचार को भाषा की सामान्य प्रकृति के साथ साथ किसी भाषा विशेष के साथ उसके रूपात्मक विचार-विश्लेषण के साथ भी बांधकर चलते हैं। सविभाग और अविभाग व्याकरण के प्रणेताओं के रूप में इन्हीं का परिगणन ऊपर कराया गया है। **पाणिनि** के अतिरिक्त **इन्द्र, शाकटायन, आपिशलि, काशकृत्स्न, शौनक, व्याडि, कात्यायन, चन्द्रगोमिन्, बोपदेव, हेमचन्द्र, जिनेन्द्रबुद्धि,** आदि के नाम इसी वर्ग में गिनाए जा सकते हैं। **प्रातिशाख्यों** का एक बड़ा हिस्सा इसी प्रकार के विचार का परिणाम है।

आधुनिक युग में इस श्रेणी के संस्कृत वैयाकरणों में ही **स्वामी दयानन्द** का नाम प्रधान रूप से गृहीत होता है। **गोल्डस्टुकर, मैक्डोनल, पं० चारुदेव, डा० लुई रेनू,** आदि अनेक विद्वानों ने इस दिशा में कार्य किया है। पर, उनके कार्य को देखते हुए इन सबको 'भाष्यकार' वर्ग में ही रखा जा सकता है: 'सूत्रकार' वर्ग में नहीं।

प्रस्तुत अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन में हमारा लक्ष्य संस्कृत व्याकरण के आविर्भाव और प्रवर्धन के उक्त पक्षों का परिचय देना ही है। पर ऐसा करते हुए हमें काल-क्रम के अनुसार बढ़ना ही ठीक रहेगा; यद्यपि किसी कालविशेष के अध्ययन में हमारा बल उस काल के इन तीनों पहलुओं के पक्ष में भी होगा। श्री युधिष्ठिर मीमांसक के प्रयास में जिन तथ्यों और पक्षों पर बल दिया गया है, उनसे संस्कृत व्याकरण के विचार-प्रवाह की वर्धमान प्रौढ़ता का स्पष्ट दर्शन हमें नहीं हो पाता। उधर गोल्डस्टुकर, बेल्वेल्कर और चक्रवर्ती, आदि के प्रयासों में इस पक्ष पर अधिक ध्यान दिया गया है।

उक्त निष्कर्षों के प्रकाश में ही हम अगले पृष्ठों में विचार करेंगे।

संस्कृत व्याकरण की परम्परा

विनिश्चय क्रम

भारतीय इतिहास कितना प्राचीन है, इस विषय में निर्भ्रान्त रूप में कुछ इसलिए नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हमारे पास या तो विनिश्चित तिथिक्रम के अनुसार उसका ब्यौरा उपलब्ध नहीं हैं, या फिर जो क्रम और ब्यौरा उपलब्ध है, अत्यधिक प्राचीनता और समय-समय पर युगों के नाम-परिवर्तन के कारण, हम उसका तथाकथित निश्चित तिथिक्रम खो बैठे हैं। इतिहास की इस प्राचीनता का ही परिणाम है कि पाश्चात्य अनुसन्धित्सुओं के उस दल ने, और उन के अन्धानुयायी भारतीय विद्वानों ने भी, वैज्ञानिक प्रवृत्ति की तथाकथित चकाचौंध में आकर उन सभी भारतीय मान्यताओं और स्थापनाओं को अवैज्ञानिक और अमान्य कहना आरम्भ कर दिया है, जिनके तथाकथित निश्चित प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं हैं।

अप्रामाणिकता : कारण

इतिहास की इस तथाकथित अप्रामाणिकता के कारण भारतीय प्रतिभा और इतिहास की बहुत सी ऐसी बातें आज का विद्वान् मानने से निषेध कर देता है, भारतीय परम्परा जिन्हें सदियों से जनश्रुति, लोकप्रसिद्धि, आख्यान, या इतिहास के रूप में सुरक्षित रखती आई है। यही कारण है कि प्राचीन ज्ञान-विज्ञान की सहस्रशः वर्णित उपलब्धियों में से कुछ को तो हम इसलिए स्वीकार कर लेते हैं कि हमें उनके तथाकथित प्रमाण उपलब्ध हो गए हैं; जबकि अधिकांश ऐसी उपलब्धियों को हम महज़ 'कपोल-कल्पना' कह देते हैं। यद्यपि उनका भी उतना प्रामाणिक वर्णन हमें उपलब्ध होता है।

साहित्य और ज्ञान के क्षेत्र में भी यही बात लागू होती है। ऐसा अपार साहित्य विविध ज्ञानांगों के सम्बन्ध में हमारे यहाँ बना, जिसका प्रामाणिक वर्णन तो हमें उपलब्ध होता है, किन्तु जिसका भौतिक अस्तित्व या तो सिद्ध ही नहीं किया जा सकता, या फिर आंशिक रूप में ही सिद्ध किया जा

सकता है। वैज्ञानिक साहित्य के साथ और भी बुरी स्थिति है। विशेषज्ञों के अभाव में उसका लिप्यन्तरण और संरक्षण सदा युग-परिवर्तन के साथ-साथ न हो सका। परिणाम यह कि उसका जब कहीं उल्लेखमात्र हमें मिलता है, तब हम उसे 'अप्रामाणिक' कहकर टाल देते हैं।

वास्तविक कारण : श्रेष्ठ का वरण

इस स्थिति का एक अन्य कारण हमारी 'वीरोपासना' या 'श्रेष्ठता का वरण' की वृत्ति को भी कहा जा सकता है, जिसके कारण हमारी उपेक्षा का भाजन उस सभी ज्ञान-विज्ञान, साहित्य एवं परम्परा तक को होना पड़ा, जिसकी भी कालोपयोगिता या चमत्कारिता से हम प्रभावित न हो सके। प्रायः ही ऐसा तब हुआ, जब किसी युग-प्रभावी व्यक्तित्व के आते ही हम उसके कृतित्व की ओर इतने आकृष्ट हुए कि सारा युग उसी का अनुवर्त्ती हो उठा। इस प्रवृत्ति के कारण स्वभावतः अनेक ओर हमारी उपेक्षा भी बढ़ गई। परिणाम यह कि बहुत सा उपयोगी सृजन केवल 'उल्लेखों' के रूप में ही हमारे सम्मुख बच पाया, जबकि उसका वास्तविक रूप उपेक्षा या अप्रचलन के कारण लुप्त हो गया। कालान्तर में उसका ज्ञाता न रहने के कारण उसका रहा-सहा अस्तित्व भी मिट गया। पतंजलि के 'महाभाष्य' तक के सम्बन्ध में भर्तृहरि हमें इसी प्रकार की सूचना देते हैं, जिसके पुनरुद्धार में उनके पूर्व-गुरुओं को महान् श्रम करना पड़ा। सम्भवतः इसे ही 'दर्शन' या 'पुनर्दृष्टि' की संज्ञा दी गई थी। इसीलिए ज्ञान के ऐसे पुनरुद्धारकों को 'ऋषि' (ऋषिर्दर्शनात्) के नाम से पुकारा गया।

वरण और उपेक्षा : मानवीय तथ्य

परन्तु 'वैज्ञानिकता' और 'प्रामाणिकता' की चकाचौंध से विमूढ़ हुए कुछ आधुनिक विद्वानों ने इस मानवीय तथ्य को स्वीकार करने से निषेध कर दिया और प्रामाणिकता का आधार केवल 'प्रत्यक्ष' को ही बनाया। परिणाम यह कि वेदों या तत्सम्बद्ध साहित्य के बाद भारतीय साहित्य की सर्वप्रथम चमत्कारमयी कृति वे 'पाणिनीय अष्टाध्यायी' या पाणिनीय व्याकरण को मानते हैं। क्योंकि उनके अनुसार इसके निर्माण तक न कोई साहित्य बना था, और न ही किसी अन्य ज्ञानांग का विकास हुआ था। यास्क के 'निरुक्त' का महत्त्व उनकी दृष्टि में बहुत अधिक नहीं है, क्योंकि

उसका निर्माण 'वेदांग' के रूप में ही हुआ था। उन्होंने 'श्रेष्ठता के वरण और अश्रेष्ठ की उपेक्षा' की उस मानवीय प्रवृत्ति को विचार में लेने से ही निषेध कर दिया, भारतीय जन-मन जिसे युगों से अपनाता चला आ रहा है। आज हमारे लिए उस विनष्ट ज्ञान की कितनी आवश्यकता है ?, या लिखित रूप में उपस्थित न रहने पर हम उसकी सत्ता ही से इन्कार कर देंगे, इस बात की चिन्ता उस युग के भारतीय को क्यों हो सकती थी ? वह तो नित्य ही श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर वस्तु के निर्माण या अनुसन्धान में लगा हुआ था। यही कारण है कि केवल रामायण, महाभारत, यास्कीय निरुक्त, भास, कालिदास, पाणिनि, पतंजलि, आदि कुछ नाम ही हम तक काल के ग्रास से बचकर आ सके हैं; यद्यपि अनुसन्धान करने पर हम उस काल में रचित साहित्य के अनेकानेक विलुप्त ग्रन्थों का उल्लेख यत्र-तत्र पाते हैं।

सर्वातिशायी रचना

स्वाभाविक है कि जिस प्रकार 'रामायण' अपने समय की अनूठी कृति होने के कारण अन्य सम्पूर्ण भारतीय साहित्य की उपेक्षा करके भी 'आदि-काव्य' कहलाया, भले ही हम आज इस सत्य को झुठलाएँ, और जिस प्रकार इतिहास-पुराण और काव्य के विषय में अपने समय के सर्वातिशायी 'महाभारत' के सम्मुख 'रामायण' के अतिरिक्त अन्य कोई 'कविकृति' शेष न रह पाई, ठीक उसी प्रकार 'यास्कीय निरुक्त' के सम्मुख कोई भी पूर्वतर 'निरुक्त' शेष न रह सका; यद्यपि उन सबके नामोल्लेख अवश्य मिल जाते हैं। इसी प्रकार पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' के सम्मुख कोई पूर्ववर्त्ती व्याकरण-ग्रन्थ अथवा व्याकरण-पद्धति कदाचित् ही, अपने स्वरूप को अक्षुण्ण रख पाए, यद्यपि उनका अध्ययन और उल्लेख कहीं-कहीं विद्वत्-समाज में कुछ समय तक अवश्य चलता रहा। 'महाभाष्य' की रचना के बाद 'व्याडि के संग्रह' और 'वाररुच कात्यायनीय व्याकरण' (या 'वार्त्तिक व्याकरण') के साथ क्या हुआ, यह तो नितान्त स्पष्ट होना चाहिए। भास अपने से पूर्व किन नाटककारों का उल्लेख करते हैं ?, यह केवल उनके लेख से ही पता चलता है, पर उन उल्लिखित नाटककारों की समस्त कृतियाँ आज उपलब्ध न होने का कारण स्वयं भास के नाटकों की लोकप्रियता ही बनी।

और, क्या यह विधि की विडम्बना नहीं है कि कालिदास की प्रणति का अधिकारी भास स्वयं कालिदास के सर्वातिशायी प्रभाव के कारण

उपेक्षा का विषय बन गया और आज उसके नाटकों की प्रामाणिकता के विषय में भी सन्देह और विवाद को प्रधानता प्राप्त हो गई है। कालिदास की सर्वातिशायिनी प्रतिभा और कृतित्व ने उनसे पूर्ववर्ती कवियों और नाटककारों को ही प्रभावित नहीं किया, बल्कि उनकी भी द्वितीय कोटि की कृतियों पर इस वरण का प्रभाव पड़ा। परिणाम यह कि आज कालिदास की एकता-अनेकता और प्रमाणिकता भी संन्देह का विषय बन उठी है।

केवल बहुत अर्वाचीन काल में ही यह सम्भव हो पाया है कि टीका लेखन और विवेचना की व्यग्रता में हम अत्यल्प सृजन किए जाने वाले परवर्ती साहित्य को यथाकथञ्चित् बचा० पाने में समर्थ हो पाए हैं। इसमें भी 'ज्ञात' साहित्य की राशि अधिकाधिक दैनन्दिन अनुसन्धान के कारण धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है।

परिणाम

अतः यह स्वाभाविक ही है कि हम तक जो कुछ भी 'प्राचीन' का बचकर आया है, वह या तो अपना नामरूप खोकर परम्परा के रूप में पहुँचा है, या फिर वह सर्वश्रेष्ठ होने के कारण ही बचकर हमतक आया है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उन-उन ज्ञात ग्रन्थों के अतिरिक्त हमारे अतीत के उस युग में अन्य किसी कृति या रचना का निर्माण ही नहीं हुआ। इस विषय में हम उपलब्ध 'नामोल्लेख' को भी चरम प्रमाण नहीं मान सकते। वह किसी लेखक द्वारा स्वीकृत और मान्यताप्राप्त लेखक का ही नामोल्लेख माना जा सकता है। उसके अतिरिक्त 'अनुल्लिखित आचार्यों' या लेखकों की एक बड़ी श्रेणी हमारी ज्ञान सीमा में आने से कतई छूट जाती है। 'महाभाष्य' का कर्त्ता जिन १०० यजुर्वेद शाखाओं अथवा १००० सामवेदीय शाखाओं आदि से परिचिति था, उनमें से हमतक कितनी पहुँच पाई हैं?

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'पाणिनि-पूर्व' वैयाकरणों और व्याकरणों की जिस सूची, या उनके जिन उल्लेखों, से हम परिचित हो पाते हैं, वे काल के थपेड़ों से विलुप्त हो जाने वाले विशाल व्याकरण-साहित्य के केवल संकेतकमात्र अवशेष हैं। केवल उनमें ही 'पाणिनिपूर्व व्याकरण' समाप्त नहीं हो जाता।

दूसरा पक्ष : एक अन्य भूल

पं० भगवद्दत्त और युधिष्ठिर मीमांसक इन आधुनिक ऐतिहासिकों के

दूसरे छोर पर हैं। उनको दृष्टि में पश्चिम के हर विद्वान् ने ऐसा किसी पूर्वाग्रह या भारतविरोधी भावना से ही किया है। कालगणना की दृष्टि से भी भारत के कृतित्व की प्राचीनता सिद्ध करने के व्यामोह में उन्होंने कई वास्तविक और तथ्याधारित बातों की उपेक्षा कर दी है। तिथिविनिश्चय के सम्बन्ध में यदि पाश्चात्य विद्वान् भारतीय परम्परा से अनभिज्ञ रहने के कारण एक प्रकार की भूल कर बैठे हैं, तो भारतीय एवं विश्व इतिहास के उपलब्ध प्रमाणों को उपेक्षित करके इन दोनों या इनके अनुयायी अन्य विद्वानों ने भी अनजाने ही भारतीय इतिहास की अनेकतिथियों से खिलवाड़ ही किया है। अलक्षेन्द्र या सिकन्दर महान् और चन्द्रगुप्त मौर्य के भारतीय-इतिहास-सिद्ध सत्य को भी कपोल-कल्पित मानकर इन विद्वानों ने बुद्ध, चन्द्रगुप्त मौर्य, चाणक्य, आदि सभी ऐतिहासिक व्यक्तित्वों को अतीत में इतना पीछे धकेल दिया है कि पतंजलि, यास्क और कालिदास तक के सर्वमान्य कालनिर्णय सन्देहास्पद हो उठते हैं। जो अशोक अपने को 'मौर्य' कहता है, अपनी 'कलिंग विजय' का उल्लेख करता है, और बौद्ध धर्म के प्रति अपने आदर को प्रदर्शित करता है, वही अपने दादा को सिकन्दर महान् का समकालीन भी, प्रसंगतः, सिद्ध कर देता है। उसके ढाईसौ वर्ष के अन्तर से होने वाला विदेशी किन्तु धर्मान्तरित शासक 'रुद्रदामा' चन्द्रगुप्त मौर्य को उसी अशोक का 'पितामह' घोषित करता है।

परन्तु इस विनिश्चित तिथि और सत्य को स्वीकार न करने पर अनेक भ्रान्तियों का उद्भव होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि भारतीय परम्परा और पौराणिक उल्लेखों को उनके वास्तविक स्वरूप में न लेकर इन विद्वानों ने, अत्यधिक मात्रा में एकांगी प्रमाण उद्धृत करके भी, एक दूसरे ही प्रकार की त्रुटि की है।

हमारा प्रयास

इसलिए इस विषय में हमें बहुत सँभल कर कदम उठाना है। हमारा प्रस्ताव है कि संस्कृत व्याकरण के विकास का अध्ययन करते हुए हम तिथिनिश्चय के इस विवादास्पद झमेले में कम से कम पड़ें और अपना कार्य तुलनात्मक सैद्धान्तिक अध्ययन और पौर्वापर्य-निनिश्चय तक ही रखें। हमारा प्रयास इसी दिशा में होगा। फिर भी जहां स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं, अथवा जहां किसी प्रकार के निर्णय पर निर्विवाद रूप में पहुँचा जा सकता

है, वहां उभयविध प्रमाणों को तोलकर ही किसी निर्णय पर पहुँचने का हमारा प्रयास रहेगा।

उद्गम स्रोत

उक्त पृष्ठभूमि पर विचार करने के बाद यह कहना सर्वथा उचित ही ठहरता है कि पाणिनि से पूर्व जितने भी वैयाकरणों के होने का उल्लेख मिलता है, या यास्क से पूर्व जितने भी नैरुक्तों के होने का उल्लेख मिलता है, वास्तव में उनकी कुल संख्या इससे कहीं अधिक रही होगी। वे नाम तो उन लोगों के हैं, जो कालक्रम में प्रसिद्धि पाकर सर्वमान्य रूप में स्वीकृत हुए। अन्यथा अनुल्लिखित आचार्यों के रूप में अनेकों आचार्य अन्य भी हुए होंगे।

'व्याकरण' के नाम पर हमारे पास सर्वाधिक प्राचीन रचनाएँ प्रातिशाख्यों के रूप में ही अवशिष्ट हैं। यास्क और पाणिनि से उनकी प्राचीनता इसी बात से सिद्ध है कि परवर्त्ती दोनों विद्वानों का विषय किसी न किसी रूप में तत्कालीन लोकभाषा या 'संस्कृत' भी रही थी। किन्तु, प्रातिशाख्यों का विषय केवल वैदिक भाषा या 'दैवी वाक्' का ही प्रयोग-विश्लेषण है। वह भी शाखा या चरणविशेष के साथ सम्बद्ध होकर! उनकी यह प्रवृत्ति ब्राह्मणग्रन्थादि वैदिक साहित्य के निर्माण क्रम के अनुकूल और उसी परम्परा में स्थित ठहरती है। ब्राह्मणग्रन्थों से कुछ परवर्त्ती उन्हें इसलिए कहा जा सकता है कि ब्राह्मणग्रन्थों का विषय केवल उनसे व्यापकतर ही नहीं है, बल्कि उनमें प्रातिशाख्यप्रोक्त नियमों का अनुसरण भी नहीं किया गया है। अर्थविनिश्चय में ब्राह्मणग्रन्थ नैरुक्त पद्धति का आश्रय लेते हैं। व्याकरण के अनेक पक्ष वहां उभरकर आए हैं। किन्तु, व्याकरण का अन्तिम आधार, या स्वरप्रक्रिया का व्यापक आधार, वहाँ उतनी व्यग्रता या गम्भीरता से नहीं लिया गया।

किन्तु, प्रातिशाख्यों की रचना यास्क से पूर्व अवश्य पूर्णता प्राप्त कर चुकी थी। 'पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि'[1] कहने वाला निरुक्तकार निश्चय ही उनके अस्तित्व, विषय और शैली से पूरी तरह परिचित है। हो सकता है कि कुछ प्रातिशाख्य उत्तरकालीन भी हों। परन्तु, यहाँ हमारा सम्बन्ध

---

१. नि० १.१७०।

उनके सामान्य रचना-काल के विनिश्चयमात्र से है।

इस प्रकार यह तो स्पष्ट है कि जिन प्रातिशाख्यों को हम 'व्याकरण' या 'शिक्षा' के अंगरूप में व्याकरण की आरम्भिकतम कृतियां मानते हैं, उनसे भी पूर्व ब्राह्मण ग्रन्थों में कई व्याकरणात्मक धारणाओं का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में उल्लेख हो चुका था। स्पष्ट है कि परम्परा के रूप में व्याकरण उन ब्राह्मणग्रन्थों की रचना से पूर्वकाल से ही विकास को प्राप्त कर रहा था।

ऋग्वेद

प्रायः पाणिनीय व्याकरण के परिचय में आने के बाद हम तथाकथित भाषाविज्ञान, निरुक्त और व्याकरण में अन्तर करना आरम्भ कर देते हैं। किन्तु, पाणिनि ने स्वतः अनेक ऐसे तथ्य कहे हैं, जो विश्व-भाषामात्र के विश्लेषण पर समान रूप से लागू होते हैं। यही कारण है कि पतंजलि के लिए यास्क और पाणिनि की प्रकृति में कोई विशेष अन्तर नहीं है। कात्यायन, पतंजलि, भर्तृहरि और भट्टोजिदीक्षित भी तथाकथित भाषाशास्त्र और व्याकरण में कोई मौलिक विभेद न करके उन्हें समग्र इकाई के रूप में ही देखते हैं।

जब ऐसा है, तब ऋग्वेदादि के उन वचनों का क्या किया जाए, जिनमें ऐसी अनेक बातों का उल्लेख है, जिन्हें आधुनिक विद्वान् भी भाषाशास्त्र की महत्तम उपलब्धियों के रूप में स्वीकार करने से निषेध नहीं कर सकेंगे? इससे भी बढ़कर महत्त्व की बात यह है कि यदि हम अनुसन्धित्सु बुद्धि के द्वारा निष्पक्ष भाव से वैदिक ऋषियों की सर्वाधिक निष्पक्ष कुछ उक्तियों पर विचार करें, तो सम्भव है कि विश्व-इतिहास की कुछ महत्त्वपूर्ण उलझी गुत्थियों पर पूरी तरह प्रकाश पड़ सके। हम आगे कुछ ऐसे तथ्यों का उल्लेख करेंगे। वैदिक मन्त्रों में व्याकरण की मूलभूत सिद्धान्तचर्चा की बात तो पतंजलि जैसे वेदविद् महामुनि ने भी स्वीकार की है। 'हेलयो हेलयः' वाले उनके उदाहरण से भी यह सिद्ध है कि वैदिक शब्दों की शुद्धता-अशुद्धता का ज्ञान और ध्यान वैदिक परम्परानुगामी आर्यजनों को तभी से था, जब वे असुरों से अलग होने लगे थे।

भारतभूमि पर आने के समय आर्यों का महान् नेता इन्द्र था। उनका गुरु बृहस्पति था। बृहस्पति ब्रह्मा की शिष्यपरम्परा में उत्पन्न महान् वैयाकरण और भाषातत्त्ववेत्ता था। पतंजलि के अनुसार बृहस्पति ने इन्द्र को जो

व्याकरणोपदेश दिया वह 'शब्दपारायण' नामक पद्धति पर प्रतिपदपाठ के रूप में था, जिसे भर्तृहरि के शब्दों में हम 'अविभाग व्याकरण' कह सकते हैं। अपनी महाभाष्यटीका में वे 'शब्दपारायण' को ग्रन्थ मानते हैं। प्रातिशाख्यों में भी 'पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि' (नि० १.६.१७) के अनुसार केवल प्रतिपदपाठ या पद और संहिता के विषय पर ही विचार किया गया है। इन्द्र ने लोकभाषा के प्रतिक्षण वर्धमान रूप के अध्ययन में प्रथम बार व्याकरण के इस प्रकार के प्रतिपदपाठ की अनुपयोगिता को समझा। अतः उसने विश्लेषणात्मक व्याकरण की रचना की। ऐन्द्र व्याकरण के आरम्भ की यही कहानी है। इन्द्र को इसकी प्रेरणा कहाँ से मिली, इस विषय में कोई निश्चित उल्लेख नहीं है। किन्तु, ऋग्वेद का एक सूक्त इसका कुछ संकेत देता है। यदि हम उस सूक्त की व्याकरणविषयक पृष्ठभूमि को पतंजलि के आधार पर प्रामाणिक स्वीकार कर सकें, तब हमें उसमें निहित ऐतिहासिक सत्य को स्वीकार कर लेना चाहिए। एक मन्त्र इस प्रकार है:

त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्।
इन्द्र एकं, सूर्य एकं जजान, वेनादेकं स्वधया निष्टतक्षुः॥

(ऋ० ४.५८.४)

यहाँ यह अवधेय है कि इससे ठीक पूर्व का तृतीय मन्त्र 'चत्वारि शृङ्गा' ही पतंजलि ने 'महादेव शब्द' की व्याकरणात्मक अभिव्यक्ति के प्रमाण में उपस्थित किया है। इससे भी पूर्व इसी सूक्त के द्वितीय मन्त्र में ब्रह्मा द्वारा 'चतुःशृंग गौर' के उद्गिरण की चर्चा आई है। अतः इस मन्त्र में निहित इस सत्य पर यदि पतंजलि की परम्परा में विचार करें, तब यह स्पष्ट होगा कि भाषा और व्याकरण के 'त्रीणि निहिता गुहायां' (ऋ० १.१६४.४५) में कथित तीन चरणों को 'पणियों' ने बहुत पहले ही पहचान लिया था। उनमें से दो को तो इन्द्र और विवस्वान् सूर्य ने स्वयं ही खोज निकाला था। तीसरे के लिए उन्होंने स्वयं श्रम करके उसका परिज्ञान प्राप्त किया, या उस पर 'वेन' के एकाकी अधिकार को समाप्त कर उसे उन्मुक्त किया। वेन की इस बहुज्ञता की चर्चा अन्य मन्त्र में भी आई है।[1] वेन और पणि से यहाँ किनका संकेत है?, यह निर्णय करना हमारा लक्ष्य नहीं है। हमारा इंगित तो केवल इतना बताना है कि वैदिक ऋषि व्याकरण के जन्म और

---

१. ऋ० ८.६३.१; अथर्व० २.१.१.१., यजु० वाज० ३२.८, आदि।

विकास के विषय में पूर्ण अवबुद्ध था। उसे उसकी विकासपरम्परा का भी पूर्ण ज्ञान था। हो सकता है बाद का ऐन्द्र व्याकरण इसी वैदिक इन्द्र की उपलब्धियों के अनुकरण पर बना हो।

वैदिक व्याकरणात्मक उपलब्धियाँ

इसी प्रसंग में कदाचित् उन कुछ तथ्यों और उल्लेखों की ओर भी दृष्टिपात कर लेना उचित होगा, जिनका उल्लेख वैदिक मन्त्रों में समाविष्ट है, और जिनमें से कुछ को पतंजलि ने उद्धृत भी किया है। ये सत्य कुछ इस प्रकार हैं :

(क) ऋ० १.१६४. २४ में कहा है :

वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्तवाणीः॥

यहाँ 'सप्तवाणीः' पद विशेष विचारणीय है।

(ख) इस सूक्त के ३४ वें मन्त्र के 'पृच्छामि वाचः परमं व्योम' का उत्तर इसी के ३५ वें मन्त्र में 'ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम' के रूप में दिया गया है।

(ग) इसी सूक्त के ४४ वें मन्त्र में 'त्रयः केशिनः' और ४५ वें मन्त्र में 'चत्वारि पदानि' का उल्लेख है। विस्तृत विचार करने पर स्पष्ट होगा कि यहाँ 'केशिन्' का सम्बन्ध पुरुष, लिंग, वचन और काल में से 'काल' के लिए अधिक हुआ है, जबकि 'चत्वारि पदानि' का उल्लेख वाणी के आविर्भाव में आने वाली चार क्रमावस्थाओं या चार पदों के लिए हुआ है।

(घ) ऋ० ८.६९ के अनेक मन्त्रों में इन्द्र का सम्बन्ध वाक् के दोहन से और वरुण का सम्बन्ध अधिगत ज्ञान वाले व्यक्ति से है। इस प्रसंग में 'त्रिष्टुप्', 'त्रिःसप्त', 'अप्', 'सप्त सिन्धवः' एवं 'अणुक्षरन्ति काकुदं' आदि पदों का उल्लेख विचारणीय हैं। (क) में उल्लिखित 'सप्तवाणीः' की तुलना इस 'सप्त सिन्धवः' से करनी भी अभीष्ट रहेगी।

(ङ) ऋ० १०.७१ तो सारा सूक्त ही वाक् की विविधात्मक व्याख्या से भरा पड़ा है। मनोवैज्ञानिक उपलब्धि-सामर्थ्यादि की भी उसमें खुलकर चर्चा हुई है।

इनके अतिरिक्त अन्य वेदों से भी इसी प्रकार के अनेकानेक उद्धरण दिए जा सकते हैं। 'ये त्रिषप्ताः' (अथर्व १.१.१) स्वतः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रमाण है।

इन सबसे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि वैदिक मन्त्रद्रष्टा या मन्त्रकर्त्ता व्याकरणात्मक तथ्यों से पूर्णतया परिचित थे। वेद का विषय व्याकरण नहीं है। इसलिए यह कल्पना निरी मूर्खतापूर्ण ही होगी कि हम वेदों में व्याकरण का पूरा स्वरूप न पाकर इन मन्त्रों को और वेदों को व्याकरण के तत्त्वों से सर्वथा हीन या रहित अनुभव करें। यद्यपि वेदों में इस प्रकार की चर्चा प्रसंगवशात् ही उल्लिखित हुई है, परन्तु वह आश्चर्यजनक रूप से प्रौढ़ और समृद्ध है। सात विभक्ति, तीन काल, तीन वचन, चार पद, चार क्रम, द्विपद-चतुष्पद-कल्पना आदि व्याकरण के बहुत से सैद्धान्तिक आधार वहाँ स्पष्टतः विद्यमान हैं।

ब्राह्मणग्रन्थ और व्याकरण

गोपथ ब्राह्मण का निम्न वचन श्री मीमांसक ने उद्धृत किया है : "ओङ्कारं पृच्छामः, को धातुः, किं प्रातिपादिकं, किं नामाख्यातं, किं लिंगं, किं वचनं, का विभक्तिः, कः प्रत्ययः, कः स्वरः, उपसर्गो, निपातः, किं वै व्याकरणं, को विकारः, को विकारी, कतिमात्रः, कतिवर्णः, कत्यक्षरः, कतिपदः, कः संयोगः, किं स्थाननादानुप्रदानकरणम्...।" (गो० ब्रा० पू० १.२४)।

इस वचन की उपेक्षा इस दृष्टि से नहीं की जा सकती कि इसमें केवल कुछ संज्ञाएँ मात्र ही गिनाई गई हैं। यह सत्य है कि गोपथ में ही 'षडङ्ग' की भी चर्चा आती है। किन्तु, उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उस समय तक व्याकरणविषयक विचार एक परिपक्व अवस्था तक पहुँच चुका था। प्रधानतः इनमें से सभी संज्ञाएँ पाणिनि तथा उससे पूर्व या उत्तरवर्ती अन्य आचार्यों ने विना मात्राविसर्गभेद के यथावत् अपनाई हैं।

इसके अतिरिक्त यास्कीय परम्परा का पुष्टिनिर्देश शतपथ ब्राह्मण से होता है। प्रत्येक विचार्य पद में से धातु को अलग से खोज लेने की व्यग्रता वहां भी स्पष्टता से देखी जाती है। 'अर्थ की नित्यता' का यास्कीय सिद्धान्त वहाँ भी पूरी तरह अनुकृत हुआ है। कुत्रचित् वहां भी व्याकरणात्मक सत्य चामत्कारिक रूप में सामने आते हैं। पर, यह स्मर्त्तव्य है कि ब्राह्मणग्रन्थों का प्रधान लक्ष्य व्याकरण-विचार नहीं था। निरुक्ति-विचार का सहायक बनकर ही वहां ऐसा प्रसंग आ पाया है।

प्रथम आचार्य इन्द्र : गुरु परम्परा

(१) 'ऋक्तन्त्र' में व्याकरण के आविर्भाव की परम्परा इस प्रकार बताई

गई है : ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः ।" (ऋक्तन्त्र, १/४)

(२) 'तैत्तिरीय संहिता' (६/४/७) में लिखा है : "वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत् । ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति ।...तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् ।"

इसकी व्याख्या में सायणाचार्य कहते हैं : "तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययविभागं सर्वत्राकरोत् ।"

(३) प्रथम अध्याय में ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के ५८ वें सूक्त के कुछ मन्त्रों, और ८वें मण्डल के कुछ उद्धारणों के द्वारा यह स्पष्ट किया जा चुका है कि ब्रह्मा, वेन, इन्द्र और सूर्य का सम्बन्ध संस्कृत और वैदिक भाषा के ज्ञान को आबद्ध करने से है। इन्द्र को इस विषय में अन्यों से अधिक प्राधान्य प्राप्त है । इसका कारण भी हमने वहीं स्पष्ट किया है ।

(४) महाभाष्य में आए बृहस्पति-इन्द्र-प्रकरण के महत्त्व का उल्लेख भी हम कर आए हैं ।

इस प्रकार इन कुछ उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि संस्कृत व्याकरण के वर्त्तमान प्रकृतिप्रत्ययविभाग के रूप को विस्पष्ट करने का सर्वप्रथम और सर्वप्रधान प्रयास 'इन्द्र' ने ही किया था, यद्यपि 'आख्यात' को अलग से पहचानने का प्रथम गौरव भरद्वाज को ही प्राप्त है । बृहस्पति और उससे पूर्ववर्त्ती ब्रह्मा भी जिस प्रकार के व्याकरण के आविष्कार या प्रतिष्ठान से सम्बद्ध थे, उसे हम अविभाग व्याकरण की पूर्वोक्त कोटि में ही रख सकते हैं । किन्तु, सविभाग व्याकरण की प्रतिष्ठा का प्रथम श्रेय 'इन्द्र' को ही जाता है । प्रकृति-प्रत्यय-विभाग इस सविभाग व्याकरण का ही मूलाधार है । इसी कारण हमने प्रथम आचार्य ब्रह्मा को न कहकर इन्द्र को कहा है । क्योंकि जिन अर्थों में आज हम व्याकरण और वैयाकरण शब्दों के प्रयोग से परिचित हैं, उन अर्थों में इन्द्र ही सर्वप्रथम आचार्य ठहरते हैं ।

इन्हीं के रचे व्याकरण को 'ऐन्द्र व्याकरण' के नाम से स्मरण किया जाता है । इस विषय पर हम बाद में विचार करेंगे । जैनेन्द्र व्याकरण को भी 'ऐन्द्र परम्परा' से सम्बद्ध करने के पीछे उसे प्राचीनतम सिद्ध करने की भावना ही काम कर रही है ।

पाणिनि से पूर्ववर्त्ती आचार्यों का परिगणन

(१) दाक्षीपुत्र पाणिनि अपने व्याकरण में दस वैयाकरणों का स्मरण नामोल्लेख पूर्वक करते हैं। किन्तु अनेकत्र अन्य ऐसे संकेत अन्येषाम्, प्राचाम्, उदीचाम्, सर्वेषाम्, आदि के रूप में वे देते हैं, जिनसे उनके समकालीन और प्राक्कालीन अनेक आचार्यों का होना संकेतित होता है।

(२) उनके अतिरिक्त तेरह विभिन्न आचार्यों का उल्लेख उपलभ्यमान विविध व्याकरण-ग्रन्थों में मिलता है।

(३) प्रातिशाख्यों और शिक्षादि में कुछ अन्य आचार्यों का भी उल्लेख मिलता है, जिसकी संख्या आचार्य मीमांसक जी ने ५६ निश्चित की है।

इस प्रकार कुल संख्या बयासी (८२) से अधिक ही बैठती है। ये सभी आचार्य वे हैं, जिनकी उपस्थिति पाणिनि से पूर्व सिद्ध मानी गई है।

यह स्पष्ट नहीं हो पाया कि यास्कप्रोक्त एवं शतपथ आदि में प्रोक्त विविध नैरुक्तों और वैयाकरणों का समावेश भी श्री मीमांसक ने इनमें किया है या नहीं। यदि ऐसा होता तो शतपथप्रोक्त 'यास्क पराशर' को वे निश्चय ही निरुक्तकार यास्क से भिन्न मान कर चलते। परन्तु, उन्होंने 'यास्क' का नाम एक जगह ही गिनवाया है, यद्यपि उक्त प्रातिशाख्य में भी यास्क का नाम उल्लिखित है। अतः स्पष्ट है कि इस सूची पर पुनर्विचार की आवश्यकता बनी रहेगी। उतने विस्तार में जाना हमें यहां अभिप्रेत नहीं है।

आठ और नौ व्याकरणों की परम्परा

पाणिनि से पूर्ववर्त्ती व्याकरणों की अपार राशि में से कम से कम आठ व्याकरण ऐसे थे, जिन्हें प्रामाणिक रूप में प्रसिद्धि और मान्यता प्राप्त हुई थी। इस सम्बन्ध में श्री मीमांसक 'श्रीतत्त्वनिधि' से निम्न श्लोक उद्धृत किया है :

ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम्।
सारस्वतं चापिशलं शाकल्यं पाणिनीयकम्॥

इनमें से 'चन्द्र' के अतिरिक्त अन्य परिगणित सात वैयाकरण पाणिनि से प्राचीन हैं। शाकल का स्पष्टोल्लेख तो ऋक्प्रातिशाख्य १/६४ आदि में है ही। 'ऋक्तन्त्र' में उल्लिखित आचार्यों की संख्या इससे भी अधिक है। केवल

'चान्द्र' व्याकरण ही पाणिनि से निश्चित रूप में परवर्त्ती है। 'कौमार' (कातन्त्र) और 'सारस्वत' की परम्परा भी प्राचीन ही रही होगी, ऐसा हम उनकी चर्चा के प्रसंग में लिखेंगे।

इस प्रकार यह तो स्पष्ट है कि प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त भी कई व्याकरण पाणिनि से पूर्व विद्यमान थे : वाल्मीकि रामायण में 'नवव्याकरणार्थवेत्ता' (उत्तरकाण्ड, ३६/४७) का उल्लेख है। परन्तु आगे चलकर हम बताएँगे कि प्रातिशाख्यों की साक्षी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पाणिनि के आगमन से पूर्व वह पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी, जिस पर संस्कृत व्याकरण के चिरस्थायी और दृढ़ भवन का निर्माण पाणिनि ने किया। सौभाग्य की बात है कि इन में से दो तीन व्याकरण हम तक अविकल या विकलित रूप में जैसे-तैसे पहुँच ही गए हैं।

प्रातिशाख्यों के प्रवक्ता

यद्यपि अधिकांश विद्वानों ने प्रातिशाख्य ग्रन्थों को 'शब्दानुशासन' की मान्य परम्परा का व्याकरण (पदप्रकृतीनि, नि० १/१७/१) स्वीकार न करके, उन्हें केवल 'चरणों से ही सम्बद्ध' स्वीकार किया है। तथापि उन सूत्रों के तनिक विश्लेषण के बाद भी स्पष्टता से कहा जा सकता है कि उनके सभी प्रमुख लक्षण उन्हें पाणिनि के व्याकरण से पूर्व का, और 'वैदिक शब्दानुशासन' के रूप में उचित, सिद्ध करते हैं। हम आगे चलकर प्रातिशाख्यों के कुछ ही उदाहरणों से यह सिद्ध करेंगें कि उनमें गृहीत संज्ञाएँ एवं कुछ अन्य बातें अधिकांशतः वही हैं, जो बाद में पाणिनि ने स्वीकार की हैं। किन्तु उनमें कुछ संज्ञाएँ अपनी पूर्ववर्त्तिता का भी स्पष्ट उद्घोष कर रही हैं। अन्तर यही है कि 'सविभाग प्रक्रिया' को अपनाकर भी ये प्रातिशाख्य 'प्रकृति-प्राप्त-विभाग' को नहीं अपनाते। वास्तव में उनका उद्देश्य ही भिन्न है। वे 'पदपाठ' और 'संहिता' की रक्षा के उद्देश्य से रचे गए हैं।

उनमें से कुछ प्रातिशाख्य पाणिनि से प्राचीन हैं, जब कि कुछ स्पष्ट ही अर्वाचीन हैं। कुल छह या आठ प्रातिशाख्य ही ऐसे हैं, जो सम्प्रति उपलब्ध हैं। कुछ विद्वान् इनमें से केवल 'ऋक्प्रातिशाख्य' को अथवा कुछ अथर्व प्रातिशाख्य को भी निश्चय के साथ पाणिनि से प्राचीन मानते हैं।

ऋक्प्रातिशाख्य का कर्त्ता शौनक निश्चय ही पाणिन से पूर्व का है। उसके

द्वारा अपनाई गई संज्ञाएं और सूत्रशैली उसे हर दशा में पाणिनि-पूर्व ही सिद्ध करती हैं। कात्यायन का रचा 'वाजसनेय प्रातिशाख्य' और वररुचि कृत 'साम प्रातिशाख्य' भी उपलब्ध होते हैं। केवलमात्र नामों को देखकर ही हमें भ्रम में न पड़ना चाहिए। वैयाकरण वाररुच कात्यायन से उनकी तुलना की आधारभूत सामग्री हमारे पास उसके रचे वार्त्तिकों और प्राकृत-प्रकाश के रूप में है ही। कम से कम व्याकरणात्मक संज्ञाओं की स्वीकृति उन व्यक्तित्वों की एकता या अनेकता को स्पष्ट कर देगी। यह सब हम यथास्थान स्पष्ट करेंगे। अन्य प्रातिशाख्यों के प्रवक्ता स्पष्ट नहीं हैं। 'अथर्वचतुरध्यायी' का प्रवक्ता शौनक को माना जाता है; जबकि 'अथर्व प्रातिशाख्य' का प्रवक्ता उल्लिखित नहीं हैं।

परन्तु, दूसरी ओर, ऋक्प्रातिशाख्यादि में वेदमित्र, शाकल आदि आचार्यों का उल्लेख जिस प्रकार के मतभेद प्रदर्शित करने के लिए हुआ है, उसके आधार पर उन्हें, और अन्य कई तत्सदृश उल्लिखित विद्वानों को, प्रातिशाख्यकार ही स्वीकार किया जा सकता है। कुल मिलाकर प्रातिशाख्यों में इस प्रकार के विद्वानों की संख्या ५९ के आस पास ठहरती है। इनमें से अनेक को यास्क ने 'नैरुक्त' माना है; जबकि इनमें से ही कुछ को पाणिनि और अन्य वैयाकरणों ने 'वैयाकरण' वर्ग में गृहित करना उचित समझा है। हम कह ही चुके हैं कि इस दृष्टि से 'प्रातिशाख्य' भी पूर्णतः 'व्याकरण' के ही वर्ग में अन्तर्गृहीत हो सकते हैं; यद्यपि उनका उद्देश्य वैदिक संहिता विशेष की रक्षा तक सीमित होने के कारण उनकी पद्धति पाणिनि और शाकटायन की पद्धति से भिन्न थी।

प्रातिशाख्यों में उल्लिखित इन कुछ विद्वानों के नाम इस प्रकार हैं।

१. अग्निवेश्य	६. काश्यप	११. पौष्करसादि	१६. व्याडि
२. आत्रेय,	७. कौण्डिन्य	१२. माध्यन्दिन	१७. शाकटायन
३. आगस्त्य	८. गार्ग्य	१३. यास्क	१८. शाकल
४. कात्यायन	९. गौतम	१४. मीमांसक	१९. शांखायन
५. काण्व	१०. जातूकर्ण्य	१५. वेदमित्र	२०. शौनक

इनके अतिरिक्त अन्य अनेक नामों को भी अपना-अपना महत्त्व प्राप्त है। पर हमने यहाँ केवल कुछ प्रसिद्ध नामों को ही गिनाना उचित समझा है।

वैदिक व्याकरण

प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त कुछ वैदिक व्याकरण भी उपलब्ध होते हैं। वास्तव में इन्हें भी 'प्रातिशाख्य' कहना ही अधिक उचित है। मीमांसक तथा अन्य विद्वानों ने सात-आठ नाम इस सम्बन्ध में गिनाए हैं। उनमें 'ऋक्तन्त्र' ही सर्वाधिक मुख्य और प्रसिद्ध है। वैसे कात्यायन कृत 'भाषिक सूत्र' एवं 'प्रतिज्ञा सूत्र' तथा आपिशलिकृत 'अक्षरतन्त्र' का महत्त्व भी पर्याप्त अधिक है।

'ऋक्तन्त्र' का प्रणेता शाकटायन माना जाता है। इसमें जिन वैयाकरणों के नामों का उल्लेख हुआ है, अकारादि क्रम से निम्न हैं: इन्द्र, औदव्रजि, नैगी, बृहस्पति, ब्रह्मा, भरद्वाज और शाकटायन। ये सभी नाम पाणिनि-पूर्व के ही हैं। पाणिनि का नामोल्लेख 'लघु ऋक्तन्त्र' में मिलता है, जो कुछ बाद की रचना ठहरती है। आगे चलकर हम इनके तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा यह दिखाएँगे कि युधिष्ठिर मीमांसक ने जिस आधार पर इन्हें 'प्रातिशाख्यों' से भिन्न माना है, वह ठीक नहीं है।

शिक्षा-ग्रन्थ

पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने वाले ग्रन्थों में शिक्षा-ग्रन्थों का स्थान भी प्रमुख है। यूं तो प्रत्येक प्रातिशाख्य के साथ एक न एक पूर्ववर्त्ती शिक्षा का अस्तित्व माना जाता है। किन्तु, इनमें से प्रतिशाखा से सम्बद्ध बहुत कम शिक्षाएँ ही उपलब्ध हुई हैं। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने 'प्राचीन भारतीय ध्वनि-शास्त्र का अध्ययन' नाम के अपने अंग्रेज़ी ग्रन्थ में शिक्षा-ग्रन्थों की, वैदिक उच्चारण के सम्बन्ध में, सूक्ष्म-पर्यवेक्षिका शक्ति का अच्छा विश्लेषण किया है। निश्चय ही पाणिनि और आपिशलि आदि के नाम से मिलने वाली शिक्षाओं की इनसे बहुत अंशों में भिन्नता स्पष्ट है। स्पष्ट है कि उनमें वेदों से परवर्त्ती भाषा का ध्यान अधिक रखा गया है। उसके आधारभूत उच्चारण भी वेदों की विविध शाखाओं मात्र से सम्बद्ध ही नहीं रह गए हैं।

इनमें से सबका स्वरूप सूत्रात्मक था या कारिकात्मक ?, इस प्रश्न पर अधिक अनुसंधान होना अपेक्षित है। इस सम्बन्ध में इतना कह देना उचित ही होगा कि सामान्यतः शिक्षा-ग्रन्थों को प्रातिशाख्यों से पूर्ववर्त्ती या उनके

मूलरूप में स्वीकार किया जाना उचित है। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने इस विषय में पर्याप्त विस्तार से विचार किया है। उनका यह निष्कर्ष ठीक ही है कि वर्तमान समय में उपलब्ध शिक्षाओं में सर्वाधिक प्राचीन पाणिनीय शिक्षा ही है। वे इसका स्वरूप कारिकामय ही मानते हैं। इस शिक्षा के जितने भी पाठभेद मिलते हैं, उन सबमें से खोजकर डा० मनमोहन घोष ने पाणिनीय शिक्षा की २२ कारिकाओं को मूल स्वीकार किया है। इसकी मान्यताओं को 'मूल शिक्षा' के अनुकूल माना जा सकता है। किन्तु अन्ततः 'पाणिनीय शिक्षा' मूल-शिक्षा नहीं ठहरती। सूत्रात्मक रूप में पाणिनि की एक शिक्षा स्वामी दयानन्द, डा० रघुवीर और मीमांसक ने पृथक्शः सम्पादित की है। आपिशलि की शिक्षा भी डा० रघुवीर और मीमांसक जी ने प्रकाशित की है। अतः यह प्रश्न भी विवादास्पद ही है कि मूल रूप में ये शिक्षाएँ कारिकात्मक थीं या सूत्रात्मक ?

डा० घोष और डा० वर्मा इस विषय में भी निश्चित हैं कि पाणिनीय शिक्षा किसी एक वेद के अथवा सामान्यतः सभी वेदों के उच्चारण से सम्बद्ध नहीं है। उनकी दृष्टि में वैदिक उच्चारणों से उसका मतभेद स्पष्ट है। इसकी अपेक्षा डा० वर्मा भारद्वाज शिक्षा के निष्कर्षों को वेदानुकूल और प्राचीन मानते हैं। यही बात वे कुछ अन्य शिक्षा-ग्रन्थों के विषय में भी सत्य पाते हैं। परन्तु, उनका निर्णय यह है कि अपने वर्तमान रूप में अधिकांश शिक्षा-ग्रन्थ पाणिनि के परवर्ती ही हैं।

स्वयं कारिकामय पाणिनीय-शिक्षा के लेखक के विषय में सन्देह है। 'पाणिनीयमतं यथा' के उल्लेख के आधार पर इस रचना को पाणिनि के अनुज 'पिंगल' की रचना माना जाता है। उधर सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा की प्रामाणिकता को भी सन्दिग्ध माना गया है।

कुछ भी हो; शिक्षाग्रन्थ अपने वर्तमान रूप में प्रातिशाख्यों से पर्याप्त परवर्त्ती हैं। उनके मूलरूप ...तिशाख्यों से निश्चय ही पूर्ववर्त्ती रहे होंगे। वे अनुपलभ्य हैं।

पाणिनि-पूर्व के व्याकरण

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि पाणिनि से पूर्व और ब्रह्मा के बाद अनेकानेक प्रमुख प्रवक्ता आचार्य व्याकरण के क्षेत्र में हो चुके थे। परन्तु उनमें से कम-से-कम बयासी के नाम हमें स्पष्टतः उल्लिखित मिलते हैं। यह

ऊपर की पंक्तियों में स्पष्ट कर चुके हैं। किन्तु, इनमें से भी पाणिनि स्वयं केवल दस आचार्यों को ही नामोल्लेखपूर्वक स्मरण करते हैं। अन्य वैयाकरणों ने कुल मिलाकर तेरह अन्य वैयाकरणों का उल्लेख किया है। इन तेईस में से बहुत से नाम प्रातिशाख्योक्त ५९ नामों से अभिन्न हैं। अतः इस सूची पर फिर से विचार होना आवश्यक है।

इन सब उल्लिखित आचार्यों में से कुछ के जो व्याकरण स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध होते हैं, उन्हें 'प्रातिशाख्य' और 'वैदिक व्याकरण' के रूप में ऊपर परिगणित किया ही गया है। शेष ऐसे व्याकरण, जो पाणिनीय अर्थों में 'व्याकरण' कहे जा सकते हैं, उल्लेख की दृष्टि से भी वे कदाचित् ही सुरक्षित कहे जा सकते हैं। फिर भी हम इनमें से कुछ का उल्लेख यथास्थान परिचयात्मक रूप में करेंगे। ऐसा करते हुए हम पाणिनिपूर्व के सभी वैदिक-लौकिक उपलब्ध या उल्लिखित व्याकरणों में से कुछ प्रमुखतम का ही सांकेतिक परिचय देंगे। यहाँ तो यही कह देना पर्याप्त है कि हमारी दृष्टि में ये प्रमुखतम वैयाकरण हैं: इन्द्र, भागुरि, काशकृत्स्न, व्याडि, आपिशलि, गालव, शाकटायन, शाकल्य, और स्फोटायन (या औदुम्बरायण)। इन सबके रचित व्याकरण ग्रन्थ तो अविकल रूप में उपलब्ध नहीं होते, किन्तु इनका प्रामाणिक उल्लेख अनेक रूप में उपलब्ध हो जाता है।

इनमें से व्याडि के विषय में मतभेद है: उसे पाणिनिपूर्व माना जाए, या नहीं? हम यथास्थल इस बात की विवेचना करेंगे।

पाणिनि और कात्यायन

निश्चय ही पाणिनि का अपना महत्त्व है। अतीत या पूर्व का उपसंहार और भविष्य का मार्ग दर्शन साथ-साथ करना किसी-किसी युगपुरुष का ही कार्य होता है। व्याकरण के क्षेत्र में पाणिनि ऐसे ही युगपुरुष बनकर आए। उनसे पूर्व वैदिक और लौकिक साहित्य का एक विशाल अम्बार लग चुका था। भाषा के शास्त्रीय और काव्यात्मक स्वरूपों के त्रिविध विभाजन और विश्लेषण व्यक्त हो चुके थे। पाणिनि ने इस सब का ही सूक्ष्म विवेचनात्मक अध्ययन किया। जहाँ एक ओर विशाल वैदिक साहित्य की सुरक्षा उनका ध्येय था, वहाँ, दूसरी ओर, 'संस्कृत' के लौकिक प्रयोग में विविध रूपों में आ रहे व्यवधान को कम करके उसके साहित्योपयोगी रूप के बीच ऐकात्म्य स्थापित

करना भी उनका लक्ष्य था। संस्कृत के एक समन्वित रूप को युगों तक चिरस्थायी बनाने के लिए यह नितान्त आवश्यक भी था।

पाणिनि को इसमें पूर्ण सफलता भी मिली। भाषा के क्षेत्र में उन जैसा समन्वयकारी युगपुरुष कदाचित् ही विश्व में कहीं और कोई हुआ हो। वैदिक की प्राणरक्षा करते हुए उन्होंने संस्कृत को एक विशिष्ट नियमबद्ध शृङ्खला में आबद्ध कर देने का यत्न किया। ऐसा करते हुए उन्होंने जिस उदार दृष्टि का परिचय दिया, उसका आभास इतने से ही मिल जाता है कि अपने समय तक प्रचलित उन सभी शब्दों को, चाहे वे किसी भी मूल से आए हों, जिनका प्रयोग संस्कृत में ग्राह्य हो चुका था और जिन्हें जनमानस संस्कृत-रूप-विधान में ढालकर ही प्रयोग करता था, उन्होंने उन्हें संस्कृत-व्याकरण के विशाल दायरे में लाने का महान् प्रयास किया। छन्दसि, लोके, भाषायाम्, विभाषा, अन्यतरस्याम्, बहुलम् (उणादयो बहुलम्, आदि) आदि उनकी परिभाषाएँ भाषाओं के इन विविध रूपों को ही द्योतित करती हैं। फिर, प्राचाम्[1], अन्येषाम्, आदि शब्द देश विशेष के प्रचलित रूप प्रयोगों की ओर भी संकेत देते हैं। पाणिनि ने इन सबको ही 'संस्कृत' के उस विशाल दायरे के अन्दर ले लिया, जिसे आज कुछ लोग पूरी तरह न समझ पाने के कारण 'संकुचित दायरा' कह बैठते हैं।

पर, पाणिनि के इस आशय को समझने वालों की भी कमी न थी। कात्यायन इसी प्रकार के महान् आचार्य और ऋषि थे, जिन्होंने पाणिनि के इस आशय को पूरी तरह हृदयंगम किया था। इसी उद्देश्य से पाणिनि के प्रयास की छानबीन करने के बाद वे इस परिणाम पर पहुँचे कि अपने महान् उद्देश्य की पूर्णप्राप्ति के प्रयास में पाणिनि की पकड़ और पहुँच से भी कुछ न कुछ छूट गया है। उन्होंने स्वयं वार्त्तिकों की रचना करके उस सबको 'सूत्रों' या 'नियमों' की पकड़ में लाने का प्रयास किया, जो कि पाणिनि से छूट गया था। आश्चर्य नहीं कि अनेक विदेशी और देशी महान् विद्वानों ने उनके प्रयास में पाणिनि के 'विरोध' की गन्ध पाई है। किन्तु व्याडि, पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि और भर्तृहरि जिस ऋषि परम्परा के अनुयायी थे, उसमें ऐसे किसी शाश्वतिक विरोध की गुंजाइश नहीं थी। सत्य के अनुसंधान की एक अनवरत और अविकल परम्परा में विविध कड़ियों के रूप में ही उन्होंने

---

१. एङ् प्राचां देशे. पा० १.१.७५।

एक ही सत्य को अनावृत और उद्घाटित करने का यत्न किया। कात्यायन का महत्त्व इसलिए और भी बढ़ जाता है कि पाणिनि पर आलोचनात्मक कलम चलाने का साहस हर किसी आचार्य में हो, यह सम्भव न था। ऐसी आलोचना तो कभी कोई अन्य आचार्य कर ही न सका। वेबर, कीथ, कीलहार्न, आदि के निष्कर्ष इसी तथ्य के प्रकाश में विचारे जाने चाहिएँ। पर, इन कात्यायन के काल के विषय में भी महान् मतभेद है। कुछ विद्वान् इन्हें प्रातिशाख्यकार कात्यायन से अभिन्न मानते हैं; जबकि कुछ अन्य इन्हें भिन्न मानते हैं।

पतंजलि

कात्यायन और पाणिनि समकालीन रहे हों या पूर्वोत्तरवर्ती, उनके प्रयासों में परस्पर एकता का भाव अवश्य विद्यमान था। अन्तर्दृष्टिसम्पन्न पतंजलि इस बात को पहचान चुके थे। योग के परम पंडित और तत्त्ववेत्ता के लिए यह पहचानना कठिन भी न था। उसने देखा कि यद्यपि कात्यायन की दृष्टि पूरकता की ओर ही थी, तब भी उनकी अधिकांश उक्तियाँ ऐसी हैं, जिनके अस्तित्व के बिना पाणिनि के सूत्र भी उन-उन कार्यों के निष्पादन में सफल रहते। ऐसा करते हुए उन्होंने स्वयं पाणिनि की द्विरुक्तता को भी कई जगह अक्षम्य समझा है। वे पाणिनि की सरणि में ही पूर्णता को खोजना चाहते थे। ऐसे प्रयास में जहाँ भी उन्हें कात्यायन का प्रयास स्तुत्य लगा है, उन्होंने उसकी स्तुति खुलकर की है। किन्तु जहाँ उन्होंने, पाणिनि के ही सूत्रों को पूर्ण मानकर, कात्यायन के सूत्रों को तदर्थघोषक और पुनरुक्तिमात्र ही माना है, वहाँ भी उनका निष्कर्ष अवलोकनीय है : "तब फिर हम इस वार्त्तिक को स्वीकार कर ही लें। अन्यथा, इसके बिना भी काम तो चल ही जाता है।[1]"

इस सरणि पर बढ़ते हुए यदि उन्होंने यह पाया कि कात्यायन के केवल कुछेक सूत्र ही अनिवार्य और अकाट्य रूप में स्वीकार्य कहे जा सकते हैं, तब यह परिणाम न तो कात्यायन के प्रति अनादर की भावना से प्रेरित होकर ही था, और न ही इसके पीछे पाणिनि के प्रति असीम भक्ति कार्य कर

---

१. महा० १.१.१ : "अथवा अभ्युपाय एवापशब्दज्ञानं शब्दज्ञानस्येति।" इत्यादि में यही युक्तिक्रम है।

रही थी। यह तो जिज्ञासा की एक राह थी, जो परम सत्य को पाकर ही विश्राम करना जानती थी।

किन्तु, उक्त दोनों आचार्यों से स्वतन्त्र होकर भी पतंजलि का एक रूप उभरा है। वह है उनका दार्शनिक रूप। पूर्वोक्त दोनों ही आचार्य दार्शनिक आधार लेकर बढ़ अवश्य रहे थे, किन्तु, उनका युक्तिक्रम दार्शनिकता का प्रमुखतया आभास नहीं देता था। इधर, पतंजलि दार्शनिक की पैनी दृष्टि और योगी की समन्वय वृत्ति को लेकर चल रहे थे। इन दोनों ही बातों ने उन के महाभाष्य को अपूर्व कृति बना दिया। विविध संकेतों के आधार पर कहा जा सकता है कि यूं तो पतंजलि से पूर्व भी अनेक भाष्य और 'वृत्तिग्रन्थ' बने थे, और उनके बाद भी अनेक बने; किन्तु युगान्तरकारी रूप में चिरस्थायी मान्यता केवल उनके ही 'महाभाष्य' को मिली। किन्तु, दार्शनिकता के सरल और गम्भीर मार्ग का अनुसरण पण्डितम्मन्य लोगों के लिए सम्भव न था। उन्हें यह सहज स्वीकार्य न था। इसीलिए उस अन्तर्दृष्टि के अभाव में अपने ही शिष्यों द्वारा पतंजलि का 'महाभाष्य' विकृत रूप में सामने आने लगा। समय आया, जब उत्तर भारत में एक भी विद्वान् उसे पूरी तरह समझने वाला न रहा। इस भ्रष्टता से उसका पुनरुद्धार कालान्तर में ही सम्भव हुआ।[1]

भर्तृहरि

इस उद्धार का श्रेय भले ही सर्वप्रथम किसी को भी दिया जाए, किन्तु अन्ततः पतंजलि को पूरी तरह समझने और उनकी कृति का जीर्णोद्धार, नई व्याख्या के साथ, करने का श्रेय महावैयाकरण और पदवाक्यप्रमाणज्ञ भर्तृहरि को ही मिलता है। भर्तृहरि ने खुले शब्दों में स्वीकार किया कि न्याय और मीमांसा के सिद्धान्तों के पर्यालोचन के बिना पतंजलि के महाभाष्य पर कलम उठाना सर्वथा अनुचित और उपहारास्पद है। वे जानते थे कि तर्कशास्त्र और शब्दशास्त्र का समन्वय होने पर ही व्याकरण या शब्दानुशासन पूरी तरह हृदयंगम किया जा सकता है। उनके 'वाक्यपदीय' और 'महाभाष्य टीका' (त्रिपदी या दीपिका) ग्रन्थों में अन्तर यही है कि 'टीका' में भाष्य-पद्धति (मीमांसा पर आधारित) पर ही विचार किया गया है, जबकि वाक्यपदीय में उसी का न्यायपद्धति पर विषयवार विचार किया गया है।

१. भर्तृहरि और कल्हण के साक्ष्य के आधार पर। यह बात बाद में 'पतांजलि' के प्रसंग में अधिक विस्तार से स्पष्ट की गई है।

यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि इनमें से भाष्यटीका आज केवल एक बहुत छोटे अंश तक ही उपलब्ध है। 'वाक्यपदीय' के प्रामाणिक संस्करण अब अवश्य सामने आने लगे है। पर, अन्य वैयाकरणों के ग्रन्थों में ऐसे बहुत से संकेत सुरक्षित हैं, जिनसे 'भाष्यटीका' के लुप्त भागों से सम्बद्ध भर्तृहरि की उक्तियाँ या उनके मत जाने जा सकते हैं।

पाणिनि के अन्य टीकाकार

भर्तृहरि के बाद आने वाले पाणिनि या पतंजलि के टीकाकारों को हम स्थूलतः तीन वर्गों में रख सकते हैं।

(१) **भाष्य के टीकाकार**—**प्रथम वर्ग में** कैयट, नागेश, शेषकृष्ण और भट्टोजि आदि का समावेश होता है, जिन्होंने महाभाष्य को अपना आधार बनाया और उस पर टीकाकार्य तक ही स्वयं को सीमित रखा। इनमें भट्टोजि का **शब्दकौस्तुभ**, भर्तृहरिकी **'भाष्यटीका'** की भाँति, विशेष महत्त्व रखता है। स्पष्ट है कि भट्टोजि भर्तृहरिके **'वाक्यपदीय'** से तो पूर्णतः परिचित थे। किन्तु 'महाभाष्य' की उनकी टीका से वे पूर्णतः परिचित नहीं दिखाई देते। भर्तृहरि की भाष्यटीका से तो नागेशादि के परिचय का भी पूरा-पूरा पता नहीं चलता। **हेलाराज और पुण्यराज** जैसे टीकाकारों के बारे में स्थिरमति से कुछ कहने से पूर्व उनके द्वारा उद्घृत **'भाष्योक्तियों'** की अधिक छानबीन होनी आवश्यक है। उधर **जिनेन्द्रबुद्धि, कैयट,** आदि इस टीका से पूरी तरह परिचित दीखते हैं।

(२) **वृत्तिकार**—**द्वितीय वर्ग में 'काशिका'** जैसे उन प्रयासों का समावेश किया जाना चाहिए, जिनका **आधार,** 'महाभाष्य' न होकर, स्वयं **'पाणिनीय अष्टाध्यायी'** रही है। इनमें 'महाभाष्य' के परिणामों का कहीं-कहीं विवेचन अवश्य है, किन्तु मूलतः पाणिनि के 'सूत्र', उन पर बने वार्त्तिक, फक्किकाएँ, प्रक्रियाओं, आदि का विवेचन इनमें किया गया है। इनकी पद्धति खण्डन-मण्डनात्मक नहीं है। साथ ही इनमें एक वैशिष्ट्य यह है कि अनेकत्र इनमें कई प्राचीन और अज्ञातप्राय वैयाकरणों के कथन या मत उद्धृत हैं। **जिनेन्द्रबुद्धि** का 'न्यास' और **हरदत्त** की 'पदमंजरी' इसी प्रकार के टीका-प्रयत्न हैं। इनमें अनेकत्र पाणिनिपूर्व की मान्यताएँ एवं भर्तृहरि आदि के मत भी प्रदर्शित हैं। **पुरुषोत्तम देव** की 'भाषावृत्ति' जैसे प्रयास भी इसी वर्ग में आते हैं। **स्वामी दयानन्द सरस्वती** से आरम्भ होने वाले आधुनिक युग में इसी प्रकार के प्रयासों की अधिकता रही है।

(३) प्रक्रियाकार—तृतीय वर्ग में धर्मकीर्त्ति, रामचन्द्र, भट्टोजिदीक्षित, आदि के 'प्रक्रियाग्रन्थों' को रखा जा सकता है। इनमें पाणिनि की अष्टाध्यायी का विषयवार नए सिरे से विभाजन किया गया है। ऐसा करते हुए ये आचार्य स्वयं मानते हैं कि उनकी दृष्टि छात्रों की सुविधा तथा शिक्षण में अल्पकालिकता को महत्त्व देने की रही है। किन्तु, इससे एक हानि भी हुई है। विषयवार पढ़नेवाला विद्यार्थी पाणिनि की दृष्टि की समग्रता और सर्वग्राहिता से परिचित नहीं हो सकता। परिणाम यह कि व्याकरण के विविधांगों के पर्यालोचन में वह अपने को कटा-कटा सा अनुभव करता है। पूर्वोद्धृत सूत्रों के पुनःप्रयोग और उनके प्राक्स्मरण की इस पद्धति में भी अनिवार्यता बनी ही रहती है। हां, पाश्चात्य व्याकरण की भांति यहां विषयवार बँटवारा देखकर इसे अल्पबुद्धि लोगों के लिए सुविधाजनक अवश्य कह दिया जाता है। जब कि सत्य यह है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी को भी आरम्भ से क्रमपूर्वक पढ़ने पर पूर्ण, वैज्ञानिक और विषयानुसारी ज्ञान क्रमशः होता ही जाता है। और वह भी पूर्णतर रूप में!

इसपर भी, 'सिद्धान्तकौमुदी' का यह वैशिष्ट्य है कि संज्ञा, नाम, आख्यातादि के प्रकरणों को एकत्र करते हुए भी महाभाष्यदिप्रोक्त सभी युक्तिजालों का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। इससे विद्यार्थी को बाद में काशिका और महाभाष्य पढ़ने में सुविधा और सरलता भी हो सकती है। बाद में 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' और 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' के नाम से लघु-प्रयास भी छात्रों के हित को ध्यान में रखकर किये गए। इस प्रक्रिया-पद्धति का आरम्भ पर्याप्त प्राचीन समय से ही चला आ रहा है। इसका सर्वप्रथम ग्रन्थ 'कातन्त्र' है। प्रातिशाख्यों में स्वीकृत विषय-विभाजन से उसमें अन्तर है।

इस पर भी यह स्मर्त्तव्य है कि ये तीनों ही वर्ग मुख्यतः पाणिनीय व्याकरण से ही सम्बद्ध हैं। पाणिनि की तुलना में, या उससे स्वतन्त्र होकर, इन प्रयासों का अपना कोई निजी महत्त्व नहीं है। अतः पाणिनि के उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों में इन सबको, मौलिकता की दृष्टि से, प्रमुख स्थान नहीं दिया जा सकता।

उत्तरपाणिनि व्याकरण

पाणिनि के बाद पर्याप्त कालान्तर से कुछ ऐसे वैयाकरण सामने आने लगे, जिनको पाणिनि के व्याकरणात्मक निष्कर्षों से असन्तोष था। उनमें से

कुछ तो ऐसे थे, जो यह अनुभव करते थे कि पाणिनि ने अपने से पूर्ववर्त्ती बहुत से ऐसे स्वीकृत तथ्यों की अवहेलना की है, जो उनके स्वयं के स्वीकृत तथ्यों से अधिक व्यापक और पूर्ण थे। एक वर्ग ऐसे वैयाकरणों का था, जो यह अनुभव करते थे कि पाणिनि का प्रयास प्रधानतः वैदिक भाषा को, और छान्दस साहित्य को, ध्यान में रखकर चला है। उनकी दृष्टि में संस्कृत में हुए परवर्त्ती विकास एवं पाणिनि के टीकाकारों के मतों का समाहार करने वाले नए व्याकरणों की आवश्यकता थी। एक तीसरा वर्ग यह अनुभव करता था कि पाणिनि जिस 'सरलता' की खोज में बढ़े थे, वह खोज अधूरी ही रही। कारण यह कि स्वयं पाणिनि ने कई पूर्वस्वीकृत सरल सत्यों की अवहेलना करके जटिल मार्ग को अपनाया। बोपदेव जैसे वैयाकरणों का एक और वर्ग भी था, जो 'व्याकरण' को क्रीडा-कौतुक जैसे सरल रूप में बालकों को सिखा देना चाहता था।

ऐसे सभी वैयाकरणों ने अपने-अपने प्रयास एक-दूसरे से सर्वथा असम्वद्ध रहकर किए। इनमें से कुछ को व्यापक मान्यता भी प्राप्त हुई। किन्तु, यह सत्य है कि इनमें से एक भी पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' का स्थान, व्यापक पठन-पाठन या लोकप्रियता की दृष्टि से, न ले सका।

फिर भी, इनका एक वैशिष्ट्य है। इन्होंने जहां नई भूमि को खोजने का प्रयास किया, वहां साथ ही पुरानी अनगाही भूमि की भी छानबीन इन्होंने की। कातन्त्र, जैनेन्द्र, जैन शाकटायन, आदि व्याकरणों की अनेकानेक मान्यताएँ पाणिनि-पूर्व की हैं। इनका अध्ययन हम यथास्थान करेंगे। इनके विपरीत चान्द्र, हैम, सरस्वतीकण्ठाभरण, आदि व्याकरण शुद्ध पाणिनीय आधार पर ही बढ़े हैं।

चिन्तनात्मक ग्रन्थ

इनके अतिरिक्त स्वतन्त्ररूप से चिन्तनात्मक या भाष्यात्मक पद्धति पर भी अनेक ग्रन्थ लिखे गए। शब्दशक्तिप्रकाशिका, वैयाकरणभूषण, भाषा-विवृत्ति, आदि ग्रन्थ इसी कोटि में सादर स्मरण किए जा सकते हैं। उन सबका वर्णन हम यथास्थान करेंगे।

धातुपाठ गणपाठादि

व्याकरणों की सूत्रात्मक रचनाप्रक्रिया के अतिरिक्त इन युगों में गणपाठ, धातुपाठ, आदि पर भी विविध रूप में कार्य हुआ है। वास्तव में 'पंचांग व्याकरण'

या 'सर्वांग व्याकरण' की कल्पना कई वैयाकरणों के लिए अत्याकर्षक रही है। पाणिनि से पूर्व भी गणपाठ, धातुपाठ, और उणादि की सत्ता विद्यमान थी। यह बात विविध प्रमाणों से सिद्ध है। उनमें से कुछ उपलभ्य भी हो गए हैं। पाणिनि ने इन्हें ही अपनी मान्यता के अनुकुल अन्तिम रूप देकर अपने 'पंचांग व्याकरण' का अभिन्न अंग बनाया। उनके अनुकरण पर ही बाद में 'हैमशब्दानुशासन' की रचना तक अनेक वैयाकरण इसी पंचांग-पूर्णता को पाने का प्रयास करते रहे। अपने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में भोजेदेव ने प्रथम बार इस रूढ़ि को तोड़ने का प्रयास किया और उणादिसूत्रों एवं गणपाठों को सामान्य सूत्रों के अन्तर्गत व्याकरण के अभिन्न अंग के रूप में गृहीत किया। उस सबका संक्षिप्त परिचय भी हमें यथास्थान अभीष्ट होगा। इनके अध्ययन से भी युगों के दृष्टिकोण में आनेवाले परिवर्तन का आभास मिलता है।

पाणिनिपूर्व युग

विभाजन

ऊपर किए गए विवेचन के अनुसार हम इस युग को निम्न शीर्षकों में बाँटकर अध्ययन करेंगे : (१) प्रातिशाख्य, (२) व्याकरण, (३) धातुपाठ, (४) गणपाठ।

निरुक्त और शिक्षा का समावेश हम यहाँ करना इसलिए उचित नहीं समझ रहे, कि ये दोनों व्याकरण के साथ सम्बद्ध होकर भी उससे पृथक् एवं स्वतन्त्र विषय हैं। फिर भी व्याकरणात्मक देन की दृष्टि से यास्क और आपिशलि का ग्रहण वैयाकरणों में यथास्थान करेंगे ही।

इस युग की देनों का समग्र मूल्यांकन अगले अध्याय में हम पृथक् से करेंगे। यहाँ हम ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का व्यक्तिशः अध्ययन करेंगे।

(क) प्रातिशाख्य

उपलब्ध ग्रन्थ

हम कह आए हैं कि कम-से-कम छह प्रमुख प्रातिशाख्य अब तक उपलब्ध हो चुके हैं : ऋक्प्रातिशाख्य, वाजसनेय प्रातिशाख्य, सामप्रातिशाख्य, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, मैत्रायणीय प्रातिशाख्य, और अथर्वप्रातिशाख्य। इनके अतिरिक्त कम-से-कम चार और प्रतिशाख्यों का नामोल्लेख मिलता है। ये हैं : आश्वलायन प्रातिशाख्य, बाष्कल प्रातिशाख्य, शांखायन प्रातिशाख्य और चारायण प्रातिशाख्य। इनमें से केवल कुछ का ही शोधमय सम्पादन हुआ है। इनकी उपलभ्य विविध टीकाओं पर कार्य हो रहा है।

इनके अतिरिक्त सात अन्य ग्रन्थों को इसी वर्ग में समवेत किया जा सकता है। इनमें से प्रमुख हैं : ऋक्तन्त्र, लघु ऋक्तन्त्र, अथर्व चतुरध्यायी

और सामतन्त्र। इनके अतिरिक्त कात्यायनकृत प्रतिज्ञासूत्र और भाषिकसूत्र एवं आपिशलिकृत 'अक्षरतन्त्र' भी उपलब्ध हैं।

इनमें से प्रमुख प्रातिशाख्यों का वर्णन हम यथास्थान करेंगे।

काल-निर्णय

कालक्रम से पाठों में परिवर्त्तन-परिवर्धन होते रहने के अनेक कारण हो सकते हैं। किन्तु इस सबके बाद भी इन प्रातिशाख्यों पर दृष्टि डालते ही एक बात स्पष्ट हो जाती है कि अपने मूल रूप में निश्चय ही ये पाणिनि से पूर्ववर्त्ती हैं; यद्यपि इस विषय में विद्वान् एकमत नहीं हैं। विविध शाखाओं या चरणों के 'पार्षद' या 'प्रातिशाख्य' पृथक्-पृथक् थे और वे पूर्ण रूप में विकसित हो चुके थे, इसकी सूचना यास्क नि० १.१७ में 'पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि' के रूप में देते हैं। उनके यहाँ भी यह वचन जिस प्रसंग में आया है, उससे स्पष्ट है कि वे अपने से पूर्व किसी अन्य विद्वान् का यह वचन या 'सूत्र' उद्धृत कर रहे हैं। इसके पूर्वोक्त दोनों सूत्र इस प्रकार है : 'परः संनिकर्षः संहिता' और 'पदप्रकृतिः संहिता'। दुर्गवृत्ति में इन्हें तीन भिन्न मतों का प्रतिनिधि माना गया है। ये तीनों मत पद और संहिता के परस्पर सम्बन्ध को बताने वाले हैं। यास्क जब 'सर्वचरणानां' कहते हैं, तब वह साभिप्राय प्रयोग ही कहा जा सकता है। उसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं कही जा सकती। यदि यह सूत्र उनसे भी पूर्व का है, तब निश्चय ही उनसे पूर्व—कदाचित् बहुत पूर्व ही—बहुविध प्रातिशाख्य बन चुके थे। वे वस्तुतः 'प्रतिशाखा-व्याकरण' के रूप में बने थे। और, 'व्याकरण' की वेदांग के रूप में मान्यता पाणिनि से बहुत पूर्व की बात है। यद्यपि यहाँ हमें डा० सूर्यकान्त का यह मत स्वीकार करने में तनिक आपत्ति नहीं है कि प्रातिशाख्यों का आरम्भिक रूप उनके वर्तमान रूप से भिन्न रहा होगा।

इसके साथ ही सम्बद्ध प्रश्न है, इन प्रातिशाख्यों में प्रयुक्त संज्ञाओं और विषयनिर्वाह का। हम आगे चलकर यह देखेंगे कि इनका विषयनिर्वाह पाणिनि की शैली से अधिक सुधरा हुआ नहीं है। इनमें सूत्रों का विकास होना आरम्भ हो गया था, परन्तु वह पाणिनि की सी प्रौढ़ता प्राप्त नहीं कर सका था। भले ही इनके विषयतत्त्व में पाणिनीय व्याकरण के विषय से अन्तर है, तब भी व्याकरणात्मक पूर्णता की दृष्टि से ये किसी भी रूप में पाणिनि से उत्तरवर्ती नहीं ठहरते।

अतः इतना तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि अपने मूल रूप में ये सभी, या कम-से-कम इनमें से अधिकांश, प्रातिशाख्य पाणिनि और यास्क से बहुत पूर्व ही बन चुके थे।

विषय

मीमांसक लिखते हैं: "यद्यपि प्रातिशाख्य तत्-तत् चरणों के व्याकरण हैं, तथापि उनमें मन्त्रों के संहितापाठ में होने वाले विकारों का प्रधानतया उल्लेख है। प्रकृति-प्रत्यय-विभाग द्वारा पदसाधुत्व का अनुशासन उनमें नहीं है। अतः उनकी गणना प्रधानतया 'शब्दानुशासन ग्रन्थों' में नहीं की जा सकती।[1]"

प्रकृति-प्रत्यय-विभाग ही एकमात्र व्याकरण की कसौटी नहीं है। हम पहले स्पष्ट कर आए हैं कि पाणिनि के पूर्व व्याकरणों के दो रूप प्रचलित हो चुके थे। भर्तृहरि इन्हें **सविभाग** और **अविभाग** के रूप में स्मरण करते हैं। हम यह भी कह आए हैं कि पूर्ण पर्यालोचन के बाद यह सत्य सामने आता है कि पूर्ण पदों के अविभाग पाठ के कारण प्रातिशाख्यों को **अविभाग व्याकरण** की कोटि में ही रखा जा सकता है। इस बात को आगे चलकर हम उदाहरणों द्वारा भी सिद्ध करेंगे।

यही कारण है कि जर्मन विद्वान् वेबर भी यास्क के निरुक्त को तो 'व्याकरण-ग्रन्थ' कहने में न हिचकिचाए, किन्तु प्रातिशाख्य को ऐसा कहते हुए उन्हें संकोच हुआ। उनके अनुसार प्रातिशाख्यों में ध्वनि-नियम पूरी तरह विवेचित हो चुके थे। उन्हें भी सबसे बड़ी रुकावट यही लगी कि इन प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध वेद की केवल किसी एक शाखा से ही है। इसके विपरीत 'निरुक्त' का सम्बन्ध 'सामान्य'-नियमों से है।[2] एक वेद की किसी शाखा के सभी पदविकारों और ध्वनि-परिवर्तनों का पूरा-पूरा ब्यौरा दे देने पर भी इन्हें 'व्याकरण' नहीं कहा गया। यह आश्चर्य की ही बात है। हम कह चुके हैं कि अधिक से अधिक इन्हें 'वैदिक व्याकरण' ही कहा जा सकता है। इनमें **प्रकृति-प्रत्यय-विभाग** न होने का कारण, ज्ञान की कमी न होकर, व्याकरण की वह विशेष वृत्ति है, जिसे हमने '**अविभाग व्याकरण**' के रूप में कहा है।

अतः 'ध्वनि-विज्ञान' के विषय को लेकर बढ़ने वाले 'शिक्षा-ग्रन्थों' से एक

---

१. मी०, ६७ पृ०। २. प्रा० भा० सा०, वेबर, पृ० २३ से २६ ।

निश्चित अन्तर पर बढ़ने वाले[1] इन प्रातिशाख्यों को छह वेदांगों में से केवल 'व्याकरण' का ही अंग या अंश माना जा सकता है। 'वेदांग' होने से उन्हें 'वैदिक व्याकरण' मानना तो स्वाभाविक ही है। 'व्याकरण' का सम्बन्ध प्रकृति-प्रत्यय-विभाग से अविच्छेद्य है भी नहीं।

व्याकरण से अभिन्नता

पाणिनि के व्याकरण का विषयवार विवेचन करने पर यह स्पष्ट होगा कि उसमें निम्न बातें प्रधानतया पाई जाती हैं: वर्णोपदेश, संज्ञा-प्रकरण, स्वर-प्रकरण, सन्धि-प्रकरण, ध्वनि-परिवर्त्तन, प्रकृति और प्रत्यय का विचार, आदि।

इसकी तुलना में 'ऋक्प्रातिशाख्य' का विवेच्य विषय स्वयं उसमें इस प्रकार कहा गया है:[2]

गुरुत्वं लघुता साम्यं ह्रस्वदीर्घप्लुतानि च।
लोपागमविकाराश्च प्रकृतिर्विक्रमः क्रमः ॥५॥
स्वरितोदात्तनीचत्वं श्वासो नादस्तथोभयम्।
एतत्सर्वं तु विज्ञेयं छन्दोभाषामधीयता ॥६॥

इसके साथ ही 'आचार्य' होने की शर्त्तें बताते हुए कहा गया है:

पदक्रमविभागज्ञो वर्णक्रमविचक्षणः।
स्वरमात्राविशेषज्ञो गच्छेदाचार्यसंपदम् ॥७॥

इन तीनों उद्धरणों से एकमात्र यह बात सिद्ध होती है कि प्रातिशाख्य के कम-से-कम निम्न विषय तो थे ही: (१) प्रयोगगत गुरुता-लघुता का निर्णय, (२) स्वरमात्राओं के स्वरूप और विनिमय का ज्ञान, (३) स्वर-वर्णादि के लोपागम-विकारादि का ज्ञान, (४) प्रकृति, (५) विकृति, (६) क्रम, (७) स्वरज्ञान, एवं (८) अल्पप्राण-महाप्राण तथा घोष-अघोषादि का अन्तःपरिवर्तन, आदि। इसके साथ ही पद, क्रम, पदविभाग, वर्ण, वर्णक्रम, स्वर और मात्रा, आदि के विशेषज्ञ को 'आचार्य' कहा गया। समझ नहीं आता कि जिस पदपाठ और स्वरज्ञान का आधार ही प्रकृति-प्रत्यय के विभाग के ज्ञान पर आधारित है, उसी के विशेषाश्रय पर बढ़ने वाले प्रातिशाख्यों के लिए यह किस प्रकार कह दिया गया कि प्रकृति-प्रत्ययविभाग

---

१. डा० सिद्धेश्वर वर्मा भी इसी मत को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं।
२. विष्णुमित्र की 'वर्गद्वयवृत्ति' से उद्धृत।

की पद्धति से वे अपरिचित थे ? केवल विषय का पाणिनीय रूप में निर्वाह न होने के कारण उसे 'व्याकरण' न मानना कभी उचित नहीं कहा जा सकता। कीथ[1] इन्हें व्याकरण-भिन्न रचना मानते हैं, किन्तु मैक्डोनल[2] इन्हें व्याकरण के अन्तर्गत ही स्वीकार करते हैं। 'अथर्वप्रातिशाख्य' की कसौटी पर वे प्रातिशाख्यों का मूलरूप प्रधानतः व्याकरणात्मक ही स्वीकार करते हैं।

ऊपर गिनाए विषयों में से अधिकांश विषय पाणिनीय व्याकरण में भी अभिन्न रूप से अनुक्त पाए जाते हैं। यदि पदपाठ और संहितापाठ की पूर्णता और सुरक्षा प्रधान उद्देश्य न होती, तब इनके 'अविभाग व्याकरण' के रूप में सामने आने की भी आवश्यकता नहीं थी।

अतः प्रातिशाख्यों को मुख्य रूप में 'व्याकरण-ग्रन्थ' कोटि में ही रखा जा सकता है, जिनकी रचना पाणिनि से पर्याप्त पहले हो चुकी थी। इनका सम्बन्ध प्रतिशाखा के साथ होने से एक ही नाम के प्रातिशाख्य के अनेक रूप सामने आते हैं।

कर्त्ता

इनके कर्त्ताओं के विषय में भी विवाद की संभावना है। कारण है नाम-साम्य। कात्यायन और वररुचि नाम इसी प्रकार के हैं, जिनकी पुनः-पुनः उपलब्धि उनके एकत्व-अनेकत्व का प्रश्न उपस्थित कर देती है। 'ऋक्प्राति-शाख्य' का कर्त्ता शौनक है, जो निश्चय ही पाणिनि से बहुत पूर्व का है। उधर 'यजुः (वाजसनेय) प्रातिशाख्य' का कर्त्ता कात्यायन और 'सामप्राति शाख्य' एवं 'पुष्पसूत्र' का कर्त्ता वररुचि है। इन दोनों नामों को परवर्त्ती परम्परा में एक ऐसे समनाम व्यक्ति से सम्बद्ध कर दिया गया है, जिसका अस्तित्व निश्चय ही पाणिनि से परवर्त्ती है। ये हैं वार्त्तिककार कात्यायन। इस विषय में कीथ का यह निष्कर्ष समुचित ही प्रतीत होता है कि, 'निश्चय ही ये दोनों लेखक पाणिनि के परवर्त्ती कात्यायन से भिन्न थे और उससे बहुत पूर्व हो चुके थे[3]।' 'वाररुचं काव्यम्'[4] के आधारपर उनका कहना है कि वररुचि का काव्य पाणिनि के समय पर्याप्त लोकप्रिय रहा होगा। कात्यायन के सम्बन्ध में भी उनका यही मत है कि वह वार्त्तिक की रचना करने वाले कात्यायन से सर्वथा भिन्न है[5]। अथर्व प्रातिशाख्य का कर्त्ता शाकटायन माना

१. इतिहास, कीथ, पृ० ५०२-३। २. इतिहास, मै०, पृ० २२४-५। ३. इतिहास, कीथ, पृ० ५०४-५। ४. महाभाष्योक्त उदाहरण। ५. इतिहास, कीथ, पृ० ५०४-५।

जाता है। शेष के सम्बन्ध में अभी कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार के अन्य विवादास्पद नाम व्यास, यास्क, आदि भी हैं।

१. ऋक्प्रातिशाख्य

इसका सम्बन्ध ऋग्वेद की आश्वलायन शाखा से माना जाता है[1]। किन्तु, श्री डा० मंगलदेव शास्त्री द्वारा सम्पादित 'ऋक्प्रातिशाख्य' में वर्गद्वयवृत्तिकार विष्णुमित्र इसे 'शाकल' शाखा की उपशाखा शैशिरीय से सम्बद्ध मानते हैं। यह 'वर्गद्वयवृत्ति' किसकी लिखी है, इस विषय में विवाद है। किन्तु, इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि कम से कम यह उपलब्ध प्रातिशाख्य आश्वलायन शाखा से सम्बद्ध नहीं है।

डा० काशिनाथ वसुदेव अभयंकर के विचार में उपलब्ध रचना पाणिनि के परवर्तीकाल की है। इसमें पाणिनि पूर्व की प्रतियों का आधार अवश्य लिया गया है।[2] यह भी सम्भव है कि इसमें अन्यान्य प्रातिशाख्यों से भी सहायता ली गई हो। यह छन्दोबद्ध रचना है। इसमें कुल मिलाकर तीन अध्याय हैं, जिनमें प्रत्येक में छह पटल हैं। इसका उद्देश्य वेदों की उच्चारण शुद्धता एवं पदों की स्वरविधि का सही ज्ञान प्रदान करना है।

'आश्वलायन प्रतिशाख्य' के नाम से जिस प्रातिशाख्य की चर्चा मिलती है, उसे डा० अभयंकर इस ऋक्प्रातिशाख्य से अभिन्न मानते हैं। किन्तु, आश्वलायन शौनक के शिष्य थे। अतः यदि 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' अथवा 'ऋक्प्रातिशाख्य' शौनक की ही कृति है, तब इन्हें परवर्ती अश्वलायन से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। वैसे डा० अभयंकर ने 'आश्वलायन-प्रातिशाख्य' का परिचय इस अर्थ में भिन्न रूप में दिया है कि उसे, तीन अध्यायों और छह पटलों में बंटा हुआ न बताकर, अठारह पटलों में बँटा हुआ बताया है।

डा० मंगलदेव शास्त्री ने इसे 'वर्गद्वयवृत्ति' के साथ उव्वट की टीका सहित सम्पादित किया है। यही टीका सम्प्रति प्रसिद्ध है। दूसरी टीका विष्णुमित्र की थी, जिसकी वर्गद्वयवृत्ति ही उपलब्ध है। उव्वट को इस टीका का पूर्ण परिचय था।

---

१. डि० ग्रा०, ८७पृ० । २. वही।

उपलब्धियाँ : व्याकरणात्मक

उव्वट ने प्रथम पटल का आरम्भ समानाक्षरसंज्ञाविधायक सूत्र से माना है। उसके पूर्व के वर्गद्वयप्रोक्त वर्णोपदेश-सूत्रों को उन्होंने शौनककृत नहीं माना। किन्तु, विष्णुमित्र स्वयं इस 'अक्षरसमाम्नाय' को प्रस्तुत करने की भूमिका में कहता है : "शास्त्रसंव्यवहारार्थं वर्णक्रमार्थं चाक्षरसमाम्नायमाह"। उसकी वृत्ति से तो 'वर्गद्वय' का सम्पूर्ण भाग ही शौनक या मूल लेखक द्वारा रचा लगता है। फिर यह भी समझ में नहीं आता कि 'अष्टौ समानाक्षराण्यादितः' के रूप में कोई सूत्र आरम्भ में ही आ कैसे सकता है, जब तक कि अक्षर समाम्नाय का पाठ पहले ही न कर दिया गया हो? 'पाणिनीय अष्टाध्यायी' में यही स्थिति माहेश्वर सूत्रों की है। उन्हें पाणिनीय व्याकरण का अभिन्न अंग माने बिना उसका सम्पूर्ण आधार ही जाता रहता है। उसी तरह यहां भी आरम्भिक 'अक्षरसूत्रों' को मूल प्रातिशाख्य का अंग मानना ही चाहिए। यह सम्भव है कि पाणिनि से पूर्व 'अक्षरसमाम्नाय' के कई रूप प्रचलित रहे होंगे। उन्हीं में से एक यह भी रहा होगा। इसकी 'माहेश्वर सूत्रों' से भिन्नता स्पष्ट है। इसमें दो वैशिष्ट्य तो स्पष्ट हैं : लृकार सम्बन्धी विशेष नियम और 'ह' का एक ही बार पाठ। साथ ही जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और अनुस्वार का संगृहीत पाठ भी इसमें हुआ है। 'लृ' का दीर्घरूप भी यहाँ स्पष्ट अस्वीकृत किया गया है।

संज्ञासूत्र

इसमें गृहीत संज्ञाएँ पाणिनीय प्रभाव से सर्वथा अछूती और पूर्ववर्त्ती है। 'समानाक्षर' पाणिनि के 'सवर्ण स्वर' का पर्यायवाची दीखता है[1]। पतंजलि और कात्यायन द्वारा कथित 'सन्ध्यक्षर' संज्ञा का यहाँ स्पष्ट उल्लेख है। अनुस्वार की स्वर और व्यंजनात्मक उभयस्थिति को यहीं स्वीकार किया गया है। पाणिनि 'अणुदित्'[2] के द्वारा जिसे 'सवर्ण' कहते हैं, उसे ही यहां 'वर्ग' संज्ञा कहा गया है। स्पर्श, अन्तःस्थ, ऊष्म, अनुनासिक, आदि विविध संज्ञाओं की परिभाषा भी यहाँ की गई है।

ह्रस्व, दीर्घ, ह्रस्वादेश, अक्षर, गुरु, स्वरभक्ति, रक्त, संयोग, रिफित, नामि, प्रगृह्य, रेफि, आदि संज्ञाओं के रूप में हम कई नवीनताओं का उल्लेख

१. ऋ० प्रा०, प्रथम सूत्र। २. पा० १.१.६९।

यहां पाते हैं, जिनका पाणिनि या तो उल्लेख भी नहीं करते या फिर उन्हें बिना परिभाषा के ही स्वीकार कर लेते हैं। 'नतिसन्धि' के रूप में पंचम पटल में मूर्धन्यीकरण के अथवा षत्वणत्वादि के सभी नियमों को एकत्र कर दिया गया है।

जहाँ तक सन्धिप्रकरण का सम्बन्ध है, सम्भवतः इससे अधिक पूर्ण अध्ययन की आशा नहीं की जा सकती। ऐसा लगता है कि सन्धि के बहाने शब्दानुशासन की वे अनेक बातें भी यहाँ कह दी गई हैं, जिन्हें हम सामान्यतः सन्धि का विषय न मानकर रचना प्रक्रिया का विषय मानते हैं। इस प्रकार प्रकृति-प्रत्यय-विभाजन के न रहने पर भी यह व्याकरण अपने स्वरूप में पूर्ण है। वेदों के पद-पाठ की रक्षा-विषयक जिस प्रयोजन को ध्यान में रखकर इसकी रचना हुई है, वह इससे पूर्ण हो जाता है। शब्दों की साधुता को बचाए रखना और उसका विनिर्देश करना यदि व्याकरण का चरम लक्ष्य है, तब विशिष्ट वैदिक शाखा के शब्दों के साधुत्व-अनुशासन और उसके परिरक्षण के सम्बन्ध में यह उद्देश्य इस प्रातिशाख्य से पूर्ण हो जाता है: 'अविच्छेदेन शिष्टानामिदं स्मृतिनिबन्धनम्'[1]।

२. वाजसनेय प्रातिशाख्य

शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा का, आठ अध्यायों में विभक्त, यह प्रातिशाख्य समस्त प्रमाणों के आधार पर कात्यायन ऋषि द्वारा ही रचित है। मैक्डोनल, कीथ, डा० अभयंकर, और अन्य अनेक विद्वान् इस रचना को पाणिनि की अष्टाध्यायी के वार्त्तिककार कात्यायन की ही कृति मानते हैं। उनकी युक्ति यह है कि इसकी शब्दावली और आकारतः प्रतीति पाणिनीय पद्धति पर ही है। वार्त्तिककार कात्यायन के वार्त्तिकों से समता भी इसमें खोजी गई है।[२] इन सब आधारों पर इसके कर्त्ता को वार्त्तिककार कात्यायन से अभिन्न समझा जाता है; विशेषकर कुछ सूत्रों की अभिन्नता या समता के कारण[3]। उधर, मीमांसक याज्ञवल्क्य कात्यायन को प्रातिशाख्यकार और उसके पुत्र वररुचि को वार्त्तिककार मानते हैं।[४]

पर, हम इस मत के मानने के पक्ष में नहीं है। मीमांसक ने ठीक ही

---

१. वा० १.१४२। २. 'पाणिनि' में गोल्डस्टुकर। ३. वेही। ४. सं० व्या० इति०, पृ० २८७।

कहा है कि 'कात्यायन' नाम 'गोत्रापत्य' या 'शिष्यपरम्परा' के अर्थ में लागू होता है। वार्त्तिककार वररुचि को वे याज्ञवल्क्य कात्यायन का पुत्र स्वीकार करते हैं। इस प्रकार 'वाररुच कात्यायन' की वार्त्तिककार के रूप में प्रसिद्धि को वे उपेक्षित कर जाते हैं, जिसके अनुसार वार्त्तिककार वररुचि का पुत्र या पौत्रादि होना चाहिए। वार्त्तिककार और प्राकृत वैयाकरण एक हो सकते हैं, इस सम्भावना पर न जाने क्यों उनका ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ? अन्य विद्वानों ने तो इतने विस्तार से भी विचार नहीं किया है। हम यहां 'वाजसनेय प्रातिशाख्य' की ऐसी बहुत सी विशेषताओं का उल्लेख करेंगे, जिनसे हमें किसी निष्कर्ष पर पहुँचने में सहायता मिल सकती है।

समान सूत्र

पाणिनीय अष्टाध्यायी से इस प्रातिशाख्य के एकदम समान आकार-प्रकार और अनुकरण वाले सूत्र निम्न हैं :

१. उच्चैरुदात्तः। वा० प्रा० १. १०८; पा० अ० १.२.२९।
२. नीचैरनुदात्तः। वा० प्रा० १.१०९; पा० अ० १.२.३०।
३. षष्ठीस्थाने योगा।-वा० प्रा० १.१३६; पा० अ० १.१.४९।
४. तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य। वा० प्रा० १.१३४; पा० अ० १.१.६६।

किन्तु अक्षरशः समान इस प्रकार के सूत्रों की संख्या अधिक नहीं है।

किंचित् भिन्न सूत्र

निम्न सूत्र किंचित् भिन्न रूप में, किन्तु समान भावना वाले, पाए जाते हैं। दोनों व्याकरणों में उपलभ्य ऐसे कुछ सूत्रों का तुलनात्मक रूप इस प्रकार है :

वा० प्रा०	पाणिनि
१. उभयात्स्वरितः। १.११४.	=समाहारः स्वरितः १.२.३।
२. तस्मादित्युत्तरस्यादेः। ११.३५.	=तस्मादित्युत्तरस्य १.१.६७।
३. नृन् पकारे विसर्जनीयः। १.३.१४०	=नॄन् पे ८.३.१०।
४. व्ययवांश्चान्तः। १.२.२६	=अन्तरं बहिर्योगोपसंख्यानयोः। १.१.३६।
५. विप्रतिषेधे उत्तरं बलवदलोपे। १.१५९	=विप्रतिषेधे परं कार्यम्। १,४.२।
६. एकवर्णं पदमपृक्तम्। १.१५१.	=अपृक्त एकाल् प्रत्ययः। १.२.१४।

७. स एवादिरन्तश्च । १.१५२=अन्तादिवच्च ४.१.८४ ।
८. अन्त्याद् वर्णात् पूर्व उपधा ।६.३५ अलोन्त्यात् पूर्व उपधा १.१.६५ ।
९. नश्चाम्रेडिते । ४.९=कानाम्रेडिते । ८.३.१२ ।
१०. वर्णस्यादर्शनं लोपः । १.१४१=अदर्शनं लोपः १. १.६० ।
११. समानस्थानकरणास्यप्रयत्नः सवर्णः । १.१४३=तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् । १.१.९ । इत्यादि, इत्यादि ।

अन्तर और मतभेद

निश्चय ही इन समानताओं को देखकर गोल्डस्टुकर की भाँति पहली शंका यही उचित प्रतीत होती है कि कात्यायन ने ही पाणिनि का अनुकरण किया है। किन्तु, हम यह शंका यहाँ उठाना, और उस पर विवाद करना, उचित नहीं समझते कि ये ही समानताएँ कात्यायन को पाणिनि से पूर्व भी सिद्ध कर सकती हैं। कारण यह दिया जा सकता है कि पूर्णता, संक्षेप और सौष्ठव की दृष्टि से जो कौशल पाणिनीय सूत्रों में है, वह कात्यायनीय सूत्रों में नहीं है। पर, इतनी बात हम यहाँ अवश्य कहनी चाहेंगे कि कई ऐसे अन्तर इन दोनों के व्याकरण में विद्यमान हैं, जिनके आधार पर कात्यायनीय **'वाजसनेय प्रातिशाख्य'** को किसी भी रूप में परवर्त्ती नहीं कहा जा सकता। यहाँ हम कात्यायन और पाणिनि की दो परिभाषाओं पर तुलनात्मक विचार संकेत रूप में ही करना चाहेंगे।

(क) पद—पाणिनि इसकी एक ही परिभाषा देते हैं : **सुप्तिङन्तम् पदम्** (१.१.१४)। परन्तु, कात्यायन इसकी परिभाषा विशिष्ट उद्देश्यों के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में इस प्रकार करते हैं :

(१) **स्वरितवर्जमेकोदात्तं पदम्** (२.१);
(२) **अर्थः पदम्** (३.२);
(३) **अक्षरसमुदायः पदम्** (८.४६); एवं
(४) **अक्षरं वा** (८.४७)।

इन चार सूत्रों में उन्होंने जो परिभाषा दी है, वह पाणिनि के प्रयोजन और उद्देश्य से भिन्न नहीं है। बल्कि वह यह भी स्पष्ट करती है कि प्रातिशाख्यकार कात्यायन पाणिनिकृत परिभाषा से नितान्त अनभिज्ञ थे। कदाचित् उनका प्रातिशाख्य-रचना का उद्देश्य ही भिन्न था !

(ख) प्रातिपदिक—पाणिनि प्रातिपदिक की परिभाषा में १.२.४५ के बाद **कृत्तद्धितसमासाश्च** (१.२.४६) का परिगणन करते हैं। किन्तु, कात्यायन

१.२७ में 'तिङ्कृत्तद्धितचतुष्टयसमासाः शब्दमयम्' कहते हैं। इसमें निश्चय ही 'तिङ्' के द्वारा उन्हें प्रातिपदिक कथन अभिप्रेत नहीं है, किन्तु वे 'प्रातिपदिक' और 'कृत्तद्धितसमास' में भिन्नता भी नहीं मानते। उधर पाणिनि 'अर्थवत्' को 'कृत्तद्धितसमास' से भिन्न, एवं धातु और प्रत्यय से भी भिन्न, एक विशिष्ट शब्दराशि मानते हैं। पूर्णता या अपूर्णता का निर्णय हम अन्यत्र करेंगे। किन्तु यह निश्चय है कि यह प्रातिशाख्य पाणिनि से परवर्त्ती सिद्ध नहीं होता।

(ग) स्वर—पाणिनि ने निश्चय ही उदात्तादि स्वर का वर्णन किया है। किन्तु, कात्यायन का प्रधानतम विषय ही स्वर और वैदिक-प्रक्रिया है। क्रमशः १.१२७ से १३० तक कात्यायन स्वरों की गणना सात, तीन, दो और एक के रूप में करते हैं। वे जानते हैं कि सामवेद के प्रसंग में उदात्तादि की त्रिविध स्वरयोजना निरर्थक और महत्त्वहीन है! अतः वहां षड्जादि सात स्वर ही 'स्वर' कहलाते हैं। उदात्त और अनुदात्त के रूप में दो स्वरों की मान्यता से भी वे परिचित हैं। यज्ञकर्म में 'तान' नामक एक ही स्वर अभिप्रेत होता है। अतः सामान्य तीन स्वरों की परिभाषा करने के बाद भी उनकी गणना वे आवश्यकता और वैज्ञानिकता के आधार पर करते हैं। पाणिनि केवल व्याकरण की उपयोगितात्मक दृष्टि तक ही सीमित रहे हैं।

माहेश्वर सूत्र

यत्किंचित् भी अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि कात्यायन ने न तो माहेश्वर सूत्रों का ही अध्ययन किया था और न ही वे तथाकथित आपिशलीय शिक्षा से ही परिचित थे। उनके वर्णों का वर्गीकरण, वर्णाक्षरादि की परिभाषा, आदि पाणिनीय ढंग से सर्वथा भिन्न हैं। इसके विपरीत ऋग्वेद-प्रातिशाख्य से उनकी परस्पर तुलना की जा सकती है। इतना ही नहीं, समानाक्षर, सन्ध्यक्षर, एवं अन्य अनेक परिभाषाओं तथा गुरु-लघु आदि के विवेचन में भी वे ऋक्प्रातिशाख्य का ही अनुसरण करते हैं। उनका वर्ण्य उसी पद्धति और शब्दावली में बढ़ा है। वाक्, ज्ञान, वर्ण, अक्षर, संहिता, आदि का उनका विवेचन उन्हें उस विषय में वार्त्तिककार से भिन्न भी सिद्ध करता है।

परिभाषाएं

कुछ परिभाषाएं पूर्वोक्त सूत्रों में गिना ही दी गई हैं। उनका पाणिनीय परिभाषाओं से अन्तर स्पष्ट है। किन्तु, इसमें एक बात अवधेय है। वह यह कि

प्रातिशाख्य-पद्धति की रिफित, नामि, रेफि जैसी संज्ञाओं का यहां खुलकर प्रयोग हुआ है। जात्य स्वरित की चर्चा भी यहाँ सविस्तर हुई है। सोष्म और महाप्राण यहाँ समानार्थक बन कर रहे हैं।

बड़ा अन्तर

इनसे भी बड़ा अन्तर यह है कि पदगणना में पाणिनि के नाम, आख्यात और अव्यय के स्थान पर यास्कीय पद्धति पर कात्यायन भी 'नामाख्यातोपसर्ग-निपाताः' (८.४६) गिनाते हैं। उन्होंने वर्णसंख्या ६५ मानी है (८.२५)। 'पदगोत्र' और 'पददेवता' की कल्पना उन्हें निश्चय ही पाणिनि का उत्तर-वर्त्ती और वार्त्तिककार सिद्ध नहीं कर सकती। एक प्रमाण इस पक्ष में यह भी है कि वे पाणिनीय 'तपरस्तत्कालस्य'(१.१.७०) के नियम का अनुकरण न करके 'अ इति' आदि के रूप में 'तपर' के स्थान पर 'इतिपरक' प्रयोग करते हैं। यह परम्परा पाणिनि से प्राचीन है। इससे बढ़कर अवधेय तथ्य यह भी है कि जहाँ पाणिनीय सिद्धान्तों को अपनाकर व्यर्थ के विस्तार से बचा जा सकता था, वहाँ भी कात्यायन ने 'लाघव' का मार्ग नहीं अपनाया। इस विषय में उनकी वृत्ति पदगणनात्मक या पूर्वोक्त 'अविभाग' व्याकरणात्मक पद्धति के अनुवर्त्तन की ही रही है। उदाहरणार्थ 'रिफित', 'अभिनिहित', आदि के प्रसंगों को लिया जा सकता है।

प्रश्न और निर्णय

अतः प्रश्न यह उठता है कि उक्त विवेचन के आधार पर कात्यायन को पाणिनि से अवर स्वीकार किया जाए या पूर्ववर्त्ती ? हमारा निवेदन यह है कि केवल कुछ सूत्रों की समानता के बल पर ही कोई निर्णय करने की अनिवार्यता अपिवा आवश्यकता नहीं है। कारण कि ऋक्प्रातिशाख्य के भी कुछेक सूत्र पाणिनि में अनुकृत हुए हैं। उधर पाणिनि के अनेक सूत्र परवर्त्ती व्याकरणों में अनुकृत हुए हैं। परन्तु, वे व्याकरण पाणिनि के क्रम से मूलतः विचलित नहीं हुए हैं। जब कि, कात्यायन का यह प्रातिशाख्य पाणिनि के किसी भी क्रम को नहीं मानता। सबसे बढ़ कर सत्य तो यह है कि जब प्रातिशाख्यकार कात्यायन शाकटायन, शाकल्य, काश्यप, शौनक और जातूकर्ण्य आदि का नामोल्लेख कर सकता है, तब क्या उसे पाणिनि के नाम से ही कोई विशेष विराग है ? ये सभी नाम उसे ऋक्प्रातिशाख्यकार के समकाल या तुरन्त बाद का सिद्ध करते हैं।

जहाँ तक सूत्रों की समानता का प्रश्न है, हम पहले ही स्पष्ट कर आए हैं कि पाणिनि ने अपने से पहले के अनेक सर्वमान्य सूत्र अपना लिए थे। गोल्डस्टुकर आदि विद्वानों ने भी इस तथ्य को पूर्णतः स्वीकार किया है। अतः आश्चर्य नहीं कि **कात्यायन और पाणिनि दोनों ने ही ये सूत्र किसी प्राचीन परम्परा से अपनाए हों, या इनकी रचना का श्रेय कात्यायन को ही जाता हो!** यास्क के समान **'नामाख्यातोपसर्गनिपाताः'** सूत्र अपनाकर भी उसका नामोल्लेख न करना इस बात का संकेत करता है कि ऐसे सूत्र किसी प्राचीन परम्परा से ही आ रहे थे।[1] **अतः अधिक सम्भव है कि यह 'कात्यायन' वार्त्तिककार कात्यायन से भिन्न और पाणिनि से पूर्ववर्त्ती रहा हो।**

एक और अन्तर—इस प्रसंग में सन्धिप्रकरण और प्रगृह्य के प्रसंग भी विचारणीय हैं। समझ नहीं आता कि पाणिनि के बाद आने वाला वैयाकरण **'इको यणचि'** (६-१-७७,) **'एचोऽयवायावः'** (६-१-७८) एवं **'एङः पदान्तादति'** (६-१-१०९), जैसे सामान्य सरल नियमों के लिए भी इतनी उलझन में क्यों पड़ा और उसे इनमें से एक-एक के स्थान पर कई-कई सूत्र क्यों बनाने पड़े? वार्त्तिककार कात्यायन तो ऐसी ग़लती कभी नहीं करता। प्रातिशाख्यकार कात्यायन एक-एक वर्ण के स्थान पर आने वाले वर्णों का पृथक्-पृथक् सूत्रों में उल्लेख करता है। इतना विस्तार कम से कम पाणिनि के अन्य किसी परवर्त्ती वैयाकरण ने नहीं किया प्रतीत होता। **'कातन्त्र'** आदि प्रातिशाख्य-परम्परा पर आश्रित व्याकरणों में भी इसे अधिक संक्षेप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

यही बात **'प्रगृह्य'** और **'प्रकृतिभाव'** के सम्बन्ध में भी है। इसका विस्तृत विवेचन यहाँ हमें अभिप्रेत नहीं है। परन्तु, इस सबसे पूर्वोक्त निष्कर्ष पर पहुँचने में सहायता तो मिलती ही है।

(३) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य

यह प्रातिशाख्य कृष्ण यजुर्वेद की सभी शाखाओं से सम्बद्ध कहा जाता है। इसका कर्त्ता अज्ञातनामा है। इसका कारण बताते हुए **डा० अभयंकर**[2] कहते हैं कि संभवतः ऐसा इस कारण हुआ है कि बहुत पुराने समय से ही अनेक आचार्य इसका पुनरालोचन करते आए हैं। कालक्रम में इसे किसी एक लेखक की कृति स्वीकार करना अमान्य हो गया। इस विषय में इतना तो सत्य है

१. यास्क का सूत्र है—'नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च'। सम्भव है यास्क बादके हों। २. डिं० आ०।

कि त्रिभाष्यरत्न, वैदिकाभरण और माहिषेय के पदक्रमसदन में से किसी भी ग्रन्थ में इसके कर्त्ता का उल्लेख नामशः नहीं मिलता। पर इसकी लोकप्रियता इससे ही प्रमाणित है कि इस पर कम से कम वररुचि, माहिषेय, आत्रेय, सोमाचार्य और गोपालयज्वा ने तो भाष्य या टीकाएँ की ही थीं। इनमें से प्रथम तीन की टीकाओं पर ही आधारित है सोमाचार्य का 'त्रिभाष्यरत्न'। माहिषेय की टीका भी 'पदक्रमसदन' के नाम से प्रकाशित रूप में उपलब्ध है। गोपालयज्वा का 'वैदिकाभरण' भी मुद्रित है। इनके अतिरिक्त वैदिकभूषण' या 'भूषणरत्न' के नाम से एक और टीका मद्रास की अड्यार लाइब्रेरी में सुरक्षित है, यद्यपि उसका पाठ पर्याप्त भ्रष्ट है।

विषय : रचना

यह ग्रन्थ दो 'प्रश्नों' में बँटा हुआ है। प्रत्येक में बारह अध्याय हैं। इस प्रकार वाजसनेय के कुल आठ अध्यायों की तुलना में इसमें कुल चौबीस अध्याय हैं। इसमें जिन विषयों का वर्णन है, उनमें वर्णोच्चारण, उपसर्ग, संज्ञाप्रकरण, शब्दोत्पत्ति, शिक्षाविषय, स्वरव्यंजनादिभेद, ह्रस्व-दीर्घ-व्यत्यय, प्रग्रह, प्रकृति, ष्टुत्व, विसर्गसन्धि, स्वरसन्धि, अनुस्वारादिविधान, अन्य सन्धियां, वर्णलोपादि, द्वित्वविधि, अनुनासिकविधि, स्वरभेद, आदि का समावेश है। थोड़ा सा भी गम्भीर अवलोकन करते ही यह स्पष्ट हो जाएगा कि यद्यपि प्रकृति-प्रत्यय का विभाग इसमें नहीं है। किन्तु अवग्रह, प्रगृह्य, प्रकृति-भाव, आदि के विस्तार से यह अवश्य स्पष्ट है कि रचनाकार विभाजन की उस विधि को जानते हुए भी नहीं अपना रहा। इसीलिए हमने प्रातिशाख्यों को 'अविभाग' कोटि का व्याकरण स्वीकार किया है।

समानता और अवधेय सत्य

विस्तृत पर्यालोचन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह प्राति-शाख्य किसी भी प्रकार पाणिनि के अनुकरण पर या उसकी उपलब्धियों के सामने आने के बाद नहीं लिखा गया। युक्तिक्रम हम 'वाजसनेय प्रातिशाख्य' की विवेचना में दे ही आए हैं। डा० सिद्धेश्वर वर्मा और डा० सूर्यकान्त भी इसके कुछ अंशों को निश्चय ही पाणिनिपूर्व मानते हैं जब कि अन्य अनेक विद्वान् इसे पाणिनि से बाद का ही मानते हैं।

जहाँ तक आकार या सूत्रों की समानता का प्रश्न है, इस प्रातिशाख्य की पद्धति ऋक्प्रातिशाख्य और वाजसनेय प्रातिशाख्य के समान ही है। इसके बहुत कम सूत्र पाणिनीय अष्टाध्यायी से मिलते-जुलते हैं। इस प्रकार

हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह वाजसनेय की अपेक्षा अधिक अर्वाचीन माना जाना चाहिए। हमने पहले कहा है कि वाजसनेय के 'उदात्त' और अनुदात्त स्वर पाणिनीय पद्धति पर ही परिभाषित हैं। इन दोनों का अनुकरण यहाँ भी वैसे ही हुआ है। किन्तु, स्वरित की परिभाषा तैत्तिरीय में वही है, जो बाद में पाणिनि ने की है: **'समाहारः स्वरितः'** (१.४०)। वाजसनेय का **'उभयात्स्वरितः'** निश्चय ही किसी भी तर्क से परवर्ती सिद्ध नहीं किया जा सकता। पाणिनि का एक और सूत्र इसमें अविकल गृहीत हुआ है: **'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्'**, (२.८२), जबकि वाजसनेय में उसकी जगह **'स्वरितवर्जमेकोदात्तं पदम्'**(वा० २.१) पढ़ा गया है। वाजसनेय, तैत्तिरीय और पाणिनीय **'अपृक्त'** का तुलनात्मक अध्ययन इस विकासक्रम को अधिक स्पष्ट कर सकेगा। तीनों की परिभाषाएँ इस प्रकार हैं:

वा० प्रा०—एकवर्णः पदमपृक्तम्। १.१५।

तै० प्रा०—एकवर्णः पदम्। १.५४; सोऽपृक्तसंज्ञः। १.५५।

पा० अ०—अपृक्त एकाल्प्रत्ययः। पा० ६.२.४१।

स्पष्ट ही है कि इनमें उत्तरोत्तर पूर्णता पाने का प्रयास किया गया है। प्रग्रह, प्रकृति, अवग्रह, आदि कुछ अन्य परिभाषाएं भी इसे पाणिनि के समीप ले जाती हैं। इससे अधिक दो समानताएँ और भी विचारणीय हैं। प्रथम समानता है: **आद्यन्तवच्च** (तै० १.५६) और **अन्तादिवच्च** (पा० ४.१.८४) में। द्वितीय समानता का आधार है पाणिनीय सूत्र: **'न वेति विभाषा'** (पा० १.१.४४)। इसी को तै० प्रा० में दो सूत्रों में कहा गया है: **'वेति वैभाषिकः'** (२.२.७) और **'नेति प्रतिषेधकः'** (२.२.८)। स्वभावतः दोनों ही विषयों में पाणिनि अधिक संक्षिप्त पूर्ण और, इसीलिए, परवर्ती ठहरते हैं। यह भी कह देना अनुचित न होगा कि विराम, अवसान, लोप, आदि अनेकानेक परिभाषाएँ वाजसनेय की अपेक्षा इसकी परवर्तिता को सिद्ध करती हैं। यह प्रश्न अलग है कि इनमें से किसका अन्तिम परिष्कारक अथवा भाष्यकर्त्ता परवर्ती था? उस दृष्टि से उव्वट और सोमाचार्यादि की तुलना अपेक्षणीय होगी, जो इस प्रसंग में सर्वथा उपेक्षणीय है।

अनुकरण और आचार्य

साम्य और अनुकरण के सम्बन्ध में हम एक सत्य की ओर ध्यान अवश्य खींचना चाहेंगे। चौबीसवें अध्याय के अन्तिम तीन श्लोक इसमें वही हैं, जिन्हें विष्णुमित्र ने ऋक्प्रातिशाख्य की अपनी वर्गद्वयवृत्ति में उस 'प्रातिशाख्य' का

अंग माना है। यह बात इसे ऋक्प्रातिशाख्य के समीप का ही सिद्ध करती है।

दूसरी बात है आचार्यों के उल्लेख के सम्बन्ध में। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में ही सर्वाधिक आचार्यों का नामोल्लेख हमें मिलता है। इसमें उल्लिखित अनेक आचार्य मैत्रायणीय प्रातिशाख्य में भी उल्लिखित हैं। तैत्तिरीय में केवल कुछ ही आचार्य मैत्रायणीय की अपेक्षा अधिक हैं। इससे कम से कम इन दोनों की समकालिकता तो सिद्ध होती ही है।

ये आचार्य वाजसनेय प्रातिशाख्य में उल्लिखित आचार्यों से संख्या में अधिक हैं। इसमें उल्लिखित आचार्यों में प्रमुख हैं: अग्निवेश्य, अग्निवेश्यायन, आत्रेय, काण्डमायन, कौण्डिन्य, कोहलीपुत्र, गौतम, पौष्करसादि, प्लाक्षायण, प्लाक्षि, भारद्वाज, वाल्मीकि, शांखायन, शैत्यायन, स्थविर कौण्डिन्य और सांकृत्य। आश्चर्य की ही बात है कि ऋक्प्रा० और वा० प्रा० के प्रायः किसी भी आचार्य का नामोल्लेख इन दोनों में नहीं हुआ है। पाणिनि ने इनमें से केवल भारद्वाज का ही उल्लेख किया है। इसके विपरीत ऋक्प्रा० के शाकल्य, शाकटायन, आदि का उल्लेख इस तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में अवश्य हुआ है। अतः या तो इन्हें दो धाराओं के पृथक्-पृथक् प्रतिनिधि ग्रन्थ मानना चाहिए, या फिर इसका कोई अन्य उत्तर खोजना होगा। पर, इस पर भी आश्चर्य यह है कि जबकि पाणिनि इनमें से कुछ आचार्यों का उल्लेख करते हैं, ये प्रातिशाख्य एक बार भी पाणिनि का उल्लेख प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में नहीं करते। अतः इतने आचार्यों का सादर नामग्रहण करने वाले इन आचार्यों से पाणिनि का स्वाभाविक वैर या विरोध स्वीकार करके उन आचार्यों को पाणिनि से परवर्ती स्वीकार करना हमें क्लिष्ट कल्पना ही प्रतीत होता है। स्वभावतः वे पाणिनि से पूर्व के ही थे। भले ही उन ग्रन्थों के वर्त्तमान रूप पर पाणिनि की छाप पड़ी स्वीकार की जाए। कारण कि उनके अन्तिम संस्कारक 'कातन्त्र' आदि के समकालीन रहे हों, यह सम्भव है।

४. अथर्वप्रातिशाख्य

अथर्ववेद से सम्बन्ध रखने वाले दो प्रातिशाख्य हमें सम्पादित और मुद्रित रूप में उपलब्ध होते हैं। डा० सूर्यकान्त द्वारा सम्पादित प्रातिशाख्य 'अथर्व-प्रातिशाख्य' के नाम से जाना जाता है, जबकि डा० ह्विट्ने द्वारा सम्पादित प्रातिशाख्य 'शौनकीय चतुरध्यायी' या 'अथर्वचतुरध्यायी' के नाम से प्रसिद्ध

है। डा० सूर्यकान्त ने अपने प्रातिशाख्य की भूमिका में दोनों की तुलना करके यह बतलाया है कि दोनों प्रातिशाख्य अथर्ववेद की पृथक्-पृथक् शाखाओं से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें से **'शौनकीय चतुरध्यायिका'** का सम्बन्ध **'पैप्पलाद संहिता'** से है, जबकि **'सामान्य अथर्ववेद'** के साथ **'अथर्वप्रातिशाख्य'** का सम्बन्ध है। **'सामान्य अथर्ववेद'** से तात्पर्य अथर्ववेद के सामान्य और सर्वमान्य रूप से है। शौनक के प्रमाणों के आधार पर डा० सूर्यकान्त के मत में अथर्ववेद का बीसवाँ काण्ड 'चतुरध्यायी' का विवेच्य विषय नहीं रहा। दूसरे शब्दों में, शौनकीय संहिता अथवा **पैप्पलाद संहिता में बीसवाँ काण्ड प्रक्षिप्त या परवर्त्ती माना जाता है।** अथर्ववेद के इस काण्ड पर बहुतों को यही आपत्ति है। सम्भवतः इस आपत्ति का कारण यही 'चतुरध्यायिका' या 'पैप्पलाद' शाखा रही हो। पर, हमारे मत में यह निष्कर्ष कम भयावह नहीं है। स्वयं डा० सूर्यकान्त चतुरध्यायी के एक सूत्र (२.६७) में अथर्ववेद के इस बीसवें काण्ड के अस्तित्व का आभास पाते हैं। अतः केवल इस चतुरध्यायिका के आधार पर ही इस काण्ड को प्रक्षिप्त मानना उचित नहीं कहा जा सकता।

काल और क्रम

जहाँ तक **सूत्रशैली** और **विस्तारशैली** का प्रश्न है, केवल उस आधार पर ही पूर्वापर का निर्णय करना भी भ्रमावह हो सकता है। पर, डा० सूर्यकान्त ने सब बातों का विचार करके 'चतुरध्यायी' को वर्त्तमान 'प्रातिशाख्य' से प्राचीनतर ठहराया है। यद्यपि वे प्रातिशाख्य के विकास-क्रम में उसके वर्त्तमान रूप को किसी प्राचीनतर और पूर्वतर संस्करण का परिवर्त्तित रूप ही मानते हैं। उनकी दृष्टि में यद्यपि 'सूत्रशैली' का विकास बाद में हुआ है; फिर भी कुछ बातों में, विशेषकर **प्रातिशाख्य** के तीसरे प्रपाठक पर, वे **चतुरध्यायी** का ही प्रभाव पड़ता हुआ स्वीकार करते हैं। **सत्व-शत्व-षत्वादि** का प्रसंग वे मूलतः **चतुरध्यायी** का ही विषय स्वीकार करते हैं। **अवग्रह** का मूल उत्स भी वे **चतुरध्यायी** को ही मानते हैं। स्वतः चतुरध्यायी का काल वे **पाणिनि के बाद** ही स्वीकार करते हैं। उधर, **अथर्वप्रातिशाख्य** को भी स्वभावतः पतंजलि से पूर्व का, पर पाणिनि के बाद का, स्वीकार करते हैं। किन्तु, उन्हीं के अनुसार **पाणिनि और पतंजलि अथर्वप्रातिशाख्य द्वारा अधिकृत 'अथर्ववेद' से अवश्य ही पूर्णतः परिचित थे।**

इस युक्तिक्रम पर हमें एक ही आपत्ति है। पाणिनि से तुलना के लिए

उन्होंने जितने सूत्रों को आधार बनाया है, उससे कहीं अधिक तथाकथित पाणिनीय सूत्र वाजसनेय और तैत्तिरीय प्रातिशाख्यों में अधिक पूर्णता के साथ अनुकृत हुए हैं। निश्चय ही उन्होंने उन दोनों प्रातिशाख्यों को पाणिनि से, और इस प्रातिशाख्य से, परवर्ती माना है। पर, हमारा प्रस्ताव यह है कि पाणिनि से उत्तर होने का आधार केवल उन सूत्रों की आकार-साम्यता को ही नहीं माना जा सकता। हम पीछे प्रातिशाख्यगत सूत्रों के विकासक्रम एवं उनकी सामग्री के तुलनात्मक विवेचन द्वारा यह स्पष्ट कर आए हैं कि सभी प्रातिशाख्य पाणिनि के उत्तरकालिक नहीं हैं। फिर, इस प्रातिशाख्य की सामग्री तो वैसे भी पाणिनि की सूत्रशैली से आकार और भावना में भिन्न है। कुछ संज्ञाएं अवश्य उक्त दोनों प्रातिशाख्यों की अपेक्षा पाणिनीय संज्ञाओं से अधिक समान प्रतीत होती हैं। किन्तु, जिन प्रसंगों में ये संज्ञाएँ आई हैं, उनमें पहले ही संज्ञाविकास तेजी से होता जा रहा था।

चतुरध्यायी से तुलना

प्रातिशाख्य की अपेक्षा चतुरध्यायी में पाए जाने वाले इस संक्षेप के दो-चार उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। अथर्वप्रातिशाख्य के ३.६६, अ, का पाठ है: 'इदमू षु तदू षु पर्यू षु......त एकम्।' चतुरध्यायी के ३.४ में इसी का प्रतिरूप है: 'उञः इदमूष्वादिषु।' इसी प्रकार अथर्वप्रातिशाख्य का १.१२, ख, है: 'समाने योनावध्यैरयन्ताधि तस्थुर्वेऽसतः......जायसे।' इसका पाठ चतुरध्यायी में इस प्रकार है: 'योनावध्यैरयन्तादिषु' (४.५)। यह तुलना स्पष्ट कर सकती है कि 'आदि' पाठ वाला सूत्र परवर्ती होना चाहिए। हमारे ऐसा कहने का कारण संक्षेपवृत्ति नहीं है, बल्कि यह है कि डा० सूर्यकान्त के अपने ही मत में प्रातिशाख्य का मुख्य कार्य वेद के प्रतिपद पाठ की व्यवस्था सम्भालना है।[1] मूल प्रातिशाख्य की कल्पना उन्होंने 'संहिता से पद' की ओर बढ़ते हुए की है। उनके अनुसार बाद में द्वितीयावस्था में यह क्रम 'पद से संहिता' की ओर मुड़ गया।[2] किन्तु, दोनों ही अवस्थाओं में सभी विचारणीय संहिताओं या पदों का ध्यान रखना प्रातिशाख्य का कार्य हो गया। क्योंकि प्रतिशाखा का पाठ-भेद तभी स्थिर और सुरक्षित रह सकता था।[3] 'आदिषु' का पाठ तभी उचित कहा जा सकता है, जबकि कहीं उस 'आदि'

---

१. अथर्वप्रातिशाख्य भूमिका। २. वही। ३. वही।

से अभिहित 'गण' का पाठ भी हो। पाणिनि की परम्परा तो यही है। मीमांसक के अनुसार पाणिनि के पूर्व से ही गणपाठों की परम्परा चली आई थी।[१] कपिलदेव साहित्याचार्य का भी यही निष्कर्ष है।[२] अतः किसी तथा-कथित 'गणपाठ' के अभाव में 'आदिषु' वाले सूत्रों को प्रातिशाख्यीय सूत्रों से पूर्व का नहीं माना जा सकता। जहाँ तक सत्व-षत्वादि के बल पर इस प्रातिशाख्य के अन्तिम प्रपाठक के निर्माण का प्रश्न है, यह परम्परा अन्य प्रातिशाख्यों में भी पाई जाती है। निरुक्त की भांति वर्णागमलोपव्यत्यय-विकारादि की बात 'ऋक्प्रातिशाख्य' से ही शुरू होती है। अतः यह परिणाम भी अत्यन्त सन्तोषप्रद नहीं है कि, "यूं तो अथर्वप्रातिशाख्य की रचना अन्य किसी भी प्रातिशाख्य से पूर्व ही हुई होगी, किन्तु उपलब्ध प्रातिशाख्य का स्वरूप निश्चय ही पर्याप्त परवर्त्ती है : कम से कम चतुरध्यायी से तो निश्चय ही परवर्त्ती है" (डा० सूर्यकान्त, अथ० प्रा०, भूमिका भाग)।

हमारा मत—हमारी दृष्टि में इसका स्थान ऋक्प्रातिशाख्य के बाद आता है, और इसकी सामग्री वाजसनेय आदि की अपेक्षा भी इसे प्राचीन ठहराती है। कुछ संज्ञाएँ इसमें इतनी आधुनिक अवश्य प्रतीत होती है, जो इसे पाणिनि के समीप ला देती हैं। किन्तु, दूसरी ओर, 'तैत्तिरीयप्रातिशाख्य' के 'इंग्य' की अपेक्षा इसमें आया 'इङ्ग्य', एवं उसके 'प्रग्रह' की अपेक्षा इसमें कथित 'प्रगृह्य', इसे निश्चय ही उसका समवर्त्ती या उसके कुछ आस-पास का सिद्ध करते हैं।

परम्परा-प्राचीनता—हम यहाँ अनेक समसूत्रों के अध्ययन से पाणिनीय सूत्रों की अपेक्षा इसके सूत्रों की पूर्ववर्त्तिता को सिद्ध कर सकते हैं। भ्रम का कारण यह है कि छान्दस और लौकिक—उभयात्मक—व्याकरण के क्षेत्र में आपिशलि, इन्द्र, आदि वैयाकरणों के अनेक सूत्र तब तक सर्वमान्य रूप में स्वीकृत हो चुके थे। शाकटायनादि अन्य अनेक आचार्य भी लौकिक व्याकरण के क्षेत्र में उच्चकोटि के वैयाकरण स्वीकार किए जा चुके थे। ऐसे अनेक आचार्यों के नामों का उल्लेख हम पहले कर आए हैं। अथर्वप्रातिशाख्य में 'शौनक' का, एवं चतुरध्यायी में 'शाकटायन' का स्पष्टोल्लेख है। इन दोनों को पाणिनि का पूर्ववर्त्ती ही माना गया है। किन्तु, पाणिनि, व्याडि, कात्यायन, या अन्य किसी वैयाकरण अथवा प्रातिशाख्यकार का नामोल्लेख

---

१. सं० व्य० इति०, द्वितीय खण्ड, 'गणपाठ'। २. 'गण० पर०' भूमिका।

यहाँ नहीं हुआ है। इस उल्लेख की बात तो पृथक् ही है। परम्परा में परि-शोधित होते रहने के कारण स्वयं इस प्रातिशाख्य के लेखक का परिचय तक हमें नहीं मिलता है। निश्चय ही इसका कारण इसकी परम्परा-प्राचीनता हो सकती है।

पर, तो भी यह माना जा सकता है कि संभवतः इन दोनों का अन्तिम संस्कार कभी पाणिनि के बाद ही हुआ हो। इस दृष्टि से शौनकीय चतुरध्यायी का वर्त्तमान रूप निश्चय ही पाणिनि का उत्तरवर्त्ती माना जा सकता है। यह है भी प्रातिशाख्यों के सामान्य स्वरूप से भिन्न : केवल सूत्ररूप। अतः उसे पाणिनि की संक्षेपवृत्ति से प्रभावित मानने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए।

विषय :

उक्त दोनों ग्रन्थों का विषय-विस्तार भी भिन्न ढंग पर हुआ है। चतुरध्यायी में चार अध्याय होने के कारण प्रातिशाख्य के तीन प्रपाठकों का विषय ही वहां विस्तार से आया है। पर, उसके पहले अध्याय का वर्णोच्चारण प्रकरण, जो अन्यत्र प्रातिशाख्यों का अविकल भाग है, अथर्वप्रातिशाख्य में अनुपलब्ध है। वस्तुतः अथर्वप्रातिशाख्य में शुद्धतः व्याकरणात्मक और मन्त्रोच्चारणा-त्मक विषय ही गृहीत हुए हैं। प्रातिशाख्य के अन्तिम प्रपाठक का विषय चतुरध्यायी में विविध स्थलों पर बँट कर आया है। स्वरों का प्रकरण प्रतिशाख्य में प्रथम प्रपाठक में ही है, जो चतुरध्यायी में तीसरे अध्याय में आया है।

इस प्रातिशाख्य के मुख्य विषय हैं : सन्धि, स्वर, संहिता-पद-भेद, विविध पद और स्वरूप भेद, समास-लोप-सन्धि-लकारादि। यहाँ 'लकारादि' का अर्थ स्पष्ट कर देना अभीष्ट है। अद्यतनी (२.६७) और ह्यस्तनी (३.२७) का प्रयोग यहाँ लकारार्थ में ही हुआ है। आत्मनेभाषा और परस्मैभाषा का ३.८२ में आत्मनेपदादि के अर्थ में प्रयोग हुआ है। अन्यत्र प्रकृतिप्रत्ययादि-विभाग के संकेत भी मिलते हैं। पर, ये बातें निर्णायक नहीं हैं। कारण यह है कि ऐसी शब्दावली को चर्चा, इससे अधिक समृद्ध रूप में, हम पहले 'गोपथ' ब्राह्मण के उद्धृत कथन के प्रसंग में कर आए हैं। अतः इन बातों को काल-निर्णय का आधार मानते ही ब्राह्मणादि के कालनिर्णय में भी उथल-पुथल हो जाएगी।

अन्तर

अन्य प्रातिशाख्यों के उपलब्ध रूप से इसमें कोई विशेष अन्तर तो न भी दिखाई देता, यदि अथर्वप्रातिशाख्य के मूल रूप को ही मूल-सूत्र-रूप में स्वीकार कर लिया जाता। परन्तु, डा० सूर्यकान्त का यह आग्रह अनुचित भी नहीं कहा जा सकता कि वर्त्तमान रूप में सूत्रों के अधोलिखित उदाहरण भी मूल प्रातिशाख्य के अंग ही माने जाने चाहिएँ। कारण यह है कि इसी रूप में उनकी रक्षा बहुत काल से होती चली आई है। वैसे अन्य प्रातिशाख्यों की परम्परा में चलने पर उनके द्वारा जो प्रातिशाख्य का 'लघुरूप' माना गया है, वही मूल रूप ठहरेगा।

अतः इस 'उदाहरण भाग' को मूल प्रातिशाख्य का अंग मानते ही अन्य प्रातिशाख्यों से इस का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। अन्यों में उदाहरणों का यह भाग उनके भाष्यभाग का अंग माना जाता है। उनसे अन्तर का एक कारण यह भी है कि वहाँ उदाहरणों की संख्या इतनी अधिक नहीं है। इस प्रातिशाख्य में आए उदाहरणों को अधिक व्यापक और पूर्ण कहा जा सकता है।

५. सामप्रातिशाख्य : ऋक्तन्त्र

सामवेद से सम्बद्ध तीन ऐसे ग्रन्थ माने गए हैं, जिन्हें सामान्यतः प्रातिशाख्यों में ही गृहीत किया जाता है। ये हैं : सामतन्त्र, पुष्पसूत्र और ऋक्तन्त्र। सामतन्त्र के कर्त्ता औदव्रजि हैं, जिनका उल्लेख 'ऋक्तन्त्र' में भी मिलता है। पुष्पसूत्र के कर्त्ता वररुचि माने गए हैं। ऋक्तन्त्र का सम्बन्ध शाकटायन से माना गया है। शाकटायन का नाम व्याकरण शास्त्र में लौकिक व्याकरण के प्रणेता के रूप में अत्यधिक प्रसिद्ध है। यास्क और पाणिनि ने उन्हें पर्याप्त सम्मान दिया है। इसका रहस्य हमें ऋक्तन्त्र के अध्ययन के बाद ही स्पष्ट होता है। अन्य प्रातिशाख्यों की पद्धति में होकर भी 'व्याकरण' की दृष्टि से यह ग्रन्थ अधिक पूर्ण है।

नामकरण :

इसका नाम भ्रमावह हो सकता है। पर, इसका एक कारण है। जब तक हम उक्त तीनों ग्रन्थों का विषय न जान लें तब तक यह भ्रम बना ही रहेगा। 'साम' और 'ऋक्' नाम यहां वेदों का प्रतिनिधित्व न करके विषय-वस्तु का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'साम' का सम्बन्ध 'गान' और उसकी

प्रक्रिया से है। यह 'गान' 'ऋचा' में कैसे रूपान्तरित होता है, अथवा 'ऋचा' कैसे 'गान' में परिवर्तित होती है ?, यह सारी बात ही इस 'सामतन्त्र' में बताई गई है।

'ग्रामे गेय गान' और 'अरण्ये गेय गान' में आए सामों का सामान्य गानों से असम्बद्ध ऋचाओं में रूपान्तरण 'पुष्पसूत्र' का विषय है। इसमें शब्दों का शोधन या अनुकूलन वर्णित है।

परन्तु, 'ऋक्तन्त्र' का विषय इन सबसे भिन्न है। उसका कार्य 'सामन्' या 'गान' से सम्बद्ध नहीं है। अपितु अन्य प्रातिशाख्यों की भाँति 'पद' और 'ऋचा' के परस्पर सम्बन्ध को बताना अथवा निश्चित करना ही उसका कार्य है। बहुत अधिक सम्भव यह है कि इससे पूर्व ही 'सामतन्त्र' की रचना हो चुकी होगी। उस नाम की पुनरुक्ति को बचाने और विषय की अधिक स्पष्टता के लिए ही यह नया नाम चुना गया।

इन तीनों के अतिरिक्त 'अक्षरतन्त्र' नाम से एक और 'प्रातिशाख्य' या 'व्याकरण' इसी सामशाखा से सम्बद्ध उपलब्ध होता है। इसमें 'स्तोभ' का वर्णन है। 'संज्ञाकरण' भी इसी का विषय माना गया है।

अतः यह स्पष्ट है कि जहाँ तक प्रातिशाख्य की परम्परागत परिभाषा का प्रश्न है, 'ऋक्तन्त्र' को ही 'सामवेद' के पद और संहिता के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाला सच्चा प्रातिशाख्य कहा जा सकता है।

काल और कर्त्ता

इसका कर्त्ता शाकटायन को माना गया है। किन्तु, डा० सूर्यकान्त और अन्य विद्वान् वर्तमान ऋक्तन्त्र को पाणिनि का उत्तरकालीन स्वीकार करते हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि उसी समय वे यह भी स्वीकार करते हैं कि शाकटायत पाणिनि से पूर्व के प्रसिद्धतम वैयाकरण थे। परन्तु, इसमें आश्चर्य की कोई बात इसलिए नहीं है कि स्वयं इस ऋक्तन्त्र में वैयाकरणों का और व्याकरण-विकास का जो क्रम बताया गया है, उसमें शाकटायन का भी अन्तर्ग्रहण हुआ है। इस का अर्थ यह भी लिया जा सकता है कि शाकटायन स्वयं अपना उल्लेख कर रहे हैं। अथवा, यह भी कि उनके उपदेश का किसी परवर्त्ती आचार्य ने प्रतिसंस्कार किया है। सम्भव है कि इस संस्कार का वर्त्तमान रूप पाणिनि के बाद का हो। पर, इस निर्णय में इस युक्ति का कोई महत्त्व नहीं होना चाहिए कि कितने सूत्रों पर पाणिनि का प्रभाव है।

क्योंकि, हम पहले ही कह आए हैं कि अब जब कि यह स्पष्ट हो चुका है कि पाणिनि किसी परम्परा के आदि पर न होकर उसके पूर्ण प्रौढ़िकाल में आए थे, तब हर बात में पाणिनि का प्रभाव खोजने की अपेक्षा, पाणिनि पर पड़े प्रभावों की भी चर्चा आरम्भ होनी चाहिए। अतः यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि यदि इसका अन्तिम या वर्त्तमान रूप पाणिनि के बाद भी प्रति संस्कृत हुआ हो, तब भी पाणिनि के व्याकरण का प्रभाव इस पर प्रधान रूप में पड़ने की अपेक्षा, इसमें मूलागत पद-संहिता-विनिमय की बात ही प्रधान एवं अक्षुण्ण रूप में स्थिर और अविचालित रही होगी। इसकी तकनीकी शब्दावली भी पाणिनीय होने की अपेक्षा प्रातिशाख्य-परम्परा की ही अधिक है। इसका वर्ण्य विषय भी उस परम्परा से भिन्न नहीं है। इस की मूल टीका पर एक 'विवृति' या टीका भी अपूर्ण रूप में उपलब्ध है। सूत्रों की मूल वृत्ति के टीकाकार का नाम अज्ञात है। पर, सम्भव है कि वह साम के 'ऊह' और 'ऊह्य गान' को प्रामाणिक माने जाने से पूर्व के युग में ही हुआ था। इस प्रातिशाख्य का सम्बन्ध सामवेद की कौथुम शाखा से है, जैमिनीय से नहीं। औदव्रजि इसका टीकाकार इसलिए नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसका नाम इसमें उल्लिखित है।

६. लघु ऋक्तन्त्र

इसी का एक लघु संस्करण 'लघु ऋक्तन्त्र' नाम से मिलता है। इसे निश्चय ही पाणिनि का उत्तरकालिक स्वीकार किया जाना उचित है। यह पर्याप्त परवर्त्ती रचना है। इसका प्रणेता भी शाकटायन को माना जाता है। किन्तु, इसमें पाणिनि का भी उल्लेख मिलता है। अतः मूल शाकटायन इसका प्रणेता नहीं माना जा सकता।

इस सम्बन्ध में फिर हम अपनी पहली बात को दोहराना चाहेंगे कि यदि 'ऋक्तन्त्र' पाणिनि से उत्तरवर्त्ती रचना होती, तब उसमें पाणिनि का भी उल्लेख उसी आदर के साथ होता, जिस आदर से बृहस्पति से आरम्भ होने वाले क्रम का या फिर औदव्रजि जैसे आचार्य का उल्लेख है। 'लघु ऋक्तन्त्र' में ऐसा ही हुआ है। अतः यह तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि यदि 'ऋक्तन्त्र' का वर्त्तमान रूप पाणिनि के बाद प्रतिसंस्कृत भी मान लिया जाए, तो भी वह पुराने 'ऋक्तन्त्र' के पुनरुद्धार के रूप में ही माना जाएगा, नई रचना के रूप में नहीं।

इस प्रकार 'ऋक्तन्त्र' को तत्त्वतः पाणिनि से पूर्व काल में रचा गया, और 'लघु ऋक्तन्त्र' को पाणिनि के बाद रचा गया, स्वीकार करना ही उचित है।

(ख) व्याकरण

पृथक्ता और भ्रम

मीमांसक ने इन पूर्वोक्त 'ऋक्तन्त्र', 'अक्षरतन्त्र', 'सामतन्त्र', 'अथर्वचतुरध्यायी (शौनकीय) और 'प्रतिज्ञासूत्रादि' को 'अन्य वैदिक व्याकरण' नाम से एक पृथक् शीर्षक के अधीन रखा है। उनकी दृष्टि में प्रातिशाख्यों और इन 'तन्त्र' ग्रन्थों में रचनागत दृष्टि से कुछ अन्तर है। सच यह है कि ऊपर निकाले गए निष्कर्षों के अनुसार ये ग्रन्थ भी मूलतः 'प्रातिशाख्य' ही हैं। इनमें से प्रत्येक के विषय और स्वरूप में अन्तर हो सकता है। पर, मात्र इतने आधार पर ही इन्हें प्रातिशाख्यों की परम्परा से भिन्न मानना उचित नहीं कहा जा सकता। पाणिनि के उत्तरकालिक होने पर भी इनमें से कुछ की गणना हमने यहाँ की है, उसका कारण उनके विषय की तुल्यता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि परवर्ती और आधुनिक विद्वानों ने 'वैदिक व्याकरण' या 'वैदिकी प्रक्रिया' लिखते हुए इन प्रातिशाख्यों का ही सहारा लिया है। अतः इन्हें 'वैदिक व्याकरण' के नाम से कहा भी जा सकता है। किन्तु, एक बात इन सब प्रातिशाख्यों से सिद्ध है कि कात्यायन के 'यथा लौकिकवैदिकेषु' को जो सम्मान पतंजलि और भर्तृहरि ने बाद में दिया, उसकी नींव पाणिनि और यास्क के 'लोके', 'छन्दसि', 'अन्वध्यायम्' और 'भाषायाम्' के प्रयोगों से बहुत पहले डल चुकी थी। अतः यह भी स्पष्ट है कि 'छान्दस' भाषा के नियम-विधान करने वाले इन प्रातिशाख्यों के रचयिताओं को भाषा के व्याकरण का भी ज्ञान था। भले ही ऐसे व्याकरणों का निर्माण उन्होंने स्वयं किया हो, या किन्हीं अन्य वैयाकरणों ने! यही कारण है कि हम अनेक ऐसे वैयाकरणों का नामोल्लेख इनमें पाते हैं, जिन्हें पाणिनि या परवर्ती वैयाकरणों ने मान्य 'वैयाकरण' के रूप में ही स्वीकार किया है।

ऐसे बहुत से नामों की चर्चा हम पहले कर आए हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है कि पाणिनिपूर्व के इन वैयाकरणों में से एक का भी व्याकरण हमें पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं होता। किन्तु, पाणिनि के उत्तरवर्ती व्याकरणों में 'कातन्त्र' आदि ऐसे कुछ व्याकरण ग्रंथ अवश्य उपलब्ध होते हैं, जिनसे यह

सिद्ध होता है कि वे पाणिनि-भिन्न किसी अन्य व्याकरण-परम्परा का अनुसरण कर रहे थे। उनकी परिभाषाएँ तक भिन्न हैं। उनके विवेचन, प्रत्याहारादि का क्रम भी भिन्न है। इतना ही नहीं, धातुपाठ, गणपाठादि की दृष्टि से भी उनकी स्वतन्त्र सत्ता है। इनमें विषय-विभाजन का क्रम तो भिन्न है ही। इनका पता हमें कई प्रसिद्ध जैन व्याकरणों से भी मिलता है। उनकी शैली का किंचित् आभास भी हमें वहीं से मिलता है। कई प्राचीन मान्यताएँ तो हरदत्त की 'पदमंजरी' और जिनेन्द्रबुद्धि के 'न्यास' से भी पता चलती हैं। पाणिनि के अतिरिक्त अन्य अनेक परवर्ती आचार्यों ने इन पूर्वाचार्यों के अनेक उद्धरण अखण्ड या शोधित रूप में उद्धृत किए हैं। उन सब को मिलाने से संग्रहकार व्याडि की भाँति कई अन्य व्याकरणों की मान्यताओं या उनके मूलानुरूपी सूत्रों का परिज्ञान हमें हो जाता है।

आगे हम इन्हीं में से कुछ का वर्णन यहाँ करेंगे, ताकि पाणिनि की पूर्वभूमिका का कुछ आभास हमें मिल सके।

(१) इन्द्र और ऐन्द्र व्याकरण

परिचय और संकेत

इन्द्र का प्रथम आधिकारिक परिचय और संकेत संस्कृत व्याकरण के पाठक को महाभाष्य से मिलता है। वहाँ 'बृहस्पति जैसा प्रवक्ता और इन्द्र जैसा अध्येता'[1]...के प्रसंग में यह निर्दिष्ट है कि इन्द्र को आरम्भ में, सम्भवतः प्रातिशाख्य-पद्धति पर, प्रतिपदपाठ के रूप में **'अविभाग व्याकरण'** का उपदेश दिया गया। बृहस्पति के इसी उपदेश को **'अविभाग व्याकरण'** के रूप में हम पहले भी कह आए हैं। संभव है कि 'अविभाग व्याकरण' के वे ही पाणिनिसम प्रमुख प्रवक्ता रहे हों। किन्तु, इन्द्र को यह पद्धति उतनी रुचिकर और सुकर प्रतीत नहीं हुई। अतः उसने **'सविभाग व्याकरण'** की पद्धति का श्रीगणेश किया। 'तैत्तिरीय संहिता' में इसे ही स्पष्ट किया गया है: **"वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति।...तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्"** (६/४/७)। इसे अधिक स्पष्ट करते हुए सायणाचार्य कहते हैं: **"तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययविभागं सर्वत्राकरोत्।"** अतः यह स्पष्ट है कि पाणिनीय पद्धति के व्याकरण का प्रथम आचार्य इन्द्र को ही स्वीकार किया जा सकता है।

---

१. महा० १.१.१, 'बृहस्पतिश्च प्रवक्ता...'इत्यादि।

ऋक्तन्त्र १/४ में इस परम्परा को स्पष्ट करते हुए कहा गया है : "ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः।"

भरद्वाज के वैयाकरण होने का संकेत, और उसके व्याकरण की लोकप्रिय 'शाखा' का संकेत, हमें अनेकत्र मिलता है। श्री गोल्डस्टुकर ने उन्हें सम्मानास्पद स्थान दिया है।

इन्द्र के प्रयत्नों की मौलिकता का संकेत ऋग्वेद के ४.५८ और ८.६९ सूक्तों के अनेक मन्त्रों में मिलता है। यह बात हम द्वितीय अध्याय में भलीभांति कह आए हैं। विशेषकर ४.५८ के आरम्भिक चार मन्त्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य और वेनस् का सम्बन्ध वाक् के व्याकरण के साथ किसी न किसी रूप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था।

ऐन्द्र व्याकरण : मान्यता

महाभारत का टीकाकार देवबोध लिखता है :

> यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात् ।
> पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे ? ॥

इस श्लोक से यह भी सिद्ध हो जाता है कि इन्द्रकृत या महेन्द्रकृत व्याकरण सविभाग होते हुए भी पदगणना की परम्परा को बिलकुल छोड़ नहीं पाया था। इसीलिए सम्भवतः गणना की दृष्टि से, और स्वरूप-स्थिति की दृष्टि से, उसमें अधिक पदों का समावेश रहा होगा। तिब्बतीय परम्परा के अनुसार ऐन्द्र व्याकरण का परिमाण २५ सहस्र श्लोक था। पाणिनीय व्याकरण का परिमाण, उसी परम्परा के अनुसार, एक सहस्र श्लोक है। अर्थात्, 'ऐन्द्र व्याकरण' आकार में पाणिनीय व्याकरण से लगभग २५ गुना बड़ा था।

पाणिनीय व्याकरण के प्राविर्भाव के बाद भी ऐन्द्र व्याकरण की मान्यता किसी न किसी रूप में चलती ही रही। अनेक आचार्य पाणिनीय व्याकरण की अपेक्षा इसे सरल मानकर इसके संरक्षण और प्रसार में लगे रहे। तभी हम अनेकत्र अनेक रूप में इस व्याकरण के विकीर्ण दो-चार सूत्रों को, या इन्द्र-सम्मत मतों को, उद्धृत होता पाते हैं। यही नहीं ! काशकृत्स्न और कातन्त्र व्याकरणों को ऐन्द्र व्याकरण के ही परवर्ती रूपमात्र स्वीकार किया गया है। इस मत को केवल डा० बेल्वेल्कर का ही मत कहकर न टाल देना

चाहिए। युधिष्ठिर मीमांसक भी कुछ अंशों में इस परिणाम से सहमत हैं।

पाणिनि के उत्तरकालीन व्याकरणों के प्रसंग में हम आगे चलकर यह स्पष्ट करेंगे कि उन सब की प्रवृत्ति दो प्रकार की थी। एक ओर, ऐसे व्याकरण थे, जिनमें पाणिनि के व्याकरण का अनुकरण इस दृष्टि से किया गया था कि उसे और भी संक्षिप्त एवं पूर्ण बनाया जा सके। इन व्याकरणों में पाणिनीय सूत्रों और क्रम का आधार लिया गया था। इनके 'वर्णसमाम्नाय सूत्र' (माहेश्वर सूत्र) भी लगभग एक ही परम्परा और प्रत्याहार रचना के उद्देश्य से बनाए गए थे। दूसरी ओर, कुछ व्याकरण ऐसे रहे, जिनमें पाणिनीय परम्परा का अनुकरण नहीं किया गया। काशकृत्स्न और कातन्त्र व्याकरण ऐसे ही हैं। 'शाकटायन व्याकरण' की प्रवृत्ति पर हम आगे चलकर लिखेंगे। यहाँ हमारा संकेत इतना ही है कि कातन्त्र के आरम्भिक 'वर्णसमाम्नाय' और सूत्रयोजना का सम्बन्ध पाणिनि के सूत्रों के अनुरूप प्रतीत नहीं होता! उसके वर्णोपदेश के सूत्र प्रातिशाख्य परम्परा के अधिक प्रतीत होते हैं। हमें यह अधिक संगत प्रतीत होता है कि वर्णोपदेश की तथाकथित 'माहेश्वर' और 'प्रातिशाख्य' पद्धतियों के प्रचलन से इस विषय में संकेत ग्रहण किया जाए। हमारा प्रस्ताव है कि व्याकरण के आरम्भ में किए जाने वाले इस 'वर्णोपदेश' की दो प्रचलित भिन्न-भिन्न पद्धतियों को व्याकरण की दो धाराओं का प्रतिनिधि मान लिया जाए।

लगता है कि प्रातिशाख्य परम्परा का प्रचलन भी ऐन्द्र व्याकरण के आधार पर ही हुआ होगा। इसीलिए हमने पहले कहा है कि प्रातिशाख्यों की उपस्थिति का अर्थ उनसे ही व्याकरण का अविर्भाव होना नहीं है। व्याकरण की सत्ता उनके समकाल या पूर्व भी थी। स्वतः ऐन्द्र व्याकरण की उपस्थिति वैदिक-ऋषियों के काल में भी थी। अतः उसके वर्णसमाम्नाय और सन्धि-नियमादि का यदि प्रातिशाख्यों पर प्रभाव पड़ा हो, तो आश्चर्य ही क्या?

प्रातिशाख्य पद्धति और पाणिनीय पद्धति—

सत्व-षत्व-शत्व णत्वादि विधान करने वाले एवं -कार, -वर्ग, आदि संयोजी अंशों का प्रयोग करने वाले प्रातिशाख्य निश्चय ही श्चुत्व-ष्टुत्वादि एवं तपर, उदित्, आदि का पाठ करने वाले पाणिनीय पद्धति के व्याकरणों की अपेक्षा भिन्न सरणि का अनुगमन करने वाले माने जाने चाहिएं। इसीलिए यहाँ पाणिनीय शैली की प्रत्याहार-पद्धति नहीं

अपनाई गई। परिणाम यह कि 'इको यणचि' और 'एचोऽयवायावः' जैसे सूत्रों के स्थान पर वहाँ अनेक-सूत्रात्मक रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। उनके व्यापक विस्तार का कारण भी यही था। यद्यपि उनका मुख्य ध्येय पाठशुद्धि होने के कारण वैसे भी प्रतिपदपाठशुद्धि का निर्देश आवश्यक हो जाता था। अतः पाणिनि पूर्व के व्याकरणों में सम्भवतः ऐन्द्र और शाकटायन आदि के व्याकरण में वर्णोपदेशादि को परवर्त्ती प्रातिशाख्य-पद्धति पर ही वर्गात्मक और सवर्णात्मक रूप में पढ़ा गया होगा। उनके सूत्रों में प्रत्याहार-पद्धति को कदाचित् नहीं अपनाया गया था।

कातन्त्र व्याकरण और ऐन्द्र व्याकरण की इस समानता का एक दूसरा प्रमाण भी मीमांसक ने ठुकरा दिया है। श्रीकृष्णमाचार्य ने भरत नाट्यशास्त्र में ऐन्द्र व्याकरण की उपलब्धि के संकेत की चर्चा की है। मीमांसक के अनुसार इस नाम से किसी व्याकरण का उल्लेख वहाँ नहीं हुआ है। हाँ, वे पन्द्रहवें अध्याय में 'कातन्त्र' के अनुकरण पर कुछ व्याकरण-चर्चा अवश्य उपलब्ध पाते हैं। अधिक सम्भव है कि कृष्णमाचार्य जी ने किसी टीकाकार के प्रमाण पर इन उल्लेखों को 'ऐन्द्र' कहा हो। इससे हमारी पूर्वकथित धारणा पुष्ट ही होती है।

ऐन्द्र व्याकरण के सम्बन्ध में एक धारणा और प्रचलित है। जैन परम्परा में महावीर स्वामी को ऐन्द्र व्याकरण का उपदेष्टा माना गया है। उन्होंने ही, इस परम्परा के अनुसार, इन्द्र को व्याकरण का आरम्भिक उपदेश दिया था। इसलिए उनकी दृष्टि में जैनेन्द्र व्याकरण ही 'ऐन्द्र' का वास्तविक रूप है। यह बात भ्रामक होते हुए भी ऐन्द्र व्याकरण की प्रसिद्धि की बात पुष्ट करती है। जैनेन्द्र व्याकरण की पाणिनीय व्याकरण से मौलिक अभिन्नता हम आगे चल कर दर्शाएँगे।

कुछ सूत्र

कथासरित्सागर के अनुसार यद्यपि यह व्याकरण बहुत पहले ही नष्ट हो गया था, तब भी हमारे सौभाग्य से इन्द्र के नाम से कुछ सूत्र और मत हमें इधर-उधर विकीर्ण मिल ही जाते हैं। हो सकता है कि कभी किसी तिब्बती या चीनी परम्परा से हमें और भी कुछ सूचना प्राप्त हो।

मीमांसक ने अत्यधिक शोध से इन्द्र के नाम से सम्बद्ध दो सूत्रों को ढूंढ निकाला है। भट्टारक हरिश्चन्द्र की चरक की व्याख्या में से वे उद्धृत करते हैं :

" 'अथ वर्णसमूहः' इति ऐन्द्रव्याकरणस्य" । प्रातिशाख्यों में इसे ही 'वर्णसमाम्नाय' या 'अक्षरसमाम्नाय' के नाम से दोहराया गया है । दूसरा सूत्र वे दुर्गाचार्य की निरुक्तवृत्ति से उद्धृत करते हैं : 'नैकं पदजातम् । यथा 'अर्थः पदम्' इत्यैन्द्राणाम् ।" परन्तु, श्री मीमांसक यह ध्यान देना भूल गए कि 'अर्थः पदम्' का यह सूत्र ठीक इसी रूप में वाजसनेय-प्रातिशाख्य में ,३.२ में उल्लिखित मिलता है । वहाँ पद की चार परिभाषाएँ भिन्न-भिन्न प्रसगों में दी गई हैं । यह उनमें से एक है । क्या इससे हमारा यह पूर्वोक्त मत फिर से पुष्ट नहीं होता कि ऐन्द्र व्याकरण प्रातिशाख्यों से पूर्व विद्यमान था और इसका अनुकरण प्रातिशाख्यों में, शाकटायनादि के व्याकरणों के साथ-साथ ही कदाचित् उनसे भी अधिक मात्रा में और मुख्य आधार के रूप में, हुआ था ।

मीमांसक ने काशिका की उपमन्युकृत तत्त्वविमर्शिनी टीका से एक उद्धरण दिया है : "तथा चोक्तमिन्द्रेण — अन्त्यवर्णसमुद्भूताः धातवः प्रकीर्तिताः ।" यदि यह कहना ठीक है, तब कहना होगा कि शाकटायन का धातु-सम्बन्धी-मत ऐन्द्र व्याकरण से परवर्ती ही है ।

अन्य विषय और रचनाएँ

इन्द्र को आयुर्वेद, अर्थशास्त्र, मीमांसाशास्त्र, पुराण और गाथाओं का प्रगाता या प्रवक्ता भी माना गया है । लगता है कि इन्द्र अपने समय के सभी ज्ञान-विज्ञान का महान् उद्धारक हुआ होगा । तभी आर्य-परम्परा में उसे यह महत्त्व प्राप्त हुआ है । यह भी सम्भव है कि इन्द्र नाम के कई आचार्य हुए हों । पर, इससे वैयाकरण इन्द्र का महत्त्व किसी भी रूप में कम नहीं होता । उससे ही आगे चलकर प्राच्य और औदीच्य एवं प्रातिशाख्य और पाणिनीय परम्पराओं को जन्म और विकास प्राप्त हुआ ।

डा० अभयंकर का मत

इन्द्र और ऐन्द्र व्याकरण के सम्बन्ध में डा० अभयंकर का मत हमारे उक्त मत से मिलता है ।[1] उनके मत में कुछ बातें अधिक स्पष्टता के साथ कही गई हैं । प्रथम यह कि पाणिनि उदीच्य शाखा से सम्बद्ध थे, जबकि 'इन्द्र' को वे 'प्राचां देशे' या 'प्राची' का स्वीकार करते हैं । इसमें सन्देह नहीं

---

१. डि० ग्रा० ।

कि प्राची का व्याकरण अपने ढंग का अनूठा और पाणिनि से पूर्व ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। उनके अनुसार बहुत सम्भव है. शाकटायन का व्याकरण भी उसी की पद्धति पर लिखा गया होगा। उनके गिनाए विषयों को देखने से प्रतीत होता है कि कदाचित् प्रातिशाख्य उसी के अनुकरण पर लिखे गए थे। अन्तर हम बता ही चुके हैं कि प्रातिशाख्य का विषय और क्षेत्र अत्यन्त सीमित था। 'कातन्त्र' का विषय और पद्धति भी, उनके अनुसार, ऐन्द्र व्याकरण के ही आधार पर है। एक और बात भी वे हमारे मतानुसार ही कहते हैं: 'लगता है कि यह व्याकरण प्रक्रिया-पद्धति के रूप में लिखा गया था।' हमने इसे दूसरे शब्दों में कहा है कि यह प्रातिशाख्य-पद्धति पर, उनसे बहुत पहले, लिखा गया था। अधिकांश प्रातिशाख्य 'कारिकाओं' के रूप में लिखे गए हैं। उनमें स्थान-स्थान पर 'प्रक्रियाएँ' भी गृहीत हैं। अथर्वप्रातिशाख्य की यही पद्धति डा० सूर्यकान्त जी ने सही स्वीकार की है। ऋक्तन्त्र, सामतन्त्र आदि में भी यही पद्धति अपनाई गई है। डा० अभयंकर के ये निष्कर्ष डा० गोल्ड-स्टुकर, वेबर आदि के विवेचनों पर आधारित हैं।

निश्चय ही ऐन्द्र व्याकरण में वे मूल भी विद्यमान थे, जिन्होंने आगे चलकर संस्कृत व्याकरण की प्रकृति-प्रत्यय-विभागात्मक था 'सविभाग-पद्धति' के विविध व्याकरणों को जन्म दिया। इस प्रकार 'इन्द्र' के व्याकरण को संस्कृत व्याकरण की 'सविभाग-पद्धति' की विविध शाखाओं का मूल स्रोत तो कहा ही जा सकता है, अपने गुरु बृहस्पति की 'अविभाग-पद्धति' को भी बाद की 'प्रातिशाख्य-पद्धति' के रूप में चरम पूर्णता दिलाने का श्रेय उसे ही प्राप्त है। इसके साथ ही 'ऐन्द्र व्याकरण' प्राच्य और उदीच्य शाखाओं में पूर्णतः अनुकृत होकर भी बाद में प्राच्य परम्परा में ही अधिक अवशिष्ट रहा। शाकटायन आदि ने सूत्र-पद्धति का पाणिनि से पूर्व ही पर्याप्त विकास कर लिया था।

(२) भरद्वाज, भारद्वाज एवं भारद्वाजीय

संकेत

ऋक्तन्त्र की पूर्वकथित कारिका में 'इन्द्रो भरद्वाजाय' (१.४) के रूप में इन्द्र का व्याकरण के क्षेत्र में उत्तराधिकारी भरद्वाज को स्वीकार किया गया

है। उसी सूत्र के अनुसार भरद्वाज ने अनेक ऋषियों को व्याकरण का ज्ञान दिया। तैत्तिरीय आरण्यक २.२.४ के अनुसार भी इन्द्र ने भरद्वाज को 'वर्णोपदेश' किया। तैत्तिरीय ब्राह्मण में वेदोपदेश के सम्बन्ध में इन्द्र-भरद्वाज का सम्बन्ध गुरु-शिष्य का बताया गया है (३.१०.११)।

परन्तु पाणिनि जिसका उल्लेख करते हैं, वह है 'भारद्वाज' : 'ऋतो भारद्वाजस्य' (पा० ७.२.६२)। महाभाष्य में इससे भी आगे बढ़कर 'भारद्वाजीया:' का संकेत अनेकत्र मिलता है। सूत्र संख्या १.१.२०, ५६; १.२.२२; १.३.६७; ३.१.३८, ४८, ८९, आदि के भाष्य के अन्तर्गत आए वार्त्तिकों की चर्चा के प्रसंग में भारद्वाजीयो का पुनः-पुनः उल्लेख पतंजलि ने किया है। इस शब्द के रचना और प्रयोगपक्ष व्याकरण की एक विशिष्ट पद्धति का संकेत करते हैं।

कात्यायन अपने 'वाजसनेय प्रातिशाख्य' में 'आख्यात' को भरद्वाज या भारद्वाज द्वारा दृष्ट कहते हैं : 'भारद्वाजकमाख्यातम्'। उव्वट ने इस पर टिप्पणी की है : 'भरद्वाजेन दृष्टमाख्यातम्'। इस पर श्री मीमांसक का कहना है कि सम्भव है भरद्वाज ने अपने व्याकरण में आख्यात पर अधिक बल दिया हो। इस वचन से हमें यह आभास होता है कि सम्भवतः ऐन्द्र व्याकरण में प्रकृति-प्रत्यय का विभाग आरम्भ होने पर भी 'धातु' और 'आख्यात' का प्रकरण अपनी पूर्णता तक नहीं पहुँचा था। भरद्वाज और उनके परवर्त्ती अनुयायियों ने ही इसे पूर्णता तक पहुँचाया दीखता है।

'भारद्वाजशिक्षा' के नाम से एक 'शिक्षाग्रन्थ' भी प्रकाशित हुआ है। इसके टीकाकारों ने इसे 'भरद्वाजप्रणीत' कहा है। पर डा० सिद्धेश्वर वर्मा और मीमांसक इसे वर्त्तमान रूप में पर्याप्त अर्वाचीन मानते हैं।

डा० गोल्डस्टुकर के मत में भरद्वाज के शिष्यों की परम्परा प्राच्यदेशीय ही रही होगी। उन्होंने इस धारा को पाणिनि की धारा के समानान्तर स्वीकार किया है।

(३) भागुरि

संकेत

इनका संकेत हमें पाणिनि के व्याकरण से नहीं मिलता। किन्तु, जगदीश तर्कालंकार की 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' और जिनेन्द्रबुद्धि के 'न्यास' से इनके

कुछ मतों का आभास मिलता है। इनके मत में कुछ नवीनता भी है। पतंजलि के 'प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः' के अनुसार यह विद्वान् भी दाक्षिणात्य होना चाहिए। किन्तु, यह नियम अनिवार्य नहीं है। यह बात हम आगे चलकर स्पष्ट करेंगे।

रचना

भागुरि के जितने भी मत 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' में दिए हैं, वे सब 'इति भागुरिस्मृतेः' के रूप में दिए गए हैं। सम्भव है, मूल रूप में भागुरि का व्याकरण किसी अन्य रूप में रहा हो। किन्तु उल्लिखित संकेत उनके व्याकरण का कारिकारूप में रहा होना बताता है। न्यासकार से भी यह ज्ञात नहीं होता कि भागुरि-व्याकरण का मूलरूप सूत्रात्मक था या कारिकात्मक? दोनों में मिलाकर जो मत उद्धृत किए गए हैं, यदि वे 'सूत्र' की दृष्टि से गिने जाएँ, तो उन कथनों से कई गुना सूत्रों में बँटे हुए सिद्ध होंगे। इनमें से अनेक मान्यताएँ न्यासकार एवं पदमंजरीकार आदि ने बिना मूलस्रोत का उल्लेख किए उद्धृत की हैं। उनके कुछ मन्तव्य भी बहुत स्थलों पर भागुरि की शैली पर बढ़े दीखते हैं। यह तो महाभाष्य से भी स्पष्ट है कि पतजलि और पाणिनि से पूर्व अनेक वैयाकरण हो चुके थे, और उनके मत पाणिनि से कई स्थलों पर अत्यधिक भिन्न थे।

निश्चय ही भागुरि पाणिनि-पूर्व युग के एक प्रमुख वैयाकरण रहे होंगे।

(४) काशकृत्स्न

उल्लेख

गोल्डस्टुकर, वेबर और मैक्समूलर से लेकर डा० बेलवेल्कर और अभयंकर तक किसी भी आचार्य ने काशकृत्स्न और उसके व्याकरण के सम्बन्ध में कुछ भी विशेष विस्तार से नहीं लिखा है। मीमांसक ने अपने 'इतिहास' के प्रथम संस्करण में पाँच सूत्रों का उल्लेख किया था। किन्तु बाद में चन्नवीरकृत 'काशकृत्स्न-धातुपाठ के कन्नड़ भाष्य' में प्रोक्त सूत्रों के आधार पर उन्होंने 'काशकृत्स्न व्याकरण' के नाम से एक सौ बयालीस (१४२) सूत्रों का एक पृथक् संग्रह प्रकाशित किया है। उसकी स्वरचित एक टीका भी उन्होंने दी है।

यूं, काशकृत्स्न का उल्लेख काशिका, अमोघा वृत्ति, सरस्वतीकण्ठाभरण

आदि में प्रामाणिक रूप में उपलब्ध होता है। इससे बढ़कर हमें वहाँ से उनके व्याकरण के सम्बन्ध में कुछ आरम्भिक परिचय भी मिलता है।

रचनाएँ

उनके व्याकरण सम्बन्धी परिज्ञान से पूर्व हमें काशकृत्स्न के 'धातुपाठ' का ही परिचय प्राप्त था। इसका प्रकाशन पूना के दकिन कालेज से हुआ था। चन्नवीरकवि की कन्नड़ टीका इस धातुपाठ पर ही उपलब्ध हुई। पर, इससे पूर्व काशकृत्स्न व्याकरण के सम्बन्ध में विविधात्मक सूचना अवश्य उपलब्ध होती रही थी। इस 'धातुपाठ' में आए सूत्रों के संकलन के बाद भी उसके व्याकरण का पूरा रूप सामने नहीं आया। किन्तु जो कुछ आया है, उससे यह आभास हो ही जाता है कि काशकृत्स्न व्याकरण का मूल स्वरूप कैसा रहा होगा? इतना ही नहीं। 'कातन्त्र' व्याकरण के साथ इसका सम्बन्ध मानने वाले अप्रत्यक्षतः यह भी स्वीकार करते हैं कि पाणिनि पूर्व होते हुए भी इसका उल्लेख पाणिनि द्वारा नाम्ना न होने का एक कारण कदाचित् इसका ऐन्द्र-पद्धति का होना रहा होगा। पर, इस सम्भावना पर अधिक विचार का अवकाश किसी को भी नहीं रहा। कारण यह है कि अब तक काशकृत्स्न-व्याकरण के वास्तविक स्वरूप पर पूरा-पूरा विचार नहीं किया गया है। सभी उपलभ्य सूत्रों की पूरी परीक्षा के बाद ही इस विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ कहा जा सकेगा।

महाभाष्य १.१.१ में 'पाणिनीयम्, आपिशलम्, काशकृत्स्नम्', के क्रम से उदाहरण के रूप में तीन व्याकरणों की गणना कराई गई है। पाणिनि इनमें से आपिशलि का उल्लेख नामशः करते हैं। अतः वे उनसे पूर्व के ही हो सकते हैं। इस तरह सम्भव है कि ये नामोल्लेख विपर्यास क्रम से हुए हों। परम्परानुसार भी काशकृत्स्न आपिशलि से पूर्व बैठते हैं। श्री मीमांसक का भी यही मत है।[1] बोपदेव अपने 'कविकल्पद्रुम' के ग्रन्थारम्भ में ही इन्द्रादि जिन वैयाकरणों की चर्चा करते हैं, उनमें काशकृत्स्न का नाम आपिशलि और शाकटायन से भी पूर्व ठहरता है[2]। पाणिनीय धातुपाठ की अपनी व्याख्या में क्षीरस्वामी काशकृत्स्न व्याकरण के 'निष्ठा में अनिट्' सम्बन्धी एक नियम को उद्धृत करते हैं[3]। धातुवृत्तिकार सायण ने 'काश्यप'

---

१. मी०, इति०, प्र० ख०, पृ० १११।

२. 'इन्द्रश्चान्द्रः काशकृत्स्नापिशली०'—आदि।

३. 'काशकृत्स्ना निष्ठायामनिट्त्वमाहुः—आश्वस्तः, विश्वस्तः'। क्षीर०, पृ० १८५।

के प्रमाण के आधार पर इसी पूर्वोक्त अनिट्-सम्बन्धी मत को फिर से दोहराया है[1]। कैयट ने अपनी महाभाष्यीय व्याख्या में दो स्थलों पर काशकृत्स्न व्याकरण के मतों का उल्लेख किया है[2]। इसके अनुसार 'प्रत्ययोत्तरपदयोः' (पा० २।१।५०) और 'शताच्च ठन्यतावग्रन्थे' (पा० ५.१.५७ का शोधित या पूर्ववर्ती रूप) का सम्बन्ध काशकृत्स्न से माना है। महावैयाकरण भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' की अपनी स्वोपज्ञ टीका में दो सूत्रों का निर्देश किया है, जिन्हें व्याख्याता वृषभदेव काशकृत्स्नीय मानता है[3]। वाक्यपदीय के ३.१४.५६४ में 'तदर्हम्' सूत्र के अभाव की जो चर्चा की गई है, उसे व्याख्याकार हेलाराज ने 'काशकृत्स्न' से सम्बद्ध माना है।[4] काशिका और न्यास में भी अनेकत्र उनका उल्लेख मिलता है[5]।

इससे यह तो सिद्ध ही है कि काशकृत्स्न व्याकरण की सत्ता और स्वरूप से पर्याप्त समय तक वैयाकरण परिचित रहे, यद्यपि उसका प्रचलन और संरक्षण पाणिनिपूर्व अन्य व्याकरणों की भाँति ही सम्भव न हो पाया।

धातुपाठ और व्याकरण

परन्तु ऊपर जिस काशकृत्स्नीय धातुपाठ और उस पर चन्नवीरकृत कर्नाटकी भाषा में रचित व्याख्या का उल्लेख किया गया है, उसके कारण श्री मीमांसक के प्रयत्नों से हम काशकृत्स्न के तत्रप्रोक्त एवं अन्यत्र कथित कुल १४२ सूत्रों के परिचय में आए हैं। ये सूत्र मूलरूप में अविकल मिलते हैं, या उपलब्ध रूप में ये किंचित् परिवर्तित हैं, यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता। किन्तु, इतना निश्चित है कि इनसे पाणिनिपूर्व व्याकरण पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। इस विषय में डा० गोल्डस्टुकर का यह निष्कर्ष हमें उचित लगता है कि पाणिनि ने किसी परम्परा का आरम्भ नहीं किया था, बल्कि वे उसे पूर्णता देने आए थे। उन्होंने इस विषय में भर्तृहरि के वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड के अन्त में कथित कुछ श्लोकों का सहारा लिया है। यही बात 'ऋक्तन्त्र' के सम्पादित संस्करण की भूमिका में डा० सूर्यकान्त भी कहते हैं।

---

१. माधवीया धातुवृत्तिः।

२. प्रदीपभाष्य, पा० २.१.५० और ५.१.२१ के अधीन उद्धृत।

३. वाक्य०, ब्रह्म०, चारुदेव, पृ० ४०, वृ० दे० टीका, पृ० ४१।

४. 'आपिशलाः काशकृत्स्नाश्च सूत्रमेतन्नाधीयते।'

५. पा० ४.३.१०१, आदि की व्याख्या में।

विशेषताएँ

इनके व्याकरण के स्वरूप के विषय में जो उद्धरण भिन्न-भिन्न स्थानों पर मिलते हैं, उनके आधार पर निम्न बातें सामने आती हैं :

१. त्रिकं काशकृत्स्नम्—काशकृत्स्न व्याकरण तीन अध्यायों में विभक्त था। इस वक्तव्य को 'अष्टकं पाणिनीयम्' के साथ पढ़ा गया है।

२. गुरुलाघवम्—अर्थात् इसका वैशिष्ट्य 'गुरु' और 'लघु' की युगपत् उपस्थिति था। पर, यह वक्तव्य प्रसंग-सहित इस प्रकार है : 'चान्द्रमसंज्ञकम्, काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्, पाणिनीयमकालकम्, आपिशलमन्तःकरणम्'। ये पाठ विकीर्ण रूप में अनेकत्र उपलब्ध होते हैं। ये 'गुरु लघु', प्रातिशाख्यों की भाँति, संहितापाठ के सुरक्षार्थ रचे व्याकरण के गुरु-लघु रूप भी हो सकते हैं। पर, यह स्पष्ट है कि पाणिनि, चान्द्र, आपिशल, आदि के साथ पढ़ा होने के कारण यह वक्तव्य एक ऐसे व्याकरण से सम्बद्ध है, जो लोकभाषा को अधिक ध्यान में रखकर लिखा गया था। अतः गौरव और लाघव दोनों ही व्याकरण के विषय से सम्बद्ध रूप में ही स्वीकृत किए जा सकते हैं।

किन्तु, यहीं पर युधिष्ठिर मीमांसक का यह मत अवधेय हो उठता है कि एक ओर काशकृत्स्न व्याकरण पाणिनीय व्याकरण से भी अधिक विस्तृत था, जबकि दूसरी ओर इसका आधार तीन अध्याय में ही परिवेष्टित था। अतः 'गुरुलाघव' शब्द का प्रयोग उनकी कृति के युगपत् विरोधी स्वरूप-वैशिष्ट्य को भी इंगित कर सकता है[1]। यह मत पर्याप्त समीचीन कहा जा सकता है। कम-से-कम तब तक, जब तक कि काशकृत्स्न का अधिक पूर्ण व्याकरण उपलब्ध नहीं होता और उससे कोई अन्य परिणाम सामने नहीं आता। मीमांसक का यह मत इस तथ्य से भी पुष्ट होता है कि अद्यावधि उपलब्ध काशकृत्स्न के अनेक सूत्र ऐसे शब्दों की रचना का भी संकेत करते हैं, जो पाणिनि से पूर्व प्रचलित होकर भी पाणिनि द्वारा व्याख्यात नहीं हुए थे। किन्तु, यहीं पर क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय का यह मत सावकाश हो जाता है कि काशकृत्स्न पाणिनि से अर्वाचीन है[2]। किन्तु, यह मत अन्ततः भ्रामक है।

कातन्त्र के साथ सम्बन्ध

इस व्याकरण का सम्बन्ध 'कातन्त्र' के साथ, उसके 'मूल' के रूप में, स्थापित किया जाता है। 'कातन्त्र' को इसका ही संक्षिप्त और परवर्ती रूप

१. मी० इति०, प्र० ख०. पृ० १२० ।

२. टेक्निकल टर्म्स ऑफ संस्कृत ग्रामर, पृ० २, ७७ ।

कहा गया है । परन्तु, हम पीछे कह आए हैं कि 'कातन्त्र' को 'ऐन्द्र व्याकरण का लघु रूप' भी कहा गया है । हम यह भी कह आए हैं कि 'जैनेन्द्र व्याकरण' को भी 'ऐन्द्र व्याकरण' के नाम से ही स्मरण किया गया है । मीमांसक के मत में 'कातन्त्र' को काशकृत्स्न व्याकरण का उत्तराधिकारी और संक्षिप्त रूप माना जा सकता है ।

हमें इस विषय में इतना ही कहना है कि पहले हमने ऐन्द्र-व्याकरण के साथ कातन्त्र ऐसे सम्बन्ध की सम्भावना को स्वीकार किया है । हमें काश-कृत्स्न और कातन्त्र के इस नए सम्बन्ध को मानने में भी कोई विरोधाभास दिखाई नहीं देता । बल्कि, सच तो यह है कि यदि इस प्रसंग में 'आपिशल व्याकरण' का भी नाम ले दिया जाए, तब भी हमें कोई आपत्ति नहीं होगी ।

कारण यह कि काशकृत्स्न और आपिशलि के व्याकरण की समानता या समानरूपिता का आभास हमें अनेक उद्धरणों से मिलता है । 'कातन्त्र' में प्रातिशाख्य से आगत परम्परा बिलकुल टूटी भी नहीं है, किन्तु नई रीति का संकेत भी है । स्वयं मीमांसक ने यह सम्भावना स्वीकार की है कि काश-कृत्स्न के व्याकरण से पूर्व प्रायः व्याकरण ऋक्प्रातिशाख्य की पद्धति पर कारिकामय हो रहे होंगे । काशकृत्स्न ने उसे सूत्र रूप में संक्षिप्तता से संयुक्त करने का आरम्भ किया होगा । हम प्रातिशाख्यों के साथ व्याकरण के समानान्तर विकास की बात पहले कह आए हैं । सूत्र-पद्धति को हम स्वयं प्रातिशाख्यों तक में परवर्त्ती मानते हैं । हमने संक्षेप की इस बढ़ती वृत्ति का सम्बन्ध, ऋग्वेद और महाभाष्यादि के साक्ष्य पर, इन्द्र के आरम्भिक-प्रयत्न के साथ माना है । संक्षेप की यह प्रक्रिया उस आदि वैयाकरण से ही आरम्भ हुई थी । अतः ऐन्द्र, काशकृत्स्न और आपिशल व्याकरणों का सम्बन्ध परस्पर पौर्वापर्य के अतिरिक्त अधिक घनिष्ठ भी हो, तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं । 'कातन्त्र' से कम-से-कम यह बात तो स्पष्ट है कि वह पाणिनिभिन्न किसी प्राचीन परम्परा का वाहक है । उसे स्वतन्त्र सरणि के रूप में किसी भाँति स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

समानता का एक आधार यह भी है कि इन दोनों के ही धातुपाठों में पाणिनि की अपेक्षा अधिक वैदिक धातुओं का पाठ किया गया है । फिर भी मूलतः ये लोकभाषा के ही व्याकरण हैं : वैदिक से लौकिक की ओर बढ़ती हुई भाषा के । इसीलिए काशकृत्स्न व्याकरण अत्यन्त प्राचीन भी माना

जाना चाहिए : भले ही वर्त्तमानकाल में वह अपने मूल रूप में उपलब्ध हो या न हो।

(५) आपिशलि

परिचय

पाणिनिपूर्व के जिन वैयाकरणों का परिचय हमें स्वयं पाणिनि से ही मिलता है, और जिनकी चर्चा अनेक रूप में परवर्त्ती वैयाकरण भी करते हैं, उनमें आपिशलि का नाम मुख्य है। यद्यपि पाणिनि ने इनका नामशः उल्लेख अनेकत्र नहीं किया है। कदाचित् कई अन्य वैयाकरणों ने भी कम ही किया है। तब भी 'आपिशलि शिक्षा' और 'आपिशल व्याकरण' आदि के रूप में हम इनके कृतित्व का उल्लेख अनेकत्र पाते हैं। महाभाष्यकार ने एक-दो विशिष्ट स्थलों पर, विविध समस्याओं के प्रसग में, आपिशलि के विशिष्ट मत उद्धृत किए हैं। किन्तु, इससे अधिक बार वे उदाहरणार्थ व्याडि, गौतम और काशकृत्स्न के उल्लेख के साथ ही साथ, या उनसे व्यतिरिक्त रूप में, 'आपिशल' व्याकरण या 'आपिशलीय' परम्परा का परिचय देते हैं। पाणिनीय गणपाठ में 'छात्र्यादिगण' में 'आपिशलि' शब्द का भी पाठ समाविष्ट है। उसके बल पर ही मीमांसक का कथन है कि "पाणिनि से पूर्व 'आपिशल शाला' व्याकरण का एक प्रसिद्ध केन्द्र बन चुकी होगी, और पाणिनि उसके महत्त्व से परिचित रहे होंगे[1]"। काशिका, न्यास, पदमंजरी, आदि के साक्ष्य पर मीमांसक ने आपिशलि के तथाकथित दस से अधिक सूत्रों और आठ से अधिक कारिकादि को छाँट निकाला है।[2] सम्भव है किसी दिन काशकृत्स्न के व्याकरण की भाँति आपिशलि के धातुपाठ और व्याकरण का परिचय भी हमें उपलब्ध हो सकेगा। किन्तु, यह सत्य फिर भी महत्त्वपूर्ण है कि सूत्र, शिक्षा, धातुपाठ और गणपाठ की दृष्टि से हमें आपिशलि का उल्लेख भरपूर मिलता है। यद्यपि इनमें से वर्त्तमानकाल में केवल उनकी 'शिक्षा' का ही पुनरुद्धार हो पाया है। धातुपाठ और गणपाठ का परिचय 'सूत्रों' की ही भाँति 'उल्लेखों' के रूप में मिलता है। 'शिक्षा' का उद्धार भी इसलिए सम्भव हो पाया कि महावैयाकरण हेमचन्द्र सूरि ने अपने 'शब्दानुशासन' में

---

१. मी० इति, प्र० ख०, पृ० १३५।
२. वही, पृ० १३७-८।

'आपिशलशिक्षा' के २३ सूत्र अविकल रूप में एकत्रित पाठ किए हैं। उसके कारण ही उपलब्ध शिक्षाओं में से 'आपिशलशिक्षा' को पहचानना सम्भव हो सका। सबसे पहले इन्हें सम्पादित करने का श्रेय डा० रघुवीर को है।

व्याकरण का स्वरूप

आपिशलि के व्याकरण के जितने भी प्रमाण उपलब्ध हुए हैं, उन सबको देखकर इस तथ्य में संदेह नहीं रह जाता कि कम-से-कम दो बातों में पाणिनि का मार्गदर्शन आपिशल व्याकरण ने किया है। प्रथम—सूत्रपद्धति और अधिकांश परिभाषाओं की पूर्व स्वीकृति के सम्बन्ध में। द्वितीय—प्रत्ययों की समरूपता के विषय में। टाप्, ठन्, शप्, आदि की आपिशलि द्वारा पूर्व-स्वीकृति अन्य भी कई सम्भावनाओं को जन्म देती है। पाणिनि के 'आङो नाऽस्त्रियाम्[1]' और 'औङ आपः[2]' आदि सूत्रों के सम्बन्ध में हमारा यह स्पष्ट मत है कि स्वतः पाणिनि से अमान्य प्रत्ययों का अस्तित्व मानने वाले ऐसे अनेक सूत्र हैं, जो पाणिनीय पद्धति और पाणिनीय पूर्णता रखने वाले किसी अत्यन्त संनिकट और पूर्ववर्ती आचार्य के ही हो सकते हैं, और जिन्हें पाणिनि ने बाद में अविकल रूप में स्वीकार कर लिया। ऐसा करते हुए पाणिनि ने इस बात को अड़चन नहीं बनने दिया कि उन सूत्रों में उद्धृत प्रत्याहारों और प्रत्ययादि के स्थान पर वे स्वयं क्या प्रत्याहार या प्रत्यय पढ़ते हैं? यथा, इन दोनों सूत्रों में ही दो उदाहरण उपस्थित हैं: एक में 'टा' विभक्ति-प्रत्यय के स्थान पर 'आङ्' पढ़ा गया है, और दूसरे में 'औ औट्' प्रत्ययों के स्थान पर 'औङ्' और 'टाप्' के स्थान पर 'आप्' पढ़े गए हैं। जब पाणिनि स्वयं अपनी ही रचना और मान्यता का उल्लंघन करते दीखते हैं, तब स्वभावतः वे किसी सर्वमान्य या उचित परम्परा को अविकल सम्मान देना अधिक उचित समझते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि ऐसे ये सूत्र किसके हैं? अधिकांश परवर्ती आचार्यों ने उदाहरणों में पाणिनि को इस विषय में आपिशलि का ऋणी या अनुकर्त्ता बताया है। मीमांसक कहते हैं कि आपिशलि भी इस विषय में अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों का ऋणी था[3]। सम्भव है, पाणिनि द्वारा अधिकांश 'स्वीकृत' या 'गृहीत' सूत्र आपिशलि से ही अविकल रूप मे सम्बद्ध रहे होंगे। ऐसा होना तभी

---

१. पा० ७.३.१२०।
२. पा० ७.१.१८१।
३. 'कथं पुनरिदमाचार्येण...' आदि। पदमञ्जरी, भा० १, पृ० ७।

सम्भव है, जबकि दोनों के प्रत्याहार और प्रत्यय लगभग समान हों एवं पाणिनि के समवर्त्ती आचार्य कम-से-कम उस दूसरी शब्दावली से भी परिचित हों। अतः इस तथ्य में सन्देह नहीं कि आपिशलि का अधिकांश व्याकरण पाणिनि के सूत्रों में गृहीत और अन्तर्भावित हो गया होगा; भले ही उसमें रूपान्तरण और मतभिन्नताजन्य परिवर्त्तन भी हुआ ही होगा।

इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण पद की परिभाषा के सम्बन्ध में है। 'कलापचन्द्र' में सुषेण विद्याभूषण लिखते हैं : " 'अर्थः पदम्' आहुरैन्द्राः, 'विभक्त्यन्तं पदम्' आहुरापिशलीयाः, 'सुप्तिङन्तं पदम्' पाणिनीयाः[1]"। न्याय-सूत्र २.२.५७ में इसे यूँ कहा है : 'ते विभक्त्यन्ताः पदम्।' कम से कम यह सूत्र आपिशल व्याकरण पर ही आधारित है। उधर, आपिशलि के कुछ सूत्र काशकृत्स्न के सूत्रों पर भी आधारित दीखते हैं।[2]

इस सूत्र से यह भी पता चलता है कि आपिशलि 'ऐन्द्र' व्याकरण के अनुगामीमात्र न थे। इस मान्यता का मूल भी, वाजसनेयादि के माध्यम से, प्रातिशाख्य परम्परा में खोजा जा सकता है। किन्तु, हम पहले ही कह आए हैं कि व्याकरण और प्रातिशाख्य का विकास एक दूसरे के समानान्तर हो रहा था। कदाचित् व्याकरण ही मूल रहा होगा।

प्रत्याहार और वर्णसमाम्नाय

सृष्टिधर ने अपनी 'भाषावृत्ति' में आपिशलि की डेढ़ कारिका मूल ग्रन्थ से या अन्यत्र कहीं से उद्धृत की है। उनमें 'भष्' प्रत्याहार की चर्चा की है।[3] इससे आशा हो सकती है कि आपिशलि माहेश्वर सूत्रों और प्रत्याहारों से परिचित थे। हम पहले ही कह आए हैं कि वर्णसमाम्नाय की कम से कम दो पद्धतियाँ पहले से ही प्रचलित थीं : ऐन्द्र और माहेश्वर। सम्भव है कि संक्षेप के लिए आपिशलि ने ही माहेश्वर पद्धति को सर्वप्रथम वह मान्यता दी हो। किन्तु, दूसरी ओर, पाणिनि से सम्बद्ध परम्परा 'माहेश्वर सूत्रों' के पुनरुद्धार का सम्बन्ध पाणिनि से ही जोड़ती है। अतः इस विषय का अनुशीलन अधिक पूर्णता के साथ होना चाहिए।

सूत्र और कारिका

आपिशलि के नाम से यद्यपि कम ही कारिकाएँ मिलती हैं जो मिलती

---

१ कलापचन्द्र, सन्धि, २०।

२. मी० इति०, प्र० ख०, पृ० १३६ आदि।

३. 'वहव्यधवृधां न भष्'। भाषावृत्ति, भूमिका, पृ० ६६।

हैं, उनके दो रूप स्पष्ट हैं : 'आपिशलीय श्लोकः'[1] और 'आपिशलीयानां मतम्'[2]। जब आपिशलि का 'श्लोक' अविकल रूप में उद्धृत मिले, तब यही कहा जा सकता है कि सम्भवतः उसके व्याकरण में कुछ कारिकाएँ भी रही होंगी। अन्यत्र 'सूत्रों' के रूप में भी उनके व्याकरण की सत्ता माननी पड़ेगी। अतः उनकी शैली द्विविधात्मक थी। उनकी शिक्षा में भी यही पद्धति अपनाई गई है। प्रातिशाख्यों में भी यही पद्धति अपनाई गई थी।

अन्य कृतियाँ

शब्दानुशासन या व्याकरण के अतिरिक्त आपिशलि द्वारा धातुपाठ, गणपाठ और शिक्षा के निर्माण के भी प्रमाण मिलते हैं। 'आपिशलि-शिक्षा' के प्रकाशित रूप में सामने आने की बात हम ऊपर कह ही चुके हैं। धातुपाठ का उद्धरणों के रूप में संकेतमात्र मिलता है। ग्रन्थरूप में वह स्वतः उपलब्ध नहीं होता। परन्तु, गणपाठ की स्थिति भिन्न है। उसका उल्लेख केवल भर्तृहरि की भाष्यदीपिका (महाभाष्यटीका) में मिलता है। किन्तु, जो उल्लेख वहाँ मिलता है, उसकी पुष्टि अन्यत्र कैयटादि के कथनों से भी होती है। इन प्रमाणों के बल पर दो बातें सिद्ध होती हैं। प्रथम यह कि पाणिनि के 'सर्वादिगण' को सम्भवतः आपिशलि ने 'त्यदादि' और 'पूर्वादि' के कम से कम दो पृथक्-पृथक् भागों में तो पढ़ा था। किन्तु, यदि इन वक्तव्यों का सही और पूर्ण विश्लेषण करें, तो यह पता चलेगा कि कदाचित् भर्तृहरि और कैयट का संकेत आपिशलि द्वारा स्वीकृत तीन 'गणों' की ओर है[3] : सर्वादि, त्यदादि और पूर्वादि। कारण यह कि सर्वादि का पाठ पूर्वादि से भी पूर्व किया गया है, और त्यदादि का सबसे अन्त में। अतः 'त्यदादि' के बाद 'पूर्वादि' के पाठ का संकेत करने के दो अर्थ हो सकते हैं : 'सर्वादिगण' का क्रमभेद बताने के लिए, अथवा 'सर्वादिगण' के तीन पृथक् विभाग या 'गण' बताने के लिए। परिणामतः आपिशलि के सम्पूर्ण गणपाठ को देखने की लालसा का तीव्र ही उठना अनिवार्य ही है। विशेषतः ऐसे अन्तरों के कारण जिन के अनुसार 'किम्' को त्यदादि के आरम्भ में पढ़ा गया है। जिस प्रकार काशकृत्स्न के धातुपाठ ने अनेक सम्भावनाओं के द्वार खोले हैं, उसी प्रकार आपिशलि का यह गणपाठ भी रहस्योद्घाटक हो सकता है।

---

१. कातन्त्रवृत्ति, पृ० ४७६।

२. कातन्त्र टीका, २.३.३३।

३. म० त्रि०, 'सर्वादीनि सर्वनामानि' (पा० १.१.२७) की टीका।

विशेषकर पाणिनि और आपिशलि के पूर्वापरभाव और तज्जन्य प्रभाव को ध्यान में रखते हुए।

उणादिसूत्र—आपिशलि ने 'उणादिसूत्रों' की रचना की है, यह कहने का सर्वप्रमुख श्रेय मीमांसक को ही दिया जा सकता है। आरम्भ में उणादिसूत्रों सम्बन्धी विवाद मे तीन प्रमुख विद्वानों ने भाग लिया था। इनमें से बोथलिंके और ऑफ़ेक्ट के मत मे 'उणादिसूत्रों की रचना पाणिनि से पूर्व हो चुकी थी।' नागोजी भट्ट तथा अन्य साक्ष्यों के विचार के बाद उनका मत था कि इनका सम्बन्ध 'शाकटायन' अथवा 'चाक्रवर्मन्' से हो सकता है। किन्तु, गोल्डस्टुकर इनसे भिन्न निष्कर्ष पर पहुँचे थे। उनके अनुसार 'उणादि का लेखक पाणिनि ही हो सकता था'। यूँ तो मैक्सम्यूलर से आज तक अनेक आचार्यों ने इसके पक्ष या विपक्ष में बहुत से मत व्यक्त किए हैं। तब भी इस सम्बन्ध में आपिशलि का नाम कदाचित् ही किसी ने लिया होगा। इस दृष्टि से श्री मीमांसक का मत विचार्य हो उठता है। डा० अभयंकर ने अपने 'कोश' में और 'महाभाष्य' की भूमिका में इस सम्बन्ध में पर्याप्त विस्तृत संकेत दिए हैं। उनके उन विविध संकेतों के अनुसार यह तो निश्चित है कि पाणिनि से पूर्व उणादि परम्परा पूरी तरह प्रचलित थी। कातन्त्र, शाकटायन और पाणिनि के व्याकरणों में इन उणादि का पाठ अभिन्न रूप में किया गया है। उनका सूत्रभेद और विस्तारभेद भी उपलब्ध है। 'पंचपादी' और 'दशपादी' के दो पाठ-रूप भी मिलते हैं। 'दशपादी' का कर्त्ता डा० अभयंकर ने शाकटायन को माना है।

'कातन्त्र' में उणादि का होना भी मीमांसक के मत की पुष्टि करता है। क्योंकि उनकी दृष्टि में 'कातन्त्र' आपिशलि-व्याकरण का ही संक्षिप्त रूप है। वैसे डा० अभयंकर ने भी आपिशलिकृत उणादिसूत्रों की सत्ता स्वीकार की है।

निष्कर्ष

कुछ भी हो, पाणिनि-पूर्व युग में जो अनेक प्रसिद्ध और प्रभावी वैयाकरण हुए, उनमें आपिशलि का नाम स्वर्णाक्षरों में लेख्य है। यदि 'कातन्त्र' को उन्हीं के व्याकरण का संक्षेप स्वीकार कर लिया जाए, तब यह स्पष्ट हो जाएगा कि ऐन्द्र और पाणिनि के दो छोरों के बीच आपिशलि एक पुल के समान थे।

(६) शाकटायन

उल्लेख

पाणिनि और यास्क द्वारा समान रूप से समादृत एवं ऋक्तन्त्र के प्रणेता शाकटायन का उल्लेख अनेकत्र अनेक रूप में मिलता है। महाभाष्यकार ने उसे सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा है, प्रायः ऐसा परिणाम उनके द्वारा 'शाकटायन' की जगह 'शकटस्य च तोकम्'[1] के प्रयोग के आधार पर निकाला गया है। किन्तु, वैयाकरणों की एक सुदीर्घ परम्परा में कई नवीनताओं को जन्म देने का श्रेय इस शाकटायन को ही है। इसीलिए यास्क ने लिखा था : "तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च" (नि० १/१२)। अन्यत्र भी 'अथाऽनन्विते—' (नि० १.१३-१४) आदि प्रसंगों में शाकटायन का नामोल्लेख उन्हें नैरुक्त सिद्ध नहीं करता। मीमांसक जी की ऐसी धारणा भ्रामक है। वे जिसे 'शाकटायन की निर्वचन पद्धति' कह रहे हैं (भाग—१, ११८), उसके लिए यास्क का शब्द है 'संचस्कार', जोकि व्याकरण का विषय है : संस्कार। यास्क स्पष्ट ही शाकटायन को नैरुक्तों से अलग-श्रेणी का मान रहे हैं। पतंजलि का संकेत भी इसी दिशा में है : 'नाम च धातुजमाह निरुक्ते, व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।' (म० ३. ३. १)। काशिकावृत्ति में १. ४. ८६-८७ के उदाहरणों में 'अनुशाकटायनं वैयाकरणाः' और 'उपशाकटायनं वैयाकरणाः' को पढ़ा गया है। इससे यह स्पष्ट है कि पाणिनि के बहुत बाद भी शाकटायन की सर्वप्रमुखता की बात मान्य रही थी। इसीलिये डा० गोल्डस्टुकर, डा० बेल्वेल्कर और डा० अभयंकर आदि प्रमुख विद्वानों ने उन्हें निर्विवाद रूप में महान् वैयाकरण स्वीकार किया है।

भिन्नता महत्त्व और दशपादी उणादि की रचना

'सब नाम आख्यातज हैं'—यह धारणा देखने में कितनी ही उपहासास्पद लगती हो, पर यह उतनी ही क्रांतिकारी भी सिद्ध हुई। व्याकरण की तब तक की स्थापित धारणाओं में इस चिन्तन ने एक क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया। इससे बहुत पूर्व भरद्वाज 'आख्यात' या 'धातुरूप' की पृथक् सत्ता और महत्त्व पर बल दे ही चुके थे। शाकटायन की इस धारणा से निरुक्त और व्याकरण की रही सही दूरी भी मिट गई। अगर सच कहा जाए तो उणादि सूत्रों के जन्म की आदिकारणभूता यह धारणा ही थी। महाभाष्य के उक्त

१. पा० ३.३.१।

कथन से यह सिद्ध है कि पतंजलि के समय तक भी वैयाकरणों को यह मान्यता ग्राह्य नहीं हो सकी थी। तब यह भी मानना पड़ेगा कि 'उणादि सूत्रों' की यथावत् स्वीकृति का कोई तर्कसंगत आधार उन परवर्ती वैयाकरणों के पास नहीं था। पतंजलि के अनुसार पाणिनि 'उणादि' में गृहीत शब्दों को 'अव्युत्पन्न' मानते हैं।[१] यही बात एक स्वयं में सबसे बड़ा प्रमाण है कि उणादि सूत्रों को मान्यता देने वाले पाणिनि स्वयं उनके रचयिता नहीं रहे होंगे। क्योंकि उनका विश्वास उस सिद्धान्त में नहीं था, जिससे इस उणादि परम्परा का जन्म हुआ था। वह धारणा थी : 'सब नाम आख्यातज हैं।' भले ही कितनी भी युक्तियां इस मान्यता के विपक्ष में दी जाएं, किन्तु इस बात को झुठलाया नहीं जा सकता कि उणादि का आदि प्रवर्त्तक वही वैयाकरण माना जाना चाहिए, जिसे हर शब्द के मूलार्थसंयुक्त या धातुसंयुक्त होने का विश्वास हो। स्वयं पाणिनि धातु को मूलार्थ का वाहक मानते हैं। किन्तु, धातुओं और प्रत्ययों के विभाग की इस प्रक्रिया को वे इतनी दूरी तक नहीं ले गए। उन्हें 'उणादि' को प्रत्यय या विनिश्चायक चिह्न मानने में भी आपत्ति थी। इसीलिए उन्होंने उनका पाठ 'प्रत्ययः, परश्च'[२] के प्रसंग से अलग से किया। और, पाणिनि को व्याकरण की केन्द्रीय सरणि का मुख्य प्रतिनिधि स्वीकार किया जाता है। स्वभावतः 'उणादि सूत्र' व्याकरण की केन्द्रीय और मुख्य धारा के अंग नहीं कहे जा सकते।

किन्तु, दूसरी ओर, शाकटायन उस धारणा के समर्थक और प्रथम स्थापक एवं उद्घोषक हैं, जिसके कारण हर शब्द में किसी धातु की कल्पना करना वैयाकरण का मुख्य कर्म और धर्म हो जाता है। उणादि सूत्रों की रचना का आधार इसी धारणा पर टिका है। उधर परम्परा भी शाकटायन को 'दशपादी उणादि' का रचयिता ठहराती है। अतः इस पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं रह जाता। यह प्रतिज्ञा मूलतः 'निरुक्तकारों' की ही थी कि 'अर्थनित्य होकर शब्द परीक्षा या निर्वचन करने चाहिएं।'[३]

अतः इस दृष्टि से गोल्डस्टुकर और उनके विरोधी विचार रखने वालों के पाणिनि और उणादि के परस्पर सम्बन्धविषयक विचारों की पुनःपरीक्षा होनी चाहिए। पाणिनि के तथागणित दो सूत्र ही इस विषय के निर्णायक नहीं मान लेने चाहिएं। उनकी व्याख्या भिन्न रूप में भी की जा सकती है।

१. पा॰ ३.३.१।

२. पा॰ ३.१.१, और ३.१.२। ३. निघ॰ २.१.१।

पंचपादी उणादि

तब प्रश्न उठता है 'पंचपादी उणादि' का। वह पाणिनि की है, या आपिशलि की? हमारी समझ में उणादि का मूल सिद्ध हो जाने के बाद यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता। क्योंकि एकबार एक परम्परा स्थापित हो जाने के बाद परवर्त्ती व्याख्याताओं के लिए दो ही मार्ग शेष रह जाते हैं: अनुसरण या विद्रोह! पाणिनि जिस 'पूर्णता' का आधान करने आए थे, उसमें ऐसे विरोधों की अपेक्षा 'समन्वय' की भावना अधिक आवश्यक थी। शाकटायन, शाकल्य, आदि विद्वानों के नामोल्लेख के साथ जितने भी मत पाणिनि के व्याकरण में उल्लिखित हैं, उन सब का रहस्य यही है: एक सत्य को जान लेने पर भी उस सम्बन्धी अन्य मान्यताओं को वैकल्पिक रूप में स्वीकार कर लेना[1]। तभी एक-एक प्रयोगक्षेत्र में अनेक विकल्पों या विभाषाओं की स्वीकृति सम्भव हो सकी। अन्यथा अन्य मौलिक वैयाकरण अपने मतों की अभिव्यक्ति तक ही अपना उत्तरदायित्व समझ कर चुप कर जाते हैं।

अन्य वैयाकरणों से शाकटायन की इस भिन्नता और महत्त्व का संकेत महाभाष्य के उस कथन से मिलता है, जिसे कदाचित् युधिष्ठिर मीमांसक ने उसके जीवन से सम्बद्ध मान लिया है। पतंजलि कहते हैं:

"अथवा भवति वै कश्चिद् जाग्रदपि वर्तमानकालं नोपलभते। तद्यथा —वैयाकरणानां शाकटायनो रथमार्ग आसीनः शकटसार्थं यन्तं नोपलेभे[2]। इससे उनके जीवन का सम्बन्ध है भले ही न हो; पर इससे 'लिट्' के प्रयोग की एक शंका अवश्य उत्पन्न होती है। परन्तु यह तभी, जब हम इसे अभिधावचन मानकर इससे शाब्दिक अर्थ ही अभिप्रेत लेना चाहें। अंग्रेजी का एक मुहावरा है—'टु मिस द ट्रेन'! यहाँ संस्कृत में तत्सम भावना की कितनी सुन्दर मुहावरेदार अभिव्यक्ति की गई है! इसे न समझ कर कोई भी भ्रम में पड़ सकता है। काव्यमय इस उक्ति का सही अनुवाद यह बैठता है: 'जागते हुए भी कई लोग चारों ओर घटने वाली बातों से बेखबर रहते हैं। जैसे, वैयाकरणों के सार्थ में शाकटायन ऐसा था, जिसने स्वयं रथमार्ग पर बैठे रहकर भी गुजरने वाले कारवाँ को नहीं पहचाना।" अर्थात्, वैयाकरणों के सार्थ का साथी

---

१. पतंजलि के शब्दों में: 'अथवा वाग्योगविदेव।' इत्यादि के रूप में। वहाँ 'अवाग्योगविद्' का पक्ष स्थापित करके भी 'वाग्योगविद' को दोषभाक् स्वीकार किया गया है।

२. म०, पा० ३.२.११५।

होकर भी वह स्वयं अपने कारवाँ की गति और विद्यमानता से अनभिज्ञ और उनसे अलग-अलग सा रहा। दूसरे शब्दों में, यह वैयाकरण होकर भी सामान्य वैयाकरणों की परम्परा से भिन्न ही रहा। उनसे उसका ऐक्य स्थापित नहीं हो सका। न हो ही सकता था। क्यों? मतभिन्नता के कारण! उसी मत के कारण, जिसके कारण यास्क जैसा नैरुक्त भी उसे उतनी प्रमुखता दिए विना न रह सका। अर्थात् उसकी 'नामान्याख्यातजानि' की मान्यता के कारण।

दूसरी महत्त्वपूर्ण देन

शाकटायन की इससे बढ़कर एक और महत्त्वपूर्ण देन है। इसका भी समादर निरुक्तों और प्रातिशाख्यकारों की परम्परा में पर्याप्त हुआ था। आयुर्वेद के विद्वान् व्याख्याताओं तक ने इस मत का समादर किया था। यह था : एक ही शब्द की व्युत्पत्ति अनेक धातुओं के योग से भी सम्भव है। यास्क ने कहा था : 'अथानन्वितेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतराधान् संचस्कार शाकटायनः। एतेः कारितं च यकारादिं चान्तःकरणमस्तेः शुद्धं च सकारादिं च।[1]' इसमें 'अस्' और 'इण्' से 'सत्य' इसकी व्युत्पत्ति बताई गई है। निरुक्त के वृत्तिकार दुर्ग इस पर लिखते हैं : "शाकटायनाचार्योऽनेकैश्च धातुभिरेकमभिधानमनुविहितवान्, एकेन चैकम्[2]।" परन्तु, अनेक धातुओं से शब्दों की व्युत्पत्ति सिद्ध करने की बात भी नैरुक्तों को एकदम स्वीकार्य हुई। शाकपूणि आदि अनेक नैरुक्तों ने, एवं ब्राह्मण, आरण्यक, यास्कीय निरुक्त और आयुर्वेद के चरकादि ग्रन्थों के लेखकों ने इस मत को पूर्णतः अपना लिया। 'अग्नि' की व्युत्पत्ति शाकपूणि ने तीन धातुओं से मानी, ऐसा स्वयं यास्क ने बताया।[3] हृदय, नरक, हिरण्य, हिम, भर्ग आदि अनेक शब्द इस प्रकार से विविध ग्रन्थों में अनेकधा व्याख्यात मिल जाएँगे। इसी कारण किसी भी शब्द को न तो नैरुक्त ही, और न शाकटायन ही, 'यदृच्छाशब्द' मान सकते थे : "तदेवं निरुक्तकारशाकटायनदर्शनेन त्रयी शब्दानां प्रवृत्तिः। जातिशब्दा, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दा इति[4]।" दूसरी ओर वैयाकरण 'यदृच्छा-

१. नि० १.१३.१४।
२. वही, दुर्गवृत्ति।
३. नि० ७.१४।
४. न्यास. ३.३.१।

शब्दों' को 'वर्त्तमान काल' की भाँति प्रत्यक्ष और अनुभव का विषय मानते हैं, और परिणामतः उन्हें अव्युत्पाद्य भी स्वीकार करते हैं। अतः उनकी दृष्टि में, महाभारत के शब्दों में, शाकटायन ने "रथमार्ग पर आसीन रहकर भी रथसार्थ को जाते नहीं देखा।"

व्याकरण अनुपलब्ध

इन दो-तीन बातों से ही शाकटायन का महत्त्व, मौलिकता और सर्वातिशायी व्यक्तित्व सिद्ध हो जाते हैं। इसीलिए काशिकाकार का 'अनुशाकटायनं वैयाकरणाः' या 'उपशाकटायनं वैयाकरणाः' वचन केवल उदाहरणार्थ ही प्रयुक्त नहीं हुआ है। उसकी अन्वर्थता तभी समझी जा सकती है, जब पाणिनि के महत्त्व को अक्षुण्ण रखते हुए भी हम शाकटायन के व्यक्तित्व की परीक्षा कर सकें। और, तब हमारी उत्कण्ठा शाकटायन के व्याकरण के लिए कितनी ही बनी रहे, उसके अनुपलब्ध रहने पर भी, हम उसके महत्त्व को भुला न सकेंगे।

पर, इससे उनके 'व्याकरण' की उपलब्धि या अनुपलब्धि का प्रश्न गौण नहीं हो जाता। नागोजी अपने 'प्रदीपोद्योत' के आरम्भिक प्रसंग में ही लिखते हैं: 'लौकिकशब्दमात्रं शाकटायनादिशास्त्रमधिकृतम्।' अर्थात्, शाकटायनादि कुछ आचार्यों का व्याकरण लौकिक शब्दों पर ही आश्रित है। इसे असंगत सिद्ध करते हुए मीमांसक कहते हैं कि नागोजी जब 'उणादि' का कर्त्ता शाकटायन को मानते हैं, तब यही उक्ति उनके विपरीत जाती है; क्योंकि उन उणादि सूत्रों में अनेक वैदिक शब्दों का व्याख्यान किया गया है।[1] 'ऋक्तन्त्र' के प्रणेता को वे विशुद्ध लौकिक व्याकरण का प्रणेता मानने को तैयार नहीं हैं। अतः मीमांसक यह मानते हैं कि सम्भवतः नागेश ने जैन पाल्यकीर्त्ति शाकटायन के व्याकरण को ही 'शाकटायन व्याकरण' मान लिया होगा[2]।

अवधेय

परन्तु, शाकटायन व्याकरण के सम्बन्ध में सर्वथा अनुपलब्धि की बात तब तक सही नहीं कही जा सकती, जब तक गोल्डस्टुकर के उस कथन की वास्तविक परीक्षा न हो जाए, जिसके अनुसार 'इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी' में एक अति प्राचीन हस्तलेख, मलयालम लिपि में शाकटायन-व्याकरण के नाम से उन्होंने देखा था, और उसे नकल करने का यत्न भी किया था। किन्तु, उसकी

---

१. मी०, पृ० ११९।
२. वही, पृ० ११६।

श्रमसाध्यता को देखते हुए वे उस पर उतना श्रम न कर सके थे। उन्होंने उसका प्रतीक तक दिया है। हमें उसकी परीक्षा करनी चाहिए कि वह 'जैन शाकटायन व्याकरण' से भिन्न है या अभिन्न ? तभी हम उसकी 'उपलब्धि' या 'अनुपलब्धि' पर सन्तोष कर सकेंगे। किन्तु, फिर हम कहना चाहेंगे कि यदि 'काशकृत्स्न धातुपाठ' और 'व्याकरण', इतने काल के व्यवधान पर भी, हाल की शताब्दियों तक, दक्षिण में सुरक्षित रह पाया, तब किसी दिन दक्षिण के सुरक्षित भण्डारों से शाकटायन-व्याकरण की उपलब्धि भी सम्भव हो सकती है। वह दिन व्याकरण-जगत् के परम हर्ष का दिन होगा।

काल

ऋक्तन्त्र, शतपथ, मैत्रायणीय प्रातिशाख्य, ऋक्प्रातिशाख्य और वाजसनेय प्रातिशाख्य आदि में उद्धृत शाकटायन के मत उन्हें बहुत आरम्भिक उन प्रमुख वैयाकरणों की कोटि में सिद्ध करते हैं, जिन्हें प्रातिशाख्य (शिक्षा), निरुक्त और व्याकरण के क्षेत्र में युगपत् और तुल्यरूप ही महान् ख्याति प्राप्त हुई। निश्चय ही आपिशलि और अन्य अनेक वैयाकरण उनसे बहुत पीछे के हैं। किन्तु भारद्वाज, शाकल्य और वेदमित्र आदि के विषय में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यह असम्भव नहीं है कि शाकटायन अनेक हुए हों। किन्तु यह भी असम्भव नहीं है कि उक्त सब ग्रन्थों का प्रणेता एक ही शाकटायन रहा हो। अन्यथा, परम्परानुसार भिन्न-भिन्न शाकटायनों को भिन्न 'अपत्यनामों' से सूचित किया जाता ! गार्ग्य, गालव, शाकल्य, आदि नामों के सम्बन्ध में भी यही तथ्य लागू होता है। क्योंकि जब बिना किसी परिवर्त्तन के हम एक ही नाम को अनेकत्र प्रयोग करते हों, तब निश्चय ही वह एक व्यक्ति का वाचक प्रसिद्ध नाम होना चाहिए। विशेषकर जब कि उस नाम द्वारा अभिहित विषय अथवा वक्तव्य एक दूसरे से सम्बद्ध या तुल्य ही हो ! ऋक्प्रातिशाख्यकार शौनक ने भी अपने 'बृहद्देवता' में शाकटायन के अनेक मत उद्धृत किये हैं।

अतः आचार्य शाकटायन ऋक्प्रातिशाख्य की रचना से भी पूर्व विद्यमान थे। या फिर, वे उसके समकाल रहे होंगे। किन्तु, ऐन्द्र व्याकरण के साथ उनके सम्बन्ध-असम्बन्ध की बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जासकती। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि कदाचित् वे 'प्राच्य' और 'औदीच्य' शाखाओं के विभाजन से पूर्व ही अत्यन्त प्रसिद्ध और समादृत हो चुके थे।

किन्तु, संयोग की एक बात अवश्य है। भरद्वाज ने आख्यात के दर्शन

किये थे और शाकटायन ने उस 'आख्यातगत धातु' को ही 'सब नामों का मूल' स्वीकार किया। वह भरद्वाज या तो इन्द्र का ही शिष्य था, या ऐन्द्र-व्याकरण का अनुयायी था। शाकटायन का समय उसके पर्याप्त बाद ही कहा जा सकता है।

इसे संयोग कहें, या सत्य! यदि यह सत्य है, तो भारतीय व्याकरण के जन्म के कुछ काल के भीतर ही उसका सर्वातिशायी और विवादास्पद प्रवक्ता शाकटायन अपने व्याकरण का प्रवचन कर चुका था।

एक अन्य सम्भावना

यह बात सर्वथा असम्भव या अस्वीकरणीय नहीं है कि जैन पाल्यकीर्त्ति द्वारा अपना व्याकरण मूल शाकटायन व्याकरण के अनुकरण पर लिखा गया हो। इस सम्भावना की परीक्षा विस्तार से होनी चाहिए। इसके लिये शाकटायन के नाम से उद्धृत विविध मतों को आधार बनाकर पाल्यकीर्त्ति के व्याकरण की परीक्षा जा सकती है। यहाँ इस विषय के अधिक विस्तृत अनुशीलन का अवकाश नहीं है। हम इस पर पाल्यकीर्त्ति व्याकरण के प्रसंग में संक्षेप से विचार करेंगे।

(७) यास्क

महत्त्व

व्याकरण के क्षेत्र में जो स्थान पाणिनि का है, वहा स्थान निरुक्त के क्षेत्र में यास्क का है। प्रस्तुत प्रसंग व्याकरण का होने के कारण हम उनकी निर्वचन सम्वन्धी विशेषताओं और तत्सम्वद्ध अन्य प्रश्नों पर यहाँ विचार करना उचित नहीं समझते, किन्तु उनके विषय में कुछ सत्यों का विनिश्चय हो जाना उचित ही है। क्योंकि ऐसे महान् भाषाविद् के सम्बन्ध में कुछ प्रश्नों का विचार किए बिना भाषा के दूसरे महत्त्वपूर्ण अंग—व्याकरण—के रचयिताओं के विषय में विचार भी अधूरा ही रहेगा। दूसरी बात यह है कि भाषा-सम्बन्धी सिद्धान्त किसी एक क्षेत्र की ही वसीयत नहीं होते। उनका प्रयोग-क्षेत्र आपस में टकराता भी है और परस्पर उपकारक भी होता है। निरुक्त, शिक्षा और व्याकरण—तीनों ही वेदांग—'व्याकरण' और 'भाषाविज्ञान' के विस्तृत दायरे में गृहीत हो जाते हैं। यह बात आरम्भिक अध्याय की आरम्भिक पंक्तियों में ही हम कह आए हैं। अतः वैसे

भी यास्कीय निरुक्त की उपयोगिता और महत्त्व हमारे वर्त्तमान अध्ययन के प्रसंग में बढ़ जाता है।

समय

मैक्समूलर ने वाजसनेय प्रातिशाख्यकार कात्यायन को यास्क से पूर्ववर्त्ती माना है। किन्तु, दूसरी ओर, उन्हें वार्त्तिककार और प्रातिशाख्यकार में पृथक् व्यक्तित्व का सूचक कोई दृढ़ आधार नहीं मिल पाया है। इसका अर्थ हुआ कि इन दोनों को एक भी माना जा सकता है। गोल्डस्टुकर ने इस युक्ति का आधार लिया और प्रातिशाख्य एवं वार्त्तिक का कर्त्ता एक ही व्यक्ति को सिद्ध किया[1]। परन्तु, साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि यदि इसी आधार पर विचार करें तो यास्क कात्यायन के भी बाद ठहरते हैं। किन्तु, वे स्वयं ऐसी सम्भावना मानने को भी तैयार नहीं थे। यह बात उन्होंने म्यूलर की इस युक्ति के उत्तर में कही थी कि 'नामान्याख्यातजानि' वाले शाकटायन के सिद्धान्त का यास्क द्वारा प्रतिपादन कात्यायन द्वारा प्रातिशाख्य में गिनाए 'चतुः पदजात' की अपेक्षा अधिक प्रगति का सूचक है। अतः प्रातिशाख्यकार कात्यायन किसी भी तरह नैरुक्त यास्क से अर्वाचीन नहीं हो सकते[2]। गोल्डस्टुकर ने यहीं उनका विरोध किया और बताया कि दोनों का क्षेत्र और विषय भिन्न होने से केवल प्रासंगिक बातों में ही उनकी तुलना की जानी चाहिए, अप्रासंगिक और बेमेल बातों में नहीं। यहाँ हम गोल्डस्टुकर की युक्ति में इतना और अधिक जोड़ना चाहेंगे कि यदि इसी आधार पर पौर्वापर्य सिद्ध करना हो, तो 'नामान्याख्यातजानि' के सिद्धान्त का आदि-प्रवर्त्तक शाकटायन स्वयं कात्यायन और अन्य कई परवर्त्ती वैयाकरणों से भी पीछे का ठहरना चाहिए।

'यास्क' शब्द की शाब्दिक व्युत्पत्ति की सम्भावना पाणिनि के सूत्र[3] से सम्भव होने मात्र से ही यास्क के पूर्ववर्त्तित्व की सम्भावना मानने की अनिवार्यता नहीं है। इस आधार पर हम यह कहना चाहेंगे कि ऋक्प्रातिशाख्य और शतपथ ब्राह्मण में भी 'यास्क' नाम आता है। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्टतः यास्क पराशर का उल्लेख है। उधर पाणिनि जिस सूत्र से 'यास्क' नाम

---

१. पाणिनि, गो०, 'कात्यायन', पृ०—२२०-२२४।
२. वही, पृ० २१३।
३. यस्कादिभ्यो गोत्रे। पा० २.४.६३।

की रचना सिद्ध करते हैं, उससे, यह व्यक्तिविशेष का नाम द्योतित न होकर, 'गोत्र' के अर्थ में उसकी व्युत्पत्ति सिद्ध होती है। अर्थात् वे जानते थे कि मूल 'यस्क' के कम-से-कम चार पीढ़ी (गोत्र) बाद होने वाले कई यास्क प्रसिद्ध व्यक्ति हुए होंगे, तभी सूत्र में 'गोत्र' शब्द की आवश्यकता आ पड़ी। किन्तु, 'यास्क' द्वारा अभिहित सभी व्यक्तियों की एकता मानकर हम भी गोल्ड-स्टुकर द्वारा म्यूलर के मत के विषय में बताई गलती को दोहराएँगे। अर्थात् उनकी एकता मानने के बाद 'यास्क' को उद्धृत करने वाले प्रातिशाख्यकार तथा अन्य आचार्य निरुक्तकार यास्क के बाद के ही स्वीकार किए जाने चाहिएँ। किन्तु, ऐसे मत की अभिव्यंजना करने वाले भी यह तो मानते ही हैं कि शौनक, शाकटायन, सेनक, आदि कितने ही आचार्य पाणिनि द्वारा प्रोक्त या पठित होने के कारण उनसे तो प्राचीन ही हैं। इनमें से बहुतों को यास्क ने भी स्मरण किया है। यास्क ने 'ब्राह्मणों' का नामोल्लेख किया है या नहीं, किन्तु उनके 'याज्ञिकाः पठन्ति' आदि वचन, एवं 'प्रयाजाः संविभक्तिकाः कार्याः' आदि पाठ, उन्हें पूर्णतः पूर्वरचित ब्राह्मणों के निकट परिचय में सिद्ध करते हैं। अर्थात्, वे ब्राह्मणरचना के बाद ही हुए होंगे।

शतपथ और निरुक्त

हम पहले भी लिख चुके हैं कि कम-से-कम शतपथ ब्राह्मण की निरुक्तियाँ बताती हैं कि उनके सामने यास्क जैसे महान् नैरुक्त का कोई आदर्श विद्यमान नहीं था। यदि होता, तो कदाचित् उन ब्राह्मणों की निरुक्तियों में पर्याप्त रूपान्तर होता। तब उनका वेदमन्त्रों की व्याख्या का ढंग भी पर्याप्त भिन्न होता। फिर आता है भाषा का प्रश्न। शैली और विषय की युगानुकूल आवश्यकता का प्रश्न भी उठता है। कम-से-कम तब तक वैदिक-मन्त्रों के विषय में ऊहात्मक और सन्देहात्मक प्रश्न नहीं उठे थे। वेदांगों का परवर्त्ती विकास ब्राह्मणों के बाद ही हुआ है। यद्यपि उनके साथ-साथ भी निरुक्तियों एवं शिक्षा, व्याकरण आदि की रचना आरम्भ हो चुकी थी।

यास्क : अनेकता

यह सब इसलिए कहा कि यास्क द्वारा उद्धृत निरुक्तियों और शतपथ आदि में उद्धृत निरुक्तियों के अन्तर से यह जो सत्य सामने आता है कि निरुक्तकार प्रसिद्ध यास्क इन मुख्य ब्राह्मणों से परवर्त्ती थे, उसे इस सत्य के सामने आने के बाद भी मान लेना चाहिए कि यह 'यास्क' नाम ब्राह्मण और

प्रातिशाख्य ग्रन्थों में भी मिलता है। इसका यह भी अर्थ है कि शतपथप्रोक्त वह नाम किसी पूर्ववर्त्ती यास्क का हो सकता है। या, वहाँ यह नाम किसी परवर्त्ती संरकर्त्ता की कृपा से आपतित हो सकता है। किन्तु, 'यास्क' शब्द के सम्बन्ध में 'गोत्रनाम' विषयक उक्त युक्तिक्रम को स्वीकार करने के बाद इस बात पर जिद करने का कोई अर्थ नहीं रह जाता कि केवल, नामसाम्य के कारण ही दोनों 'यास्कों' को एक स्वीकार किया जाए! यदि अन्य कोई विवशतामय आधार हो, तब बात दूसरी है।

यही बात कात्यायन आदि के बारे में भी लागू होती है। किन्तु, वहाँ गोल्डस्टुकर की युक्ति अधिक वलवती है। उसका विचार हम यथास्थल करेंगे। परन्तु, यहाँ इस प्रसंग में एक दो बातें इस सम्बन्ध में कह देनी आवश्यक हैं। प्रथम यह कि यास्क भी एक परम्परा की पूर्णता और प्रौढि पर आए थे, न कि आरम्भ पर। 'नैरुक्ताः', 'नैरुक्तसमयः' आदि शब्दों का अनेकत्र प्रयोग उस पूर्ववर्त्ती परम्परा को ही बताता है। दूसरा यह कि कात्यायन और पतंजलि दोनों ही यास्क से भलीभांति परिचित थे। समझ नहीं आता कि अन्य अनेक नामों को गिनाने वाला यास्क पाणिनि का नाम क्यों न गिन पाया? किसी विशेष पक्षपात का कोई कारण नहीं दिखाई देता। इसके विपरीत पाणिनि यास्क का नाम न गिनाए, यह उचित लगता है। क्योंकि पाणिनि का क्षेत्र केवल 'व्याकरण' का था, जबकि यास्क का क्षेत्र अधिक व्यापक था। उसे 'भाषा शास्त्र' का क्षेत्र कह सकते हैं। अतः यह तय है कि पाणिनि यास्क के बाद ही हुए।

गोल्डस्टुकर

कालनिश्चय के बारे में हम इतना ही कह सकते हैं कि इस विषय में भी गोल्डस्टुकर ने अपने 'पाणिनि'[1] में विस्तार से विचार किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि पाणिनि का अस्तित्व बुद्ध से बहुत पूर्व विद्यमान था। बुद्ध को वे ५४३ ई० पूर्व मानते हैं। इससे पर्याप्त पहले न भी मानें, तब भी ७०० ई० पूर्व के लगभग तो उसका समय बैठता ही है। यह परिणाम उन्होंने 'निर्वाणोऽवाते'[2] और उस पर बने वार्त्तिकादि की तुलना करके निकाला है। आश्चर्य है कि सवा सौ साल पहले यह मत स्थापित हो जाने पर

---

१. पाणिनि २४५-७ पृ०।
२. पा० ८.२.५०।

भी अधिकांश भारतीय और पाश्चात्य इतिहास लेखक पाणिनि को लगभग ५०० ई० पूर्व या इससे भी उत्तरवर्त्ती ही मानते आरहे हैं। यही कारण है कि इन विद्वानों ने यास्क का काल भी ७०० ई०पूर्व से उत्तरवर्त्ती ही मानना चाहा। किन्तु, हमारा आग्रह है कि यास्क के निरुक्त में आए पद-संहिता-सम्बन्धी सूत्रों का पुनरवलोकन किया जाए। निश्चय ही यह सूत्र-रचना यास्क की शैली में नहीं है। जिस तरह इन्हें एकत्रित करके प्रयोग किया गया है, उससे स्पष्ट है कि ये सूत्र अपने से पूर्ववर्त्ती प्रातिशाख्यों और व्याकरणों से मत-प्रदर्शन या समर्थन हेतु उद्धृत किए गए हैं।[1] डा० लक्ष्मण स्वरूप ने ऋ० प्रा० २.२—'संहिता पदप्रकृतिः'—की तत्सदृश यास्कवचन से तुलना की है।[2] हमारा कहना है कि यह वचन उसी प्रातिशाख्य का है। इस प्रातिशाख्य के प्रणेता शौनक को प्रायः हर प्रातिशाख्य में स्मरण किया गया है। 'परः संनिकर्षः संहिता' सूत्र निरुक्त की ही भाँति पाणिनि द्वारा अविकल उद्धृत है[3]। गोपथ, ऐतरेय, शतपथ, बृहद्देवता, आदि ब्राह्मणों और अन्यान्य प्रातिशाख्यों के वचनों का यास्क के निरुक्त में उद्धरण, या उनसे परिचय का संकेत, हमें अनेकत्र मिलता है।

जिन अन्य प्रसिद्ध व्याकरणों और नैरुक्तों का परिचय हमें 'निरुक्त' से मिलता है, उनमें प्रमुख हैं: औदुम्बरायण, औपमन्यव, और्णवाभ, कौत्स, गार्ग्य, गालव, वार्ष्यायणि, शाकटायन, शाकपूणि और शाकल्य। इनमें से कम-से-कम चार आचार्य इन्हीं नामों से पाणिनि द्वारा भी समादृत हैं। इस सूची में गोत्रनाम और उपनाम इस तरह प्रयुक्त हैं कि यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि अन्य प्रातिशाख्यादि में इनमें से कौन-सा विशिष्ट आचार्य उद्धृत है। ऐसे नामों में हारिद्राविक, स्थौलष्ठीवी, शतबलाक्ष, नैदानाः, दुहितृदायाद्यः, चर्मशिराः, कात्थक्य, काठकम्, आग्रायण, आग्रयण, आदि नाम सम्मिलित हैं।

अतः स्पष्ट है कि यास्क से पूर्व व्याकरण, निर्वचन, भाषातत्त्वचिन्तन, ब्राह्मण और प्रातिशाख्य के क्षेत्रों में ऐसी बड़ी-बड़ी उपलब्धियाँ प्राप्त हो चुकी थीं कि यास्क का समय शतपथ और ऋक्प्रातिशाख्यादि से पहले सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रहती। शौनक द्वारा रचित 'बृहद्देवता' के उद्धरण भी इसमें अनेकत्र आए हैं। पर, यास्क पाणिनि से पहले के हैं, इस विषय में

१. इसी अध्याय के आरम्भ में।
२. ल०, नि० १.१७ की टिप्पणी।
३. पा० २.४.१०९।

सन्देह की आवश्यकता नहीं है। उनके समय से पूर्व शाखाविभाजन, प्रातिशाख्यनिर्माण, आदि कार्य सम्पन्न हो चुके थे।

निष्कर्ष : ८०० ई० पू० से पहले

अतः पाणिनि के लिए गोल्डस्टुकर द्वारा निश्चित समय ७०० ई० पू० को रखने के बाद यास्क का समय उससे १००-२०० वर्ष पूर्व रखना अनुचित नहीं लगता। सम्भव है कि यह समय इससे भी पर्याप्त पूर्व रहा हो। किन्तु, ऋक्प्रातिशाख्य और शतपथ में उद्धृत 'यास्क' नाम से हमारे तिथिनिश्चय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। अतः गोल्डस्टुकर द्वारा स्वीकृत मध्यम मार्ग को अपनाकर भी हम यास्क का समय ९०० और ८०० ई० पू० के बीच रख सकते हैं।

भाषा की साक्षी

भाषा की साक्षी के बलपर निश्चय ही यह समय और भी पूर्व रखा जा सकता है। कारण यह कि यास्क की भाषा ब्राह्मणों और आरण्यकों की भाषा के निकट की है। आरण्यकों में से एक-दो के उद्धरण इसमें आए भी हैं। उपनिषदों का इसके विषय के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। अतः इसका काल ब्राह्मण-ग्रन्थों के रचनाकाल और पाणिनीय व्याकरण के रचनाकाल के बीच का ही होना चाहिए। और यह समय ९०० ई० पू० या इससे पहले ही हो सकता है, बाद में नहीं।

प्रस्तुत प्रसंग में महत्त्व

यद्यपि हम प्रथम अध्याय में ही कह आए हैं कि व्याकरण के भाषावैज्ञानिक और दार्शनिक अध्ययन का उसके रचनात्मक या सूत्रात्मक पक्ष के अध्ययन से कम महत्त्व नहीं है तब भी यास्क का महत्त्व हमारे प्रस्तुत अध्ययन के लिए इसलिए बढ़ जाता है कि उससे हमें वैदिक और लौकिक भाषाविषयक अध्ययन की तत्कालीन परिस्थिति का आभास हो जाता है। "वैदिक मन्त्र अनर्थक हैं"[१]— इस विवाद के प्रसंग में वे यह स्थापना करते हैं कि "लोक और वेद में अर्थसामान्य की प्रवृत्ति देखी जाती है[२]।" यह बात प्रातिशाख्यों और पूर्ववर्ती व्याकरणों में पूरी तरह मान्य हो चुकी थी। स्वतः ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना इसलिए हुई थी कि वेदों के 'मन्त्रात्मक' महत्त्व के साथ उनके 'अर्थात्मक' महत्त्व को भी स्वीकार किया जाए। 'विधि और

---

१. 'अनर्थका हि मन्त्राः, इति कौत्सः', नि० १.५.१५।
२. 'शब्दसामान्यात्', नि० १.५.१६।

विनियोग' के साथ ब्राह्मण ग्रन्थों में निर्वचन और अर्थवाद को भी समान महत्त्व दिया गया है। किन्तु, कौत्स ने जिन युक्तियों को मन्त्रों की 'अनर्थवाहकता' सिद्ध करने के लिए अपनाया है, वे ब्राह्मणों के विचार्य विषय से बाहर की पड़ती हैं। उन्हें हम भाषातत्त्व या भाषाचिन्तन के विषय से सम्बद्ध कह सकते हैं। लगता है, उनका सम्बन्ध 'पूर्वमीमांसा' जैसे किसी विषय से रहा होगा। 'अणीयस्त्वाच्च'[1] आदि सूत्र दर्शनों की रचना या विद्यमानता का संकेत भी देते हैं। स्पष्ट है कि दार्शनिक चिन्तन की यह प्रक्रिया यास्क को केवल नैरुक्तमात्र ही सिद्ध नहीं करती।

शाकटायन के मत 'नामान्याख्यातजानि' और अपने स्वोपज्ञ सिद्धान्त 'अर्थनित्यः परीक्षेत' की स्थापनात्मक समीक्षा करने वाले यास्क निश्चय ही व्याकरण की तथाकथित संकीर्ण चार-दीवारी को मानने के विरोधी हैं। उनके द्वारा मान्य 'चत्वारि पदजातानि'[2] एवं औदुम्बरायण के 'इन्द्रियनित्यं वचनम्, तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते'[3] की सयुक्तिक विवेचना उन्हें वैयाकरणों की कोटि में ही बिठाती है। यह बात दुर्भाग्यपूर्ण ही है कि औदुम्बरायण की इस महत्त्वपूर्ण उपस्थापना को यास्क उसी द्वारा कथित 'व्याप्तिमत्वात्तु शब्दस्य' और 'अणीयस्त्वाच्च'[4] आदि सूत्रों द्वारा भी उतना खुलकर न समझा सके, जितना भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' की एक कारिका में ही स्पष्ट कर दिया।[5] पर, फिर भी यास्क का महत्त्व आज के संस्कृत-व्याकरण के विद्यार्थी के लिए इतना अधिक है कि उसे पढ़े बिना वह व्याकरण की उन बहुत सी उपलब्धियों से अछूता रह जाएगा, जिन्हें हम अन्यत्र देखकर उनके मूल से विच्छिन्न होने के कारण चकित हो जाते हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में हम इससे अधिक विचार इस विषय पर विस्तारभय से नहीं करना चाहेंगे।

(८) व्याडि

महत्त्व और पृष्ठभूमि

एक बार शाकटायन, शौनक, यास्क, व्याडि, कात्यायन, और पतंजलि

---

१. नि० १.१.२।
२. वही, १.१.१।
३. वही, १.१.१-२।
४. वही, १.१.२।
५. वा० २.२३०।

आदि की शैली को देख जाइए और फिर इनकी तुलना में पाणिनि को उठाइए, तो आपाततः ऐसा प्रतीत होगा मानों किसी दूसरी दुनियाँ में आ गए हों। जहाँ तक सूत्र-रचना का प्रश्न है, शाकटायन, शौनक, प्रातिशाख्य-कार कात्यायन, आदि सभी सूत्रशैली के उद्घोषक रहे थे, यद्यपि 'कारिकाशैली' भी वहाँ प्रयुक्त हुई थी। व्याडि के पक्ष में भी दोनों प्रमाण उपलब्ध होते हैं: कारिकाबद्ध रचना के भी, और सूत्रशैली के भी। वाक्यपदीयकार महा-वैयाकरण भर्तृहरि की साक्षी के अनुसार पतंजलि का भाष्य मूलतः 'संग्रह-प्रतिकुंचक' अर्थात् व्याडि के 'संग्रह' का रहस्योघाटक था।[1] यास्क ने सूत्रशैली नहीं अपनाई। पर, ये सभी इस विषय में समान हैं कि इन सभी ने भाषा का विवेचन उसके आरम्भिक तत्त्वों से ही आरम्भ किया है। प्रातिशाख्यों में भी आरम्भ तो अक्षरसमाम्नाय से ही होता है, किन्तु उसके बाद उनमें वाक्, ज्ञान, आदि की चर्चा होती है। उधर शाकटायन आरम्भ में ही सैद्धान्तिक रूप में यह सिद्ध करना चाहता है कि 'सब नाम आख्यातों से ही जन्म लेते हैं।' यास्क बढ़ते हैं निर्वचन के लिए, किन्तु आरम्भ होता है 'पदों के स्वरूप, शब्दों की नित्यता-अनित्यता एवं अर्थ और वाक् के सम्बन्धों से।' कात्यायन और पतंजलि के लिए 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' कहे विना 'अथ शब्दानुशासनम्' कहना अद्भुत सा लगता है। अतः आरम्भ में ही वे शब्द के स्वरूप-निर्णय एवं उसकी नित्यता-अनित्यता आदि प्रश्नों का निर्णय करना अनिवार्य समझते हैं। परन्तु, पाणिनि माहेश्वर वर्णसमाम्नाय का पाठ करते ही संज्ञा या परिभाषा-सूत्रों की रचना के कार्य को हाथ में ले लेते हैं।

व्याडि के व्याकरण ग्रन्थ 'संग्रह' का आरम्भ ही शब्दार्थ-सम्बन्ध और शब्द के नित्यानित्यत्व के विवेचन से होता है। पतंजलि लिखते हैं: 'संग्रहे तावत्प्राधान्येन परीक्षितम्—नित्यो वा स्यात् कार्यो वा।' संग्रह का निम्न श्लोक भर्तृहरि रचित 'वाक्यपदीय' की स्वोपज्ञ टीका में उद्धृत है:

"सम्बन्धस्य न कर्त्तास्ति शब्दानां लोकवेदयोः।
शब्दैरेव हि शब्दानां सम्बन्धः स्यात् कृतः कथम्॥"

इन्हीं व्याडि के सम्बन्ध में भर्तृहरि ने कहा था कि इनके ग्रन्थ 'संग्रह' का ही संक्षेप (प्रतिकुञ्चन) महाभाष्य के रूप में पतंजलि ने किया था।

---

१. वा० २.४७९, ४८१।

इसका वास्तविक अर्थ यही है कि पद्धति और युक्तिक्रम में पतंजलि व्याडि का ही अनुगमन कर रहे थे। और यह भी कि वे स्वयं व्याडि जितने विस्तार में जाना नहीं चाहते थे।

अतः पाणिनि की सूत्र-रचना-शैली के सम्मुख व्याडि की व्याख्या और विवेचनात्मक शैली एक अलग ही सरणि का प्रतिनिधित्व करती है और उसका अपना महत्त्व है।

उल्लेख और काल

जहाँ तक वैयाकरण परम्परा का प्रश्न है, व्याडि का 'संग्रह' पाणिनि की अष्टाध्यायी पर विवेचना के रूप में माना जाता है। अतः स्वाभाविक है कि उन्हें पाणिनि का समकाल या आसन्नकाल का माना जाए। किन्तु, यहाँ हमें गोल्डस्टुकर एक बार फिर गलती करते दिखाई देते हैं! पाणिनीय सूत्रों पर 'आपिशल-पाणिनीय-व्याडीय-गौतमीयाः' के महाभाष्यादत्त उदाहरण से वे एक निश्चित क्रम की सूचना लेते हैं[1]। उसी के दूसरे सूत्र[2] से वे दाक्षायण का सम्बन्ध दाक्षी के साथ कुछ पीढ़ी बाद का बताते हैं। दाक्षी पाणिनि की माता है, और उनके मत में वह केवल 'दक्ष की पुत्री' ही हो सकती है। अतः 'फ' या 'आयन' प्रत्यय की आवश्यकता, अपत्यार्थक होने के कारण, दक्ष के पौत्र और उसकी परवर्त्ती पीढ़ियों से पहले नहीं हो सकती।[3] अर्थात् दाक्षी जबकि 'दक्ष की दुहिता' है, 'दाक्षायण' उसके पौत्र के बाद की पीढ़ियों में किसी भी अपत्य के लिए लागू हो सकता है। स्वभावतः व्याडि पाणिनि से एक या दो पीढ़ी के अन्तर पर ही माने जाने चाहिएँ।[4] और, क्योंकि व्याडि का उल्लेख 'ऋक्प्रातिशाख्य' में है, अतः वह रचना पाणिनि और व्याडि के भी बाद की ही होनी चाहिए।[5] यहाँ वे इतनी रियायत कर देते हैं, कि कात्यायन अवश्य ही व्याडि के बाद का है।[6] पता नहीं ऐसा भी वे क्यों मान गए हैं?

परन्तु, उनके ये मत यदि इसी प्रकार मान लेने हों, तो वे इससे सम्बद्ध

---

१. 'पाणिनि', गोल्ड०, पृ० ९८-१०० और २३२।
२. पा० ४.१.१०१।
३. पाणिनि, गोल्ड०, पृ० २३०।
४. वही, पृ० २३१।
५. वही, पृ० २३०।
६. वही।

फिट् सूत्रों को पाणिनि से परवर्त्ती मानकर भी 'गार्ग्य' को पाणिनि से पूर्व का ही स्वीकार करते हैं।[1] आश्चर्य की बात यह है कि वे 'व्याडि' को मूल नाम स्वीकार करते हैं, जबकि पाणिनि के सूत्रों के आधार पर यह नाम अपत्यार्थ में प्रयुक्त होता है।[2] परवर्त्ती वैयाकरणों ने तो इस नाम की पूरी व्युत्पत्ति भी दी है।[3] परन्तु, यदि यह नाम गोल्डस्टुकर के अनुसार व्यक्तिगत ही है, तब वे व्याडि और गार्ग्य नाम के अनेक व्यक्ति होने की कल्पना क्यों नहीं करते ? गार्ग्य का उल्लेख तो पाणिनि नाम लेकर करते हैं। तब वह उनसे कितना परवर्त्ती ठहर सकते हैं ? पाणिनि गार्ग्य और गालव का नाम साथ-साथ पढ़ते हैं।[4] यास्क ने भी, इन दो नामों को पढ़ा है। क्या 'गार्ग्य' नाम भी दो नहीं हो सकते ? वह भी तो यूँ 'अपत्य' या 'पुत्र' के अर्थ में ही बना हुआ नाम है। किन्तु, बाद के एक पाणिनीय नियम के अनुसार किसी भी गर्ग-गोत्रोद्भव के लिए गार्ग्य नाम लागू हो सकता है। इसी प्रकार किसी भी दक्षकुलोद्भवा नारी के लिए दाक्षी नाम चल सकता है। किन्तु, इससे बढ़कर यह भी सत्य है कि सभी तद्धितान्त नाम न तो दाक्षिणात्यों के होते हैं (तुल०—प्रियतद्धिता हि दाक्षिणात्याः) और न ही उन्हें केवल वंशार्थक मानकर ही चलना चाहिए। उपनिषदों का पतंजल काप्य इसी त्रुटि के कारण पातंजल या पतंजलि समझ लिया गया।

अवधेय कुछ तथ्य

अतः सर्वप्रथम यह स्वीकार करने की आवश्यकता है कि जब तक दाक्षायण व्याडि, दाक्षीपुत्र पाणिनि, पतंजल काप्य, बाभ्रव्य पांचाल, आदि के रूप में विभेदक संज्ञा-चिह्न न मिलें, तत्सम सभी नामों को आँख मूँदकर एक ही व्यक्ति का न मान लेना चाहिए।

दूसरी बात यह स्वीकार करने की है कि 'दाक्षी' और 'दाक्षायण' जैसे नामों को भी केवल गोत्रनाम मानकर उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास तब तक न किया जाए, जब तक उस दिशा में अन्य ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध न हों। पतंजलि और कात्यायन अन्यों की अपेक्षा पाणिनि के अधिक समीपवर्त्ती हैं। अतः जब वे वंश आदि ऐतिहासिक तथ्यों

१. वही, पृ० ९८-१००।

२. पा० ४.१.९५।

३. सायण, धातुवृत्ति पृ० ८२; काशिका ७.३.७, आदि।

४. 'अड्गार्ग्यगालवयोः', पा० ७.३.९९।

की बात करते हैं, तब महत्त्व और बढ़ जाता है। परन्तु, बाद के बहुत से वैयाकरण सतर्कतापूर्वक क्रम और तथ्यों की परवाह करके नहीं चले। यही कारण है कि स्वयं पतंजलि भी पाणिनि, आपिशलि और काशकृत्स्न के क्रम से एक जगह उनके रचित व्याकरणों का उल्लेख करते हैं। उनका काल-क्रम निश्चय ही यह नहीं है। अतः इन सब तथ्यों को एक जगह पाकर ही किसी निष्कर्ष पर न पहुँच जाना चाहिए।

इतना ही नहीं। एक तथ्य और स्वीकार करना पड़ेगा। सारे तद्धितान्त नाम चाहे किसी भी अर्थ के वाचक प्रत्यय से बनते हों, व्यक्तिगत रूप में व्यक्तिवाचक नाम भी बन सकते हैं। 'काश्यप' व्यक्तिगत नाम भी हो सकता है, बिना कश्यप से सम्बन्ध रखे ही। 'गार्गी' या 'गार्ग्यी' नाम भी हो सकता है, बिना गर्ग के वंश से सम्बन्ध रखे। तद्धितान्त नाम व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में रखने या न रखने के सम्बन्ध में गृह्यसूत्रों के नियम भी हैं।[1] इससे स्पष्ट है कि तद्धितान्त नाम व्यक्तिवाचक रूप में रखे तो जाते ही थे, भले ही उन्हें सम्मान और मान्यता मिले या न मिले।

इन सब बातों से यह निष्कर्ष निकला कि कहीं भी उपलब्ध होने वाले यास्क, गार्ग्य, शाकटायन, व्याडि, दाक्षी, कात्यायन आदि नामों को एक-एक ही व्यक्ति-विशेष के साथ सम्बद्ध मानना तब तक उचित नहीं कहा जा सकता, जब तक उनके सम्बन्ध में अन्य संज्ञा या सम्बद्ध तथ्य समान रूप से उपलब्ध न हों।

पहले या बाद में

यदि ये सत्य स्वीकार कर लिए जाएँ, तब श्री मीमांसक द्वारा नामों की प्रकृति आदि को लेकर किया गया श्रम और तदाधारित तथ्य भी विचारणीय हो उठते हैं। व्याडि 'दाक्षायण' होने के कारण पाणिनि का मामा था या 'ममेरा भाई' ?, यह प्रश्न तब उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रहता, जितना अन्यान्य साक्ष्यों के बलपर यह सिद्ध करना कि व्याडि पाणिनि से पूर्व हुआ या बाद में ? और, क्या वह प्रातिशाख्य में उल्लिखित व्याडि से अभिन्न था भिन्न ?

उन सारी युक्तियों की परीक्षा करने के बाद, जो व्याडि और कात्यायन को पाणिनि से परवर्ती सिद्ध करने के लिए दी जाती हैं, हम यह कह सकते हैं कि उनमें व्याडि के सम्बन्ध में केवल 'दाक्षायण' नाम को और 'पाणिनीय-

१. न तद्धितमयुग्माक्षरमाकारान्तं स्त्रियै।—इत्यादि। गोभिलीय और शौनकीय गृह्य-सूत्र का नामकरण प्रकरण।

व्याडीयगौतमीयाः' में आए क्रम को छोड़कर एक भी ऐसी युक्ति नहीं है, जिससे यह सिद्ध किया जासके कि व्याडि पाणिनि से परवर्त्ती थे। या, यूं कह सकते हैं कि उनमें कुछ भी ऐसा नहीं है कि जिससे सिद्ध हो कि व्याडि ने अपना 'संग्रह' पाणिनि के बाद ही लिखा था। उसका विवेचना का ढंग, विषय और क्रम सर्वथा अपना है।

दार्शनिकता

लगता है कि यह 'संग्रह' गोतमीय या न्यायमार्गी परम्परा में अधिक था। सूत्र-परम्परा में सुधार की चिन्ता उसमें उतनी न थी। 'मीमांसा' के जन्म की प्रक्रिया तो यास्क से बहुत पहले, औदुम्बरायणादि के समय में ही, आरम्भ हो गई थी। यह बात हम पहले ही कह आए हैं। कौत्स को हमने 'पूर्वमीमांसा' के प्रणेताओं में कहा है। पाणिनि से, और सम्भवतः यास्क से भी, पहले 'दर्शन' बन चुके थे या उनकी पद्धतियाँ विकसित हो चुकी थीं। यह सम्भावना भी हम पहले दे आए हैं। अतः व्याडि पाणिनि के बाद हों या पहले, उनके विषय-विवेचन या शैली पर कोई विशेष प्रभाव या अन्तर नहीं पड़ता।

उदाहरणार्थ, पाणिनि का सारा 'लिंगानुशासन' देख जाइए और एक भी सूत्र ऐसा बताइए, जिसमें इस प्रकार का दार्शनिक चिन्तन हो : "स्त्रीत्व या स्त्रीलिंग के लक्षण हैं : संस्त्यान, संहनन, तम-निवृत्ति, अशक्ति, उपराम होना, प्रवृत्ति का प्रतिबन्ध और तिरोभाव या तिरोहित होना। इसके विपरीत 'पुंस्त्व' या 'पुंल्लिग' के लक्षण हैं : प्रसव या प्रजनन, चारों ओर फैलना या मुड़ना, बढ़ती, शक्तिलाभ, उछाल या अभ्युद्रेक, प्रवृत्ति और आविर्भाव। नपुंसकत्व तब होता है : जब हम लिंगनिर्देश न करना चाहते हों, उभयात्मक लक्षण या समता की स्थिति हो, उत्सुकता की निवृत्ति, परार्थ का अभाव, अंगांगिभाव की निवृत्ति, या भावात्मक सत्ता अथवा 'कैवल्य' या विशुद्ध सत्तात्मक स्थिति हो।[1]" भर्तृहरि ने इस तथ्यको अनुभव किया, और उनके व्याकरणदर्शन के ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' में लिंग-विचार इसी उक्ति को आधार बनाकर प्रसृत हुआ। आज के भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी यह विचार कितना वैज्ञानिक और आधुनिक है!

१- वा० ३.१३. १-२ की टीकामें हेलाराज द्वारा 'संग्रह' का मत:'संस्त्यानं,संहननम्'—इत्यादि।

एक और उदाहरण ! 'संग्रह' का एक उद्धरण दिया जाता है :

"अर्थात् पदं साभिधेयं पदाद् वाक्यार्थनिर्णयः ।
पदसंघातजं वाक्यं, वर्णसंघातजं पदम् ।"

किन्तु कोई कहे कि इसमें ऐन्द्र व्याकरण एवं वाजसनेय प्रातिशाख्य के 'अर्थः पदम्,'[1] और 'अक्षरसमुदायं पदम्,'[2] की नकल की गई है, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के 'एकवर्णं पदम्'[3] का विरोध है, या फिर कि इसमें पाणिनि की परिभाषा 'सुप्तिङन्तम् पदम्'[4], या आपिशलि-प्रोक्त परिभाषा 'विभक्त्यन्तं पदम्' की उपेक्षा की गई है, तो गलत है ।[5] इस पर भी इसके प्रथम पाद से 'अर्थ ही पद है' और चतुर्थ पाद से 'वर्णसंघात का नाम पद है' की ध्वनि निकलती ही है । पर, न तो यह किसी के विरोध में कहा गया है, न नई परिभाषा करने मात्र के लिए कहा गया है । इसे ही भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' के एकाधिक श्लोकों में समझाने का यत्न किया है[6] । यह एकदम दार्शनिक विचार है । पाणिनि और कात्यायन ने इस पहलू को छुआ भी नहीं है ।

काल-निर्णय का आधार

अतः ऐसी बातों के आधार पर भी काल-निर्णय असंभव है । विशेष कर अब जब कि 'संग्रह' का अंशमात्र भी उपलब्ध न हो । इस पर भी एक उपाय और प्रमाण हमारे पास है, जिसे कि हर इतिहासज्ञ स्वीकार कर लेगा । भर्तृहरि ने पाणिनि के बाद व्याकरण की स्थिति की जो चर्चा की है, उसका आधे से अधिक भाग ऐतिहासिक प्रमाणों से पुष्ट है । विशेष कर चन्द्राचार्यादि द्वारा भ्रष्ट महाभाष्य के पुनरुद्धार की बात । अतः उसका प्रमाण हमारे लिए अधिक स्वीकार्य होना चाहिए, यदि उसकी पुष्टि पतंजलि आदि से भी हो जाए। वैसे, स्वयं भर्तृहरि पतंजलि के विषय में सबसे बड़े अधिकारी विद्वान् हैं । महाभाष्य पर उनकी टीका भले ही आज पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं हैं । फिर भी जितनी है, उतनी ही परवर्ती चिन्तन पर पड़े उनके प्रभाव को बताने के लिए पर्याप्त है ।

---

१. वा० प्रा० ३.२ ।

२. वा० प्रा० ८.४६ ।

३. तै० प्रा० १.५४ ।

४. पा० १.१.१४ ।

५. सुषेण विद्याभूषण 'कलापचन्द्र' में लिखते है : "अर्थः पदमाहुरैन्द्राः, विभक्त्यन्तं पदमाहुरापिशलीयाः", इत्यादि । कलापचन्द्र, सन्धि—२० ॥

६. 'पदे न वर्णाः' इत्यादि—पा० १.७४-७७; २.२८-३२ ।

भर्तृहरि अपने 'वाक्यपदीय' में कहते हैं कि, "कम पढ़े-लिखे और संक्षेप में ही सब कुछ पढ़ने की इच्छा रखने वाले वैयाकरणों के लिए विस्तृत 'संग्रह' का मूल्य न रहने से जब वह ग्रस्त हो गया, तब सत्य के मर्मज्ञ गुरु पतंजलि ने संग्रह प्रोक्त सभी न्यायबीजों को अपने महाभाष्य में निबद्ध कर दिया। परन्तु, अपरिपक्व बुद्धि वाले लोगों के लिए इस संक्षिप्त विवेचन का पार पाना भी कठिन हो गया।...तब बैजि, सौभव और हर्यक्ष आदि विद्वानों ने संग्रह का द्वार खोलने वाले इस सक्षिप्त भाष्य को शुष्क वितण्डा का विषय बनाकर उपेक्षणीय बना दिया। कहते थे वे स्वयं को 'पतंजलि का शिष्य' किन्तु उनके ही, कारण यह आर्ष ग्रन्थ विप्लावित हुआ।...[1]"

इस उद्धरण से हमें यही सिद्ध करना अभिप्रेत है कि पाणिनि के सूत्रों को केन्द्र बनाकर कात्यायन और अन्य मनीषियों के वार्त्तिकों के सहारे विचार पर बढ़ने वाले पतंजलि का वास्तविक आधारग्रन्थ व्याडिरचित यह 'संग्रह' ही था। स्वभावतः उस ग्रन्थ की सत्ता उसके स्रोत—पाणिनि—से पहले नहीं मानी जासकती। कात्यायन को परवर्त्ती सिद्ध करने में भी तो यही युक्ति दी जाती है।

पर, यहां श्री मीमांसक के इस मत में भी औचित्य दीखता है कि पाणिनि से कुछ पूर्व से व्याडि की सत्ता स्वीकार की जाए, और उसका काल पाणिनीय व्याकरण की रचना के उपरान्त तक स्वीकार किया जाए। निश्चय ही व्याडि पतंजलि से बहुत पूर्व रहे होंगे। पाणिनि की संक्षिप्त शैली भी व्याडि के विस्तृत 'संग्रह' के प्रति अरुचि का कारण बनी होगी। परन्तु इस विषय में मीमांसक की दृष्टि स्वीकार करते ही दोनों की समकालिकता और शैलीवैशिष्ट्य की बहुत सी समस्याओं का समाधान हो जाता है।

अतः व्याडि का समय निरपवाद ७५० ई० पू० के आसपास स्वीकार किया जा सकता है। उस दशा में उन्हें पाणिनि का मामा स्वीकार करने में भी आपत्ति न रहेगी। यद्यपि ऐसा मानने का कोई विशेष लाभ न होगा। यह सब तब, यदि पाणिनि का समय ७०० ईस्वी पूर्व स्वीकार किया जाता है! अन्यथा, इसमें भी पाणिनि के समय के अनुसार अन्तर करना होगा।

रचना शैली, परिमाण और विषय

विषय—उनकी रचना को हम भी 'संग्रह' ही मान रहे हैं। अतः इस विषय में कोई भी विवाद नहीं है। उसके उपलभ्यमान वचनों तथा महाभाष्य

१. वा० २.४७८ से ४८४।

एवं भर्तृहरिकृत ग्रन्थों के प्रमाण के आधार पर उस ग्रन्थ का विषय 'व्याकरण का दार्शनिक आधार' बैठता है, जिसकी परम्परा आगे चलकर महाभाष्य में और भर्तृहरिटीका एवं वाक्यपदीय में निभाई गई।

शैली—मीमांसक ने व्याडि के जो उद्धरण दिये हैं, उनमें से अन्तिम दो व्याडि को तथाकथित सूत्रकार वैयाकरणों को कोटि में ला बिठाते हैं[1]। अन्यथा, पूर्व के सारे प्रमाण दार्शनिक प्रश्नों से ही सम्बद्ध हैं। ये दोनों प्रमाण ऐसे भी नहीं हैं कि उन्हें व्याडि का न माना जासके। जैनेन्द्र व्याकरण के प्रमाण के आधार पर ही सम्भवतः भागवृत्ति में भी व्याडि के 'इकां यणभिर्व्यवधानं'को उद्धृत किया गया है। या इस सूत्र का स्रोत कोई अन्य ग्रन्थ रहा हो सकता है। किन्तु, यह उक्ति या सूत्र प्रातिशाख्यों के नियमों की परम्परा का लगता है। अतः इससे दो सम्भावनाएं उठती हैं। या तो इसे प्रातिशाख्यप्रोक्त व्याडि का वचन मान लिया जाए और उसका व्यक्तित्व वैयाकरण के रूप में पृथक् से स्वीकार किया जाए। या फिर, संग्रहकार व्याडि ने ही कारिकाओं के साथ कुछ सूत्र भी रचे होंगे अथवा कोई सूत्रात्मक व्याकरण पृथक् से रचा होगा, ऐसा मान लिया जाए।

शेष उद्धरणों के सम्बन्ध में भी एक शंका होती है। व्याडि ने 'संग्रह' को केवल कारिकामय ही लिखा था, या सूत्र और कारिका दोनों का व्यामिश्र रूप लिखा था? संग्रहकार के मीमांसक द्वारा उद्धृत तीनों सूत्रवचनों की भर्तृहरि के वचनों से तुलना करने पर यह सिद्ध होता है कि उनका मूलतः कारिकारूप में रहा होना असम्भव नहीं है। परन्तु, कठिनाई तब आती है, जब वाक्यपदीय की स्वोपज्ञ वृत्ति में ही दोनों प्रकार के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। लगता है कि भर्तृहरि के सामने 'संग्रह' किसी न किसी रूप में अवश्य बच रहा होगा।[2] वे लिखते हैं: 'चतुर्दशसहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रन्थे परीक्षितानि।'[3] इतनी पूर्ण सूचना न तो अत्युक्ति हो सकती है और न ही अनुमानोक्ति। अतः न चाहते हुए भी यह माना जासकता है कि आचार्य व्याडि ने अपने संग्रह ग्रन्थ में गद्य, कारिका और सूत्र की व्यामिश्र शैली अपनाई होगी।

---

१. मी० पृ० २७३-६ : 'इकां यणिभः' तथा 'जाज्वलीति'।
२. म०, ४.२.६०।
३. म० त्रि० १.१.१।

इसके समर्थन में 'महाभाष्य' में भी 'संग्रहसूत्रिकः' का उल्लेख मिलता है, जिससे पता चलता है कि 'संग्रह' में 'सूत्र' भी विद्यमान के। इससे यह संभावना भी बलवती होती है कि महाभाष्य में आए अनेकों वार्त्तिक 'संग्रह' से भी आए होंगे।

परिमाण

परिमाण की बात अवश्य विचार्य है। 'वाक्यदीय' का टीकाकार पुण्यराज मानता है : "पहले इस पाणिनीय व्याकरण में व्याडि द्वारा विरचित संग्रह नाम का निबन्ध एक लक्ष 'ग्रन्थ' के परिमाण का था।"[1] नागेश इसमें कथित 'लक्षग्रन्थपरिमाणं' का अर्थ कर गए : 'लक्षश्लोकसंख्यो ग्रन्थ इति प्रसिद्धिः[2]।' 'ग्रन्थ' की तकनीकी परिभाषा 'पुस्तक' के अर्थ में पलट गई, और यहाँ आए निश्चित वर्णपरिमाणसूचक 'ग्रन्थ' का स्थान 'श्लोक' ने ले लिया। 'ग्रन्थ' के परिमाण सूचक अर्थ को भुला ही दिया गया। वास्तव में इन्द्र के पूर्वकथित २५ सहस्र ग्रन्थ या श्लोक के परिमाण वाले व्याकरण की अपेक्षा भी व्याडि का संग्रह ग्रन्थ आकार में चारगुना बड़ा था—इस पूर्वोक्त वचन से भी यही सिद्ध होता है। इस तुलना की दृष्टि से पाणिनि का व्याकरण इसका सौवां भाग (एक सहस्र ग्रन्थ-परिमाण) हो ठहरता है[3]। विवेचना के ऐसे विस्तृत ग्रन्थ का पाणिनि के सूत्रों की अपेक्षा शतगुण होना असम्भव भी नहीं है। यद्यपि यह भी सत्य है कि कथन की पुष्टि का अन्य कोई प्रमाण इस उपलब्ध नहीं है।

विषय विवेचन में से कितना हम तक पहुँचा है, इस बात की चिन्ता हमें तब नहीं रहती, जब हमें यह पता चलता है कि भर्तृहरिके कथनानुसार 'संग्रह' की अधिकांश विचारसरणि हम तक पतंजलि, चन्द्राचार्य्य, और भर्तृहरि आदि के क्रम से होती हुई पर्याप्त मात्रा में पहुंच पाई है। कठिनाई या शोक की बात यही है कि इनमें से हम 'व्याडि के मत' के रूप में उनका निश्चित वचन या वाक्य नहीं खोज पाते।

प्रभाव

अतः स्पष्ट है कि व्याकरण ग्रन्थ या 'संग्रह' के उपलभ्य न रहने पर भी

---

१. वाक्यपदीय, काशीसंस्करण, पृ० २८३।

२. म० १.१.१।

३. तिब्बती परम्परा पाणिनि के व्याकरण को एक सहस्र ग्रन्थ का और इन्द्र के व्याकरण को २५ सहस्र ग्रन्थ का मानती है। अतः 'संग्रह' ऐन्द्र व्याकरण से भी चारगुना ठहरता है।

व्याडि की संस्कृत-व्याकरण-दर्शन को दी गई देन अपना अक्षुण्ण महत्त्व रखती है। उसने न्याय और मीमांसा की स्वपूर्व प्रचलित पद्धति को न्याययुक्त और सरणिबद्ध आधार दिया। उसकी परम्परा का निर्वाह ही पतंजलि आदि ने किया। कात्यायन पर भी उसका प्रभाव किसी न किसी रूप में पड़ा ही। तभी कात्यायन 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' और 'यथा लौकिकवैदिकेषु' की बात सिद्ध मानकर चलते हैं, जबकि व्याडि को प्रमाण कहना पड़ता है :

'सम्बन्धस्य न कर्त्तास्ति शब्दानां लोकवेदयोः।
शब्दैरेव हि शब्दानां सम्बन्धः स्यात् कृतः कथम् ?'

ऐसा लगता है मानों वार्त्तिकों का रचयिता या तो स्वयं वही है, जिसने 'संग्रह' लिखा है, या फिर उसके एक-एक प्रमाण पर वह वार्त्तिक बना रहा है। और यह भी, कि बचे-खुचे वार्त्तिक जैसे पतंजलि ने ही बना दिए हों। ऊपर वर्ण, पद और वाक्य में सम्बन्ध स्थापित करने वाली जो कारिका पढ़ी गई है (अर्थात्पदं साभिधेयं, आदि), उसकी तुलना 'वर्णानामर्थवत्वं न वा' वाले प्रसंग के वार्त्तिकों और भाष्यवार्त्तिकों से अच्छी तरह की जा सकती है। महाभाष्य से यह तो प्रसिद्ध ही है कि व्याडि शब्द को द्रव्य मानने के पक्ष में थे, आकृति या जाति नहीं।[1] शब्द के नित्यानित्यत्व के विषय में भी उनकी धारणा सापेक्ष थी[2]। उनकी ऐसी धारणाओं को एकत्र करके भी उनके 'संग्रह' की मूल आत्मा को पर्याप्त दूरी तक बचाया जा सकता है।

निश्चय ही स्वयं लुप्त होकर भी अपना व्यापक प्रभाव छोड़ने की दृष्टि से व्याडि बेजोड़ रहे। उधर उन्हीं के समकालीन पाणिनि अब तक सुरक्षित रहकर और व्यापक सम्मान पाकर भी अपनी टक्कर का एक भी सूत्रकार पैदा न कर पाए। दूसरे शब्दों में, पाणिनि संक्षिप्त होकर भी दुरूह रहे, जबकि व्याडि विस्तार और जटिलता का अवगाहन करने वाले होकर भी परवर्ती चिन्तन की दिशा पर हावी हो गए।

———

१. "वाजप्यायनस्याकृतिः। व्याडेस्तु द्रव्यम्।" म० त्रि० १.१.१।

२. संग्रहे तावत्कार्यप्रतिद्वन्द्विभावात्।" म० १.१.१। तथा, म० त्रि० १.१.१ में : 'संग्रहे नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति इहापि तदेव्।...व्याडेश्च प्रामाण्यादिहापि तथैव सिद्धशब्द उपात्तः।"

पाणिनिपूर्व युग : प्रगति का पुनरवलोकन

आवश्यकता

व्यक्तिक्रम और ग्रन्थक्रम से पाणिनिपूर्व युग के विचार के प्रसङ्ग में हमने केवल कुछ चुनी हुई रचनाओं और विशिष्ट व्यक्तियों का ही अध्ययन किया है। अतः उचित रहेगा, यदि हम उस युग की उपलब्धियों पर समग्र रूप में भी एक बार दृष्टिपात करलें। ऐसा करते हुए हम इस अवधि में रचित उस सभी ज्ञात सामग्री की समग्र उपलब्धियों पर सामूहिक रूप से विचार करेंगे, जिनका सम्बन्ध व्याकरण से है। इस साहित्य में तीनों वेदांगों—शिक्षा, निरुक्त और व्याकरण—का तो समावेश होगा ही, व्याकरण के विविध पक्षों का भी हम अध्ययन करेंगे। विस्तार के भय से यह समीक्षा विहगावलोकन के रूप में ही होगी।

(क) पाणिनिपूर्व : शिक्षा और प्रातिशाख्य

मूल प्रश्न

वर्तमान में 'शिक्षा' और 'प्रातिशाख्य' के नाम से दो प्रकार के ग्रन्थ-निचय उपलब्ध हैं। विद्वानों में इस बात पर पर्याप्त चर्चा रही है कि ये दोनों मूलतः एक हैं या पृथक्-पृथक्? पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा गया है। गोल्डस्टुकर और उनकी श्रेणी के अनेक विद्वान् इनका रचनाकाल भी पाणिनि से पर्याप्त परवर्त्ती मानते रहे हैं। दूसरी ओर लूडर्स, लीबिख आदि इन्हें पर्याप्त प्राचीन सिद्ध करते रहे हैं। डा० सूर्यकान्त[१] और डा० सिद्धेश्वर वर्मा[२] ने इस विषय में पर्याप्त सुपुष्ट चिन्तन किया है। यद्यपि उन दोनों की मान्यताओं में भी पर्याप्त अन्तर है, तो भी उनके सामान्य निष्कर्ष इन समस्याओं को पर्याप्त सुलझा देते हैं।

चेतावनी

पिछले पृष्ठों में हमने प्रातिशाख्यों में से कुछ का व्यक्तिगत विवेचन किया है। उसमें हम जिन परिणामों पर पहुँचे हैं, इन दोनों विद्वानों के

---

१. 'अथर्वप्रातिशाख्य' और 'अक्तन्त्र' की भूमिका में।
२. 'प्राचीन भारतीय ध्वनि-विज्ञान' की भूमिका में।

निष्कर्ष कुछ-न-कुछ उनसे मिलते हैं। इस सम्बन्ध में हम आरम्भिक निष्कर्ष के रूप में कुछ चेतावनियाँ पुनः गिनवाना चाहेंगे, जिनको ध्यान में रखकर ही इन ग्रन्थों एवं इनमें वर्णित विषयों की पूरी महत्ता समझी जा सकेगी।

(१) सर्वप्रथम यह कि एक नाम से मिलने वाली सभी रचनाओं को एक ही व्यक्ति की कृतियाँ नहीं मान लेना चाहिए।

(२) द्वितीय यह कि तद्धितान्त नाम देखकर उन्हें केवल अपत्यादि के अर्थ में ही नहीं समझ लेना चाहिए। 'प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः' के अनुसार अन्यथा भी तद्धितान्त नाम सम्भाव्य हैं।

(३) तृतीय यह कि पाणिनिपूर्व की पारिभाषिक शब्दावली का पाणिनीय शब्दावली से अन्तर या पौर्वापर्य निश्चित करने में शीघ्रता नहीं करनी चाहिए।

(४) चतुर्थ यह कि प्रातिशाख्य का विषय शिक्षा से मिलता-जुलता होकर भी केवल उतने तक ही सीमित नहीं है। शिक्षा का प्रधान लक्ष्य है उच्चारण, जबकि प्रातिशाख्य में पद और संहिता का आपसी परिवर्तन मुख्यतः अभिप्रेत है। 'स्वर' और 'सन्धि' स्वभावतः उसी सम्बन्ध में पूर्णता के साथ वहाँ वर्णित हुए हैं। यास्क के 'तद्यत्र स्वरसंस्कारौ' में प्रातिशाख्य और व्याकरण की इन्हीं दो प्रधान प्रक्रियाओं का संकेत है। 'समर्थों' की बात वे अधिक कहते हैं, जिससे उनकी परवर्तिता सिद्ध है।

इन तथ्यों पर विचार करने के बाद यह स्पष्ट हो जाएगा कि व्याकरण और प्रातिशाख्य का निर्माण साथ-साथ आरम्भ मानने में न कोई आपत्ति है, न बाधा। इन्द्र, भरद्वाज, भारद्वाज, शाकटायन, शाकपूणि आदि को, इस प्रकार, अन्य कई प्रातिशाख्यकारों और यास्कादि नैरुक्तों से पहले मानने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए।

स्वरूप

इस विषय में हमें डा० सूर्यकान्त का मत सर्वाधिक समीचीन प्रतीत हुआ है। यूँ तो मैक्समूलर, गोल्डस्टुकर आदि के समय से ही यह माना जाता रहा है कि प्रातिशाख्यों का मूल रूप उनके वर्त्तमान रूप से भिन्न ही रहा होगा, यद्यपि बाद में प्रतिसंस्कार के साथ वे बढ़ते और परिवर्तित होते हुए भी अपने मूल विषय और कर्तृनाम से सम्बद्ध रहे। डा० सूर्यकान्त की यह सूचना और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि मूल रूप में प्रातिशाख्यों में प्रवृत्ति

संहिता से पद की ओर रही होगी, जबकि परवर्त्ती रूप में यह प्रवृत्ति उनमें पद से संहिता की ओर हो गई। यह बात उन्होंने 'अथर्वप्रातिशाख्य' के अन्तरंग परीक्षण के बाद कही है।[1]

यह बात लगती भी उचित है। इसे समझने के बाद प्रातिशाख्यों के वर्तमान रूप के सम्बन्ध में बहुत से उलझे प्रश्नों का समाधान ही प्रतीत होता है। परन्तु, इसका अर्थ यह नहीं कि इनमें आए आचार्यों के नाम भी पलटते रहे। उनके मत भी, पुराने ही प्रसङ्ग में, उसी तरह व्यक्त होते रहे। पुरानी परिभाषाएँ भी उसी तरह चलती रहीं। अतः महज़ परवर्त्ती प्रतिसंस्कार के बल पर ही उन्हें पाणिनि से परवर्त्ती सिद्ध करने की शीघ्रता न करनी चाहिए। वैसा प्रयत्न तर्कसङ्गत न कहा जाएगा।

उपलब्धि और सम्बन्ध

'प्रातिशाख्य' शब्द से अर्थ-भ्रम होता है—'प्रतिशाखा से सम्बद्ध' होने का। किन्तु पूर्ण विचार के बाद गोल्डस्टुकर, सिद्धेश्वर वर्मा, और सूर्यकान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि प्रत्येक शाखा का एक-एक और पृथक्-पृथक् 'प्रातिशाख्य' रहा हो, यह असम्भव दीखता है। वर्तमान 'ऋक्प्रातिशाख्य' भी शाकल और बाष्कल शाखा पर समान रूप से घटता है। सच तो यह है कि शाकल के पाँचों भेदों पर भी यह समान रूप से घटित होता है। यद्यपि प्रधानता से उल्लेख इसमें 'शैशिरीय' का ही है। यही बात 'अथर्वप्रातिशाख्य' और 'शौनकीय चतुरध्यायी' पर घटती है। 'शौनकीय चतुरध्यायी' केवल 'पैप्पलाद शाखा' से सम्बद्ध है, जबकि 'अथर्वप्रातिशाख्य' का सम्बन्ध अथर्ववेद के सामान्य रूप से है, जो पैप्पलाद से बहुत भिन्न है। सम्भव है, कुछ प्रातिशाख्यों के विषय में 'प्रतिशाखा से सम्बद्ध' वाली बात भी ठीक बैठती हो।

इस समय तक कम ही प्रातिशाख्य उपलब्ध हुए हैं। जो उपलभ्य हैं, उनमें भी पाठ कुछ स्थानों पर पर्याप्त भ्रष्ट है। अन्य अनेक प्रातिशाख्यों का नामशः उल्लेख तो मिलता है, किन्तु वे उपलब्ध नहीं हैं।

उपलब्ध प्रातिशाख्यों में दो वर्ग स्पष्ट दिखाई देते हैं, उनके इस वर्गीकरण का सम्बन्ध-सूत्र भले ही किसी हेतु में खोजा जाए। एक वर्ग में 'ऋक्प्रातिशाख्य' और 'वाजसनेय प्रातिशाख्य' आदि आते हैं और दूसरेमें 'तैत्तिरीय' और

---

१. भूमिका, अथर्व प्रा०।

'मैत्रायणीय' आदि। इन सब में ही अनेकानेक आचार्यों का उल्लेख मिलता है। किन्तु, दोनों वर्गों के मान्य आचार्य अलग-अलग प्रतीत होते हैं। कारण चाहे कुछ भी हो; एक वर्ग के आचार्य दूसरे वर्ग में उल्लिखित नहीं मिलते। 'अथर्वप्रातिशाख्य' में केवल शौनक का ही नाम आता है, जो प्रथम वर्ग में हैं। किन्तु, इसी आधार पर डा० सूर्यकान्त और अन्य कुछ आचार्य 'शौनकीय चतुरध्यायी' को 'अथर्वप्रातिशाख्य' से प्राचीन मानते हैं।

यहाँ हम यह अवश्य कहना चाहेंगे कि 'सूत्र' और 'कारिका' के आधार पर भी अर्वाचीनता-प्राचीनता का निर्णय करना उचित नहीं कहा जा सकता। दोनों ही प्रवृत्तियाँ बहुत पहले से चली आती दिखाई देती हैं। प्रत्येक प्रातिशाख्य में किसी-न-किसी रूप में यही बात मिलती है।

शिक्षा-ग्रन्थ

किन्तु 'शिक्षाग्रन्थों' की प्रामाणिकता और उनकी 'वेदांग' रूप में मान्यता की बात पर्याप्त विवादास्पद है। 'शिक्षा' नाम से बहुत से लघु-ग्रन्थ मिलते हैं। नाम्ना इनमें से कई अत्यन्त प्राचीन दिखाई देते हैं। किन्तु, वस्तुपरीक्षा करते ही इनकी परवर्त्तिता सिद्ध हो जाती है। स्वयं 'पाणिनीय शिक्षा' का वास्तविक और मूल स्वरूप विवादास्पद है। वेबर से लेकर आज तक इस शिक्षा के कितने ही संस्करण हो चुके हैं। किन्तु, इसके मूल लेखक के विषय में पाणिनि से उसकी भिन्नता या अभिन्नता का प्रश्न तभी से अनिर्णीत चला आया है। इसके दो कारण हैं। प्रथम यह कि इसके दो रूप-भेद मिलते हैं: सूत्रमयभेद—जिसे स्वामी दयानन्द ने प्रथम प्रकाशित किया और बाद में डा० रघुवीर एवं मीमांसक आदि ने सम्पुष्ट किया तथा पॉल थीमे और डा० मनमोहन घोष ने जिसे भिन्न-भिन्न आधारों पर पाणिनीय मानने से इन्कार कर दिया। कारिकामय भेद—जिसका प्रथम प्रकाशन सिद्धान्तकौमुदी के साथ कलकत्ता-संस्करण में हुआ था और जिसे बाद में वेबर ने सम्पादित किया एवं तब से अब तक जिसके अनेक सम्पादन हो चुके हैं।

डा० मनमोहन घोष ने इस कारिकामय 'पाणिनीय शिक्षा' के पाँचों विविध पाठों और दोनों टीकाओं का प्रकाशन शोधात्मक दृष्टि से सम्पादित करके किया है। इसके विषय में प्रायः अधिकांश विद्वानों का मत यह है कि यह पाणिनि के अनुज पिंगल की लिखी हुई भले ही हो, पाणिनि की लिखी हुई नहीं है। उनका यह मत 'शिक्षाप्रकाश' नामक व्याख्या के आरम्भ में ही

उद्धृत श्लोक पर आधारित है। इस 'शिक्षा' की प्रथम कारिका में भी 'पाणिनीयमतं यथा' लिखा है, जिससे स्पष्ट होता है कि यह शिक्षा पाणिनि-प्रोक्त नहीं है। किन्तु, डा० मनमोहन घोष अत्यधिक तर्क के बाद इन परिणामों पर पहुँचे हैं कि एक तो यह पाणिनि-प्रोक्त ही है, और दूसरे एकमात्र यही शिक्षा 'वेदांग' के रूप में मान्य है।

दोनों पक्ष

मजा यह है कि दोनों ही पक्ष वाले यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि उनके द्वारा मान्य 'शिक्षा' से भिन्न 'शिक्षा' न तो प्रातिशाख्यों की पूर्व-भूमिका बनाती है, न ही वह वैदिक ध्वनिविज्ञान के अनुकूल बैठती है। यह युक्तिजाल दोनों ओर से एक ही समान उग्रता से प्रस्तुत किया जाता है। डा० घोष का कहना यह है कि सूत्रमयी शिक्षा के उद्धरण किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं मिलते और इसे स्वामी दयानन्द ने अपनी ही प्रतिभा से घड़ा है। दूसरी ओर, स्वामी दयानन्द इसे एक बहुत ही प्रामाणिक हस्तलेख पर आधारित बताते हैं। सौभाग्य से बाद में डा० रघुवीर ने मद्रास के अड्यार पुस्तकालय से प्राप्त दो हस्तलेखों के आधार पर 'आपिशल शिक्षा' का सम्पादन किया। उसका विभाजन, स्वरूप, और सूत्रसमुदाय तक इस सूत्रमयी पाणिनीय शिक्षा से मिलता है। इससे पूर्व डा० मनमोहन घोष का कहना था कि स्वामी दयानन्द ने सम्भवतः चान्द्र व्याकरण के शिक्षासूत्रों की नकल की है। किन्तु, अब तक यह तो स्पष्ट हो चुका है कि चान्द्र के शिक्षासूत्र आपिशलि और पाणिनि के इन पूर्ववर्त्ती शिक्षासूत्रों पर उसी तरह आधारित हैं, जिस तरह उनका व्याकरण समग्रतः पाणिनीय व्याकरण पर आधारित है।

परन्तु भारद्वाज, व्यास एवं अन्य अनेक आचार्यों की जो शिक्षाएँ उपलब्ध होती हैं, वे चाहे कारिका वाली पाणिनीय शिक्षा के अनुकरण पर हों या अन्यथा, कारिकानिबद्ध ही मिलती हैं। उनमें से कुछ स्वरूप और विषय की दृष्टि से प्राचीन दिखाई देती हैं, जबकि अन्य पर्याप्त अर्वाचीन हैं। आपिशल-शिक्षा की सूत्रमयता और प्रामाणिकता में सन्देह का अवकाश इसलिए नहीं है, कि उसके २३ सूत्र एक साथ ही 'हैम शब्दानुशासन' में उसी रूप में उपलब्ध हुए हैं। उससे पूर्व के कई वैयाकरणों और भाष्यकर्त्ताओं के ग्रन्थों में भी उनकी शिक्षा के कई सूत्रों का उल्लेख मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ कारिकाएँ भी आपिशल और पाणिनीय दोनों शिक्षाओं में समान रूप से

उपलब्ध होती हैं। यद्यपि उनमें क्रम, आधिक्य आदि कुछ अन्तर भी हैं। यह सम्भव है कि पाणिनीय शिक्षा का पाँच पटलों में जो विभाजन माना गया है, उसमें सत्यता हो। पर, आपिशलि की उपलभ्यमान शिक्षा में आठ प्रकरण हैं। अतः वर्तमान पाणिनीय शिक्षा में भी उतने ही प्रकरण पाए जाते हैं।

हम मतभेदों की बात को छोड़कर हम इतना ही कहना चाहेंगे कि यद्यपि शिक्षाग्रन्थों के नाम पर कई ग्रन्थ मिल जाते हैं, किन्तु इनमें से कोई शिक्षा 'मूलागम' या 'वेदांग' कही जा सकती है या नहीं, इस प्रश्न को अभी हल करने का बलात् प्रयत्न नहीं किया जाना चाहिए। बल्कि, उनकी देन का मूल्यांकन करने का प्रयास ही होना चाहिए।

पाणिनि से प्राचीनता

जहां तक प्रातिशाख्यों और शिक्षाग्रन्थों की पाणिनि से पूर्ववर्त्तिता या उत्तरवर्त्तिता का प्रश्न है, 'वेदांग' माने जाने की दृष्टि से निश्चय ही शिक्षा का स्थान केवल पाणिनि से ही नहीं, बल्कि वैदिक व्याकरण अथवा प्रातिशाख्य से भी पहले का ही प्रतीत होता है। समय के प्रवाह में पुरातन शिक्षा-ग्रन्थ लुप्त हो गए और उनके स्थान पर अर्वाचीन ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि वर्त्तमान में उपलब्ध अनेक शिक्षाएं उन्ही प्राचीन शिक्षाओं के ही परवर्त्ती रूप हैं। वास्तव में शिक्षाग्रन्थों की मौलिक महत्ता इस बात में है कि उनमें वैदिक और लौकिक वर्णोच्चारण प्रक्रिया को सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया है।

प्रातिशाख्यों में भी वर्णोच्चारण के पृथक् खण्ड या पटल हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि ये पटल ही पूर्ववर्ती शिक्षाग्रन्थों के प्रातिशाख्यों में अन्तर्भाव को सूचित करते हैं। इसी आधार पर इन विद्वानों का यह कहना है कि प्रातिशाख्य मूलतः 'शिक्षा' शीर्षक के अन्तर्गत ही गिने जाने चाहिएँ, 'व्याकरण' के नहीं। इस सम्बन्ध में हम आरम्भ में ही कह आए हैं कि शिक्षा, निरुक्त और व्याकरण एक-दूसरे से सर्वथा अछूते आधारों पर नहीं बढ़ सकते। उनकी सीमाएं एक-दूसरे को बहुत अधिक छूती हैं। प्रातिशाख्य 'शिक्षा' और 'व्याकरण' के बीच की कड़ी हैं। हां, यह अवश्य विशेष है कि उनमें वैदिक पद-संहिता-सम्बन्ध मुख्य विषय होने से उनमें गृहीत 'व्याकरण' सामान्य प्रकृति-प्रत्यय-विभाग पर आश्रित व्याकरण की परम्परा से भिन्न प्रतीत होता है। इसी-

लिए भर्तृहरि की साक्षी के आधार पर हमने उसे 'अविभाग व्याकरण' कहा है। इससे मूलतः उसके 'शिक्षांग' होने में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

निरुक्त : निर्वचन

'शिक्षा' जैसी ही समस्या 'निरुक्त' की भी है। जहां तक निर्वचन का प्रश्न है, ब्राह्मणों में यह प्रक्रिया बहुत पहले ही पूर्ण हो चुकी थी। वहां अनेक नैरुक्तों का नामोल्लेख भी हुआ है। ये ब्राह्मण ग्रन्थ यास्क के 'निरुक्त' से बहुत पहले बन चुके थे। यास्क स्वयं अन्यान्य नैरुक्तों का उल्लेख करते हैं। किन्तु, 'वेदांग' के रूप में आरम्भ में कौनसा 'निरुक्त' बना होगा ? यह प्रश्न अब तक भी स्पष्ट नही हो सका। कारण यह प्रतीत होता है कि 'वेदांग' के रूप में किसी विशिष्ट 'निरुक्त', 'शिक्षा' या 'व्याकरण' ग्रन्थ को मन्यता दी गई प्रतीत नहीं होती। वेदार्थ को बताने में सहायता देने के लिए इन विविध ज्ञानांगों का विविध रूप में विकास हो रहा था। जब वेदों के विधिवत् अध्ययन की परम्परा आरम्भ हुई, तब इन अंगों को सामान्य रूप से 'वेदांग' संज्ञा दी गई प्रतीत होती है। अत. 'वेदांग' के रूप में या मूलग्रन्थ के रूप में किसी विशेष शिक्षा, निरुक्त या व्याकरण की खोज की बात हमें उचित नहीं लगती।

परन्तु, ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'विधि' और 'विनियोग' के साथ-साथ 'निर्वचन' की महत्त्वस्वीकृति इस बात को स्पष्ट करती है कि तब तक निरुक्त का अपना महत्त्व स्वीकृत हो चुका था। कदाचित् व्याकरण-सम्बन्धी कुछ तथ्य भी ब्राह्मणों में यत्र-तत्र उल्लिखित हुए हैं। निर्वचन में धातु को शेषांश से पृथक् करके प्रदर्शित करने की बात 'शतपथ' ब्राह्मण आदि में सर्वत्र दिखाई देती है।

दो परम्पराएं

यास्क का निरुक्त अपनी पूर्णता के कारण इतना प्रभावी सिद्ध हुआ कि उससे पूर्व के सभी निरुक्त नामशेष रह गए। निरुक्तों को यह परम्परा बाद में भी लोकप्रिय रही, और सम्भवतः इसके दो रूप रहे, यह बात वाररुच 'निरुक्त समुच्चय' के प्रकाश में आने के बाद सिद्ध हो गई। एक ओर 'यास्कीय निरुक्त' की परम्परा है, जिसमें सारे मन्त्र का विधिवत् अर्थ न करके, केवल कठिन शब्दों की निरुक्तयां देते हुए मन्त्रार्थ करने का यत्न किया गया है। कई स्थलों पर तो मन्त्रार्थ को भी स्पष्ट समझ कर बस एकाध निरुक्ति देने बाद ही निरुक्तकार यास्क अपना काभ पूरा समझ बैठते हैं।

'वाररुच निरुक्त' की पद्धति इससे भिन्न है। वहां मन्त्र के विधिवत् अर्थ

की पूर्णता को मुख्यता प्राप्त है। परिणाम यह है कि वहां निरुक्तियां अर्थ के बीच-बीच में ही आती रहती हैं, किन्तु उन्हें वहां वह महत्त्व प्राप्त नहीं है, जो यास्कीय निरुक्त में है।

प्रासंगिक सूचना

इन निरुक्तियों के प्रसंग में ही कई बार नई बातें सामने आई हैं। इन बातों का महत्त्व व्याकरण की दृष्टि से अत्यधिक है। **'नाम आख्यातज हैं'** और **'शब्द अनेक धातुओं के योग से भी बन सकते हैं'—शाकटायन** की ये दो क्रान्तिकारी धारणाएं नैरुक्त यास्क के ही माध्यम से हम तक पहुंची हैं। औदुम्बरायण का 'स्फोटात्मक अखण्डता' से सम्बद्ध मत भी हमें यास्क के द्वारा ही पता चलता है। इसका अपना महत्त्व है।

: इस युग के व्याकरण :

उपलब्धि

कहा जा चुका है कि इस युग के लौकिक व्याकरणों के उल्लेख या अंश विकीर्ण रूप में ही उपलब्ध होते हैं। कोई भी व्याकरण स्वयं अविकल रूप में उपलब्ध नहीं होता। **काशकृत्स्न व्याकरण** भी खण्डित और विकीर्ण रूप में ही पुनर्गठित किया जासका है। सर्वाधिक उल्लिखित **शाकटायन और आपिशलि** के व्याकरण तो अंशतः भी उपलब्ध नहीं होते। हां, पाणिनि के परवर्ती व्याकरण अवश्य कुछ ऐसे हैं, जिनसे हमें कुछ पूर्ववर्ती व्याकरणों का आभास मिल जाता है। इसका आधार परम्परा और जनश्रुति पर तो है ही, उल्लिखित सूत्रों और प्रवृत्तियों की समानता पर भी कुछ अंश तक कहा जा सकता है। **'संग्रह'** तक का बाद में लुप्त हो जाना, समस्या की गम्भीरता को बताता है। हम उल्लेख कर आए हैं कि ऐसा पाणिनि के सर्वग्रासी व्याकरण के चमत्कारपूर्ण प्रभाव के कारण हुआ।

इन व्याकरणों में से अनेक के **धातुपाठ और गणपाठ** भी अलग-अलग बने हुए थे। **काशकृत्स्न** का धातुपाठ तो मिलता ही है, गणपाठ के भी संकेत उपलब्ध होते हैं। **आपिशलि के गणपाठ** की चर्चा अनेकत्र उपलब्ध हुई है, जिससे उसका पाणिनीय गणपाठ से अन्तर पता चलता है। इन्द्र के शिष्य **भरद्वाज** के लिए कहा गया है कि वही **'आख्यात'** को सबसे पहले देख सके। इसका इतना अर्थ तो स्पष्ट ही है कि धातुओं का पृथक् वर्गीकरण करने का का सर्वप्रथम श्रेय उन्हीं को जाता है।

पारिभाषिक शब्द

इन व्याकरणों की पारिभाषिक शब्दावली कहीं पाणिनि से भिन्न है, तो अनेकत्र उसका स्वरूप पाणिनि से अभिन्न भी है। पाणिनि से बहुत पूर्व ही लगभग अधिकांश शब्दावली का निर्माण हो चुका था। पाणिनि ने उसमें से कुछ को भिन्न अर्थ में यदि प्रयोग किया है, तो कुछ के स्थान पर नई परिभाषाएँ भी घड़ी हैं। अधिकांश में पाणिनि ने उसी शब्दावली को अपना लिया है। भिन्न शब्दावली की परिभाषाओं में भी पूर्णता-अपूर्णता अथवा सूक्ष्मता-स्थूलता का ही भेद है। अन्यथा, दोनों परिभाषाओं में तात्त्विक अन्तर नहीं है। केवल यही बात पाणिनि को उनसे भिन्न सिद्ध करती है कि पाणिनि ने अपने से पूर्व विद्यमान सभी उपलब्धियों का भरपूर उपयोग किया है। इसके साथ ही पाणिनि का कमाल उन उपलब्धियों को पूर्णता तक पहुँचाने में भी है। यद्यपि कात्यायन और पतंजलि ने उसके छूटे हुए शब्दों को अपने ढंग से सुलझाने का प्रयास किया है।

स्वरूप : लौकिक और वैदिक

इन व्याकरणों को 'लौकिक' या 'वैदिक' कहने से कुछ सार न निकलेगा। इनका स्वरूप व्यामिश्र था। प्रातिशाख्यों के समान इनकी भी प्रतिज्ञा 'लोक और वेद की अर्थात्मक और रचनात्मक समानता ही थी।' प्रातिशाख्य मूलतः वेदों के लिए सीमित रहे, जबकि ये व्याकरण मुख्यतः बोलचाल की भाषा के आधार पर बढ़े। पर लोक और वेद की परस्पराश्रितता उभयत्र सिद्ध रही।

विभाजन

इस युग के निर्मित सम्पूर्ण व्याकरण को 'अविभाग' और 'सविभाग' के रूप में दो भागों में बाँटा जा सकता है। अविभाग व्याकरण की प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व प्रातिशाख्य करते हैं। इनमें संहिता अथवा पद को समग्र रखकर विचार किया गया है। उनका विभाग 'अवग्रह' और अविभाग 'प्रग्रह' के रूप में माना गया अवश्य है, किन्तु उतने से ही इन व्याकरणों का स्वरूप 'सविभाग' नहीं हो जाता। अन्यथा, पारिभाषिक शब्दावली आदि की दृष्टि से इस युग की परिभाषाएँ सविभाग व्याकरण की शब्दावली से अभिन्न ही है।

कहा जा चुका है कि 'सविभाग व्याकरण' का आदि कर्त्ता 'इन्द्र' था। बाद में इसमें पर्याप्त सुधार हुआ। किन्तु, पाणिनि से पूर्व 'ऐन्द्र व्याकरण' एक प्रमुख धारा के रूप में विद्यमान था। शाकटायन, काशकृत्स्न और आपिशलि इसी परम्परा में बढ़े थे। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने इस दिशा में

पर्याप्त प्रगति कर ली थी। उनकी कई धारणाएँ बहुत ही प्रौढ़ थीं। पाणिनि ने जब बाद में अपने व्याकरण का सृजन किया, तो वह, सर्वथा नई वस्तु न होकर, इन्हीं तत्त्वों के आधार पर खड़ा हुआ था। 'ऐन्द्र' व्याकरण की धारा का उत्तरकालीन प्रतिनिधित्व आपिशलि, काशकृत्स्न आदि के माध्यम से होता हुआ बाद में 'कातन्त्र व्याकरण' में हुआ। पाणिनि के उत्तरवर्ती व्याकरणों में विद्यमान 'पाणिनीय' और 'अपाणिनीय' के रूप में दो स्पष्ट धाराओं का संकेत खोजा ही जा सकता है।

सूत्र और कारिका

इस 'सविभाग व्याकरण' में भी, 'अविभाग व्याकरण' की भाँति, 'सूत्र' और 'कारिका' दोनों ही व्यामिश्र थे। कम-से-कम 'संग्रह' की साक्षी ऐसी ही है। भागुरि, शाकटायन, आपिशलि आदि के भी जो प्रमाण इधर-उधर विकीर्ण रूप में मिले हैं, उनसे भी यही बात पुष्ट होती है। सम्भव है, ये कारिकाएँ सूत्रों के ही परवर्ती रूप हों। किन्तु, 'संग्रह' के प्रमाण पर कहा जा सकता है कि प्रातिशाख्यों की भाँति उस युग के व्याकरण में भी दोनों परम्पराएँ व्यामिश्र रूप में अवश्य विद्यमान रही होंगी।

: इस युग की उपलब्धियाँ :

ध्वनि-शास्त्र सम्बन्धी

इस विषय में सभी विद्वान् एकमत हैं कि इस युग की जो भी उपलब्धियाँ हम तक सुरक्षित रूप में पहुँच पाई हैं, उनमें ध्वनि-सम्बन्धी उपलब्धियाँ सर्वप्रधान हैं। यह कहना कदाचित् उचित न होगा कि ऐसा केवल वेदों की रक्षा के लिए ही हुआ। वास्तव में महत्त्व उस सूक्ष्मता और पूर्णता का है, जिसके साथ इस युग में ध्वनि-सम्बन्धी तत्त्वों का अध्ययन किया गया। 'उच्चारण' के विषय में विचार करते हुए केवल सम्बद्ध 'वेद' या 'शाखा' का ही ध्यान नहीं रखा गया। ध्वनियों और वर्णों के उच्चारण के स्थान का निश्चय करते हुए निर्द्वन्द्व भाव से पूर्ण और सूक्ष्म पर्यवेक्षण को प्रधानता दी गई। हाँ, 'लृ' आदि विशिष्ट ध्वनियों को किसी वेद-विशेष के प्रसंग में न गिनाना अलग बात है। ऐसी जगह भी विस्तृत विवेचन के बाद कुछ अन्य ही सत्य सामने आते हैं।

यह हमारा सौभाग्य है कि डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने इस विषय में हमें पर्याप्त विश्लेषण और निष्कर्ष दिए हैं।[1] उनके विवेचन से बहुत से ऐसे तथ्य सामने आए हैं, जिन्हें हम ध्वनि-विज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कह सकते हैं। थोड़ा अधिक विस्तार में जाने पर हम उन निष्कर्षों को विश्वभाषाओं में सामान्यतः घटता भी पा सकते हैं।

ऋ, लृ, य्, व् के स्थानों की चर्चा इस विषय में निदर्शनार्थ पर्याप्त रह सकती है। 'ऋटुरषा मूर्धन्याः' की सर्वविदित पाणिनि, आपिशलि और चान्द्र व्याकरणों की कल्पना बाद की रही होगी। किन्तु, प्रातिशाख्यों में ऋ और र् का स्थान 'मूर्धा' को नहीं माना गया है। इसका स्थान वहाँ दन्त्य, तालव्य और वर्त्स्य में से शिक्षा या प्रतिशाखानुसार निर्णीत किया गया है। 'लृ' को स्वर मानने के विषय में दो पक्ष होने के अतिरिक्त इसके उच्चारण-स्थान के विषय में भी मतभेद रहा है। इसमें 'लृ'का अंश स्वतन्त्र है या नहीं, अथवा इसके उच्चारण में 'ऋकार' का अंश रहना चाहिए या नहीं, आदि प्रश्नों पर विचार किया गया है। य्, व् के उच्चारण की विविध स्थितियों के सम्बन्ध में भी पर्याप्त खोजबीन की गई थी।[2] इनकी तीन-तीन स्थितियों की चर्चा याज्ञवल्क्य शिक्षा आदि में मिलती है।[3]

इसी तरह उच्चारण में 'द्वित्व' का नियम भी बहुत सूक्ष्मता से वर्णित हुआ है। यह नियम बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'ब्राह्मणों' के लिपिनिबन्धन में भी इन नियमों का अनुसरण करने की चेष्टा हमें दीखती है। इसको बिना समझे अशुद्धि का भी भय रहता है। कुछ स्थानों पर यह द्वित्व' सन्धिनियमों के अनुकूल हुआ है। वहाँ कुछ ध्वनिमूलक परिवर्त्तन भी सम्भाव्य रहता है। 'र' और 'ल' का अन्यान्य व्यंजनों से संयोग ऐसे ही परिवर्त्तित ध्वनिक्रम को जन्म देता है।

'अभिनिधान' और 'स्वरभक्ति' की बात इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'अनुस्वार' की स्थिति भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। स्वरभक्ति होने पर भी 'बोलियों' का भेद किस तरह उनके उच्चारण पर प्रभाव डालता है, यह बात

१. 'एंशेन्ट इण्डियन फोनेटिक्स' के रूप में।
२. वही, पृ० १२६।
३. या० १५० से आगे।

इन नियमों के अध्ययन के बाद ही स्पष्ट हो पाती है। प्राकृत, पालि और अपभ्रंश के 'वैदिक' और 'संस्कृत' के साथ तुलनात्मक अध्ययन से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। 'अभिनिधान' को बाद में 'पूर्वरूप' और 'पररूप' के रूप में विभक्त किया गया। किन्तु, वास्तव में यह परिभाषा 'समीकरण' आदि अन्य स्थितियों का भी अन्तर्भाव अपने में कर लेती है। इसके अधीन आने वाली बहुत सी स्थितियों को पाणिनि 'लोप' के द्वारा प्रमाणित करते हैं। 'अनुस्वार' की स्थिति को भी 'अनुनासिकीकरण' की तुलना में पढ़ने पर बहुत से नए सत्य सामने आएँगे।

स्वर-सम्बन्धी

ध्वनि-शास्त्र से ही सम्बद्ध अन्य समस्या स्वरों की है। इस सम्बन्ध में प्रातिशाख्य एकदम क्रियात्मक रहे हैं। सामवेदी के लिए उदात्तादि तीन स्वरों की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसका मुख्य कार्य है संगीतमय प्रस्तुतीकरण। किन्तु, स्वरूप और विषय की दृष्टि से ऋग्वेद का सम्बन्ध संगीत की सात मूर्च्छनाओं से कतई नहीं है। उसमें अर्थचेतना प्रधान है। उधर,यजुर्वेदी को अर्थचेतना से भी उतना ही प्रयोजन नहीं जितना संगीतमयता से। उसके लिए तो 'कर्म' या 'विधि' की पूर्णता आवश्यक है। उसके लिए उच्चारण का महत्त्व अपने ही ढंग का है और कदाचित् शेष दोनों से भिन्न है। इस बात को प्रातिशाख्यकारों ने समझ लिया था। वाजसनेय प्रातिशाख्य ने इसीलिए सात स्वरों से चलते-चलते एक स्वर पर आकर स्वरगणना की समाप्ति की है। यह बात 'स्वर' जैसे वैदिक समझे जाने वाले विषय के सम्बन्ध में भी उनकी व्यावहारिकता को बताती है। उधर 'सामतन्त्र' में केवल 'सात स्वरों' का ही वर्णन है; जबकि प्रातिशाख्यादि में उदात्तादि तीन स्वरों का ही वर्णन हुआ है। स्पष्ट है कि ध्वनिसम्बन्धी और स्वरसम्बन्धी अपने अन्वेषण में ऋषिगण क्रियात्मक और व्यावहारिक बुद्धि से ही अधिक प्रेरित थे।

व्याकरण में महत्त्व

'व्याकरण' के क्षेत्र में इस विषय की उल्लेखनीय प्रगति हमें केवल दो ही बातों में दिखाई देती है। प्रथम है वर्णों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में। प्रातिशाख्यों में वर्णों का वर्गीकरण वर्तमान वर्णमाला और वर्गों के अनुक्रम से हुआ है। किन्तु, आपिशलिशिक्षा और माहेश्वर वर्णसमाम्नाय की परम्परा

एक सर्वथा भिन्न वर्गीकरण से भी हमें परिचित कराती है। हम नहीं कह सकते कि 'प्रत्याहारों' की कल्पना पहले-पहल कब हुई ? किन्तु इतना तो निश्चित है कि 'माहेश्वर' या उनसे पूर्ववर्त्ती कोई 'अन्य' सूत्र ही इस परम्परा के आरम्भ का हेतु रहे होंगे। यह भी हम पहले कह आए हैं कि 'माहेश्वर सूत्रों' का ज्ञान सम्भवतः 'इन्द्र' और उसके परवर्त्ती उसी श्रेणी के वैयाकरणों को नहीं था। यदि था भी, तो उन्होंने उसका उपयोग नहीं किया। प्रातिशाख्यों का वर्णसमाम्नाय तो इस सत्य की साक्षी है ही। 'कातन्त्र' व्याकरण का वर्णसमाम्नाय भी इसी सत्य का उद्घोष कर रहा है कि वर्णसमाम्नाय की दो पद्धतियां उस समय चालू थीं। इनमें से 'ऐन्द्र' या 'प्रातिशाख्य पद्धति' का उद्देश्य ध्वनियों का वैज्ञानिक अध्ययन था, और दूसरी—'माहेश्वर'—पद्धति का उद्देश्य ध्वनियों के पारस्परिक सम्बन्ध और विनिमय को स्पष्ट करना था। प्रत्याहारों का जन्म इसी दूसरी पद्धति के कारण हुआ।

'वर्ग' (सवर्ण) और 'प्रत्याहार' दोनों की ही कल्पनाएँ भारतीय ध्वनिशास्त्र की संसार को अभूतपूर्व देन है। समस्त भाषावैज्ञानिक और ध्वनिशास्त्रीय अध्ययन इन दो वर्गीकरणों के कारण ही सूक्ष्मता के अपने उद्देश्य में अधिक समर्थ हो पाता है।

रचनात्मक व्याकरण-सम्बन्धी

इन्द्र ने बृहस्पति-प्रोक्त पदपाठमय अविभाग व्याकरण की निस्सारता देखी[1]। भरद्वाज ने अपने गुरु इन्द्र से आगे बढ़कर 'आख्यात' के स्वरूप और महत्त्व को समझा।[2] शाकटायन ने सब नामों के आख्यातज होने की बात उठाई[3] और इस प्रकार उणादिसूत्रों की रचना का आधार प्रस्तुत किया। प्रातिशाख्यों में इससे पूर्व ही, या इसके साथ-साथ ही, अवग्रह-प्रगृह्यादि की स्थिति पहचान ली गई थी। सन्धिनियमों को उनमें पूर्णता तक पहुंचा दिया गया था, भले ही पाणिनीय सूत्रों का सा संक्षेप उनमें न था। ऐसे कितने ही पूर्वोक्त सत्य बार-बार इस बात को दोहरा रहे हैं कि पाणिनि से पूर्व व्याकरण के शब्दरचनात्मक पक्ष का विकास पर्याप्त दूर तक हो चुका था।

---

१. म० १.१.१ : "बृहस्पतिश्च प्रवक्ता"।
२. भारद्वाजकमाख्यातम्। वा० प्रा०, अ० ८।
३. नि० १.६.१७.१ : "नामान्याख्यातजानीति"।

स्वयं पाणिनीय व्याकरण में आपिशलि, गार्ग्य, शाकटायन, गालव, शाकल्य आदि कितने ही आचार्यों के नाम से आने वाले सूत्र स्पष्ट करते हैं कि पूर्ववर्ती चिन्तन भी उसी पद्धति पर अग्रसर था। अन्तर था केवल सूक्ष्मता और पूर्णता का।

पर, कई स्थानों पर यह बात भी नहीं है। वहाँ हम दृष्टिकोण के अन्तर की बात कह सकते हैं। इन्द्र के अनुयायी 'पद' की परिभाषा करते थे : 'अर्थः पदम्' । उधर प्रातिशाख्यों में इसकी विविध रूप में परिभाषाएं हुईं : अर्थः पदम्,[१] अक्षरसमुदायः पदम्,[२] अक्षरं वा,[३] विभक्त्यन्तं पदम्,[४] आदि। पाणिनि इसी अन्तिम परिभाषा को ही निखार कर कहते हैं : सुप्तिङन्तं पदम् [५]। इनको एक-दूसरे के विरोध में रखकर नहीं पढ़ना चाहिए।

यह वैविध्य तीन प्रकार के दृष्टिकोण का परिणाम है। प्रथम अर्थ और आकार के अन्तर पर बढ़ता है। द्वितीय केवल रचनातत्त्व को देखना है। और तृतीय शब्द के प्रयुक्त और अप्रयुक्त रूप में अन्तर को ध्यान में रखकर बढ़ता है। ये तीनों भिन्न दृष्टिकोण व्याकरणसम्बन्धी चिन्तन की तत्कालीन प्रौढ़ता को बताते हैं।

आज पश्चिम में 'आकार' और 'भावना' की एकता या विविधता पर विचार बढ़ता जाता है। एक ओर सूक्ष्म और वैज्ञानिक अध्ययन की रट लगाने वाले दोनों को अलग-अलग मानकर नए-नए विस्तारों की खोज में लगे हुए हैं, किन्तु दूसरी ओर दार्शनिक चिन्तन को अपनाकर 'समग्रता' की खोज में बढ़ने वाले वैज्ञानिक इन दोनों की एकता पर बल दे रहे हैं। व्याकरण भी इन दोनों के अन्तर का रहस्य जानने को सदा उत्सुक रहा है।

यह हमारा दुर्भाग्य है कि इस प्राचीन व्याकरण के परिचय के लिए हमें यत्र-तत्र आए उल्लेखों पर ही आश्रित रहना पड़ रहा है। प्रामाणिक रूप में प्रातिशाख्य और शिक्षादि को छोड़कर कोई भी अन्य व्याकरण-ग्रन्थ आमूल सुरक्षित नहीं रह पाया है। काशकृत्स्न के 'धातुपाठ' में भी यदि कुछ सूत्र उनके व्याकरण के सुरक्षित न रह जाते, तब सम्भवतः इस विषय में

---

१. वा० प्रा० ३.२; तथा निरुक्तवृत्ति, दुर्ग, पृ० १०।
२. वा० प्रा० ८.४६।
३. वा० प्रा० ८.४७।
४. आपिशलीय मत।
५. पा० १.४.१४।

हमारा ज्ञान और भी कम होता। काशकृत्स्न का धातुपाठ और आपिशलि के गणपाठ का संकेत इस बात के प्रमाण हैं कि पाणिनि-पूर्व युग में भी विचार का स्तर पाणिनि के समकालीन या उत्तरकालीन विचार के स्तर से कम न था।

'कातन्त्र' की साक्षी पर एक सत्य उस व्याकरण के विषय में यह सामने आता है कि प्रायः जिस 'शिक्षा' को हम 'आपिशल शिक्षा' आदि के रूप में कहते हैं, सम्भव है वह बहुत से तत्कालीन व्याकरणों का आरम्भिक और अविच्छेद्य अंग रही हो। क्योंकि, वहां माहेश्वर सूत्रों का स्थान वर्ण-समाम्नाय के शिक्षाप्रोक्त सूत्रों ने ही ले रखा है। यह परम्परा प्रातिशाख्यों से भी पुष्ट होती है। कातन्त्र-प्रोक्त सन्धि-नियम भी एक रहस्योद्घाटन करते हैं। वह यह कि कदाचित् उस युग में प्रत्याहारों की पद्धति नहीं थी। अन्यथा 'इको यणचि', 'एचोऽयवायावः', आदि जैसे लघुसूत्र बड़ी सरलता से बन सकते थे। इन 'सूत्रों' के स्थान पर प्रत्याहारों के अभाव में उन्हें कई-कई सूत्र बनाने पड़े हैं। अतः उन व्याकरणों के सुदीर्घ होने का एक कारण प्रत्याहारों का अभाव भी है।

पाणिनीय सूत्रों के कुछ प्रमाणों के आधार पर यह भी कहा जासकता है कि पहले माने जाने वाले 'सुप्' और 'तिङ्' प्रत्ययों के नाम या पाठ भी भिन्न माने गए थे : आङ्, औङ्, आदि। पारिभाषिक संज्ञाएं भी स्वभावतः भिन्न थीं। 'धातु' और 'आख्यात' का उदाहरण इस विषय में पर्याप्त है। संज्ञाएं ये दोनों ही विद्यमान थीं, किन्तु इनमें से 'आख्यात' का प्रयोग पारिभाषिक रूप में अधिक होता था।

प्रातिशाख्यों की साक्षी पर ऐसा भी कहा जा सकता है कि उस व्याकरण में सम्भवतः, नुम्, अट्, आदि के मध्यवर्ती आगमों को आगम के रूप में न मानकर उच्चारणगत सौकर्य का विषय मान लिया जाता था। इसीलिए इन्हें दीर्घीकरण, अनुनासिकीकरण, आदि समस्याओं के रूप में स्वीकार किया जाता था। 'भवाति' में मध्यस्वर 'अ' दीर्घ हुआ है, ऐसा कहना उन्हें अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता था, न कि 'आट्' का आगम बताना आदि।

ये कुछ तथ्य ही उस युग के रचनात्मक व्याकरण के स्वरूप से हमें परिचित कराते हैं। इस सम्बन्ध में इतना कह देना और समुचित रहेगा कि नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात के रूप में 'चत्वारि पदजातानि' की धारणा, 'कर्मोपसंग्रहार्थीय' के रूप में 'कर्मप्रवचनीय' की मान्यता, एवं समासचतुष्टय,

कृत्, तद्धित, तिङ्, आदि का विभाग भी पाणिनि से पूर्व ही पूरी तरह स्वीकार किया जा चुका था।[1] कुछ लोगों ने इन सब नामों को एक-साथ देख कर 'वाजसनेय प्रातिशाख्य' और उसके कर्त्ता कात्यायन को पाणिनि का उत्तरवर्त्ती कह दिया। किन्तु हम यहां इतना ही संकेत देना चाहेंगे कि प्रातिशाख्यकार कात्यायन 'प्रातिपदिक' के स्थान पर 'शब्दमय' संज्ञा का प्रयोग करता है और उसमें तिङ् का ग्रहण करता है।[2] परन्तु वार्त्तिककार कात्यायन ऐसा कुछ नहीं कहता।

इस प्रकार पाणिनिपूर्व व्याकरण अपने विस्तार और व्यापकता में उतना ही विशाल था, जितना अपनी उपलब्धियों में। अतः पाणिनि के चमत्कारी प्रयत्नों का आधार पूरे रूप में पहले से ही प्रस्तुत हो चुका था।

दार्शनिक विवेचन

यास्क, व्याडि, कात्यायन और पतंजलि की साक्षी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भाषा के सम्बन्ध में दार्शनिक विचार की परम्परा को पाणिनि से पूर्व से ही बल मिल रहा था। 'निरुक्त' इस बात की पुष्टि औदुम्बरायण, कौत्स, शाकटायन, शाकपूणि आदि आचार्यों के उल्लेख के द्वारा करता है। औदुम्बरायण 'स्फोट' या 'प्रातिभ ज्ञान' की अखण्डता के सबसे बड़े समर्थक थे। 'इन्द्रियनित्यं वचनम्, तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते'[3] की धारणा औदुम्बरायण ने ही सर्वप्रथम दी थी। उनका यह मत वाणी के 'ध्वनि-पक्ष' के लिए था। वे वाणी के नामाख्यातादि बाह्यविभाग की अपेक्षा उसके अखण्ड्य और अविभाज्य स्वरूप को नित्य मानते थे। वाणी की इस अखण्डता का आधार है : वाक्य। और यह वाक्य शब्दों या ध्वनियों का परिणाम न होकर बुद्धिस्थ किन्हीं भावनाओं का परिणाम है। भावनाएं शब्दों की ध्वन्यात्मक अनित्यता की तुलना में अधिक नित्य और असीम होती हैं। अतः 'वाक्य' की बुद्धिगत अखण्डता, नित्यता और एकता को देखकर ही औदुम्बरायण ने इस प्रयास का उपहास किया था कि हम शब्द और ध्वनि को उसकी तुलना में अधिक महत्त्व दें! औदुम्बरायण के इस आशय को स्पष्ट करने का श्रेय भर्तृहरि को ही जाता है[4]। इस प्रकार वाक्य की अखण्डता और बाह्य ध्वनि की अनित्यता

---

१. वा० प्रा० १.२७ में 'शब्दमय' की परिभाषा।

२. वही।

३. नि० १.१.१.२।

४. वा० २.३४३।

या विभाज्यता की बात पर बहुत पहले ही विचार आरम्भ हो गया था और एक प्रौढ़ता तक पहुंच गया था। यह उपलब्धि आज के भाषावैज्ञानिक अध्ययन की तुलना में पर्याप्त महत्त्व की है। इससे ही कात्यायन के 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'[१] को आधार मिला।

यास्क कहते हैं: 'अर्थनित्यः परीक्षेत[२]', और शाकटायन कहते हैं: 'नामाख्यातजानि'[3]। इन दोनों उक्तियों में बड़ा गहरा सम्बन्ध है। हम कह आए हैं कि ऐसी उक्तियों के आधार पर ही 'उणादिसूत्रों' की रचना हुई। प्रकृति-प्रत्यय का विभाग भी इन्हीं धारणाओं पर आश्रित था। 'प्रकृति' का 'आख्यात' या 'धातु' के रूप में आभास हमें 'निरुक्त' से मिल जाता है। किन्तु, 'प्रत्यय' के विषय में निश्चित संकेत वहां से नहीं मिलते। सम्भवत: ऐसा करना उसके क्षेत्र में नहीं आता था। पर, प्रत्ययों का अस्तित्वसंकेत आपिशलि, काशकृत्स्न, भारद्वाज, आदि अन्यान्य आचार्यों के नाम से मिल जाता है। मुख्यता है उस धारणा की, जिसके आधार पर किसी भी शब्द को 'अर्थवान्' होने के कारण व्याकरण का विषय मान लिया गया। 'अर्थ' और 'धातु' के सम्बन्ध में ये धारणाएं कितनी आधुनिक और कितनी क्रांतिकारी हैं!

कौत्स की 'अनर्थका हि मन्त्राः'[४] वाली धारणा को यहां प्रसंगबाह्य कहा जाएगा। किन्तु, वास्तविकता यह है कि इस धारणा ने एक महान् चुनौती को विचारकों के सामने प्रस्तुत किया। इसके प्रत्युत्तर में जो कुछ सुनने को मिला, वह अत्यन्त अद्भुत एवं चमत्कारी था। आज का कोई व्यक्ति वैसी बात कहे, तो कहने वाले को धर्माधिकारी धर्मबाह्य घोषित कर दें! उनका सर्वाधिक बल था 'लोकसामान्यात्' पर। हर बात को यास्क इसी युक्ति पर लाकर समाप्त करते हैं कि 'भाषा' या 'लोक' में भी तो ऐसा पाया जाता है। अर्थात् लोकप्रामाण्य ही वेदमन्त्रों की सार्थकता का खरा प्रमाण है।

इस सम्बन्ध में जो अन्य अनेक युक्तियां दी गई हैं, वे 'वाक्' और 'अर्थ' के इस शाश्वत सम्बन्ध को पुष्ट करने वाली ही हैं। इसी प्रसंग में 'विरुद्धार्थ-

---

१. म० १.१.१ वार्तिक १, वा० १.२३।
२. नि० २.१.३।
३. नि० १.६,१७।
४. नि० १.५.१५।

कता', 'अधिकप्रयोग' आदि वे भाषावैज्ञानिक सिद्धान्त आविष्कृत हुए, जिन पर आधुनिक भाषावैज्ञानिक 'आधुनिकता' की छाप लगाकर अपना गौरव अनुभव करते हैं।

'अर्थनित्यः' की धारणा यह संकेत देती है कि उस समय 'शब्दनित्यः' जैसी धारणा भी अवश्य चली होगी। यह बात इससे भी पुष्ट होती है कि औदुम्बरायण के 'इन्द्रियनित्यं वचनम्' को तभी सावकाश कहा जा सकता है, जब इससे विपरीत भी कोई धारणा प्रचलित रही हो ! इन दोनों का समाहार खोजने के प्रयास में वाजप्यायन और व्याडि ने 'शब्द' को क्रमशः 'आकृति', 'द्रव्य' और 'गुण' कहा था। और, इसी के प्रत्युत्तर में 'शब्दबिम्ब' या 'शब्दसंकेत' की वह धारणा जगी थी, जिसे पतंजलि ने 'येनोच्चरितेनेह[1]' आदि के रूप में और भर्तृहरि ने 'यस्मिंस्तूच्चरिते' के रूप में स्पष्ट किया था।[2] शब्द की नित्यता-अनित्यता का परवर्त्ती प्रसंग भी इन्हीं धारणाओं के प्रत्युत्तर में जागा था। कात्यायन का 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' वार्त्तिक इस बात को पुष्ट करता है कि उससे बहुत पहले ही यह धारणा बद्धमूल हो चुकी थी कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सहजात, नित्य और स्वाभाविक है। व्याडि इस सत्य को और भी स्पष्ट रूप में कह चुके थे : 'सम्बन्धस्य न कर्त्तास्ति'।[3]

वर्ण, पद या वाक्य की अर्थवत्ता और उनकी विभाज्यता-अविभाज्यता को लेकर भी बहुत प्रौढ़ चिन्तन तब तक हो चुका था। पद की परिभाषा में जब 'अक्षरं वा'[4] कहा गया, तब स्पष्टतः 'अर्थः पदम्[5]' की अपनी ही परिभाषा से प्रातिशाख्यकार को अन्तर्विरोध अभीष्ट न था। 'विभक्त्यन्तं पदम्' भी उसी अर्थैक्य की भावना से ही कहा गया था। 'वर्णानामर्थवत्त्वं न वा'[6] का प्रश्न केवल कात्यायन और पतंजलि के सामने ही न आया था। किन्तु, इस सबका ब्यौरेवार लेख हम तक निरुक्त, ब्राह्मण और प्रातिशाख्यादि के माध्यम से भी छन-छन कर पहुंचा है। हालांकि, इससे कहीं अधिक प्रौढ़ विचारों का संकेत हमें स्वयं ऋग्वेदादि के प्रमाण से ही मिल जाता है। पर, उस

१. न० १.१.१।
२. वा० २.३२९।
३. भर्तृहरि और उसके टीकाकारों द्वारा उद्धृत व्याडि का वचन।
४. वा० प्रा० ८.४७।
५. वा० प्रा० ३.२।
६. म० १.१.२।

'अपौरुषेय' प्रमाण को स्वयं 'प्रमाण' मानने में जिन्हें शंका हो, वे और भी अधिक ठोस प्रमाण की आशा रखते हैं।

उपसंहार

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि व्याकरण की प्रगति की दृष्टि से पाणिनि-पूर्व युग का उसके सर्वांगीण विकास में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उसका भौतिक प्रमाण हमें ग्रन्थों के रूप में सुरक्षित भले ही न मिले, किन्तु जो प्रमाण हमें अन्यत्र उद्धरणों के रूप में या संकेतों के रूप में मिलते हैं, वे कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

दूसरे शब्दों में, पाणिनि के आगमन से पूर्व व्याकरण के रचनात्मक और दार्शनिक—दोनों—पक्षों के लिए सुदृढ़ आधारभूमि प्रस्तुत हो चुकी थी। आने वाले युग का कार्य उस आधारभूमि ने सरल कर दिया।

———

पाणिनि युग : पाणिनि

आरम्भिक

व्याकरण के क्षेत्र का महामानव और भारतीय प्रतिभा का अप्रतिम चमत्कार पाणिनि जो देन केवल अपनी 'अष्टाध्यायी' के माध्यम से दे गया, वह और उतनी महत्त्वपूर्ण देन किसी एक मस्तिष्क ने कदाचित् ही विश्वसाहित्य में दी होगी। उसके विश्लेषण और परिणामों का साम्मुख्य आज के युग का कम्प्यूटर ही कदाचित् कर सकता है। पूर्णता उसके व्याकरण की विशेषता है और सहीपन उसका लक्ष्य। एक भी मात्रा को बचाने की धुन उसे व्याकरण का सबसे बड़ा अर्थशास्त्री बनाती है, तो उधर किसी भी उचित सम्मति को बिना उद्धरण के स्वीकार न करने की उसकी सतर्कता उसे सर्वाधिक योग्य नेता के रूप में प्रस्तुत करती है। उसका सब कुछ अपना मौलिक नहीं है। किन्तु उसे प्रस्तुत करते समय वह 'पराया माल' सोचकर प्रस्तुत नहीं करता। उसने जिस अक्षर का भी प्रयोग किया है, उसका उत्तरदायित्व भी उसने स्वयं वहन किया है। परिणाम यह कि उसके प्रत्येक अक्षर पर होने वाली समीक्षा उसकी अपनी समीक्षा है। उसकी तथाकथित प्रत्येक अपूर्णता उसकी अपनी अपूर्णता हैं। उसका दोष किसी और पर नहीं दिया जा सकता। तब उसके द्वारा व्यक्त सभी मतों और उनकी अच्छाइयों का श्रेय भी उसे ही क्यों न दिया जाए ?

नेतृत्व

हमने कहा कि वह 'नेता' है। यह सत्य ही है। क्योंकि, जितना विशाल अनुगमन उसका हुआ है और जितनी खोजबीन उसकी हुई है, उतनी किसी अन्य प्रतिभा की नहीं हुई। उसने अपने से पूर्वनिर्मित सभी व्याकरण-वाङ्मय को आत्मसात् करके उसके समन्वित रूप को तो प्रस्तुत किया ही, किन्तु एक ऐसी सुनिश्चित सरणि का भी निर्माण किया, जिसे उसके बाद आने वाले किसी भी वैयाकरण के लिए लाँघ जाना असंभव हो गया। रचना-प्रक्रिया के नियम-निर्माण में उसने जिस विशाल-हृदयता का परिचय दिया है, वैसी बड़े-बड़े नेताओं के लिए भी असम्भव रहती है। उसकी निगाह में आने पर कोई समस्या या शब्द उसका ध्यान खींचे बिना नहीं रह सका। इसीलिए

उसकी मीनमेष करने वालों को अत्यधिक सतर्क रहकर काम करना पड़ा। पर, उनमें सफल कम ही हो पाए हैं।

समय

इस विषय में हम अपना मत पहले ही व्यक्त कर आए हैं। भण्डारकर, बेल्वेल्कर एवं अन्य कुछ विद्वानों द्वारा मान्य ३५० ई० पू० से लेकर वेबर, थीमे आदि अन्य विद्वानों द्वारा मान्य ८०० ई० पू० के बीच हमने गोल्ड-स्टुकर के प्रमाण में वज़न देखकर ७००ई०पू० के आसपास पाणिनि का समय निश्चित किया है। इससे अधिक इधर मानने से और बहुत-सी गड़बड़ें खड़ी हो जाती हैं। निश्चय ही श्री मीमांसक की सरणि न मानने में हम लाचार हैं। इतिहास के विषय में उनके आधारों की त्रुटि हम आरम्भिक अध्याय में ही दिखा आए हैं। पाणिनि को कुछ अर्वाचीन मान लेने से हमारी भारतीयता में कोई कमी नहीं आती। बल्कि सत्य के विनिश्चय के लिए अधिक सम्भावनाएँ ही प्रस्तुत हो जाती हैं।

अप्रोक्त युग साथी : व्याडि और शौनक

यह विषय भी पर्याप्त विवाद का रहा है। पाणिनि ने अपने से पूर्व के कई आचार्यों का नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किया है। अनेक का स्मरण बिना नामोल्लेख के ही किया है। किन्तु, उनमें से कितने उसके युग के समवर्त्ती हैं, यह बात स्पष्ट नहीं हो पाती। मीमांसक ने उन अप्रोक्त वैयाकरणों में से व्याडि को पाणिनि के ज्येष्ठ साथियों में रखा है। उनके अनुसार वे पाणिनि से कुछ वर्ष पहले से काम आरम्भ कर चुके थे और पाणिनि के समय में भी उपस्थित थे। उन्होंने उसे पाणिनि का **मामा** भी माना है। साथ ही उन्होंने व्याडि को पाणिनि की माता से पर्याप्त छोटा माना है।

इस सब कल्पना का आधार है 'दाक्षायण' शब्द। हम इस शब्द पर पीछे व्याडि पर ही विचार करते हुए कह आए हैं कि प्रथम तो यही आवश्यक नहीं कि यह नाम पौत्र या गोत्र के अर्थ में ही रूढ़ रहा हो। यह तद्धितान्त मौलिक नाम भी हो सकता है। फिर, गोल्डस्टुकर[1] और दूसरे कुछ विद्वान् इसी शब्द से 'गोत्र' का अर्थ लेते हुए व्याडि को पाणिनि से बहुत परवर्त्ती मानते हैं। कात्यायन ने क्योंकि व्याडि का उल्लेख प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में नहीं किया है, अतः वे कात्यायन को भी व्याडि से पूर्ववर्त्ती मानते हैं। हम

---

१. गोल्ड०, पाणिनि, पृ० २४५।

कह चुके हैं कि कात्यायन ने व्याडि का अनुकरण सही रूप में किया है। पाणिनि के क्रम का उन्होंने सीमित रहकर अनुगमन नहीं किया है। विशेषकर महाभाष्यकार ने पाणिनि के सूत्रों और कात्यायन के वार्त्तिकों पर जो आलोचनात्मक कलम उठाई है, उसकी सरणि व्याडि के 'संग्रह' की लीक पर ही निश्चित हुई है।[1] लगता है, उनकी दृष्टि में व्याडि का निर्णय अधिकांश स्थलों पर चरम प्रमाण रहा है।

समस्या क्यों ?

व्याडि को पाणिनि का समकाल या पूर्ववर्त्ती सिद्ध करने का अब तक का सारा प्रयत्न इसलिए किया जाता रहा है कि ऋक्प्रातिशाख्य में व्याडि का नामोल्लेख हुआ है। इसी आधार पर शौनक को भी पाणिनि का समकाल सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। पर, पाणिनि का उल्लेख एक बार भी शौनक ने नहीं किया है, जब कि पाणिनि ने गणपाठ में 'शौनक' नाम का पाठ किया है। अतः यह कहा जाता है कि वह कदाचित् 'ऋक्प्रातिशाख्य' की रचना पाणिनि के व्याकरण की रचना से पूर्व ही समाप्त कर चुका होगा। दूसरी ओर, शौनक का उल्लेख अन्य कई प्रातिशाख्यों में भी है।

इसका अर्थ यह हुआ कि वे सभी पाणिनि के बाद के माने जाने चाहिएँ। पर, इससे एक समस्या सामने आ जाती हैं : व्याडि के जो मत 'ऋक्प्रातिशाख्य' में उल्लिखित हैं, क्या वे सारे 'संग्रह' के ही हैं या अन्य किसी ग्रन्थ के ? 'संग्रह' के उपलब्ध वचनों से तो इस विषय में कुछ निश्चय नहीं हो सकता। हाँ, उसके लिए 'महाभाष्य' की छानबीन करनी पड़ेगी। पर, शौनक द्वारा गिनाए गए **अन्य आचार्यों** का तब क्या होगा ? उनमें से सभी का उल्लेख तो पाणिनि ने नहीं किया है।

अभिन्नता और भिन्नता—यदि शौनक ने अपना प्रातिशाख्य पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' से पहले बना लिया था, तब तो व्याडि पाणिनि से पूर्व ही किसी व्याकरण की सृष्टि भी अवश्य कर चुके थे। और, यदि यह सत्य है, तब उन्हें पाणिनि का समवर्त्ती मानने की ज़िद करने का क्या लाभ ? पर यदि संग्रहकार व्याडि हर दशा में परवर्त्ती ही थे, तो 'ऋक्प्रातिशाख्य' में उल्लिखित व्याडि को 'संग्रहकार' से अभिन्न सिद्ध करने की ज़िद क्यों ? 'व्याडि' नाम भी कात्यायन, दाक्षायण, आदि की भाँति तद्धितान्त ही

---

१. भर्तृहरि 'महाभाष्य' को 'संग्रहप्रतिकुञ्चक' मानते हैं। वाक्य० २.४८१।

है। अपत्यार्थक होकर भी यह 'व्यक्तिवाचक संज्ञा' है। जिस प्रकार याज्ञवल्क्य, गौतम, काश्यप, आदि नाम अनेक व्यक्तियों के स्वीकार किए जाते हैं, उसी प्रकार यास्क, व्याडि, कात्यायन आदि नामों की अनेकता और परस्पर भिन्नता स्वीकार करना आपत्तिजनक क्यों माना जाता है ?

प्रामाणिक आधार—अच्छा हो कि इन प्रश्नों का निर्णय वस्तुपरीक्षा के प्रामाणिक आधार पर हो, न कि नामोल्लेखादि के अप्रामाणिक आधार पर। अप्रामाणिक इसलिए कि एक बार रचे ग्रन्थों का कई-कई बार प्रतिसंस्कार भी हुआ है। उनमें से कौन से प्रतिसंस्कार में किस आचार्य का उल्लेख समाविष्ट हो गया, कौन कह सकता है ? अतः सुरक्षित पथ यही है कि हम अन्य प्रमाणों की भी परीक्षा करके ही कालनिर्णय जैसे प्रश्न पर विचार करें।

हमारा मत

हमारी दृष्टि में शौनक यास्क से भी पूर्ववर्ती हैं। यास्क निश्चय ही पाणिनि से प्राचीन हैं। अतः प्रातिशाख्योक्त 'व्याडि' को संग्रहकार 'व्याडि' से अभिन्न ठहराकर नई-नई समस्याएँ खड़ी करने का कोई लाभ नहीं। 'व्याडि' शब्द की सिद्धि पाणिनि एक गण[1] में 'व्यड' शब्द को पढ़कर बताते हैं। 'दाक्षायण' की व्युत्पत्ति वे एक अन्यसूत्र से सम्भव मानते हैं।[2] इससे तो यही सिद्ध होता है कि 'व्याडि' और 'दाक्षायण' नाम उनके व्याकरण रचने से पूर्व प्रसिद्ध हो चुके थे। किन्तु, पतंजलि और भर्तृहरि के कुछ उल्लेखों, एवं मध्यवर्ती और परवर्ती वैयाकरणों के हवालों, से यह स्पष्ट है कि 'संग्रह' का निर्माण 'अष्टाध्यायी' के लगभग समकाल या बाद में ही हुआ है। कात्यायन व्याडि से अवश्य परवर्ती हैं। कम से कम परम्परा की मान्यता यही है।

कौत्स और पिंगल

अप्रोक्त आचार्यों में से विचार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण पिंगल और कौत्स का नाम और शेष रह जाता है। इनमें से कौत्स की पहिचान निश्चित करते हुए मीमांसक एक नए परिणाम पर जा पहुँचे हैं। वे लिखते हैं : "यास्क निरुक्त (१/१५) में कौत्स का उल्लेख करता है। महाभाष्य (३/२/१०८) के अनुसार कौत्स पाणिनि का शिष्य था : "उपसेदिवान् कौत्सः

---

१. पा० ४.१.८० के गण में।
२. पा० ४.१.८२ के गण में।

पाणिनिम् १।" निरुक्त (१/१५) में यास्क कौत्स का स्मरण इस प्रकार करते हैं : "मन्त्रार्थप्रत्ययाय अनर्थकं भवतीति कौत्सः। अनर्थका हि मन्त्राः।" ...इत्यादि।

कौत्स के इस उल्लेख में दो बातें आई हैं। प्रथम—निर्वचन या निरुक्ति का प्रयोजन मन्त्रों का अर्थप्रत्यय करना नहीं है। द्वितीय—वैदिक मन्त्रों की रचना अर्थ की दृष्टि से नहीं हुई। ये दोनों ही बातें 'व्याकरण' के महत्त्व से सम्बद्ध नहीं है। स्वयं मीमांसक मानते हैं कि 'रघुवंश' में उल्लिखित वरतन्तुशिष्य 'कौत्स' इस पाणिनिशिष्य 'कौत्स' से भिन्न है। फिर, वेदों की अनर्थकता की बात कहने वाला कौत्स पाणिनिशिष्य कौत्स ही है, इसका कोई अन्य प्रमाण भी नहीं है।

मीमांसक इन दोनों में विभेदक सीमा मानते हैं 'वरतन्तुशिष्य' शब्द को। किन्तु, उनकी दृष्टि में 'रामायण' पाणिनि से बहुत पहले बन चुकी थी। अतः तत्र प्रोक्त वरतन्तुशिष्य यास्क द्वारा प्रोक्त 'कौत्स' से भिन्न होना चाहिए।

परन्तु, क्या यह 'कौत्स' भी वरतन्तुशिष्य ही नहीं हो सकता? सम्भव है, वेदमन्त्रों की अनर्थकता की बात इस रामायणकालीन कौत्स ने ही उठाई हो। यास्क निश्चय ही अपनी अपेक्षा किसी पर्याप्त प्राचीन आचार्य का उल्लेख कर रहे हैं। निरुक्त-रचना का उद्देश्य बताते हुए इस बात को कहने का अर्थ है, निरुक्ति-प्रक्रिया के आरम्भ से पूर्व उठाई गई आपत्तियों का उल्लेख करना। 'वेदमन्त्रों की अनर्थकता' के सिद्धान्त ने ही कदाचित् निरुक्ति-प्रक्रिया और निरुक्त-रचना के लिए विद्वानों को प्रेरित किया। अतः मीमांसक की रीति से यास्कप्रोक्त 'कौत्स' को पाणिनि का शिष्य सिद्ध करने से कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि न होगी। यदि कौत्स नाम अनेक का हो सकता है, तब पाणिनीय कौत्स अन्यों से पृथक् ही क्यों न माना जाए?

मीमांसक का भ्रम

परन्तु, इस प्रमाण के आधार पर ही वे एक अन्य भ्रामक निर्णय पर भी पहुँच जाते हैं कि पाणिनिशिष्य कौत्स को इतनी प्रधानता देने वाले यास्क यदि पाणिनि से उत्तरवर्त्ती नहीं हैं, तो उसके समकाल अवश्य हैं। उधर, वेबर आदि का कहना यह है कि पाणिनि से पर्याप्त पहले 'प्रातिशाख्य' बन चुके थे, जबकि कुछ अन्य विद्वानों की राय में यास्क से पहले उनके बनने के प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। ऐसा लगता है कि मीमांसक के उद्धरण और मत

१. मी०, भा० १, पृ० १३७।

गोल्डस्टुकर के विश्लेषण पर आधारित हैं। शौनक, यास्क, कात्यायन और व्याडि के विषय में गोल्डस्टुकर ने ही ये शंकाएँ प्रथमतः उठाई थीं। पर, हम इस बात को स्पष्ट कर चुके हैं कि केवल नामसाम्य के चक्कर में न पड़कर विषयतत्त्व की विवेचना को ही आधार बनाना चाहिए। आश्चर्य है कि प्रतिज्ञा तो गोल्डस्टुकर भी यही लेकर चले हैं, किन्तु उसका निर्वाह वे उतनी सतर्कता से नहीं कर पाए। शंका सर्वत्र यही उठती है कि शौनक, यास्क और व्याडि में से एक ने भी, बल्कि अन्य प्रातिशाख्यों ने भी, पाणिनि को कहीं स्मरण नहीं किया। क्या यह गलती से हुआ या जानबूझ कर?

पिंगल परवर्त्ती

पिंगल के विषय में सब एकमत हैं। वे पाणिनि के परवर्त्ती ही हैं। परन्तु अपने सूत्र पा० ४/१/९२ और १०५ में पाणिनि एक गण में 'पिंगल' नाम भी गिनाते हैं। यह शंका स्वाभाविक है कि यह नाम किसी पूर्ववर्त्ती या समकालिक व्यक्ति की ही सूचना दे सकता है। पर, श्लोकबद्ध 'पाणिनीय शिक्षा' की टीका 'शिक्षाप्रकाश' में शिक्षा का कर्त्ता 'पाणिनि के अनुज पिंगल' को माना गया है। यह पिंगल ही 'छन्दः शास्त्र' के आदि प्रणेता भी माने गए हैं। इन पिंगल का उल्लेख पंचतन्त्र के एक श्लोक में पाणिनि और जैमिनि के साथ आया है, जिसमें इन तीनों की मृत्यु को क्रमशः सिंह, हस्ति और मकर द्वारा होती बताया गया है।[1] इस विषय में अधिक विवाद की आवश्यकता भी निष्प्रयोजन ही है।

अन्य युग-साथी

परन्तु इन तीन के अतिरिक्त अन्य भी अनेक आचार्य पाणिनि के समकालीन रहे होंगे, यह निश्चित है। पंचतन्त्रकर्त्ता विष्णुशर्मा, आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ सुश्रुत के प्रणेता धन्वन्तरि और अन्य अनेक आचार्यों को उनका समकालीन माना जाता है। बहुत सी ऐसी बातें इस मूल से उठी हैं कि सम्भवतः इन सबका सम्बन्ध तक्षशिला विश्वविद्यालय से था। तब क्या चाणक्य को भी पाणिनि का समकालिक माना जाए? तक्षशिला का महत्त्व सदियों तक रहा था। वह काशी के समान ही पश्चिमोत्तर भारत का विशालतम अध्ययन केन्द्र था। उसके साथ सम्बद्ध रहे सभी आचार्यों को प्रमाण के बिना एक ही काल का मान लेना ठीक नहीं है।

---

१. पंच०, मि० सं० ३६।

निश्चय ही इन समकालीन आचार्यों में अनेक वैयाकरण भी रहे होंगे। पाणिनि अनेकत्र एकेषाम्, अन्येषाम्, प्राचाम्, आदि के उल्लेख द्वारा अनेक अनुल्लिखित आचार्यों का स्मरण करते हैं।

अष्टाध्यायी में उल्लिखित आचार्य

औदुम्बरायण

कहा जा चुका है कि पाणिनि ने दस आचार्यों का उल्लेख नामसहित अपनी अष्टाध्यायी में किया है। ये दस हैं : आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक और स्फोटायन। इनमें से कुछ प्रमुख वैयाकरणों का परिचय हम पहले दे आए हैं। यहाँ स्फोटायन के सम्बन्ध में हमें इतना और कहना है कि भरतमिश्र और हरदत्त की साक्षी पर स्फोटवाद का प्रवर्त्तक औदुम्बरायण को जो स्वीकार किया गया है, वह ठीक ही है। भर्तृहरि का साक्ष्य भी इस विषय में यही है। महाभाष्य और त्रिपदी टीका में भी स्फोट की अपेक्षा 'ध्वनि' को गौण और अनित्य माना गया है। अतः औदुम्बरायण का उल्लेख निरुक्त में जो ध्वनि को अनित्य बताते हुए किया गया है, वह 'पूर्वपक्ष' जैसी बात नहीं है। बल्कि, वह सत्य पक्ष ही यास्क को भी अभिमत है। उस युक्ति पर चलकर ही 'तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते[1]' की धारणा स्थापित की गई। अतः 'स्फोटायन' नाम से सम्भव है पाणिनि का अभिप्राय 'औदुम्बरायण' से ही रहा हो। सम्भव है कि उनका ही वैयाकरण-नाम 'स्फोटायन' पड़ गया हो[2]।

भारद्वाज

भारद्वाज का उल्लेख भी कुछेक ही सूत्रों में हुआ है।[3] किन्तु, पातंजल महाभाष्य में भारद्वाजीयों का उल्लेख अनेकत्र मिलता है। 'भारद्वाज' का उल्लेख तैत्तिरीय और मैत्रायणीय प्रातिशाख्य में भी मिलता है। अतः उन्हें पाणिनिपूर्व स्वीकार करने में कोई अड़चन नहीं है। किन्तु, महाभाष्यप्रोक्त 'भारद्वाजीय' पाणिनि के उत्तरवर्त्ती भी हो सकते हैं, क्योंकि वे एक परम्परा का संकेत करते हैं। हाँ, उनके उल्लेख से यह अवश्य पुष्ट होता है कि पाणिनि के बाद भी व्याकरण की अनेक धाराएँ पर्याप्त समय तक चलती रहीं।

---

१. नि० १.१.२।
२. पा० ६.१.१२१।
३. पा० ४.२.१४५, ७.२.६३ आदि।

पाणिनि

विविध नाम

'त्रिकाण्डशेष' में पुरुषोत्तमदेव ने पाणिनि के छह नाम पर्याय रूप में दिए हैं—पाणिनि, पाणिन, दाक्षीपुत्र, शालङ्कि, शालातुरीय और आहिक ! इनमें से प्रसिद्ध नाम दो ही हैं—दाक्षीपुत्र, पाणिनि। इनमें से 'पाणिनि' को व्यक्तिगत नाम कहा जाता है। इसी नाम से वे प्रसिद्ध भी हैं। किन्तु, दूसरी ओर, इसको 'पणिनोऽपत्यम्' कहकर अपत्यवाचक तद्धितान्त संज्ञाशब्द भी सिद्ध किया जाता है। यदि ऐसा है, तब इसे 'व्यक्तिवाचक' नाम स्वीकार नहीं किया जा सकता। तब यह 'अपत्यार्थक' ही होगा। पर, हम पहले ही कह आए हैं कि तद्धितान्त नाम व्यक्तिगत भी हो सकते हैं। सम्भव है कि कुछ वैयाकरणों ने 'पाणिनि' नाम की सिद्धि तद्धित प्रत्यय से करने में कुछ महत्त्व देखा हो। किन्तु कात्यायन, पतंजलि आदि किसी पूर्वाचार्य से ऐसा संकेत न पाने के कारण यह प्रयत्न केवल अनुमान पर आधारित ही कहा जा सकता है। 'पाणिन' नाम की भी यही स्थिति है। पर इसका प्रयोग अधिक नहीं मिलता। 'काशिका' और 'चान्द्रवृत्ति' में इसका उदाहरण मिलने मात्र से ही इसे मूल नाम स्वीकार नहीं किया जा सकता। 'यशस्तिलक-चम्पू' में उल्लिखित 'पणिपुत्र' का भी कोई सुदृढ़ आधार पता नहीं चलता।

प्रदेश

इस सम्बन्ध में शालातुरीय या सालातुरीय नामों से ही कुछ निश्चित सूचना मिलती है। 'गणरत्नमहोदधि' में वर्धमान 'शलातुर' को पाणिनि का 'अभिजन' बताता है: अर्थात्, उनके पूर्वजों का निवास। कुछ सूत्रों के आधार पर मीमांसक जी उसका अपना 'निवास' वाहीक प्रदेश के आसपास मानते हैं।[1] इसमें सन्देह नहीं कि पाणिनि 'औदीच्य' या 'पश्चिमोत्तर' प्रदेश के ही थे। कुछ लोगों ने शब्दों की छान-बीनकर उन्हें पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त (वर्तमान में पाकिस्तान का एक प्रान्त) का निवासी बताया है। परम्परा के अनुसार वह सम्पन्न कुल के थे। महाभाष्य में पा० १/१/७३ का एक उदाहरण दिया है: 'ओदनपाणिनीयाः'। काशिकाकार ने पा०

---

१. पा० ४.२.७४, ११७।

६/२/६९ में इसकी व्याख्या की है : 'ओदनप्रधानः पाणिनीयः'। किन्तु, इससे पाणिनि की समृद्धि या प्रदेशादि जैसी बातों की अपेक्षा यह अधिक सिद्ध होता है कि पाणिनि के अनेक शिष्य पर्वतीय और प्राच्य इलाकों के अथवा दक्षिण के रहे होंगे। क्योंकि वहीं पर चावल का प्रयोग अधिक होता है।

रचनाएँ

पाणिनीय शिक्षा

पाणिनि की प्रसिद्धि का एकमात्र आधार 'अष्टाध्यायी' या 'पाणिनीयाष्टक' ही काफी है। अन्य ग्रन्थ-रचना यदि पाणिनि ने न भी की होती, तब भी अकेली यही कृति उसे आकल्प अमर रखने के लिए पर्याप्त थी। किन्तु, इसके अतिरिक्त उनके कुछ अन्य ग्रन्थ भी सुरक्षित रूप में या उल्लिखित रूप में उपलब्ध होते हैं। इनमें से प्रधान ग्रन्थ है : 'पाणिनीय शिक्षा'।

'पाणिनीय शिक्षा' के स्वरूप के विषय में उठे विवाद की चर्चा हम पहले कर आए हैं। एक ओर स्वामी दयानन्द, डा० रघुवीर और आचार्य मीमांसक हैं, जो सूत्ररूप में उपलब्ध तथा चान्द्र और आपिशलीय शिक्षा से मिलती-जुलती 'सूत्रमयी शिक्षा' को वास्तविक 'पाणिनीय शिक्षा' मानते हैं। किन्तु, दूसरी ओर, 'सिद्धान्तकौमुदी' के आरम्भिक कलकत्ता संस्करण के प्रथम प्रकाशन के अन्त में मुद्रित श्लोकबद्ध 'पाणिनीय शिक्षा' को पाणिनिकृत मानने वालों की भी एक बड़ी श्रेणी है। डा० मनमोहन घोष ने इस दूसरी शिक्षा के सम्बन्ध में सभी मतामतों का विचार करके इसे ही मूलतः पाणिनीय ठहराया है। उनके तथा कुछ अन्य यूरोपीय विद्वानों के अनुसार इसमें उच्चारण एवं ध्वनि-विज्ञान सम्बन्धी कुछ ऐसे सत्य हैं, जो पाणिनि जैसे गम्भीर वेदाध्यायी के मुख से ही निकल सकते थे। उधर, डा० सिद्धेश्वर वर्मा सप्रमाण भारतीय परम्परा को सही बताते हैं, जिसके अनुसार इसकी रचना पाणिनि के अनुज पिंगल ने ही की होगी। पर, वे यह भी मानते हैं कि यह शिक्षा प्रातिशाख्यों से न तो पूर्ववर्ती है और न सर्वत्र उनका अनुसरण करती है। वे इसे सामान्य 'शिक्षा' का 'मूल प्रारूप' भी मानने को तैयार नहीं हैं। न ही वे इसे सर्वप्रथम शिक्षा ग्रन्थ मानते हैं।[1] इसकी अपेक्षा वे याज्ञवल्क्य शिक्षा,

---

१. सि०, पृ० ५ से १०।

व्यास शिक्षा और वर्णोच्चारण शिक्षा को प्राचीन और महत्त्वपूर्ण मानते हैं।[१] 'आपिशल शिक्षा' और 'चान्द्र शिक्षा' का स्वरूप वे सूत्ररूप में ही मानते हैं। लगता है कि पाणिनि के नाम से स्वीकृत सूत्ररूपी शिक्षा पर उन्हें अधिक विचार करने का अवकाश नहीं मिला।

कुछ भी हो, इतना तो निश्चित ही है कि शिक्षाओं के दो रूप उस समय तक निश्चित हो चुके थे : सूत्रात्मक और श्लोकात्मक। 'आपिशल शिक्षा' निश्चय ही पाणिनि से प्राचीन है। इसके सूत्र इसी रूप में हेमचन्द्र सूरि के व्याकरण में भी उल्लिखित मिले हैं। उस शिक्षा के सूत्रात्मक होने से यह शंका होती है कि सूत्र-रचना में सर्वाधिक ख्याति प्राप्त करने वाले आचार्य पाणिनि को, 'शिक्षा' के लिए किसी प्रसिद्ध वैयाकरण द्वारा पहले से अपनाया सूत्रात्मक पथ छोड़कर श्लोकात्मक पथ अपनाने की क्या आवश्यकता थी ? फिर, 'कारिकामय शिक्षा' की भी पांच शाखाएँ या पाठभेद मिलते हैं। इनमें १६ कारिका से लेकर ६० कारिकाएँ तक मिलती हैं। डा० घोष ने यत्नपूर्वक इसका भी उत्तर ढूंढ निकाला है और लगभग २३ कारिकाओं को मूल निश्चित कर दिया है। अधिकांश विद्वान् अब इसे 'पाणिनीय' अवश्य स्वीकार करते हैं, किन्तु 'पाणिनीय सम्मत' के ही अर्थ में। उव्वट प्रणीत 'शिक्षा-प्रकाश' नाम्नी व्याख्या में भी यही सरणि अपनाई गई है।

जाम्बवतीविजय

इसका अन्य नाम 'पातालविजय' भी मिलता है। पाताल में जाकर श्रीकृष्ण द्वारा जाम्बवती के विजय एवं उससे परिणय की कथा पर आश्रित यह काव्य पर्याप्त विवाद का विषय रहा है। अनेक आधुनिक पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने एक स्वर से इसे अपाणिनीय घोषित किया है। दूसरी ओर, भारतीय साहित्य की अनवरत परम्परा में इसे पाणिनिमुनिकृत ही माना जाता है। पतंजलि, समुद्रगुप्त, राजशेखर और क्षेमेन्द्र जैसी महान् विभूतियों ने पाणिनि को कवि और उसकी कृति को 'जाम्बवतीविजय' के रूप में स्वीकार किया है। समुद्रगुप्त के 'कृष्णचरित' के आरम्भिक श्लोकों में हमें दस मुनि-कवियों का वर्णन मिलता है। कात्यायन और पाणिनि की गणना वे काव्य और व्याकरण दोनों क्षेत्रों में करते हैं।[२] भास को वे

---

१. वही०, पृ० ८।

२. कृष्णचरित, श्लोक १०।

पाणिनि के मुकाबिले में अर्धानुयायी अर्थात् कवि ही मानते हैं। शरणदेव और पुरुषोत्तमदेव ने भी इस काव्य को पाणिनिकृत ही माना है। शरणदेव तो उसके अष्टादश सर्ग का उद्धरण भी देते हैं।[1] इससे उस काव्य के आकार का भी किंचित् भान होता है।

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने २५ ग्रन्थों में आए इस काव्य के उद्धरण 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में एकत्र उद्धृत किए थे। २६वाँ उद्धरण श्रीकृष्णमाचार्य ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' की लीलाशुककविकृत टीका से उद्धृत किया है।

किन्तु, इतने सुचर्चित और सुललित काव्य की भी रक्षा अखण्ड रूप में न हो सकी। और, आज यह अनुपलब्ध है।

शेष ग्रन्थ

शेष ग्रन्थों में से 'पूर्वपाणिनीयम्' के नाम से प्रकाशित २४ सूत्रों के एक लघु ग्रन्थ को ही अवधेय कहा जा सकता है। 'महाभाष्य' में हम 'पूर्वपाणिनीयाः' और 'अपरपाणिनीयाः' की चर्चा पाते हैं। कदाचित् 'अपरपाणिनीयम्' के द्वारा वर्त्तमान 'अष्टाध्यायी' ही अभिप्रेत रही हो। पर 'पूर्वपाणिनीयम्' के रूप में उपलब्ध पुस्तक की आकारलघुता को देखते हुए उसके प्रति विशेष आदर नहीं जगता। इस पर भी, एक बात अवश्य है कि इसके सूत्र यदि 'प्रतिज्ञा सूत्रों' के रूप में पाणिनिकृत ही स्वीकार कर लिए जाएँ, तब बहुत सी अन्य बातें भी स्वतः हल हो जाती हैं। तब तो कात्यायन और पतंजलि के आरम्भिक वार्त्तिकों को आधार भी मिल जाता है। काशिका पा० ६/२/१०४ के प्रत्युदाहरण में 'पूर्वपाणिनीयम् शास्त्रम्' का उल्लेख भी करती है। किन्तु, इस ग्रन्थ की आकारलघुता ही इसकी प्रामाणिकता स्वीकार करने में बाधक दीखती है। अन्यथा, ये चौबीस सूत्र पाणिनि की अष्टाध्यायी की पूर्वभूमिका पूर्ण रूप में प्रस्तुत करते हैं।

'लिपि' का प्रश्न

पाणिनि के तिथि-निर्धारण में, बल्कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के रचना क्रम तक के निर्धारण में कभी 'लिपि' का प्रश्न अत्यधिक महत्त्व ग्रहण कर गया था। इसी अनिश्चय के कारण अनेकानेक भ्रान्त धारणाएँ भी चल निकलीं।

---

१. दुर्ग० ४.३.२३।

बोथलिंक और गोल्डस्टुकर जैसे विद्वानों को इस प्रश्न पर विचार के लिए पर्याप्त समय और स्थान देना पड़ा। किन्तु, अब इस प्रश्न पर एक क्षण भी व्यर्थ करने की आवश्यकता नहीं है। कम से कम ईस्वी पूर्व तीन हज़ार वर्षों से अधिक का लिपि-प्रमाण भारत में सुरक्षित पाया जा चुका है। परम्परा की दृष्टि से यह क्रम अनवरत है। कम से कम ८०० ई० पू० से भी अधिक पूर्व तक ब्राह्मी लिपि अपने परवर्त्ती अशोकानुरूपी रूप में आ चुकी थी। यह बात अब सिद्ध हो चुकी है। लिपि का इससे प्राचीन रूप अभी तक पूरी तरह पढ़ा तो नहीं जा सका है, किन्तु अधिकांशतः उसका काल निश्चय हो चुका है। उसे पढ़ने की दिशा में भी पर्याप्त प्रगति हुई है। यदि एक बार किसी एक पक्ष के भी सिद्धान्त स्वीकृत हो गए, तब इस प्रश्न के हल होने में देर नहीं लगेगी। अतः अब इस प्रकार के प्रमाणों पर अधिक विचार की आवश्यकता नहीं है। बल्कि, इसके विपरीत, पाणिनि के व्याकरण से यह अवश्य पता चलता है कि उस समय तक भारतीय लोग 'यवन (ग्रीक) लिपि' से भी पूरी तरह परिचित हो चुके थे[1] : अर्थात् सिकन्दर के आगमन से बहुत पूर्व। जितने विशाल साहित्य का पाणिनि से पूर्व निर्माण हो चुका था, और जिसका परिचय हमें पाणिनि के ही सूत्रों से प्रत्यक्ष रूप में मिलता है, वह सब क्या अलिखित अथवा कण्ठस्थ रूप में ही रहा होगा ?

साहित्य

पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृत और वैदिक वाङ्मय को आचार्य मीमांसक ने पाणिनि की ही शब्दावली में निम्न भागों में बाँटा है : दृष्ट, प्रोक्त, उपज्ञात, कृत और व्याख्यान[2]। दृष्ट में वे केवल 'साम' को ही गिनाते हैं[3]। इसके अधीन 'सामवेद' को अनेक शाखाओं और भागों का उल्लेख मिलता है। प्रोक्त का अर्थ 'पढ़ाया हुआ' है। ऐसे ग्रन्थ केवल 'कृत' ही नहीं होते, बल्कि उनका शिक्षण भी आचार्य ने ही किया होता है। यह भी सम्भव है कि इसका निर्माण इसे पढ़ाने वाले आचार्य ने स्वयं न भी किया हो। पाणिनीय, तैत्तिरीय, शौनक, वाजसनेय, आदि नाम इसी आधार पर बने हैं[4]। इस प्रकार

---

१. पा० ४.१.४९।

२. मी०, अध्याय।

३. पा० ४.२.७-८।

४. तेन प्रोक्तम्, पा० ४.३.१०१।

के प्रोक्त वेद या संहिता-ग्रन्थों की संख्या ५० से भी अधिक है। इन नामों को पाणिनि के गणपाठ में गिनाया गया है या सूत्रों से सम्पन्न होता दिखाया गया है[1]। 'संहिता' के अतिरिक्त, इसी वर्ग में पाणिनि ब्राह्मण, अनुब्राह्मण (आरण्यक), उपनिषद्, कल्पसूत्र, अनुकल्प, शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्दःशास्त्र, ज्योतिष, सूत्रग्रन्थ, इतिहासपुराण, श्लोकात्मक काव्य, आयुर्वेद, संहिता-पाठ-पदपाठ-क्रमपाठ, वास्तुविद्यादि भौतिक विद्याओं, सर्पविद्यादि प्राणि-विद्याओं, आदि को भी अनेकशः गिनाते हैं।

तीसरा वर्ग है, 'उपज्ञात' ग्रन्थों का। परवर्त्ती वैयाकरणों ने 'उपज्ञाते' (पा० ४. ३. ११५) के जितने भी उदाहरण दिये हैं, वे सब व्याकरण-सम्बन्धी ही हैं। उन्हीं से हमें आपिशल, काशकृत्स्न, पाणिनीय और चान्द्र एवं व्याडिकृत आदि व्याकरणों की उपस्थिति का ज्ञान होता है। 'कृत' ग्रन्थों की चतुर्थ कोटि में पतंजलि और परवर्त्ती अन्य व्याकरणों और व्याख्याकारों ने अनेक प्राचीन ग्रन्थों के उदाहरण दिये हैं। किन्तु, पाणिनि भी स्वयं कई ग्रन्थों का उल्लेख करते हैं[2]। इनके दो भेद हैं : विषय के नाम पर रचित और ग्रन्थकार के नाम से ख्यात ग्रन्थ। इन्हीं ग्रन्थों में अनुक्रमणी ग्रन्थ, ऋतुकाव्य, और व्याडिकृत संग्रह का भी उल्लेख सूत्रों में या गणपाठ में किया है।

अन्तिम भेद 'व्याख्यान' ग्रन्थों का है। अन्य उदाहरणों को यदि छोड़ भी दें तब भी केवल ऋगयनादिगण (४-३-७३) में ही पाणिनि ने निम्न विषयों या शीर्षकों वाले व्याख्यान-ग्रन्थों की चर्चा की है : ऋगयन, पदव्याख्यान, छन्दोमान, छन्दोभाषा, छन्दोविचिति, न्याय, पुनरुक्त, व्याकरण, निगम, वास्तुविद्या, अंगविद्या, क्षत्रविद्या, उत्पात, उत्पाद, संवत्सर, मुहूर्त्त, निमित्त, उपनिषद् एवं शिक्षा। इससे अधिक अनेक अन्य व्याख्यान ग्रन्थों की सूचना उदाहरणों के रूप में यत्र-तत्र उपलब्ध होती है।

पाणिनि वेदों के ही वैयाकरण नहीं

इस सब उल्लिखित साहित्य-राशि को देखकर यह अनुमान स्वभावतः ही लगाया जा सकता है कि पाणिनि का काल 'वेद-रचना का परिसमाप्तिकाल' ही नहीं है। बल्कि उसके समय तक लौकिक साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में

---

१. गणपाठ में।

२. पा० ४.३.८७-८, ११६।

रचा जा रहा था। डा० पॉल थीमे और दूसरे विद्वानों ने जब पाणिनि को वैदिक व्याकरण का रचयिता कहा, तब सम्भवतः वे यह भूल गए कि पाणिनि से कई सदी पूर्व ही 'भाषायामन्वध्यायं च'(नि०)अथवा 'लोके छन्दसि वा'(प्राति०) एवं 'लौकिकवैदिकेषु' (प्राति०) आदि बातें उठ चुकी थीं। प्रातिशाख्य, ब्राह्मण-ग्रन्थ और यास्कीय निरुक्त के अतिरिक्त शाकटायन का व्याकरण, काशकृत्स्न का धातुपाठ और आपिशल व्याकरण इसकी साक्षी देते हैं। वैदिक स्वरविज्ञान और वैदिक व्याकरण की रचना को छोड़ कर भी पाणिनीय व्याकरण का अधिकांश भाग वह है, जो सुप्-तिङ्, कृदन्त, तद्धित और समास जैसे जीवन्त और लोकभाषासम्बद्ध विषयों को लेकर बढ़ता है। लोक और वेद के व्याकरण की इस पूर्णता को देखकर इतना ही कहा जा सकता है कि पाणिनि से पूर्व ही वैदिक साहित्य की सृष्टि पूर्ण हो चुकी थी।

कुछ विद्वानों ने अथर्ववेद के पाणिनिपूर्व उपस्थित होने के सम्बन्ध में कुछ शंकाएं उपस्थित की हैं। उनके सम्बन्ध में हमारा यही कहना है कि शौनक, मौद और पैप्पलाद आदि नामों को 'गणपाठ' में गिनाने वाला आचार्य, 'अथर्ववेद' से ही नहीं, उसकी शाखाप्रशाखाओं तक से भी पूर्ण परिचित था। पाणिनि के कई सदी बाद, पतंजलि के समय में, भी अथर्ववेद की नौ शाखाएँ विद्यमान थीं[1]। अतः पाणिनि की उससे अनभिज्ञता बताने का अर्थ है, पाणिनि से अपनी अनभिज्ञता बताना। गोल्डस्टुकर गणपाठ आदि की विवेचना के बाद इस परिणाम पार पहुंचे हैं कि पाणिनि से पूर्व दर्शन की छहों शाखाएँ प्रचलित नहीं हुई थीं। न्याय और योग शब्दों के ज्ञानात्मक अस्तित्व को तो वे पाणिनि से पूर्व का या उसे ज्ञात मानते हैं, किन्तु वेदान्त, सांख्य और मीमांसा के पाणिनि-पूर्व अस्तित्व के सम्बन्ध में उन्हें शंका है।[2] वैशेषिक और न्याय व्याकरण के ही अंग 'भाषातत्त्व' के बहुत से पहलुओं पर बारीकी से विचार करते हैं। अतः उनकी परवर्त्तिता स्वीकार करने का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है।

यह बात कात्यायन और पतंजलि का नाम आते ही स्पष्ट हो जाएगी। उनकी सरणि 'न्याय दर्शन' में विवेचित वाग्विषयों का अनुसरण करती है।

---

१. नवधा आथर्वणः, महा० १.१.१।
२. गोल्ड०, पाणिनि, पृ० १६३-७।

भर्तृहरि तो स्पष्ट कहते हैं कि पंतजलि ने सभी 'न्यायबीजों' का अपने महाभाष्य में निबन्धन किया था।[1]

तब क्या यह माना जाए कि छहों दर्शन पाणिनि के बाद और पतंजलि के समय तक ही बन पाए थे? तब 'योगदर्शन' के प्रणेता पतंजलि क्या जैमिनि आदि के समकालीन थे? पर, महाभाष्य में उन्होंने गोतम के 'न्याय' का ही विशेष अवलम्बन क्यों किया, जब कि दर्शन विषय पर कलम उठाते हुए उन्होंने सर्वथा भिन्न विषय 'योग' को अपनाया था?

वस्तुतः यह एक जटिल समस्या है। पतंजलि भी कई हुए हैं और गोतमादि भी। पाणिनि की शब्दसिद्धि और दर्शनों के अस्तित्व को जोड़ने का जहाँ तक सम्बन्ध हैं, उस सम्बन्ध में हमें इतना ही कहना है कि स्वयं आचार्य मीमांसक जैसे महापाणिनिविद् भी यह स्वीकार करते हैं कि इस दृष्टि से पाणिनि के व्याकरण में अनेक त्रुटियां खोजी जा सकती हैं। कात्यायन को पाणिनि का समकालीन मानें या पर्याप्त परवर्त्ती; यह तो स्पष्ट ही है कि उसने वार्त्तिकों का आधार बनाया ही उन शब्दों को था, जो पाणिनि के सामान्य नियमों की पकड़ में आने से बच गए थे। उनके पकड़ में न आने का कारण भले ही कुछ भी रहा हो।

पर, कात्यायन भी इस विषय में अन्तिम प्रमाण कहाँ थे? उनसे छूटी हुई शब्दराशि को ढूंढने का काम; अन्य वैयाकरणों के जिम्मे ठहरा। फिर, अब तो अन्यान्य उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार पाणिनि ने अपने से पूर्व के पठित और उपलब्ध अनेक धातुओं और गणशब्दों को स्वीकार करने में उपेक्षा दिखाई है, जबकि उन प्राचीन वैयाकरणों के द्वारा उपेक्षित अन्य प्राचीन और अप्रयुक्त अनेक शब्दों की रचना-प्रक्रिया दिखाने में उनका उत्साह सजग रहा है।

अतः इन बातों से एकांगी निर्णय पर नहीं पहुँचना चाहिए। अभावात्मक आधार पर आधारित ये निर्णय कभी-कभी नए भ्रमावर्त्तों का ही सृजन करते हैं। अच्छा हो कि हम पाणिनि द्वारा स्वीकृत शब्दराशि पर ही अपने परिणामों की परीक्षा करें, उनके अभावों पर नहीं!

---

१. वा० २.४७९।

अष्टाध्यायी

महत्त्व

ऊपर के उल्लेखों से एक बार तो यह भ्रम सा होने लगता है कि कदाचित् उस समय के भारत, भारतीय साहित्य और सामाजिक परिस्थितियों का परिचय देने में जो महत्त्व पाणिनि की अष्टाध्यायी का है, उसका वह महत्त्व स्वयं व्याकरण का परिचय देने में नहीं है। वासुदेवशरण अग्रवाल ही अकेले ऐसे नहीं हैं, जिन्होंने इस दिशा में पाणिनि के इस महान् और विख्यात ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' से ऐतिहासिक पुनर्निर्माण में सहायता ली है। बल्कि, पाणिनि पर लिखने वाले हर व्यक्ति ने इस विषय को कुछ अतिरंजित महत्त्व ही दिया है। यही कारण है कि पाणिनि के परिगणन की सीमा में आने और उससे छूटजाने वाले विषयों को लेकर उनके कालनिर्णय आदि के जटिल प्रश्नों की उलझन में पड़कर व्याकरण के इतिहासविषयक या परिचायक ग्रन्थ भी उसकी व्याकरणात्मक देन का उतना महत्त्वांकन नहीं कर सके।

हम कह चुके हैं कि अष्टाध्यायी के रूप में पाणिनि किसी सर्वथा मौलिक कृति के सृजन की प्रतिज्ञा लेकर नहीं बैठे थे। वे तो भारतीय परम्परा के उस तरह के सच्चे ऋषि थे, जो स्वयं यशकामना को त्यागकर अपने समस्त पूर्ववर्ती ज्ञान के उपयोग और नवीन अनुसन्धान द्वारा एक पूर्ण सरणि की खोज में लगे रहना अपना लक्ष्य मानते थे। जहाँ भी पूर्व उपलब्धियों में कमी देखी, अपना 'दृष्ट' या 'दृष्टिकोण' कह दिया। अन्यथा, परम्परा से मान्य वचन या 'आगम' को ही अपने रूप में या उसी तरह अछूता ही कह दिया। आचार्यों का व्यक्तिगत नामोल्लेख करते उन्हें कोई झिझक नहीं होती थी। किन्तु, परम्परा द्वारा सर्वमान्य सूत्रों को वे किस के नाम से कहते ?

परम्परागत सूत्र

प्रतिशाख्यों की चर्चा में हम अनेक ऐसे सूत्रों का उल्लेख कर चुके हैं, जो अपने मूल लेखक का नाम खोकर सार्वजनिक सम्पत्ति बन चुके थे। लुप्त व्याकरणों के पुनर्दर्शन होने तक ठीक से नहीं कहा जा सकता कि ऐसे सूत्रों की कुल संख्या कितनी रही होगी ? किन्तु, इतना निश्चित है कि इनका परिमाण कम नहीं होगा। इनके अतिरिक्त ऐसे सूत्र तो अनेक हैं, जो आकारतः सुधरे हुए या भिन्न होकर भी भावना की दृष्टि से पूर्वतर सूत्रों से अभिन्न ही हैं। इनमें से अनेक परिभाषासूत्र भी हैं।

पारिभाषिक संज्ञाएं

पाणिनि द्वारा अपनाई पारिभाषिक संज्ञाओं के बारे में भी यही बात प्रचलित है। अनेकानेक संज्ञाएं पाणिनि से पहले ही प्रचार पा चुकी थीं। बहुत सी नई संज्ञाएं घड़ने पर भी पाणिनि पूर्वसूत्रों के प्रयोगमें प्राचीन संज्ञाओं को यथापूर्व ही प्रयोग करते हैं। यह बात आङ्, ओङ् आदि के सम्बन्ध में पहले भी कही जा चुकी है। किन्तु, अनेक ऐसी पुरानी संज्ञाएँ हैं, जिनका पाणिनि ने प्रथम बार प्रयोग किया है और जिनमें से अनेक के स्थान पर या तो पहले किसी भी संज्ञा का प्रयोग नहीं हुआ, या फिर किसी भिन्न संज्ञा का प्रयोग हुआ है। यह कहना गलत है कि पाणिनि स्वयं द्वारा प्रथमतः प्रयुक्त संज्ञा की परिभाषा भी स्वयं देते हैं। जिस संज्ञा की वे परिभाषा न देकर सीधा ही प्रयोग करें, उसे स्वतःसिद्ध रूप में ही पूर्ववर्त्ती नहीं गिना जा सकता। अधिकांशतः ऐसा हुआ है कि यास्क, पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि अपनी सुविधा और मन के अनुसार किसी भी पूर्व स्थापित संज्ञा की परिभाषा नए सिरे से देते हैं। उदाहरणार्थ, 'आख्यात' संज्ञा का प्रयोग भरद्वाज से आरम्भ हुआ, किन्तु इसकी व्याख्या यास्क और पतंजलि ने अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार की। नाम, पद, संहिता, अवसान, लोप, वाक्य आदि अनेकों संज्ञाओं के विषय में यही बात सही बैठती है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि पाणिनि नई संज्ञाओं का प्रयोग नहीं करते। 'नदी' की व्याख्या में वे जब 'यू स्त्र्याख्यौ' कहते हैं,[1] तब स्पष्ट हो जाता है कि पुरानी परिभाषा 'स्त्री' की अपेक्षा वे एक अधिक विस्तृत शब्द अपनाना चाहते हैं। 'अनुबन्धों' की भी यही स्थिति है। महाभाष्य की साक्षी पर आचार्य मीमांसक कहते हैं कि पाणिनि की अनुबन्ध-प्रणाली सर्वथा नूतन है। वह पहले अनुबन्धों से सर्वथा भिन्न है और लघुता एवं पूर्णता के प्रयोजन को लेकर चली है। किन्तु फिट्सूत्र एवं चान्द्र व्याकरण की साक्षी पर यह भी सिद्ध है कि अनुबन्ध पहले भी प्रयुक्त होते थे। भले ही किंचित भिन्न रूप में ऐसा होता होगा।

रचना और पूर्णता

पाणिनि का व्याकरण 'अकालक' कहलाता है। कहा गया है कि पाणिनि

---

१. पा० १.४.३।

ने काल की चर्चा नहीं की है। मीमांसक तक ने इस बात को सत्य कहा है। परन्तु, हमें बहुत विचार के बाद भी यह बात समझ में नहीं आई। आश्चर्य की बात ही है कि पाणिनि के सूत्रों के हवाले पर विचार करने वाले भर्तृहरि जब अपने वाक्यपदीय के प्रकीर्णकाण्ड के 'कालसमुद्देश' में काल की दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाते हैं, तब वे पाणिनि की ही शब्दावली में ही बढ़ते हैं। 'वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा'[1] जैसे सूत्रों के बल पर ही वे 'काल' की तथाकथित सीमाओं को तोड़ते भी लगते हैं। 'सत्तैका व्यवतिष्ठते'[2] की इससे अच्छी और व्यावहारिक व्याख्या क्या होगी कि विविध कालों के द्योतक वर्गशब्द अन्त में पाणिनि के यहां 'लकार' ही कहलाते हैं। फिर, पाणिनि के इस आशय को भी भर्तृहरि ने स्पष्ट किया है कि पाणिनि जब 'वर्त्तमाने लट्[3] या 'परोक्षे लिट्[4]' अथवा 'लृट् शेषे च[5]' का प्रयोग करते हैं, तब वास्तव में उनकी भावना 'काल' को बताने को उतनी नहीं होती, जितनी कि 'भाव' को। और, पाणिनि जैसे महादार्शनिक से यह आशा करना, कि 'भावप्रधानमाख्यातम्'[6] पर अटूट श्रद्धा रखकर भी वह लुट्, लिङ्, लृङ्, आदि के 'काल' निश्चित करने के पचड़े में पड़ा रहे, अनुचित ही लगता है।

अतः हमारा प्रस्ताव है कि 'अकालक' का अर्थ पाणिनीय व्याकरण की किसी त्रुटि से न लेकर इस रूप में लेना चाहिए कि वहाँ 'भाव' की शुद्ध उपलब्धि लक्ष्य बनकर रही है। अतः काल 'भाव' के अन्तर्हित होकर ही चला है। क्या भर्तृहरि की यह कारिका इस विषय में हमें कुछ सहायता देगी ?

अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः।
जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः ॥ वा० १.४ ॥

तत्त्व है 'जन्मादिजन्य भावभेद', न कि 'काल'। 'काल' तो शब्दब्रह्म की अध्याहित या अन्तर्हित शक्ति ही है : अखण्डनीया सत्ता के रूप में। और यास्क भी तो 'भावप्रधान' और 'षड्भावविकार' के रूप में यही बात कहते हैं।

---

१. पा० ३.३.१३१।
२. वा० ३.८.२८।
३. पा० ३.२.१२३।
४. पा० ३.२.११५।
५. पा० ३.३.१३।
६. नि० १.१.३।

अतः पाणिनीय व्याकरण 'अकालक' होकर भी 'अ-भावक' नहीं है। अन्यथा 'आख्यातिक' (तिङन्तप्रकरण) आदि की रचना सर्वथा अनर्थक ही रहती। पाणिनि 'लकार-प्रयोग' के प्रति इतने अधिक सतर्क रहे हैं कि उन्हें परम्परागत दृष्टि से 'अकालक' कहना स्वयं अपने अज्ञान का परिचय देना ही है। डा० मंगलदेव शास्त्री 'अकालक' का अर्थ इसी रूप में लेते हैं।

'सपाद सप्ताध्यायी' और 'त्रिपादी' की चर्चा भी इसी प्रसंग में अवधेय है। अब तो यह सर्व-स्वीकृत ही है कि 'त्रिपादी' या 'अवशिष्ट तीनों पाद' पाणिनिकृत ही हैं। अन्यथा भी इन्हें 'पश्चात्स्मृति' के रूप में नहीं कहा जा सकता। यह तो पाणिनि की पद्धति की वह विशेषता है, जिसमें वह किसी विशेष युक्ति से सभी नियमों का विधान करते हैं। कुछ विशिष्ट अपवादों को नियम में वांधने के लिए ही उन्हें 'त्रिपादी' का यह विधान करना पड़ा था। 'पूर्वत्रासिद्धम्'[1] उस अपवादमयता की ही दुहाई देता है। पहले भी 'असिद्धवदत्राभात्'[2] आदि के द्वारा वे इसी शैली को अपनाते है। अतः पाणिनि के सुनियोजित नियम-विधान को 'पश्चात्स्मृति', अथवा 'सपादसप्ताध्यायी' को स्वतन्त्र मूल रचना, कहना किसी भी रूप में ठीक नहीं बैठता।

दो सत्य : दो प्रश्न

१. 'अथ शब्दानुशासनम्' और 'माहेश्वर सूत्रों' से सम्बद्ध दो प्रश्न यहाँ और विचारणीय हैं। श्री मीमांसक ने प्रथम प्रश्न पर विस्तृत विचार करके यह सिद्ध किया है कि 'अथ शब्दानुशासनम्' का उपोद्घात सूत्र महाभाष्य की अपनी कल्पना न होकर पाणिनि द्वारा रचित प्रथम सूत्र ही है। 'वृद्धिरादैच्' के विषय में महाभाष्य के मांगलिक शब्द के 'आदिप्रयोग' की युक्ति का उत्तर उन्होंने ठीक ही दिया है। 'मङ्गलादीनि', 'मङ्गलमध्यानि', और 'मङ्गलान्तानि'[3] का वास्तविक अर्थ सूत्र के आदि, मध्य और अन्त में प्रयुक्त मंगल शब्दों से है। यहाँ तुलना 'वृद्धिरादैच्' और 'अदेङ् गुणः'[4] सूत्रों की है। प्रथम में संज्ञाशब्द 'वृद्धि' आदि में है, जबकि द्वितीय में 'गुण' शब्द का प्रयोग अन्त में हुआ है। पतंजलि कहते हैं कि 'आचार्य मंगलकामना के हेतु

---

१. पा० ७.२.१।
२. पा० ६.४.२२।
३. पा १.१.१।
४. पा १.१.२।

मंगलदायक वृद्धि शब्द को बाद में प्रयोग करता है।'[1] इसका अर्थ 'शास्त्रादि में' कभी नहीं है।

किन्तु सब प्रमाणों के रहते भी एक शंका रह जाती है। वाजसनेय प्रातिशाख्य में एक सूत्र है: 'अथेति भाष्यम्'। अर्थात्, भाष्य या भाषा में रचे ग्रन्थ का आरम्भ 'अथ' से होता है। 'मन्त्र' का आरम्भ वहाँ 'ओम्' से माना गया है। परन्तु, यहाँ 'भाष्य' का अर्थ विचारणीय है। पाणिनि से परवर्ती कात्यायन के समय तक 'भाष्य' बनने आरम्भ हो चुके थे। किन्तु प्रातिशाख्यों में ऐसे शब्द कभी प्रयोग नहीं हुए। इससे स्पष्ट है कि यहाँ 'मन्त्र' और 'भाष्य' की तुलनात्मक स्थिति को समझना आवश्यक है। यह समझने पर ही हम जान सकेंगे कि ये दोनों शब्द यहाँ 'छन्दसि' और 'भाषायाम्' के ही रूपान्तर बनकर प्रयुक्त हुए हैं। अर्थात् मन्त्र या मन्त्र-सम्बद्ध कृति का आरम्भ 'ओम्' से होता है, जबकि भाषा में रचित किसी भी कृति का आरम्भ 'अथ' से होता है। इस दृष्टि से देखने पर पतंजलि का यह कथन सार्थक ही लगेगा और पाणिनि को इस सूत्र का कर्त्ता घोषित करेगा: 'अथेति शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्[2]'।

'भाषावृत्ति' का रचयिता सृष्टिधर, 'मनुस्मृति' का व्याख्याकार मेधातिथि, न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि एवं स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि सभी ने इस सूत्र को पाणिनीय ही माना है। स्वामी दयानन्द तो इसे प्रतिज्ञासूत्र मानते हैं।

२. 'माहेश्वर सूत्रों' की बात हम पहले भी कर आए हैं। हम कह आए कि प्रातिशाख्यों में अपनाई गई वर्णक्रमपद्धति 'ऐन्द्र' प्रतीत होती है। वह इस पाणिनीय क्रम से भिन्न है। किन्तु 'माहेश्वरसूत्रों' का क्रम प्रयत्नादि के अनुरूप है, उच्चारण स्थान के अनुरूप नहीं। अतः ऐन्द्र-पद्धति से इसका वर्गीकरण पृथक् आधार पर स्थित ही माना जाना चाहिए।

अधिक सम्भव यही है कि ये माहेश्वर सूत्र पाणिनि के पहले से ही विद्यमान रहे होंगे। किन्तु, पाणिनि के आदिप्रयोग द्वारा इन्हें सहज ही 'पाणिनीय' माना जाना चाहिए। उसी तरह, जिस तरह पाणिनीय अष्टा-

---

१. ऋ० १.१.३.१।
२. म० १.१.१।

ध्यायी में प्रयुक्त होने के बाद प्रत्येक सूत्र पाणिनीय ही है, भले ही उन्हें पहले-पहल किसी अन्य आचार्य ने पढ़ा हो। पर, इन माहेश्वर सूत्रों में पाणिनि ने एक वैशिष्ट्य का भी आधान किया है। वह है अनुबन्धों का विधान, जिसे कि पतंजलि पाणिनि की अपनी विशेषता बताते हैं। यही मत डा० मंगलदेव शास्त्री का भी है। इन अनुबन्धों ने कितना चमत्कार पैदा किया, कदाचित् इसे देखकर ही लोगों ने इसे 'महेश्वर का प्रसाद' माना। उनसे पहले 'अनुबन्ध' इससे भिन्न थे। वास्तव में प्रत्याहारों की ऐसी सुदृढ़ कल्पना ने ही पाणिनि के हाथ में लाघव का वह हथियार दिया, जिसके बलपर 'संक्षेप' उनका सबसे बड़ा विजयचिह्न बन गया। उनके सूत्रों में एक अभूतपूर्व संकोच आने के साथ उनके शास्त्र के आकार का परिमाण भी घट गया। इसीलिए हमने कहा कि भले ही तथाकथित माहेश्वर सूत्र किसी ने भी रचे हों, किन्तु पाणिनि के द्वारा उनका सानुबन्ध निबन्ध न स्वयं में एक आश्चर्य था! स्वयं पाणिनि के सारे व्याकरण से भी बड़ा आश्चर्य!

पाठ का स्वरूप : संहिता या सूत्र

पाणिनीय व्याकरण आठ अध्यायों में विभक्त है, यह बात उसके प्रसिद्ध 'अष्टाध्यायी' नाम से ही स्पष्ट है। प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं। यह भी स्पष्ट है। किन्तु, इसके बाद समस्या उठ खड़ी होती है। पादों का गठन सूत्रों के आधार पर हुआ है या संहिता के रूप में? पतंजलि का 'सूत्रं व्याकरणम्' वार्त्तिक प्रथम शंका को जन्म देता है। लगता है कि पाणिनि ने अलग-अलग सूत्रों के रूपमें पाठ किया था। फिर, पाणिनीय सूत्रों के विभाजन और पाठ में काशिकादि वृत्तिग्रन्थों और महाभाष्यादि भाष्यग्रन्थों में परस्पर अन्तर क्यों?

इसका उत्तर भी स्वयं महाभाष्यकार देते हैं : "उभयथा हि तुल्या संहिता —'स्थानेऽन्तरम उरण् रपुरः' इति।'...अथवा, नैवं विज्ञायते —'कव्क्वरपो यवश्चेति। कथं तर्हि? कव्क्वरपोऽयवश्चेति।" इस प्रकार जो समस्याएं अलग-अलग सूत्रों के पढ़ने से उठ खड़ी होती हैं, उनमें से अधिकांश 'संहिता-पाठ' को अपनाते ही दूर हो जाती हैं। पाणिनीय व्याकरण के लघुत्व और अध्याहार की सार्थकता इसी बात को मानकर सिद्ध होती है। संहिता में से ही विच्छेद करके सूत्रकार्य सम्पन्न किया जाता है। इसी कारण सूत्रों का पाठभेद भी सम्भव हुआ है।

पतंजलि से पहले कई वृत्तिकार हो चुके थे। पाणिनि के सूत्रों का विच्छेद

उन्होंने पाणिनीय शिष्यों के प्रामाण्य पर ही किया था। 'पूर्वपाणिनीयाः' और 'अपरपाणिनीयाः' के महाभाष्योक्त प्रामाण्य के आधार पर, श्री मीमांसक आदि के मत में, पाणिनि के शिष्यों की दो कोटियाँ ठहरती हैं। प्रथम— जिन्हें प्रथम बार पाणिनीय उपदेश प्राप्त हुआ। और द्वितीय—जिन्हें प्रथम उपदेश से किंचित् भिन्न उपदेश, संशोधन-परिवर्तन के साथ, प्राप्त हुआ। अनिवार्य नहीं कि यह संकेत पाणिनि के तत्काल शिष्यों के लिए ही हो। सम्भव है कि पाणिनि ने अपने व्याकरण को एक बार पहले रचा हो और बाद में उसमें कुछ अन्तर सहित उसका द्वितीय संस्करण तैयार किया हो। इन शिष्यों में से कुछ ने पहले सूत्रपाठ को पढ़ा और प्रामाणिक माना होगा, जबकि कुछ ने दूसरे को। उक्त दोनों नाम इसी बात का संकेत देते हैं। वृत्तियों के ये दोनों ही पाठ अलग-अलग आधार बने होंगे।

यदि कात्यायन पाणिनि के समकालीन थे, तब निश्चय ही पाणिनि का यह 'अपर' पाठ उनकी शंकाओं का उत्तर अन्तर्हित किए रहा होगा। क्योंकि 'काशिका' के अनेक सूत्रों में कात्यायन के मत पहले ही अन्तर्भूत हैं। किन्तु, तब क्या यह शंका बलवती नहीं होती कि क्या पतंजलि को उस अपर पाठ का ज्ञान न था? क्योंकि, कात्यायन के वार्त्तिक ही उनके विचार का प्रधान आधार बने। उनकी पाणिनीय सूत्रों के सन्दर्भ में उपयोगिता-अनुपयोगिता का विचार ही उनके लिए प्रधान आधार बना। अतः स्पष्ट है कि कात्यायन को पाणिनि का समकाल मानने से भी काम नहीं चलता। वृत्तिकारों का उल्लेख भी पतंजलि करते हैं तथा वे उन द्वारा अपनाए गए पाठभेद को भी दर्शाते हैं। परन्तु, सर्वत्र नहीं!

दो पाठ

इससे भी बढ़कर बात यह है कि हमें महाभाष्य से ही यह सूचना भी उपलब्ध होती है कि आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी के कम-से-कम दो पाठ स्वयं स्वीकृत किये थे। यद्यपि उनमें मौलिक अन्तर उतना न था। महाभाष्य का असंदिग्ध प्रमाण इस प्रकार है: "उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः"[1]। 'काशिका' में है: "उभयथा सूत्रप्रणयनात्"[2]। न्यासकार इसे ही समझकर लिखता है: "उभयथा ह्येतत् सूत्रमाचार्येण प्रणीतम्"।

१. भा० १.४.१।
२. काशि० ४.१.११७।

परन्तु, इसके अतिरिक्त वृत्तिकारों के पाठभेद से या लेखकादि के प्रमाद से भी सूत्रों में कहीं-कहीं पर्याप्त भेद आ गया है। 'काशिका' के सूत्रपाठ में 'महाभाष्य' के सूत्रपाठ से अनेकत्र अन्तर, और कहीं-कहीं कात्यायन के वार्त्तिकों के प्रभाव का आभास, इन्हीं कारणों से दिखाई पड़ता है।

लघु और बृहत्

किन्तु, ये दो पाठ 'लघु' और 'बृहत्' के रूप में थे, श्री मीमांसक का यह मत विचारणीय है।[1] निरुक्तादि के विषय में डा० स्वरूप आदि की यह उक्ति सत्य हो सकती है। किन्तु, काशिकाकार को जिस बृहत् पाठ का पता था, उसका पता कात्यायन और पतंजलि को न था, यह बात उपहासास्पद लगती है। या, पता होने पर भी उन्होंने 'लघुपाठ' को ही अपनाया, यह बात भी उतनी ही उपहासास्पद है। क्योंकि, 'बृहत्पाठ' शंका का स्थल इसलिए है कि उसका आधार पाणिनि के सूत्रों में कात्यायन की वार्त्तिकोक्त आपत्तियों का समाविष्ट होना है। क्या इस 'वृहत्पाठ' को स्वीकार करते ही पातंजल महाभाष्य का अधिकांश विचार निरर्थक नहीं रह जाता? और, सबसे बड़ी बात तो यह कि जो बात पतंजलि और कात्यायन सदृश पाणिनि के निकटवर्त्ती वैयाकरणों को ज्ञात नहीं थी, उसे उनसे भी आठ-नौ सदी बाद आने वाले 'वृत्तिकार' जयादित्य या वामन कैसे जान पाए थे?

'वृत्ति' और 'भाष्य' की परम्परा अलग-अलग होने का अर्थ, उनके आधार या 'पाठभेद' की पृथक्ता के रूप में नहीं है। बल्कि, उनके भेद का आधार है: सूत्र और उस पर उठाई गई शंकाओं, या दिए गए समाधानों, की व्याख्या में अन्तर। 'वृत्तिकार' का प्रधान काम होता है, मूल ग्रन्थ तक सीमित रह कर समस्त विचार सूत्रसीमा के अन्दर ही करना। किन्तु, 'भाष्यकार' अपनी विस्तृत व्याख्या का आधार सूत्र, वृत्ति, उदाहरण-प्रत्युदाहरण एवं वार्त्तिकादि के समुदित रूप को बनाता है। 'वृत्ति' की परम्परा का आरम्भ निश्चय ही पाणिनि के शिष्यों द्वारा, उसके तुरन्त बाद ही, किया गया होगा। किन्तु, भाष्य का काल 'अष्टाध्यायी' की विवेचनायोग्य प्रचुर सामग्री प्रस्तुत हो जाने पर, कुछ वर्ष बाद ही, उपस्थित हो सकता था; ताकि पाणिनीय शिष्यों की भूलों को भी ठीक किया जा सके। भाष्यकार का महत्त्व स्वयं मूल वैयाकरण से किसी प्रकार कम नहीं है।

फिर भी यह सत्य है कि भाष्यकार और वृत्तिकारों के सूत्रपाठ में कुछ

---

१. मी०, पृ० १५१।

अन्तर है। 'काशिका' एक 'वृत्ति' है, और उसका पाठभेद वार्त्तिकों के बाद किया गया प्रतिसंस्कृत पाठ लगता है। हमें समझ नहीं आता कि यदि यह सूत्रपाठ पाणिनि का ही रचा है, तब पतंजलि और कात्यायन इससे कैसे अपरिचित रहे ?"

एकश्रुति पाठ

संहिता पाठ के अस्तित्व के अतिरिक्त दूसरा प्रश्न यह है कि स्वरविज्ञान के अप्रतिम पारखी पाणिनि ने अपना सूत्रपाठ सस्वर किया या स्वरहीन (एकश्रुति) रूप में ? नागेश ने इस पाठ को सस्वर माना है और अपने पक्ष में महाभाष्य की इस उक्ति को उद्धृत किया है : 'आद्युदात्तनिपातनं करिष्यते[1]'। उसके अनुसार अनेक सूत्रों का पाठ एकश्रुति में किया गया था; जबकि अधिकांश सूत्र सस्वर ही पठित रहे होंगे। इस विषय में मीमांसक जी की आपत्ति यह है कि 'करिष्यते' की जगह 'कृतम्' होने पर ही पाणिनि द्वारा सस्वर पाठ किये जाने की सम्भावना हो सकती थी[2]।

हमें लगता है कि मूल प्रश्न को दृष्टि से ओझल कर दिया गया है। मूल प्रश्न यह है कि 'स्वर' के पाठ का महत्त्व क्या है, और वह कहाँ किया जाना आवश्यक है ? दोनों का उत्तर यह है कि स्वर की योजना अर्थ की स्पष्टता के लिए होती है। पाणिनि ने स्वरप्रक्रिया का सम्बन्ध केवल वेद से स्वीकार करके, उसके पदों की अर्थसुरक्षा के लिए ही उसका विधान किया था। इस प्रक्रिया के अवकाश का स्थल भी वहीं हो सकता है, जहां 'पदों' का लौकिक या छान्दस प्रयोग हुआ हो। किन्तु, जहां सौत्र प्रयोग, लोक और वेद के प्रयोग की उपेक्षा करके, महज़ संक्षेप की दृष्टि से हुआ हो, वहां सस्वर पाठ के होने या न होने से क्या अन्तर पड़ जाएगा ?

'अष्टाध्यायी' न तो 'काव्य' है और न ही 'मन्त्र', जिसके पाठ की रक्षा के लिए स्वर या अन्य किसी विधि के विधान की आवश्यकता हो। 'लघुतम उपाय' को 'लघु' रखने के लिए जहां शब्द के लोकमान्य रूपों का स्वयं प्रयोग किये बिना भी उनके सन्धान की विधि बताई गई हो, वहां शब्दों का व्यक्तिगत रूप या अर्थ मुख्य न रहकर सूत्र का अर्थ मुख्य रहता है। सूत्र का यह 'संहत' 'या' 'संहिता' रूप ही वहां इकाई होता है। अतः उसमें प्रयुक्त

१. म० १.१.१ के 'उद्योत' में।
२. मी०, पृ० १५६-७।

शब्दविशेष का अर्थ उतना अभिप्रेत नहीं है। पाणिनि ने अपने सूत्रों के अर्थ-निर्देश की अपनी एक पृथक् पद्धति अपनाई है, जिसे उन्होंने अनेक सूत्रों द्वारा स्वयं ही समझाया भी है। अतः स्वरयोजना का कोई आधार ही वहां विद्यमान नहीं है। अन्यथा, इतने बड़े सत्य की उपेक्षा करके पतंजलि उनके किसी भी सूत्र में यत्किंचित् भी परिवर्त्तन क्यों सुझाते ? उस परिवर्त्तन के बाद क्या स्वर में परिवर्त्तन न आ जाएगा ? तब क्या पाठ और अर्थ अपनी पूर्वस्थिति बनाए रख सकेंगे ?

अतः स्पष्ट है कि पाणिनीय सूत्र जिस उद्देश्य से रचे गए थे, उससे 'सस्वर पाठ' का मेल नहीं बैठता।

पाणिनि : वृत्तिकार

मीमांसक तथा कुछ अन्य विद्वान् पाणिनि को अपने सूत्रों की वृत्ति का रचयिता भी मानते हैं। आश्चर्य ही है कि उस वृत्ति की रक्षा का भार न तो महाभाष्य ने लिया, न किसी अन्य ने। आज पाणिनि के सूत्रों पर जो टीका-टिप्पणी मिलती है, उसका आकार-प्रकार सर्वथा परिवर्त्तित होता, यदि कहीं पाणिनिकृत ऐसी किसी वृत्ति का यत्किचन संकेत भी मिल जाता। विद्वानों का यह कहना दो प्रमाणों पर आधारित है।

पहला प्रमाण वे महाभाष्य को मानते हैं। हम महाभाष्य का इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण लेंगे, जहां व्याकरण की चर्चा आई है। 'व्याकरण क्या है ?' इस प्रश्न को उठा कर 'सूत्रं व्याकरणम्' और 'लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्' की अनर्थकता दिखाते हुए पतंजलि अन्त में कहते हैं : "शब्दाऽप्रतिपत्तिः। किं तर्हि, व्याख्यानतः ?···ननु च तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवति।··· सूत्रस्याभिव्यक्त्युपायो व्याख्यानं न केवलं चर्चापदानि।···किं तर्हि व्याख्यानं ? स्मृत्युदाहरणप्रत्युदाहरणवाक्याध्याहारश्चेति समुदितं व्याख्यानं भवति[1]।"

जिसे मीमांसक 'वृत्ति' कह रहे हैं, उसे ही यहां 'व्याख्यान' कहा है। स्पष्टतः शंका उनके सामने यह है कि क्या पाणिनि ने जो सूत्रपाठ किया है, क्या उतने मात्र को ही 'व्याकरण' मान लिया जाए ? पाणिनिशिष्यों ने उसके समुदित उदाहरणों को भी सूत्रों से सम्बद्ध करना चाहा। तब प्रश्न उठा. होगा कि 'व्याकरण' में 'सूत्र' के साथ 'उदाहरण' को भी गृहीत किया जाए या

---

१. म० १. १. १।

नहीं ? तब कहीं उन वृत्तियों या व्याख्यानों की स्थिति आई, जिनके आधार पर उदाहरण, प्रत्युदाहरण और सूत्रार्थ (या वाक्याध्याहार) की उपस्थिति सम्भव हुई। इस सब को मिलाकर ही 'व्याख्यान' कहा गया। यहां ये दो बातें स्मर्त्तव्य हैं कि प्रथम शब्द 'स्मृति' है, 'वृत्ति' नहीं; जैसा कि ये विद्वान् मानते हैं। फिर ये विद्वान् उदाहरण और प्रत्युदाहरण को अलग से गिनाते हैं। वाक्याध्याहार को वे भुला ही देते हैं। यदि 'वृत्ति' इन चार तत्त्वों में से एक का नाम है, तो कहना न होगा कि पतंजलि को इन चारों तत्त्वों से युक्त 'व्याकरण' ही युक्तिसंगत जँचता था, केवल वृत्तिमय मात्र नहीं। पर, यह अद्भुत बात है कि इसी 'स्मृति' शब्द की व्याख्या करने वाला भर्तृहरि का यही प्रकरण ये विद्वान् कैसे भूल गए ?

दूसरा प्रमाण उन्होंने भर्तृहरि का दिया है। 'त्रिपदी' में भर्तृहरि महाभाष्य के इसी प्रकरण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं :" **किमर्थं पुनरुत्सूत्रं न गृह्यते ? उच्यते : यदि स्मृतिसूत्रमाह सन्धीयते, अन्यथा प्रलापस्तस्य गृह्यते। तस्मादिदमेव प्रतिपत्तव्यं, सूत्रादेवोदाहरणादिविज्ञातार्थात् शब्दप्रवृत्तिरिति।...सूत्रादेव ह्यभिव्यक्तार्थाच्छब्दप्रवृत्तिरिति। यदेतदुदाहरणादीनामुपादानमेतन्नार्थतन्त्राणां भाष्यस्थानां ब्रूयात्।**"[1]

स्पष्ट है कि जिसे पतंजलि ने **'स्मृति'** कहा है, भर्तृहरि उसे ही **'स्मृतिसूत्र'** कह रहे हैं। उदाहरणादि में सम्भावना 'उत्सूत्रता' की भी हो सकती है। इसीलिए भर्तृहरि को कहना पड़ा, 'सूत्र की भावना से विपरीत कोई भी उदाहरणादि स्वीकार न किया जाए।' और, जब व्याकरण को **'स्मृतिशास्त्र'** कहा ही[2], तब 'स्मृति' से पृथक् परिगणित **उदाहरणप्रत्युदाहरणादि** का उसमें समावेश कैसे हो सकता है ? ये सब तो सूत्र के अर्थ की अभिव्यक्ति करने में सहायक और समर्थ होते हैं। क्योंकि, 'सूत्र' का अर्थ अभिव्यक्त होने पर ही शब्दों की प्रतिपत्ति सम्भव होती है। स्पष्ट है कि सूत्र का अर्थ स्पष्ट करने की आवश्यकता पाणिनि के बाद भी बनी ही रही। अन्यथा यह न कहना पड़ता : **'अभिव्यक्तार्थ सूत्र से ही शब्द की प्रतिपत्ति होती है'**। यहां भर्तृहरि का यह पुनरुक्तिबल देखने योग्य है : **'सूत्रादेव'**। उसके विशेषण वे **'विज्ञातार्थ'** और **'अभिव्यक्तार्थ'** के रूप में प्रयोग करते हैं।

---

१. त्रि० १. १. १

२. 'उच्यते स्मृतिशास्त्रमिदम्'। त्रि० १. १. १।

अतः भर्तृहरि की दृष्टि में, और उनके अनुसार पतंजलि की दृष्टि में भी, 'सूत्र' से ही शब्द की प्रतिपत्ति होती है। उदाहरण, प्रत्युदाहरण और वाक्याध्याहार के साथ मिल कर सूत्र 'व्याख्यान' कहलाता है : व्याकरण का उपदेशात्मक रूप ! पर, पाणिनि ने वैसे 'व्याख्यान' का पाठ नहीं किया था। अन्यथा, पतंजलि स्वयं न कहते : 'उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः'[1]। क्या आचार्य ने केवल सूत्ररचना ही नहीं की थी? व्याख्यान के अवसर पर उन्होंने शेष तीनों अंगों का प्रयोग अवश्य किया था। परन्तु, लिखित या ग्रन्थ रूप में केवल सूत्र ही रचे, अन्य कुछ नहीं। और, भर्तृहरि का प्रमाण तो स्वयं मीमांसक देते हैं : 'उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः, केचिद् वाक्यस्य, केचिद् वर्णस्य।'[2] क्या लिखित 'वृत्ति' के रहते यह सब अनिश्चितता सम्भव थी? तब न सूत्रों के संहितापाठ या सूत्रपाठ का प्रश्न रहता, न उसके पाठभेद का, और न उनके वृत्तिभेद का ही ! यह सब शंका उत्पन्न ही इसलिये हुई कि पतंजलि के शब्दों का मीमांसक ने अर्थ किया : "आचार्य ने सूत्रों को संहिता के रूप में पढ़ा : उभयथा सूत्रप्रणयनात्।"

अतः पाणिनि को अपने ही सूत्रों का वृत्तिकार मानना निष्प्रयोजन और परम्पराविरुद्ध प्रतीत होता है।

अन्य वृत्तियां

ऊपर के विवेचन से ही 'वृत्ति' का अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है : विगृहीतार्थ। पर इस विगृहीतार्थ में उदाहरण, प्रत्युदाहरण, आदि का भी समावेश होता है। क्योंकि वास्तव में 'वृत्ति' का प्रयोजन 'व्याख्यान' है। और, उदाहरणादि के विना वह सूत्रार्थ का पूर्ण ग्रहण कराने में समर्थ नहीं रहता। अतः सूत्रसहित वृत्ति, या वृत्तिसहित सूत्र, ही पाणिनीय व्याकरण के परवर्त्ती अध्ययन-अध्यापन में आधार बने। तब यही 'व्याकरण' कहलाने लगा।

प्रमाण

पतंजलि से पहले कई वृत्तियां बन चुकी थीं, इस बात की पुष्टि कई प्रमाणों से होती है। यदि व्याडिकृत 'संग्रह' और कात्यायनीय 'वार्त्तिकों' की बात छोड़ भी दी जाए, तब भी जब पतंजलि पाणिनि के सूत्रों के अनेकविध

---

१. म०, पा० १.४.१।
२. त्रि० १.१.३.१।

अर्थों का निर्देश करते हैं, तव उनका संकेत अपने से पूर्ववर्त्ती आचार्यों द्वारा मान्य विविध अर्थों से ही हो सकता है।

परन्तु, यहां हम एक शंका अवश्य रखना चाहेंगे। क्योंकि, उसके अभाव में दोनों पक्ष स्पष्ट नहीं होंगे। शंका यह है कि पतंजलि ने किसी सूत्र के अनेक अर्थों के अस्तित्व की ओर संकेत किया है, केवल इतने मात्र से ही पाणिनीय सूत्रों पर रचित वृत्तियों की विद्यमानता कैसे सिद्ध होती है ? न ही 'वृत्तिकाराः पठन्ति' आदि शब्दों से यह बात सिद्ध होती है। कारण यह है कि पाणिनि ने अनेक सूत्र अपने से पूर्ववर्त्ती व्याकरणों में से मान्य परम्परा और अविकृत तथ्य के कारण अपनाए हैं। यह बात प्रायः प्रत्येक पाणिनीय विद्वान् को, और पतंजलि को भी, मान्य है। जब ऐसा है, तब यह भी सम्भव है कि ऐसी भिन्नार्थता का निर्देश ऐसे ही सूत्रों के विषय में हो ! क्योंकि उन व्याकरणों पर तो इस बीच कई टीकाएं और भाष्य लिखे ही गए होंगे ! अतः 'वृत्तिकार' केवल पाणिनीय व्याकरण के ही 'वृत्तिकार' नहीं माने जा सकते।

किन्तु, एक प्रमाण इस धारणा के पक्ष में भी जाता है। महाभाष्यकार पतंजलि, त्रिपदीकार भर्तृहरि, और प्रदीपकार कैयट, आदि हमें इस सत्य को दोहराते दीखते हैं कि "पाणिनि ने शिष्यों को ऐसा भी पढ़ाया, और ऐसा भी"। अथवा "पाणिनि का अभिप्राय ऐसा भी है, और ऐसा भी।" इन बातों को हम पूर्व ही कह आए हैं। आखिर, पाणिनि के कुछ सदी बाद से लेकर एक सहस्राब्दी बाद तक होने वाले ये आचार्य कैसे जान पाए कि पाणिनि का अभिप्राय क्या था ? या, उसने अपने शिष्यों को 'उभयथा' कैसे पढ़ाया था ? 'पाणिनीयाः' का प्रयोग भी चिन्त्य है। 'पूर्वपाणिनीयाः—अपरपाणिनीयाः' की चर्चा हम पहले कर ही चुके हैं। 'भारद्वाजीयाः पठन्ति' कहने वाले पतंजलि भारद्वाजशिष्यों द्वारा अपनाई गई प्राचीन 'वृत्तियों' का ही संकेत देते हैं। तब 'पाणिनीयम्' का प्रयोग 'पाणिनि-सम्मत' के अर्थ में, और 'पाणिनीयः' का प्रयोग 'पाणिनिशिष्य' के अर्थ में अवश्य ही पाणिनीय मत की पूर्वतर व्याख्याओं की विद्यमानता का संकेत करता है। फिर, 'कुणिदर्शनमाश्रित्य' आदि प्रयोग स्पष्ट करते हैं कि कुणिप्रभृति आचार्यों की चिन्तनपद्धति व्यक्तिगत छाप लिए हुए थी।

अतः अधिक सम्भव यही है कि पाणिनि से पूर्ववर्त्ती व्याकरण पर जहां कई वृत्तियां पतंजलि के समय विद्यमान रही होंगी, वहां पाणिनि के व्याकरण पर

'पाणिनीय' शिष्यों या आचार्यों द्वारा रची गई वृत्तियों से भी पतंजलि अवश्य परिचित रहे होंगे।

कुछ प्राचीन वृत्तिकार

कुणि

पतंजलि ने नाम्ना जिनका उल्लेख नहीं किया, किन्तु भर्तृहरि, कैयट एवं हरदत्त ने जिनको उद्धृत किया है, उनमें से 'कुणि' एक हैं। वृत्तिकार कुणि के सम्बन्ध में अधिक ज्ञात नहीं है। भर्तृहरि १. १. ३८ पर, कैयट १.१.७४ पर, और हरदत्त १.१.१ पर इनके मत को उद्धृत करके कहते हैं कि पतंजलि ने इनके मत का अनुसरण किया है।

माधुरी या माथुरी वृत्ति

इसका नाम उभयथा मिलता है। पा० ४. ३. १० पर पतंजलि इसका उल्लेख करते हैं। किन्तु, वे इसका कोई उदाहरण नहीं देते। इसका उदाहरण पुरुषोत्तमदेव ने अपनी 'भाषावृत्ति' में १.२.५७ पर दिया है। इसके अनुसार 'अशिष्य' का प्रयोगक्षेत्र पतंजलि १.२.५७ तक ही मानते हैं, किन्तु माथुरी वृत्ति के अनुसार 'अशिष्य' का क्षेत्र 'पादसमाप्ति' अर्थात् १.२.७३ तक है। चन्द्राचार्य्य ने इसीलिए इन परवर्त्ती सोलह सूत्रों को भी उसी प्रकार ग्रहण नहीं किया, जिस प्रकार उन्होंने पतंजलिप्रोक्त१.२.५३ से ५७ तक के सूत्रों को अशिष्य मान कर छोड़ दिया है। इस आधार पर मीमांसक जी का अनुमान है कि चन्द्राचार्य्य इस वृत्ति से परिचित और प्रभावित थे। इसके कर्त्ता के नामादि का ज्ञान नहीं मिलता है।

श्वोभूति

इसकी रचित वृत्ति की सम्भावना जिनेन्द्रबुद्धि के पा० ७.२.११ पर दिये वक्तव्य से होती है। वह लिखता है: 'श्वभूतिव्याडिप्रभृतयः...इत्येवमाचक्षते।' इससे दो बातें सिद्ध होती हैं। एक यह कि 'श्वभूति' पाणिनि का वृत्तिकार था, या उसने 'श्र्युकः किति' समेत किसी प्राचीन व्याकरण पर टिप्पणी या वृत्ति लिखी थी। और, दूसरा यह कि वह व्याडि से सम्भवतः पहले हुआ था। 'प्रभृति' शब्द से यही ध्वनि मिलती है। परन्तु, महाभाष्य के १.१.७.५६ पर उद्धृत एक श्लोकवार्त्तिक के अनुसार 'श्वोभूति' नाम किसी वार्त्तिककार के शिष्य का था। 'शिष्य' की बात उव्वट सुझाते हैं।

अर्वाचीन वृत्तियाँ और वृत्तिकार

वररुचि

वाररुच 'निरुक्तसमुच्चय' के कर्त्ता वररुचि कात्यायन, जिन्हें मीमांसक प्रसिद्ध वार्त्तिककार से अभिन्न मानते हैं और जो किसी राजा के धर्माधिकारी थे, अष्टाध्यायी की एक वृत्ति के रचयिता भी थे। इसका एक हस्तलेख मद्रास के राजकीय पुस्तकालय में है। इनका असल नाम 'श्रुतिधर' था और इन्हें 'वररुचि' की पदवी विक्रमादित्य ने दी थी, यह सूचना 'सदुक्तिकर्णामृत' के एक श्लोक से मिलती है।[1] परन्तु, काशिनाथ अभयंकर इस नाम वाले परवर्त्ती दो वैयाकरणों की उपस्थिति तो मानते हैं, पर वे वृत्तिकार के रूप में वररुचि को नहीं मानते। वृत्तिकार वररुचि की प्रामाणिकता मद्रास की उक्त वृत्ति के प्रकाश में आने पर ही सिद्ध होनी सम्भव है। मीमांसक ने इस विषय में अनेक प्रमाण दिए हैं। पर, बाद में वे स्वयं भी मद्रास की 'वृत्ति' को वररुचिकृत मानने से निषेध कर देते हैं।

देवनन्दी

जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता पूज्यपाद देवनन्दी ने 'शब्दावतार न्यास' नाम से एक 'न्यास' का निर्माण किया था, ऐसा संकेत मिलता है। परन्तु, ये आचार्य बहुत परवर्त्ती हैं। इनका काल वर्धमान के अनुसार चन्द्राचार्य्य और भर्तृहरि के बीच में बैठता है। सम्प्रति इनका 'न्यास' उपलब्ध नहीं है। इन्होंने अपना 'जैनेन्द्र व्याकरण' भी रचा था, जो सम्भवतः चान्द्र व्याकरण के अनुकरण पर ही रचा गया था। क्योंकि, दोनों ही 'एकशेषहीन व्याकरण' के रचयिता माने गए हैं।

जयादित्य-वामन

पतंजलि के परवर्त्ती वृत्तिकारों की वृत्तियों में से जो तीन वृत्तियाँ सर्वप्रसिद्ध हुईं, उनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध वृत्ति 'काशिका' नाम से विख्यात है, जिसके लेखक उक्त दो व्यक्ति हैं। इस वृत्ति की उपयोगिता स्वयं तो महाभाष्य के समकक्ष, उससे भिन्न परम्परा का अनुगमन करने के कारण; है ही; किन्तु इससे भी अधिक इसका महत्त्व है 'प्राचीनतर वृत्तियों' के मतों का उल्लेख करने में। इसका वर्णन हम बाद में करेंगे।

१, मी०, पृ० २०७।

जिनेन्द्रबुद्धि का न्यास

यह वस्तुतः स्वतन्त्र 'वृत्ति' न होकर 'काशिका' पर रचित वृत्ति है। अतः इसका उल्लेख भी यथास्थल ही उचित रहेगा।

हरदत्त : पदमञ्जरी

न्यास के समान इसका सम्बन्ध भी 'काशिका' के साथ है। अतः इसका वर्णन भी वहीं करेंगे।

भागवृत्ति

इन तीनों वृत्तियों के वाद प्रसिद्धि की दृष्टि से 'भागवृत्ति' को स्थान प्राप्त है। इसके रचयिता का नाम एक स्थान पर 'भर्तृहरि' और दूसरे स्थान पर 'विमलमति' मिलता है। परन्तु, भर्तृहरि के शेष दो पाणिनीय ग्रन्थों से इसमें मतविरोध स्पष्ट पाये जाने से, इसे उससे भिन्न कर्त्ता का कृतित्त्व मानना ही उचित होगा। इस पर भी हम पृथक् विचार करेंगे।

शेष

पुरुषोत्तमदेव की 'भाषावृत्ति', शरणदेव की 'दुर्घटवृत्ति', अप्पयदीक्षित के 'सूत्रप्रकाश', और स्वामी दयानन्द के 'अष्टाध्यायीभाष्य' के अतिरिक्त अन्य अनेक वृत्तियाँ भी 'अष्टाध्यायी' पर रची गई हैं। किन्तु, इस लघु विवेचना में हम यथास्थान इनमें से कुछ का ही उल्लेख करेंगे।

व्याकरण पर रचित 'भाष्य'

पाणिनि की अष्टाध्यायी पर रचे गए भाष्यों में सर्वप्रसिद्ध 'महाभाष्य' पतंजलि द्वारा रचा गया है। इस पर हम आगे चलकर स्वतन्त्र विचार करेंगे। पर, यहाँ इतना निर्देश करना आवश्यक है कि इस 'महाभाष्य' के अस्तित्व में आने पर आगे के भाष्यकारों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध 'अष्टाध्यायी' से छूट गया। उनके लिए यह 'महाभाष्य' ही उनके द्वारा रचित 'भाष्यों' का आधार और व्याख्येय हो गया। पर, भर्तृहरि जब कहते हैं : 'सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः'[1], तब वे पतंजलिभिन्न अनेक भाष्यों की चर्चा कर रहे होते हैं। 'भाष्य' का अर्थ वे भली प्रकार जानते हैं। उनको ज्ञात ये भाष्य पतंजलि से पूर्व के हैं या उत्तर के ?, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता।

---

१. वा० १.२३।

इस प्रकरण पर अधिक हम बाद में ही लिखेंगे। यहाँ यह गिना देना अयुक्ति-संगत न होगा कि इस परम्परा के सर्वज्ञात और मुख्य नाम हैं : पतंजलि, चन्द्राचार्य्य, भर्तृहरि, कैयट, भट्टोजि और नागेश। इनका विचार हम यथास्थल करेंगे।

पाणिनि की देन : अष्टाध्यायी

महत्त्व

हमने इस अध्याय के आरम्भ में ही कहा है कि पाणिनि की अकेली कृति **अष्टाध्यायी** ने ही भारत को जो गौरव प्रदान किया है, वह गौरव किसी भी अन्य कृति ने नहीं दिया। भारत विषयक अभिरुचि रखने वाला कोई भी व्यक्ति इसके नाम से, या पाणिनि के नाम से, अपरिचित नहीं है। लगता है, जैसे पाणिनि और **अष्टाध्यायी** एक-दूसरे के पर्याय हो गए हों। **वेदों** का विद्वान् उसको पढ़े बिना स्वयं को पंगु समझता है। **अपभ्रंश और प्राकृत** का अनुसन्धान करने वाले विद्वान् तक भी पाणिनि की शब्दावली में से अपने लिए उपयोगी नियम और शब्द ढूंढने के लिए मतवाले रहते हैं। पाश्चात्य विद्वानों को उसके व्याकरण का परिचय मिलने के बाद से **व्याकरण, भाषाविज्ञान** अथवा **भाषाशास्त्र** का कोई भी क्षेत्र पाणिनि की देन के प्रभाव से अछूता नहीं रह गया है। विश्वभर के वैयाकरण उससे प्रकाश पाने को सदा उत्सुक और मुखापेक्षी रहते हैं। अपने से पूर्व युग के **इतिहास, धर्म और साहित्य** के सर्वाङ्गीण परिचय के लिए जैसे वही एकमात्र शरण रह जाता है। कम से कम ५०० ई० पू० से पूर्व के भारतीय साहित्य की प्रामाणिकता का निश्चय अब भी पाणिनि की कसौटी पर ही किया जाता है। भाषाविज्ञान और व्याकरण के सम्बन्ध में कोई भी सत्य ऐसा नहीं है, जिसके पक्ष या विपक्ष में पाणिनि या उसके अनुयायियों का मत उपस्थित न किया जाता हो। और, उसकी यह सब प्रसिद्धि है, केवलमात्र **'अष्टाध्यायी'** के कारण! उसकी अन्य कृतियों को तो लोग भूल ही चुके हैं।

विरोधाभास

और, क्या यह अद्भुत विरोधाभास नहीं है कि उस पाणिनि के कृतित्व का जितना ही अधिक अनुसन्धान हो रहा है, उतना ही यह भी सिद्ध होता जा

रहा है कि उसकी 'अष्टाध्यायी' में उसका स्वकीय बहुत ही कम है। कम से से कम वे बातें, जिन्हें विश्व अत्यन्त चमत्कारपूर्ण समझता है, यथा लोप-प्रक्रिया, ध्वनिपरिवर्त्तन, आदि, उससे बहुत पहले की स्थापित वा प्रचलित हैं। इस पर भी आश्चर्य की बात यह है कि पाणिनि के प्रति विद्वानों की श्रद्धा और उसकी प्रतिभा का प्रभाव नित्य विकास ही पाता जा रहा है। ऐसा क्यों ? उसके व्याकरण के सामने उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण देन देने वाले वैयाकरणों का नाम भी शेष क्यों न रहा ?

उत्तर

इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए हमें ज़रा गहरे में जाना होगा। तब हम पाएँगे कि पाणिनि ने जो कुछ भी कहा है, और उसे जिस रूप में कहा है, वह चाहे पूर्वाचार्यों की बात हो, या उनकी पुनरुक्तिमात्र, पाणिनि उसे अपनी बनाकर और पूरे उत्तरदायित्व के साथ कहते हैं। उनसे यदि सचमुच कुछ छूट गया है, तब यह उनकी अपनी ही त्रुटि है। और, यदि उन्होंने परिवर्त्तित करके कुछ पढ़ा है, तब यह उनकी ही दृष्टि का प्रसाद या फल है। कात्यायन, पतंजलि, आदि का प्रहार उन्हें स्वयं सहना पड़ा है, पूर्वाचार्यों को नहीं। वेद या लोक की शब्दराशि के विषय में उनका प्रामाण्य या अप्रामाण्य विचारकों की आलोचना का विषय बन जाता है। हम कह चुके हैं कि अकेले इस ग्रन्थ पर कुल मिलाकर जितनी टीका-टिप्पणी या भाष्यालोचन हुआ है, उतना किसी अन्य एकाकी संस्कृत ग्रन्थ पर नहीं हुआ। यह सब सम्भव हुआ, पाणिनि की आधिकारिक और अधिकारपूर्ण शैली के ही कारण।

नवीनता : लोप

डा० जोशुआ व्हाट्माऊ ने पाणिनि को 'शून्यीकरण' (ज़ीरोविधा) का सबसे बड़ा विशेषज्ञ कहा है; यद्यपि डा० शवारियां ऐगुलैर जैसे विद्वान् इस विषय में पाणिनि की अनेक कमियाँ पाते हैं।[1] हमने इन दोनों को दो छोरों के रूप में प्रकट किया है। परन्तु, ये दोनों विद्वान् कदाचित् इसी विश्वास को लेकर बढ़े हैं कि 'लोप' की तकनीक का आविष्कार पाणिनि ने

---

१. एगु०, चौबीसवें अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्य कांग्रेस अधिवेशन। पढ़े गए 'लेख' के आधार पर।

ही किया था। किन्तु, थोड़ा भी व्यापक अध्ययन करते ही यह स्पष्ट हो जाएगा कि 'लोप' की धारणा, ठीक इन्हीं अर्थों में, पाणिनि से सदियों पहले ही पूर्ण रूप से स्थिर हो चुकी थी। यास्क जब लोप, उपजन, वर्ण-व्यत्यय और विकार आदि की चर्चा करते हैं और लोपादि के उदाहरण धाराप्रवाह रूप में विविध स्थितियों को स्पष्ट करते हुए देते हैं[1], तब वे किसी नई बात को नहीं कह रहे होते। 'अथर्वप्रातिशाख्य' का अन्तिम सूत्र उनकी मान्यता का आधार बना दीखता है। प्रातिशाख्यों में 'लोप' के द्वारा अनेकानेक शब्दों की रचना के रहस्य को सुलझाया गया है। पाणिनि से उनका पौर्वापर्य निश्चय करने का एकमात्र आधार यह 'लोप' का प्रयोग ही बनाया जा सकता है। 'प्रातिशाख्य' बिना किसी नियम को बताए विविध स्थितियों के उदाहरणमात्र गिनाते हैं, जब कि पाणिनि उन सब स्थितियों में अन्तर्हित कारणों या नियमों को ढूंढ निकालते हैं। अन्तर यही है कि जिसे और विद्वान् एक सामान्य प्रक्रिया मान कर बढ़ते हैं, पाणिनि उसमें भी एक नियमित व्यवस्था को ढूंढ निकालते हैं। 'लोप' इसी नियमित व्यवस्था का सबसे बड़ा उदाहरण है। इसीलिए हमने पाणिनि से पहले ही 'प्रातिशाख्यों' की रचना स्वीकार की है।

फिर पाणिनि ने इसकी चार स्थितियों—या तीन—को खोज निकाला है। 'लोप' एक सामान्य स्थिति है।[2] इसे पाणिनि 'अदर्शन' मानते हैं, जबकि वाजसनेय प्रातिशाख्य में इसे ही 'वर्ण का अदर्शन' कहा गया है।[3] पाणिनि द्वारा 'वर्ण' तक ही लोप को सीमित न रखने का कारण उनकी वह वैज्ञानिक दृष्टि है, जिसके द्वारा वह अपने क्षेत्र को लाँघकर भी 'ऋषि' का सच्चा पद पा सके हैं। इस 'लोप' की ही तीन विविध स्थितियों को पाणिनि लुक्, श्लु और लुप् के रूप में मानते हैं।[4] किन्तु, प्रत्यय का 'लोप' होने पर भी उसका 'दर्शन' सम्भव है।[5] अर्थात्, उसकी उपस्थिति कल्पित करके कार्य

---

१. नि० २.१.४ से आगे।
२. पा० १.१.६०।
३. वा० प्रा० १.१४१।
४. पा० १.१.६१।
५. पा० १.१.६२।

होते हैं। जबकि, लुक्, श्लु, लुप् की स्थिति में 'प्रत्यय' की उपस्थिति कल्पित करके कार्य होने की संभावना नहीं रहती।[1] ये दो स्थितियाँ तो दो भिन्न कार्यप्रणालियों को सिद्ध करती ही हैं; किन्तु पाणिनि की दृष्टि इससे भी आगे जा पहुँचती है। वे जब 'लु' वाली तीन भिन्न-भिन्न स्थितियों की कल्पना करते हैं, तब उनकी दृष्टि 'लोप' की सामान्य बात को ही एक सही और पूर्ण-तकनीकी रूप देना चाहती है। और, यहीं पाणिनि का उत्कर्ष या कमाल है। पाणिनि इन तीनों को ही तीन विविध स्थितियों में कार्य करता देखते हैं। 'लुक्' वह स्थिति है, जहाँ हम एक अनिवार्य स्थिति का सर्वथा अभाव पाते हैं और उसकी कोई अन्य व्याख्या नहीं कर सकते। यथा; अदादिगण में 'शप्' या उसके स्थानीय किसी सार्वधातुक विकरण का न होना। परन्तु, 'श्लु' इससे सर्वथा भिन्न है। वह इस बात में तो 'लुक्' से अभिन्न या समान है कि वहाँ भी तथाकथित प्रत्यय का सर्वथा और सामान्यविरुद्ध अभाव पाया जाता है। किन्तु, इस बात में वह 'लुक्' से भिन्न स्थिति का द्योतक है कि ऐसा 'अभाव' होने पर भी उसका प्रभाव किसी न किसी रूप में पड़ता ही है। यथा, उससे पूर्व की धातु को द्वित्व हो जाता है। जुहोत्यादिगण का अदादिगण से अन्तर इसी 'श्लु' और 'लुक्' के भेद पर आधारित है; यद्यपि सामान्यतः दोनों ही स्थलों पर सर्वत्र पाए जाने वाले किसी भी प्रत्यय या आगम का अभाव या अदर्शन पाया जाता है।

'लोप' की इन स्थितियों का उपयोग पाणिनि ने किन जटिल गुत्थियों को सुलझाने के लिए किया है, यह बात क्विप्, क्विन्, च्लि, विन्, आदि सर्वथा लुप्त हो जाने वाले प्रत्ययों की मान्यता से पता चलती है। 'लिह्' का 'लिड्', और 'दुह्' का 'धुक्', में परिवर्तन कैसे होता है, इस बात को समझाने के लिए 'क्विप्' और 'क्विन्' के ऐसे विभेदक प्रत्ययों का विधान करना, जो अन्ततः सर्वथा अदृश्य ही रहते हैं, पाणिनि की प्रतिभा की उस सूक्ष्मता को बताता है कि जिसके द्वारा वह किसी भी ध्वनि-परिवर्तन का कोई न कोई कारण ढूंढे बिना आगे नहीं बढ़ते। उनके बताए गए ये प्रत्ययादि व्यवधान 'आनुमानिक' कहे जा सकते हैं। किन्तु, विज्ञान भी तो 'अनुमान' के सहारे ही 'चरम सत्य' की उपलब्धि में विश्वास रखता है।

---

१. पा० १.१.६३।

'ह्' एक स्थान पर 'ढ्' में पलटता है,[१] तो दूसरी जगह 'घ्' में ।[२] यह क्यों ? विज्ञान के सही उत्तर की भाँति ही पाणिनि दोनों परिस्थितियों में किसी 'शून्यता' को कारण मानकर भी उस शून्यता में उभयत्र अन्तर पाते हैं। इस अन्तर को ढूँढ निकालना ही उनका कमाल है। दृष्टि की इतनी अधिक वैज्ञानिकता पाणिनि से पहले दुष्प्राप्य रही ।

संज्ञाएँ

पाणिनि द्वारा अपनाई गई तकनीकी संज्ञाओं पर भी पर्याप्त लिखा गया है।[३] हम कह चुके हैं कि यद्यपि ऐसी अनेक संज्ञाएँ पाणिनि ने अपने पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों और प्रातिशाख्यकारों से अपनाई हैं। फिर भी, उन्होंने कुछ प्रतीकात्मक संज्ञाओं का नया निर्माण भी किया है, जो उन्हें अन्य वैयाकरणों से पृथक् आधार पर स्थित करता है। पतंजलि ने संज्ञाओं के एक वर्ग को 'महती संज्ञा' का नाम दिया है। मीमांसक इसका अर्थ 'बड़ी संज्ञाएँ' करते हैं। वे इसकी तुलना में एक नया शब्द घड़ते हैं : लघ्वी संज्ञा। पर, पतंजलि तो 'संज्ञा' को स्वतः 'लघूकरण' के लिए मानते हैं।[४] अतः 'संज्ञा' होकर कोई बड़ी-छोटी कैसे कही जा सकती है ? पतंजलि स्वयं उत्तर देते हैं : 'अन्वर्थक संज्ञा' को 'महती संज्ञा' कहा जाता है।[५] अतः बड़ी-छोटी संज्ञाएं न हो कर सार्थक और शब्दार्थहीन—दो ही प्रकार की संज्ञाओं का अस्तित्व पतंजलि को स्वीकार है।

उदाहरणार्थ, क्रिया, संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, नपुंसक, आत्मनेपद, परस्मैपद, आदि 'महती संज्ञाएं' हैं; क्योंकि वे अन्वर्थक हैं। किन्तु, टि, घु, घि, नदी, श्लु, लुक्, लट्, लिट् इत्, हल्, अच्, आदि संज्ञाएं दूसरी कोटि में आती हैं। इनका प्रयोग उपयोगिता की दृष्टि से किया गया है। स्वयं पाणिनि की निर्मित 'प्रातिपदिक', 'अंग', आदि संज्ञाएं 'महती' या अन्वर्थक हैं। यही नहीं 'षट्' और 'संख्या' में से 'संख्या' 'महती संज्ञा' है, 'षट्' नहीं। जिन संज्ञाओं का

---

१. हो ढः। पा० ८.२.३१।

२. दादेर्धातोर्घः। पा० ८.१.३२।

३. इस विषय में लेखक का ही एक लेख 'विश्वज्योति', १९६१ ई०, में प्रकाशित हुआ था—"भारतीय व्याकरण की भाषावैज्ञानिक दृष्टि"।

४. म० १.१.१।

५. म० १.१.५.२३ : "अथवा महतीयं संज्ञा०", आदि।

कार्य केवल व्याकरणात्मक सुविधा उत्पन्न करना है, अर्थ-संकेत करना नहीं, वे संज्ञाएं महती नहीं कही जा सकतीं। महती संज्ञा व्याकरणात्मक कार्य के साथ-साथ अर्थगौरव को भी वहन करती है।

संक्षेप

पाणिनि की शैली का सर्वोत्तम गुण 'संक्षेप' बताया जाता है। यद्यपि पाणिनि के परवर्त्ती वैयाकरणों ने उसके ही अनुकरण पर और भी संक्षेप करना चाहा, पर तब भी यह गौरव पाणिनि को ही मिला कि व्याकरण को शब्दज्ञान का 'लघु' अथवा 'लघुतम' उपाय तक कहा गया। पतंजलि और भर्तृहरि इस विषय में समान बल देते हैं। पतंजलि कहते हैं : 'लघ्वर्थं खल्वध्येयं व्याकरणम्।'[1] और भर्तृहरि टिप्पणी करते हैं:"तेषां च ज्ञाने व्याकरणादन्यो लघुरुपायो नास्ति। तस्माद् व्याकरणं लघुरुपायः। शब्दज्ञानं प्रति अन्य उपाय एव न संभवति !...अथवा अचिरंकाला संप्रतिपत्तिर्लाघवम्। तस्य व्याकरणमुपायः।"[2] और, पाणिनि ने इन्द्र द्वारा आरम्भ की हुई लघूकरण की प्रक्रिया को इतनी पूर्णता तक पहुँचाया कि एक पूर्वोक्त कथन के अनुसार उसके व्याकरण का आधार इन्द्र-व्याकरण के आकार से पच्चीसवां भाग ही रह गया[3]। 'महाभारत' के अनुसार ऐन्द्र व्याकरण महार्णव था, जबकि पाणिनीय व्याकरण गोष्पद ही था।[4]

इसी संक्षेप वृत्ति का ही परिणाम था कि पाणिनि ने सूत्र में प्रयोग के लिए सभी शब्दरूप, अपने ही व्याकरण के नियमों के अनुरूप न अपनाकर, बहुधा 'सौत्र' रूप में अपनाए हैं। उनके सौत्र प्रयोगों को मीमांसक एवं कुछ अन्य विद्वान् दोष मानते हैं,[5] जबकि इसी पद्धति को अन्य विद्वानों ने उनका कौशल माना है।

दार्शनिक पक्ष

आपाततः यह स्वीकार करने में हमें आपत्ति नहीं है कि पाणिनि भाषा के दार्शनिक बनकर नहीं चले थे। उनका मुख्य क्षेत्र 'पद' रहा, जो कि स्वयं उनकी धारणा में चरम इकाई नहीं है। किन्तु, यहीं यह कह देना भी सावसर होगा कि आवश्यकता की सीमा में पाणिनि का दार्शनिक रूप वैसे ही नहीं दब पाया है, जैसे व्याडि, कात्यायन और पतंजलि आदि के दार्शनिक रूप के नीचे उनका वैयाकरण रूप नहीं दबा है। सच तो यह है कि पाणिनि

---

१. महा० १.१.१। २. त्रि० १.१.१। ३. ऐन्द्र व्याकरण के प्रसंग में तिब्बती-परम्परा को देखें। ४. इसी ग्रन्थ के पृ० पर उद्धृत 'यान्युज्जहार'...श्लोक। ५. मी०, पृ० २१७।

यद्यपि अन्य वैयाकरणों की भांति कोरे तर्कजाल में नहीं फँसे हैं, तब भी उन्होंने सच्चे भाषा-दार्शनिक की भाँति भाषा के हर दार्शनिक पक्ष पर अपने विचार स्थान-स्थान पर प्रकट किए हैं। अदर्शनं लोपः[1], परः संनिकर्षः संहिता[2], यथासंख्यमनुदेशः समानाम्,[3] चादयोऽसत्त्वे[4], विप्रतिषेधे परं कार्यम्[5], विरामोऽवसानम्, सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ[6], यस्मात्प्रत्ययविधिः०,[7] आकडारादेका संज्ञा[8], तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य,[9] लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः[10], समर्थः पदविधिः[11], स्वतन्त्रः कर्त्ता[12], तत्प्रयोजको हेतुश्च[13], कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः[14], वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा[15], स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा,[16] आदि अनेकानेक सूत्र इस बातके प्रमाण रूप में उपस्थित किये जा सकते हैं कि पाणिनि भाषा की प्रकृति को किसी भी अन्य दार्शनिक से कम नहीं समझते थे।

सच तो यह है कि उनके प्रकृति-प्रातिपदिक-अंग-पदादि के भीतर दार्शनिक की सजगता छिपी हुई है, जो उनसे पूर्ववर्त्ती किसी वैयाकरण में इतनी पूर्णता के साथ उपलब्ध नहीं होती। बाद के वैयाकरणों ने तो अनुकरण के रूप में ही वह सब अपनाया है, जिसे पाणिनि ने युक्तिपूर्वक अपनाया था। 'वाचो व्याहृतार्थायाम्[17]', एवं 'वचोऽशब्दसंज्ञायाम्',[18] के रूप में कहने वाला व्यक्ति भली प्रकार जानता था कि वाक्, वाचिक, वाच्य और वाक्य का परस्पर क्या सम्बन्ध है। यदि पूर्वोक्त 'पूर्वपाणिनीयम्' ग्रन्थ के सूत्र पाणिनिकृत ही हैं, तब तो यह सब कहने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। क्योंकि, वे सूत्र तो बार-बार उद्घोष करते हैं कि भाषा का दार्शनिक विवेचन भी पाणिनि ने ही सूत्रों के रूप में आरम्भ किया था। उसके पहले का निरुक्त में या अन्यत्र आया विवेचन सर्वथा स्वतन्त्र विचार-पद्धति का था; व्याकरणांग के रूप में नहीं।

वाक्यैक्य और पद की पंगुता के विषय में पाणिनि जब 'समर्थः पदविधिः[19]' कहते हैं, तब उनका अभिप्राय केवल समास के विधान से ही नहीं होता। 'सुप्तिङन्तं पदम्'[20] में भी पद की पंगुता का ही उद्घोष विद्यमान

---

१. पा० १.१.७० । २. पा० १.४.१०८ । ३. पा० १.३.१० । ४. पा० १.४.५७ । ५. पा० १.४.२ । ६. पा० १.४.११० । ७. पा० १.२.६४ । ८. पा० १.४.१३ । ९. पा० १.४.१ । १०. पा० ७.१.४४ । ११. पा० २.४.६० । १२. पा० २.१.१ । १३. पा० १.४.४४ । १४. पा० १.४.४५ । १५. पा० ३.१.८७ । १६. पा० ३.३.११ । १७. पा० ५.४.३५ । १८. पा० ७.३.६७ । १९. पा० २.१.१ । २०. पा० १.४.१४ ।

है; क्योंकि सुप् आदि प्रत्यय विभक्त्यर्थ में ही प्रयोग होते हैं। इसी प्रकार, 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्'[1] सूत्र में जाति-व्यक्ति की संकीर्ण स्थिति की बड़ी सटीक टिप्पणी है। और, 'अर्थनित्यः' की इससे अच्छी परिभाषा क्या होगी कि प्रातिपदिकमात्र को अर्थवत्, या प्रत्ययधातु-व्यतिरिक्त अर्थवत् शब्दमात्र को प्रातिपदिक, कह दिया गया है।[2] दूसरे शब्दों में, प्रयोगमूल प्रातिपदिक अर्थ के बिना 'प्रातिपदिक' ही कहलाने का अधिकारी नहीं है।

इसके अतिरिक्त उनके द्वारा परम्परागत अपनाई गई और रचित महती शब्दसंज्ञाओं के प्रयोग के पीछे भी उनकी दार्शनिक सजगता विद्यमान है। वास्तव में उनके लिए दर्शन और व्याकरण दो पृथक् क्षेत्र नहीं थे। तभी वैशेषिक और न्याय की अधिकांश शब्दावली उन्होंने अविशेष भाव से अपनाई है। सामान्य, विशेष, जाति, व्यक्ति, सत्, सत्त्व-असत्त्व, भाव-अभाव, द्रव्या-द्रव्य, यदृच्छा, आदि अनेकों संज्ञात्मक उदाहरण इस विषय में उद्धृत किए जा सकते हैं।

'काल' पर पाणिनि द्वारा किये गए विचार की चर्चा हम 'अकालक' की चर्चा के प्रसंग में कर ही आए हैं। उसे वहीं से देख लेना चाहिए। उससे अधिक दार्शनिक दृष्टिकोण किस वैयाकरण ने अपनाया है?

अन्य सम्बद्ध पाठ

इस सम्बन्ध में हम पाणिनिकृत व्याकरण से सम्बद्ध धातुपाठ, गणपाठ, परिभाषासूत्र, उणादिसूत्र और फिट्सूत्रों के सम्बन्ध में संक्षिप्त विचार करेंगे। क्योंकि, उनपर विचार किये बिना पाणिनि की देन का पूरा मूल्यांकन असम्भव रहेगा।

धातुपाठ

पाणिनि से पहले धातुपाठों की परम्परा सुदृढ़ हो चुकी थी, यह बात अब काशकृत्स्न के कन्नड़कवि चन्नवीर की टीका से युक्त धातुपाठ के सामने

---

१. पा० १.२.५८।
२. पा० १.२.४५।

आने के बाद से प्रमाणित हो गई है। वास्तव में 'नामान्याख्यातजानि' की बात सर्वप्रथम कहने वाले मुनि शाकटायन ने भी निश्चय ही 'धातुपाठ' लिखा था, ऐसा उसके द्वारा व्यक्त मतों की प्रामाणिकता के आधार पर कहा जा सकता है। आपिशलि के धातुपाठ का प्रमाण जिनेन्द्रबुद्धि के 'न्यास' से पर्याप्त मिलता है, जिसने अनेक स्थलों पर पाणिनि से भिन्न धातुरूप और उनके गण स्वीकार करते हुए आपिशलि की चर्चा की है। उदाहरणार्थ— 'सकारमात्रमस्तिधातुमापिशलिराचार्यः प्रतिजानीते। तथाहि न तस्य पाणिनेरिव 'अस भुवि' इति गणपाठः। किं तर्हि? 'स भुवि' इति पठति'। हरदत्त ने 'पदमंजरी' में इसे और स्पष्ट करके, 'अस्' और 'आस्' दोनों के स्थान पर 'स' धातु का अस्तित्व बताते हुए, क्रमशः 'सार्वधातुक पित्' परे होने पर 'अट्' और 'आट्' का आगम करने की बात कही है। इसी तरह स्कन्दस्वामी ने भी 'आपिशल धातुपाठ' का अस्तित्व इंगित किया है। पाणिनि से भिन्नता की दृष्टि से तो काशकृत्स्न के धातुपाठ का भी महत्त्व है। युधिष्ठिर मीमांसक ने उदाहरण देकर दोनों की कुछ धातुओं का अर्थात्मक दृष्टि से सान्तर निदर्शन दिया है। उनकी दी हुई लघु तालिका से स्पष्ट है कि काशकृत्स्न का धातुपाठ 'कातन्त्र धातुपाठ' में अनुकृत हुआ है, जबकि पाणिनि का धातुपाठ 'चान्द्र' आदि व्याकरणों में अनुकृत हुआ है।[1] महाभाष्यकार और काशिकाकार पाणिनि से भिन्न इन धातुपाठों के अस्तित्व से पूर्णतः परिचित थे।

युधिष्ठिर मीमांसक की यह उक्ति अवधेय है: "संपूर्ण संस्कृत वाङ्मय में आचार्य पाणिनि का शब्दानुशासन ही एकमात्र ऐसा आर्षतन्त्र है, जो अपने पांचों अवयवों सहित उपलब्ध है[2]।" पाणिनि के सूत्रपाठ में धातुओं का समस्त परिगणन अपने स्वरचित धातुपाठ के आधार पर ही हुआ है। किन्तु, न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि धातुगणकार और सूत्रकार को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं, और स्पष्टतः पाणिनि को धातुगणकार मानने से निषेध कर देते हैं। उनकी दृष्टि में पाणिनि केवल सूत्रकार ही हैं।

परम्परा और निर्माण

परन्तु ऊपर आपिशलि द्वारा 'स' धातु की मान्यता की चर्चा के प्रसंग में

---

१. मी०, द्वि० भा०, पृ० ३०।
२. मी०, द्वि० भा०, पृ० ३६।

न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि के ही जो, 'न तस्य पाणिनेरिव 'ग्रस भुवि' इतिगणपाठः' के रूप में, शब्द उद्धृत किए गए हैं, उनसे स्पष्ट है कि न्यासकार स्वयं इस विषय में पूर्णतः निश्चित नहीं थे। वास्तव में पाणिनि के सूत्रपाठ और धातुपाठ में कहीं-कहीं दिखाई देने वाले अन्तर्विरोध के कई कारण हो सकते हैं। उनमें से एक यह है कि पाणिनि ने बहुत से परम्परागत सूत्र तो यथावत् अपना लिए, किन्तु धातु-गणपाठादि के विषय में अपनी स्वतन्त्रता बनाए रखी। उसके धातुपाठ की प्रामाणिकता की परीक्षा 'चान्द्र' धातुपाठादि से जांच कर दी जा सकती है। वास्तव में ये गण-धातुपाठादि वैयाकरण द्वारा अपने रचे सूत्रों की स्पष्टता के लिए ही रचे जाते थे। हर वैयाकरण का यह उत्तरदायित्व माना जाता था कि वह अपने मान्य धातुपाठादि का इंगित भी करे। अन्यथा उसके कहे की प्रामाणिकता का परीक्षण या आभास कैसे होगा? यह बात दूसरी है कि वह किसी पूर्वोक्त धातुपाठ को ही अपनी सूत्र-रचना का आधार बनाए, और मात्र अपने 'मतभेदों को ही प्रदर्शित करे; अथवा वह सर्वथा नए सिरे से एक नया 'धातुपाठ' आदि अपनाए। पाणिनि ने अनुकरण और वैशिष्ट्य दोनों के सामंजस्य से अपना 'धातुपाठ' निर्मित किया। उसमें जितना अंश उसका सर्वथा आत्मकृत है, वह उनकी मौलिकता या मौलिक दृष्टि को सूचित करता है। और, जितना अंश दूसरों से अनुकृत है, वह 'चरक' की भाषा में 'संस्कृत' कहा जासकता है।[1]

दो भाग : दो कर्त्ता

दूसरा पक्ष उन लोगों का है, जो गणपाठ की भांति धातुओं के भी गण-भाग को पाणिनिकृत मानते हैं, किन्तु उसके अर्थभाग को वे भीमसेन या अन्य किसी परवर्त्ती विद्वान् द्वारा कृत मानते हैं। इस मत के मुख्य उपस्थापक नागेश हैं। किन्तु, क्या पाणिनि के विषय में यह बात उनसे पूर्ववर्त्ती अन्य किसी व्यक्ति को नहीं ज्ञात थी? भट्टोजि ने भी इसी बात को प्रामाणिक माना और कहा था। किन्तु, इनके विपरीत महाभाष्यकारादि के प्रामाण्य पर कहा जा सकता है कि जब भी पाणिनि का मत प्रदर्शित करने के लिये कोई 'धातु' पढ़ी गई है, उसका 'अर्थनिर्देश' भी 'आचार्यप्रवृत्ति के निदर्शन' के लिए साथ ही पढ़ा गया है। 'क्षीरतरंगिणी' और 'माधवीया धातुवृत्ति' में तो

---

१. च०, सि०, १२.६६.७।

पाणिनि के 'धात्वर्थपाठ' को, 'सूत्रपाठ' के समान ही, प्रामाणिकता दी गई है। सायण ने भी ऐसा ही माना है।

दो और तीन पाठ

युधिष्ठिर मीमांसक यहां भी मध्यपथ का अवलम्बन करते हैं, और पाणिनीय धातुपाठ का द्विधा प्रवचन स्वीकार करते हैं: धातुपाठमात्र या लघुपाठ, एवं धात्वर्थपाठ या बृहत् पाठ।[1] वैसे इस मत को मानने में न विशेष आपत्ति है, और न ही न मानने से कोई विशेष अन्तर आता है। क्योंकि, बिना अर्थ के धातु का अस्तित्व ही नहीं रहता। धातु-कल्पना का मूल आधार ही अर्थ की प्रवृत्ति पर निर्भर है।

मीमांसक ने इस पाठ के तीन प्रचलित रूप माने हैं, जिनमें कुछ न कुछ अन्तर स्वाभाविक है। ये हैं: प्राच्य पाठ, उदीच्य पाठ, और दाक्षिणात्य पाठ[2]। इनमें अन्यों की अपेक्षा प्राच्य पाठ में कुछ विशेष अन्तर मिलता है।

वृत्ति-रचना

इस धातुपाठ की वृत्ति रचने का कार्य कई परवर्ती वैयाकरणों ने किया। इनमें भीमसेन और क्षीरस्वामी का नाम हम पहले गिना आए हैं। सायण और मैत्रेयरक्षित का नाम और जोड़ लेना चाहिए। ऊपर जिस 'माधवीया धातुवृत्ति' की चर्चा हमने की है, वह सायणकृत ही है। किन्तु, कुछ कारिकाओं में इसके कर्त्ता का नाम यज्ञनारायण के रूप में मिलता है। सम्भव है सायण ने यह वृत्ति अपनी देख-रेख में उनसे लिखवाई हो।

गणपाठ

गणपाठ की चर्चा भी पहले आपिशलि और काशकृत्स्न के प्रसंग में की जा चुकी है। उनके गणपाठों के जो संकेत उपलब्ध हैं, वे पाणिनि से उनका मतभेद प्रदर्शित करने के लिए ही यत्र-तत्र प्रयोग किए गए हैं। परन्तु, पाणिनि ने कोई गणपाठ रचा था, न्यासकार ऐसा नहीं मानते।[3] इसपर टिप्पणी करते हुए डा० पावले लिखते हैं कि पाणिनि ने इन्हें सम्भवतः अपने आचार्य

१. मी०, द्वि०, पृ० ५२।
२. वही, पृ० ५६।
३. पा० ४.१.१०६।

से प्राप्त किया था[1]। भले ही यह बात सत्य हो, तब भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि सूत्र-रचना के प्रसंग में विविध गणों का पाठ करने वाला सूत्रकार बिना किसी 'गणपाठ' का आधार लिए नहीं चल सकता। वह जिस गणपाठ का भी आश्रय लेगा, वही, उसकी सूत्र रचना का आधार होने से, 'उसका गणपाठ' कहलाएगा। यही बात पाणिनि के भी साथ है। इसके बिना उनके व्याकरण का एक बहुत बड़ा भाग निरर्थक हो जाएगा। निश्चय ही किसी पूर्वाधार के बिना पाणिनि ऐसा नहीं कर सकते थे। गणपाठों की परम्परा का उल्लेख करते हुए डा० **कपिलदेव शास्त्री** ने इस लम्बी परम्परा का उल्लेख किया है, और बताया है कि प्रातिशाख्यों तक में 'गणपाठ' की परम्परा के संकेत उपलब्ध होते हैं।[2]

अतः यह तो न्यायसंगत और स्वाभाविक ही दीखता है कि पाणिनि ने किसी गणपाठ को अपने सूत्रों का आधार बनाया था। यह गणपाठ उसका स्वरचित था, यह बात उसमें गृहीत कुछ ऐसे शब्दरूपों के प्रयोगों की उपलब्धि से पता चलती है, जो प्रातिशाख्य या किसी अन्य परम्परा से आए हैं। 'राजासे, हृदयासे, वाजासे,' आदि पाणिनि-परिगणित शब्द **ऋक्तन्त्र** की पद्धति के दीखते हैं, जिसे पाणिनि ने अविकल रूप में किसी प्राचीन पाठ से अपना लिया है। **सूत्रपाठ** और **धातुपाठ** की भांति श्री मीमासंक पाणिनीय गणपाठ के भी लघु और बृहत् दो रूप मानते हैं। यह विचारणीय है। हां, उनका यह कथन उचित ही है कि जब एक ही गण में परिगणित शब्दों के बीच अन्य छोटे गणों का पाठ सौत्र रूप में पाणिनि करते हैं, तब वे निश्चय ही प्राचीन गणपाठों के उन गणों का उल्लेख करते हैं, जिन्हें उनमें स्वतन्त्र रूप से पढ़ा गया था। उदाहरणार्थ, हम पूर्वोक्त आपिशलिपठित गणपाठ की बात को ले सकते हैं, जिसमें पाणिनि के **सर्वादिगण** को **किमादि** (पाणिनीय : **त्यदादि**), **सर्वादि**, और **पूर्वादि** गणों के तीन वर्गों में पढ़ा गया है। सम्भवतः यही आधार रहा होगा भर्तृहरि के उस वचन का, जिसके अनुसार सर्वनाम के तीन विषय होते हैं : **कलावत्, संख्यावत्,** और **प्रकारवत्**।[3]

इस सम्बन्ध में सबसे अधिक निराशा की बात यह थी कि इसके सभी

---

१. मी०, द्वि०, १२५ पृ।
२. कपि०, गणपाठ०, अध्याय-२।
३. व्या० द०, ६,२०२।

उपलब्ध पाठ एक-दूसरे से मिलते-जुलते नहीं थे। अतः यह हर्ष की ही बात है कि डा० कपिलदेव शास्त्री ने शोध के साथ इसका शुद्ध संस्करण तैयार किया है। इससे अनुसन्धित्सुओं का कार्य पर्याप्त हलका हो जाएगा।

उणादिपाठ या उणादिकोश

पाणिनि ने कृदन्त सूत्रों के मध्य 'उणादयो बहुलम्[1]' पढ़ा है। प्रत्ययों का यह पहला गण नहीं है। 'आयादय आर्धधातुके वा[2]' एवं 'सनाद्यन्ता धातवः[3]' आदि सूत्रों में भी प्रत्ययगणों का पाठ है। प्रश्न यह उठता है कि पाणिनि ने केवल 'उणादिकोश' या 'उणादिसूत्र' ही रचे थे, या उन्होंने अन्य कई 'आयादिकोश', 'सनादिकोश', आदि गण भी रचे थे। परम्परा और उक्त स्थिति के विचारोपरान्त तो यही उचित जँचता है कि यह स्वीकार किया जाए कि या तो पाणिनि ने इस प्रकार के प्रत्ययों का परिगणन किसी न किसी 'गणपाठ' के रूप में किया था, या फिर उनका संकेत परम्परा से मान्य किन्हीं पूर्वनिश्चित गणसूत्रपाठों की ओर है। इस बात पर आगे बढ़ने से पूर्व कुछ गहरा विचार करना होगा। क्योंकि 'उणादयः' पाठ का महत्त्व 'आयादयः' या 'सनाद्यन्ताः' आदि से अधिक नहीं कहा जा सकता।

उक्त उणादि सूत्र पर टिप्पणी करते हुए पतंजलि निम्न कारिका देते हैं :

"बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः प्रायः समुच्चयनादपि तेषाम्।
कार्यसशेषविधेश्च तदुक्तं नैगमरूढिभवं हि सुसाधु ॥
नाम च धातुजमाह निरुक्ते, व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम् ॥
कार्याद्विद्यादनूबन्धम्...आदि ॥ पा० ३.३.१ ॥"

अर्थात्, "बहुल शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया कि एक तो इन शब्दों की 'प्रकृति' ही बहुत कम पता चल पाती है, और उणादि प्रत्ययों को भी प्रायः कल्पना के आधार पर ही 'चुना' जाता है, या कल्पित किया जाता है। सामान्य सूत्रों की पकड़ से बचे कार्यों की विधि की दृष्टि से, अथवा नैगम प्रयोग और रूढ़ि के कारण, उन शब्दों को और प्रत्ययादिविभाग को साधु मानना ही पड़ता है। व्याकरण में और निरुक्त में शाकटायन की

---

१. पा० ३.३.१।
२. पा० ३.१.३१।
३. पा० ३.१.३२।

यह बात मानी गई है कि 'नामशब्द धातु से ही रचे जाते हैं'। और, यह भी कि यदि शब्द को देखकर किसी पदार्थविशेष की कल्पना न जागे, तब भी प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना द्वारा उसका 'ऊह' कर लेना चाहिए। हां, इन प्रत्ययों में अनुबन्धों का योग प्रयोजन-वैविध्य पर आश्रित रहता है।..." श्री मीमांसक ने इसका भिन्न रूप में अर्थ किया है।

इस वचन से स्पष्ट है कि 'उणादि' के सम्बन्ध में हमारी अन्यत्र व्यक्त मूल धारणा सर्वांश में प्रामाणिक और सत्य है कि **'अर्थ की खोज में व्याकरण के सामान्य नियमों को असमर्थ पाकर ही प्रकृतिमात्र की कल्पना के लिए 'उणादि' की आरम्भिक रचना की गई**[1]।' निश्चय ही कभी ये 'कृदन्त' के अन्तर्हित रहे होंगे। इसीलिए उस प्रकरण में ही पाणिनि ने इन्हें परिगणित करके परम्परा का निर्वाह किया है। बाद में, भोजदेव ने 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में भी इसी परम्परा का ही निर्वाह किया। किन्तु, **'बहुलम्'** कहने से इनके व्यक्तिगत परिगणन पर पाणिनि का उतना बल नहीं प्रतीत होता। कम से कम इतना तो निश्चित है कि **पाणिनि से पूर्व से ही** एक या दूसरे रूप में इनकी सत्ता विद्यमान चली आती थी।

दशपादी या पंचपादी

प्रश्न यह उठता है कि वर्त्तमान समय में उपलब्ध 'पंचपादी' और 'दशपादी' उणादि में से कौन सा प्रामाणिक है, और पाणिनि ने किसे अपनी स्वीकृति दी। यह तो हम पहले ही संकेत कर आए हैं कि 'उणादि' की मूल कल्पना का आधार **शाकटायन** का **'धातु-सम्बन्धी मत'** ही था। यह बात पतंजलि के उपर्युक्त कथन से भी सिद्ध होती है। अतः मूलतः इन सूत्रों का, या इनके मूलभूत या प्रेरणाभूत सूत्रों का, मूल स्रोत शाकटायन के प्रयास में ही खोजा जा सकता है।

वर्तमान समय में उणादि सूत्रों के दो रूप उपलब्ध होते हैं। यूं तो कातन्त्र और चान्द्र व्याकरणों के अपने-अपने 'उणादि' हैं। पर, पाणिनीय व्याकरण के टीकाकार जिन उणादि सूत्रों को 'पाणिनीय' मानते हैं, उनके भी दो भेद हैं। एक पाँच पादों में बंटा होने के कारण **'पंचपादी'** उणादि सूत्र कहलाता है, जब कि दूसरा दस पादों में बंटा होने के कारण **'दशपादी उणादि'** कहलाता है। इनमें से पाणिनीय या पाणिनि-सम्मत कौन सा है,

---

१. व्या० द०, अ० ५, पृ० १४६।

रह् विचारणीय प्रश्न है। इनके विपरीत चान्द्र व्याकरण में उणादि के तीन ही पाद पाए जाते हैं, जिसके आधार पर श्री मीमांसक का यह कहना है कि वह मूल का अधिक अनुकारी होने से आपिशल या किसी अन्य पूर्व-वर्त्ती उणादि परम्परा को सही रूप में वहन करता है। उनके अनुसार वर्त्तमान पंचपादी का मूल रूप 'त्रिपादी' के रूप में ही रहा होना चाहिए। इस मत के अनुसार वर्तमान 'पंचपादी' के प्रथम-द्वितीय और तृतीय-चतुर्थ 'पाद' मिलाकर एक-एक पाद बनते हैं, जबकि द्वितीय पाद के रूप में वर्त्तमान का तृतीय पाद होना चाहिए। किन्तु, यह सब कहकर भी श्री मीमांसक 'पंच-पादी' को मूलतः पाणिनि-सम्मत नहीं मानते। उनकी दृष्टि में वर्तमान 'दशपादी' ही मूलतः पाणिनीय 'उणादिसूत्र' या 'उणादि कोश' है। इसके विपरीत, गोल्डस्टुकर अनेक युक्ति प्रस्तुत करने के बाद 'उणादि' को पाणिनि के बाद की कृति मानते हैं और प्रमाण रूप में भट्टोजि, उज्ज्वलदत्त और विमलमति के मतों को प्रस्तुत करते हैं। तीसरा मत मैक्समूलर का है, जिसके अनुसार 'उणादि' पाणिनि से पूर्ववर्त्ती माने गए हैं।

पतंजलि का साक्ष्य

जहाँ तक इन सूत्रों के पाणिनिसम्मत या अन्यथा होने का प्रश्न है, महाभाष्य के प्रमाण पर 'जीरदानुः' आदि की सिद्धि के द्वारा यह कहा जा सकता है कि पतंजलि तो यह मानते प्रतीत होते हैं कि पाणिनि ने या तो उणादि रचे होंगे, या उनका पाठ अपने व्याकरण की पूर्त्ति के लिए अवश्य ही किया होगा। इतनी बात तो ऊपर की कारिकाओं से ही सिद्ध है।

प्रामाणिकता

जहाँ तक इस प्रश्न का सम्बन्ध है कि वर्त्तमान उपलब्ध उणादिसूत्रों के दो पाठों में से किसे प्रामाणिक और पाणिनिसम्मत माना जाए, यह अवधेय है कि 'पंचपादी' पर भट्टोजि ने अपनी 'सिद्धान्तकौमुदी' में टिप्पणी की है, जब कि 'दशपादी' पर विट्ठल ने अपनी 'प्रक्रियाकौमुदी' में वृत्ति लिखी है। मीमांसक ने अनेक प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि महाभाष्यकार और अन्य प्रामाणिक आचार्यों की दृष्टि में, एवं पाणिनीय सूत्र-रचना की प्रक्रिया तथा गणपाठादि के अनुक्रम के अनुसार, 'दशपादी उणादिकोश' ही मूलतः पाणिनि-सम्मत है। किन्तु, इसमें भी एक आपत्ति वे स्वयं खड़ी करते हैं, जिसका समाधान वे स्वयं संतोषजनक रूप में नहीं कर सके। वह यह कि

'दशपादी' का आरम्भ 'इन्' प्रत्यय से होता है, 'पंचपादी' के समान 'उण्' से नहीं, जबकि पाणिनि इन प्रत्ययों को 'उणादि' कहते हैं। दूसरी तरफ़ वे 'पंचपादी' को आपिशलि की कृति, या उसके अनुकरण पर रची गई कृति, मानते हैं।

'दशपादी' को पाणिनि-सम्मत' मानने के सम्बन्ध में उनके प्रमाणों का सार इस प्रकार है :

(१) 'महाभाष्य' में 'हयवरट्' के विचार-प्रसंग में पठित प्राचीन सूत्र 'जीवेरदानुक् : जीरदानुः[1]' इसी 'दशपादी' उणादि का है। 'पंचपादी' में यह सूत्र उपलब्ध नहीं होता।

(२) वामन, हरदत्त और क्षीरस्वामी पाणिनि के व्याख्याता हैं। उन्होंने जिन उणादिसूत्रों को और जिस व्याख्या के साथ पढ़ा है, उससे उनका झुकाव 'दशपादी' की ओर स्पष्ट है।

(३) पाणिनीय व्याकरण का आश्रय लेने वाले देवराज यज्वा, क्षीरस्वामी, सर्वानन्द, भानुजी दीक्षित, आदि ने जितने भी उणादि सूत्र पढ़े हैं, वे सब 'दशपादी' में उपलब्ध होते हैं, या उनका मूल रूप वहीं उपलब्ध होता है।

और, (४) पाणिनि की परम्परा यह है, कि वह सब धातुओं से होने वाले प्रत्ययों के विधान के लिए 'सर्वधातु' आदि का प्रयोग किए बिना केवल प्रत्ययमात्र का पाठ करता है। यह परम्परा 'दशपादी' में अनुकृत हुई है। 'पंचपादी' में 'सर्वधातुभ्यः' आदि पाठ उपहासास्पद लगता है।

परिभाषासूत्र या परिभाषाएँ

पाणिनीय व्याकरण से सम्बद्ध अन्य पूर्वोक्त कृतियों की भांति परिभाषाओं के कृतित्व के बारे में भी विवाद रहा है। इसका प्रथम गम्भीर विश्लेषण करने का श्रेय भी गोल्डस्टुकर[2] को ही दिया जाता है। उन्होंने ही सर्वप्रथम संज्ञासूत्र, परिभाषासूत्र, परिभाषा और ज्ञापक में परस्पर अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयास किया, तथा ज्ञापक एवं न्याय के रूप में दो प्रकार की परिभाषाओं का अन्तर बताया। उनके अनुसार 'संज्ञासूत्र' एवं 'परिभाषासूत्र' केवल 'सूत्र' हैं, और पाणिनि के व्याकरण के अभिन्न अंग हैं। पर, वे यह

---

१ म० १.१.२।

२. पाणिनि, गोल्ड०, पृ. ११७-१३० ।

भी मानते हैं कि इनमें से अनेक पाणिनि से पूर्व के हैं, या पाणिनि द्वारा पुनर्निर्मित हैं। गुरु, लघु, उदात्त, लोप, पद, प्रातिपदिक, आदि संज्ञाओं के विधायक सूत्र 'संज्ञासूत्र' कहे जाने चाहिएँ। जबकि **षष्ठी स्थानेयोगा**[1], **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य**[2], **आदेः परस्य**[3], **विप्रतिषेधे परं कार्यम्**[4], आदि सूत्र **'परिभाषा-सूत्र'** हैं, क्योंकि इनके द्वारा उन सामान्य नियमों का विधान किया गया है, जो आगे-पीछे सभी जगह के लिए व्यवस्था करते हैं।

'परिभाषा' की यह व्याख्या पतंजलि, पुरुषोत्तमदेव और स्वामी दयानन्द द्वारा समान रूप से समादृत है। पतंजलि के शब्दों में : **"अधिकारो नाम त्रिप्रकारः। कश्चिदेकदेशस्थः सर्वशास्त्रमभिज्वलयति, यथा प्रदीपः सुप्रज्वलितः सर्वं वेश्म अभिज्वलयति।"**[5] इस पर कैयट लिखते हैं : **'कश्चिदिति— परिभाषारूप इत्यर्थः'**। पाणिनि के ये सूत्र भी इसी नियम के अन्तर्गत **'परिभाषा'** कहलाएँगे। पर, अधिक सुविधा के लिए इन्हें **'परिभाषासूत्र'** कहना होगा। 'परिभाषा' नाम से उन वाक्यों या वचनों को लेना होगा, जिन्हें वार्त्तिककार और महाभाष्यकार तो प्रयोग करते हैं, किन्तु पाणिनि के सूत्रों से जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है।

दो प्रकार

इनमें भी **दो प्रकार** की परिभाषाएँ हैं। **एक वे** जिनमें पाणिनि के सूत्रों की छाया, या जिनकी छाया पाणिनि के सूत्रों में, मिलती है। **दूसरी वे** जिन्हें हम इस दृष्टि से 'स्वतन्त्र' कह सकते हैं। ये दोनों परिभाषाएँ ही मूल हैं। इनमें से निश्चय ही कुछ परिभाषाएँ पाणिनि से भी प्राचीन हैं, जिनका उपयोग या तो पाणिनि ने सूत्रों में कर लिया है, या उन्हें सर्वज्ञात मानकर प्रयोग ही नहीं किया है। किन्तु, कुछ ऐसी अवश्य हैं, जो पाणिनीय मतानुकूल होकर भी पाणिनि के बाद ही रची गई हैं। इन्हें हम **'व्याडीय'** कह सकते हैं। इन **'व्याडिकृत पाणिनीय परिभाषाओं'** के दो पाठ सम्पादित और प्रकाशित भी हो चुके हैं। किन्तु, इन परिभाषाओं में कुछ 'न्याय' से

---

१. पा० १.१.४९।
२. पा० १.१.६६।
३. पा० १.१.५४।
४. पा० १.४.२।
५. म०, पा० १.१.४८।

सम्बद्ध परिभाषाएँ भी हैं, जिन्हें व्याकरण के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं कहा जा सकता। इन्हें सामान्य परिभाषाओं से अलग प्रकृति का माना जाता है।

स्वतन्त्र परिभाषाएँ

किन्तु कालान्तर में कुछ परिभाषाएँ ऐसी भी संकलित होती गईं, जिन्हें मूलतः 'परम्परागत' नहीं कहा जा सकता, और जो नितान्त परवर्त्ती रचनाएँ प्रतीत होती हैं। 'परिभाषाओं' की यह प्रवृत्ति व्याकरण का कुछ इस प्रकार से अभिन्न अंग समझ ली गई कि बाद में बनने वाले **चान्द्र, कातन्त्र, हैम,** आदि व्याकरणों के लिए भी अलग-अलग परिभाषाएँ, प्रायः उक्त परिभाषाओं के अनुकरण पर ही, बन गईं। यह अनुकरण की प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ी कि वर्त्तमान सदी के आरम्भ में 'सारस्वत-व्याकरण' की परिभाषा-सम्बन्धी कमी भी एक विद्वान् ने पूरी कर दी।

पाणिनि-सम्मत

अतः जहाँ तक पाणिनि का परिभाषाओं के साथ सम्बन्ध है, यहीं कहा जा सकता है कि महाभाष्य-प्रोक्त परिभाषाएँ यदि पाणिनिकृत नहीं भी हैं, तो भी पाणिनि-सम्मत अवश्य हैं। भले ही उनमें से कुछ उनसे पहले की हैं और कुछ बाद की!

इन परिभाषाओं की संख्या में पाया जाने वाला अन्तर इसी गड़बड़ के कारण हैं। **पुरुषोत्तमदेव** और **सीरदेव** की परिभाषाओं में अन्यत्र प्रयुक्त कई परिभाषाएँ भी समाविष्ट हो गई हैं। भोजदेव ने **'सरस्वतीकण्ठाभरण'** में पाणिनीय पद्धति का सही अनुगमन किया है और जितनी परिभाषाएँ उन्हें उचित लगीं, उन्हें सूत्ररूप देकर, उन्होंने अपना लिया है।

फिट्सूत्र

'फिट्सूत्र' निश्चय ही पाणिनीय नहीं हैं। **मैक्समूलर** ने **बोथलिंक** की गवाही पर इन्हें किसी **प्राच्य शान्तनु** की कृति (=शान्तनव) माना था। किन्तु, **गोल्डस्टुकर** ने उनके प्रमाणों को काटकर भी उनके कर्त्ता शान्तनु को कुछ अन्य प्रमाणों के आधार पर **प्राच्य विद्वान्** ही स्वीकार किया। श्री मीमांसक ने एक भिन्न पथ स्वीकार किया है। वे इनका कर्त्ता **'शन्तनु'** को मानते हैं, शान्तनु या शान्तनव को नहीं। इस शन्तनु को वे भीष्म के महाभारतप्रसिद्ध पिता शन्तनु से अभिन्न मानते हैं। इस सम्बन्ध में उनके प्रमाण

ठोस नहीं हैं। उन्होंने प्राग्देशीय संज्ञा आदि के सम्बन्ध में अन्य विद्वानों की युक्तियों का उत्तर नहीं दिया है।

हाँ, अन्यों से पृथक् सरणि का आश्रय लेकर उन्होंने यह अवश्य कहा है कि 'फिट् सूत्रों' का अस्तित्व पतंजलि, कात्यायन, पाणिनि और आपिशलि तक से भी पूर्व का है। ऐसा कहने का उनका आधार केवल एक है : 'अप्' प्रत्याहार की उपस्थिति। इसका प्रमाण भी उन्हें चन्द्राचार्य्य के एक वक्तव्य से मिला है, जिसमें वे कहते हैं कि पहले के आचार्य 'अच्' के स्थान पर 'अष्' प्रत्याहार पढ़ते थे, क्योंकि उनके यहाँ 'ऐ औ च्' के स्थान पर सूत्र था 'ऐ औ ष्'[1]। इसका प्रमाण चन्द्राचार्य्य ने फिट् सूत्रों से दिया था। दो फिट् सूत्रों को उन्होंने इस सम्बन्ध में उद्धृत किया है।

इस आधार पर श्री मीमांसक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कात्यायन और पतंजलि के प्रमाणों से यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि ये लोग फिट् सूत्रों की सत्ता से परिचित थे। परन्तु, 'अष्' प्रत्याहार का प्रमाण उन्हें इन सूत्रों को पाणिनि से भी प्राचीन मानने के लिए वाध्य करता है। अन्य विद्वानों द्वारा नागेश के उस वचन को प्रामाणिक माना गया है, जिसके अनुसार ये सूत्र पाणिनि के सूत्रों की अपेक्षा आधुनिक से प्रतीत होते हैं[2], और जिसे मीमांसक नागेश द्वारा उपस्थित 'पक्षान्तरमात्र' मानते हैं।

गोल्डस्टुकर प्रातिशाख्यों से इनकी तुलना करके इन्हें पाणिनि से अर्वाचीन मानते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में प्रातिशाख्यमात्र ही पाणिनि से अर्वाचीन ठहरते हैं। हम इस मत से अपनी असहमति व्यक्त कर आए हैं। परन्तु, हमारे न मानने मात्र से ही फिट् सूत्रों की पूर्ववर्त्तिता सिद्ध नहीं हो जाती। फिर, यह भी आश्चर्य की ही बात लगती है कि यदि ये सूत्र पाणिनि से पूर्ववर्त्ती थे, तो उन्हें इनका ध्यान क्यों न रहा? पर, यही बात बहुत से प्रातिशाख्य सूत्रों के लिए भी कही जा सकती है।

साथ ही, इनमें प्रयुक्त 'संज्ञाओं' का प्रश्न भी दुरूह है। उन संज्ञाओं की प्राचीनता का प्रमाण प्रातिशाख्यों में प्रयुक्त संज्ञाओं से तुलना करने से भी नहीं मिलता। उधर, सारे प्राच्य विद्वान् भी उन संज्ञाओं का प्रयोग करते नहीं दिखाई देते। कात्यायन को अधिकांश विद्वान् प्राच्य मानते हैं, किन्तु उनके द्वारा प्रयुक्त संज्ञाएँ पाणिनि के अनुकरण पर ही हैं। अतः यह प्रश्न उलझन

१. चा०, पू०, ६,१० पृ०।
२. मी०, द्वि०, पृ० २७३-२८३।

भरा ही है। पर, सूत्ररूप में होने से इनके प्रातिशाख्योत्तर और पाणिनिसम-काल होने का ही संकेत अधिक मिलता है। यद्यपि इस विषय में अधिक विचार की आवश्यकता और संभावना स्वीकार करनी ही पड़ेगी।

लिंगानुशासन

व्याडि : आचार्य

'लिंगानुशासन' भी प्राचीन वैयाकरणों द्वारा व्याकरण-रचना का एक अभिन्न अंग समझा जाता था। वामन, हेमचन्द्र और हर्षवर्धन के वचनों के प्रमाण देकर मीमांसक का कहना है कि व्याडि ने भी एक लिंगानुशासन लिखा था।[1] उनके कथनानुसार उसके कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। किन्तु, इस विषय में हमारा नम्र निवेदन यह है कि व्याड़ि ने पृथक् से कोई लिंगानुशासन नहीं लिखा था। हाँ, संग्रह के अन्तर्गत ही लिंग-सम्बन्धी वे विचार उन्होंने अवश्य व्यक्त किये थे, जिन्होंने आगे चलकर भर्तृहरि जैसे महावैयाकरण और पदवाक्यप्रमाणज्ञ को भी 'लिंगसमुद्देश' लिखने पर बाधित कर दिया। 'संग्रह' के अन्तर्गत ही उन्होंने 'लिंगानुशासन' का भी पाठ किया हो, तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं। किन्तु, भर्तृहरि उस विषय में कोई साक्ष्य नहीं देते। व्याडि के उनके द्वारा प्रोक्त विचार लिंग सम्बन्धी सारी कल्पना को ही एकदम अत्याधुनिक और मौलिक एवं न्यायिक आधार प्रदान करते हैं। हो सकता है कि ऐसे महान् आचार्य व्याडि ने पृथक् से भी कोई 'लिंगानुशासन' रचा हो। पर, यदि पृथक् से भी रचा हो, तो भी उसके द्वारा प्रदर्शित मार्ग से इस दिशा में उसका आचार्यत्व तो सिद्ध होता ही है।

पाणिनीय : मूल

पाणिनि का 'लिंगानुशासन' आज भी उपलब्ध होता है। इस सम्बन्ध में डा० कीथ के इस मत से हम भी असहमत हैं कि यह लिंगानुशासन पाणिनि की अपेक्षा बहुत आधुनिक प्रतीत होता है। हरदत्त के प्रमाण के आधार पर पाणिनीय 'लिंगानुशासन' सूत्ररूप में ही था। यह सत्य है। कात्यायन और पतंजलि के कुछ प्रमाण देकर—'युष्मदस्मद्' के सम्बन्ध में—युधिष्ठिर

---

१. मी०, द्वि०, पृ० २२५।

मीमांसक का कहना है कि, 'वे दोनों पाणिनि के लिंगानुशासन से अवश्य परिचित थे।' परन्तु, पाणिनि का वर्त्तमान में उपलब्ध 'लिंगानुशासन' व्याडि के अनुकरण या उसकी समानता के आधार पर किसी दार्शनिक चिन्तन को स्पष्ट नहीं करता। इसके विपरीत वह दार्शनिक विवेचन न करके, मात्र सूचीग्रन्थन का काम करता है।

वैदिक व्याकरण एवं स्वर प्रक्रिया

दो मत

पाणिनि पर अपना वक्तव्य समाप्त करने से पूर्व इस विषय में भी कुछ कह देना उचित ही प्रतीत होता है। यह हम पहले कह आए हैं, कि पाणिनि के विषय में दो पक्ष बहुत समय तक विद्यमान रहे हैं, विशेषकर यूरोपीय विद्वानों में। एक के अनुसार वे वेद की पृष्ठभूमि पर ही व्याकरणरचना में प्रवृत्त हुए थे। इसके सर्वप्रमुख प्रवक्ता डा० पॉल थीमे हैं। उनका यह कथन उस प्रकार का आरम्भिक नहीं कहा जा सकता, जब पाणिनि का अधिक परिचय उपलब्ध नहीं था। बल्कि, अपने पक्ष की उपस्थापना के लिए वे कई अतिपुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। पिछले तीस से भी अधिक वर्षों से उनके इस मत में कोई अन्तर नहीं आया है।

दूसरे पक्ष के विद्वान् वे हैं, जो पाणिनि को लौकिक व्याकरण का महान् उद्घोषक मानते हैं, और जिनके मत में पाणिनि का वैदिक और स्वर-सम्बद्ध पक्ष उतना सुदृढ़ नहीं है। उनकी दृष्टि में 'प्रातिशाख्य' चाहे पाणिनि की अपेक्षा पूर्वरचना रहे हों या परवर्त्ती, पाणिनि के सूत्रों में उतना व्यापक आधार और उतनी पूर्णता उपलब्ध नहीं है।

सत्य

किन्तु, इन दोनों के बीच में स्थित एक और सत्य को सर्वथा भुला दिया जाता है। उस सत्य को जानने के बाद यह कहा जा सकता है कि पाणिनि के वैदिक व्याकरण और स्वरप्रक्रिया किसी भी अन्य तत्सदृश प्रयत्न की अपेक्षा निश्चय ही अधिक महत्त्वपूर्ण थे, और उन्होंने निश्चय ही एक नई दिशा या राह का उद्घाटन किया। वह सत्य यह है कि प्रातिशाख्य, और फिट्सूत्र भी, 'स्वर' और 'संस्कार' के विषय में पदों के निर्मित रूप को ध्यान में लेकर ही बढ़ रहे थे। उनकी दृष्टि में वैदिक शब्दों के सम्बन्ध में प्रकृति-प्रत्ययविभाग

की प्रक्रिया का कोई महत्त्व न था; भले ही उन्हें उसका परिज्ञान भी रहा हो या नहीं। इसी कारण प्रत्येक परिवर्त्तन के स्थल पर वे, किसी न किसी सामान्य नियम को ढूंढने के स्थान पर, स्थानीय नियमों को ही ढूंढने, या उनकी ही रचना करने में, प्रवृत्त रहे। किन्तु, पाणिनि तो 'पद' पर अवश्रित व्याकरण की सारी पद्धति को ही बदलने पर तुले थे। सौभाग्य से उनसे पूर्व इन्द्र, आपिशलि, शाकटायन, काशकृत्स्न, आदि अनेक विद्वान् उस सरणि का उद्घाटन कर चुके थे। किन्तु, उनमें और पाणिनि में अंतर यही था कि उन्होंने केवल लोकप्रयुक्त भाषा को ही मुख्यतः चुना था, जब कि पाणिनि का प्रयत्न वैदिक और लौकिक दोनों ही के लिए था।

कहा यह जाता है कि पाणिनि ने जिन शब्दों में स्वर का निर्देश किया है, उनमें से अनेक ऐसे हैं, जिनका पाठ वर्त्तमान में उपलब्ध वेद या ब्राह्मण ग्रन्थों में विद्यमान नहीं है। न ही, उन स्थलों के सम्बन्ध में प्रातिशाख्यादि में निर्देश उपलब्ध होते हैं। फिर भी, धारणा यही प्रस्तुत की जाती है कि प्रातिशाख्यों के काल में, पाणिनिकाल की अपेक्षा, अधिक विस्तृत साहित्य उपलब्ध था। इसी आधार पर प्रातिशाख्यों को परवर्त्ती भी ठहराया जाता है। ऐसा कहते हुए यह भुला दिया जाता है कि पतंजलि के साक्ष्य के अनुसार वेद से सम्बद्ध जितना भी साहित्य बचाया जा सका था, उसमें भी निरंतर ह्रास ही आता जा रहा था। वेदों की शाखा-प्रशाखाएँ लुप्त होती जा रही थीं। अतः पाणिनि के समय में भी कम होते वैदिक साहित्य की उपलब्धि प्राति-शाख्यों से उसकी परवर्त्तिता का प्रमाण है, न कि पूर्ववर्त्तिता का !

लौकिक और वैदिक : समान

अस्तु, यह बात तो सत्य ही है कि पाणिनि रचनात्मक या आर्गेनिक व्याकरण की दिशा में पूर्णता की ओर बढ़ रहे थे। उणादि सूत्रों तक की रचना या स्वीकृति उन्हें इसी आधार पर करनी पड़ी। प्रकृति-प्रत्यय-विभाग की यह प्रक्रिया दार्शनिक आधार पर भले ही काल्पनिक ठहराई जाए, पर इसका पुनः रचनात्मक महत्त्व किसी भी प्रकार कम नहीं कहा जा सकता। यूँ तो वर्ण-पद-वाक्य आदि सभी विभाग व्यावहारिक सुविधा के द्योतकमात्र हैं। अतः वैदिक पदरचना के सम्बन्ध में भी समान नियमों को खोज निकालने का पाणिनि का प्रयास व्याकरण की उनकी सामान्य धारणा पर ही टिका हुआ

था। अन्तर यही था कि प्रातिशाख्यकार और वार्त्तिककार आदि को बार-बार उद्घोष करना पड़ा कि लौकिक और वैदिक शब्द, अर्थ और रचना की दृष्टि से, समान होते हैं। और, पाणिनि ने बिना बार-बार दोहराए इस सत्य को क्रियात्मक रूप दे दिया।

उनके व्याकरण में लोक और वेद के शब्दों की रूप-रचना के लिए समान रूप से प्रायः समान ही नियम खोजने का प्रयत्न किया गया है। जिन सूत्रों को हम 'छान्दस' या 'वैदिक' कह देते हैं, वे तो केवल उन शब्दों को छूते हैं, जहाँ लौकिक और वैदिक भाषा के प्रयोगों में अन्तर दृष्टिगोचर हो सकता है। इस दृष्टि से, एक बार तो डॉ० पॉल थीमे की यह उक्ति ठीक ही लगती है कि पाणिनि का मुख्य ध्येय लौकिक शब्दों का व्याख्यान करना न होकर वैदिक शब्दों की पूर्ण रचना-प्रक्रिया को समझाना मात्र ही था। पर यह कथन हमें दूसरी ही दिशा में ले जाएगा। इसके अनुसार पाणिनि ने लोकभाषा को कदाचित् बहुत कम महत्त्व दिया था। विभाषा, अन्यतरस्याम्, प्राचाम्, वा, आदि शब्दों के द्वारा लोक के एक भी ऐसे शब्द को छोड़ना उसे अभीष्ट न था, जो उसकी निगाह में पड़ गया हो, और जिसकी रचना में उसे कुछ भी वैशिष्ट्य निहित लगा हो। अतः पाणिनि का महत्त्व, किसी भी एक दिशा में पूर्णता लाने की अपेक्षा, इस बात में अधिक है कि उसने 'लोक' के समान 'वेद' को भी भाषागत दृष्टि से एक ही रचनाप्रक्रिया का अंग घोषित किया।

स्वर-प्रक्रिया

वही बात स्वर-प्रक्रिया के सम्बन्ध में भी लागू है। पाणिनि स्वर का आधार भी प्रकृति-प्रत्यय को ही मान कर चल रहे थे। इस विषय में प्रातिशाख्यों से उनका मेल न बैठ सकता था। उनकी दिशा सर्वथा नई थी। इसी कारण कुछ बातें निश्चित ही उनसे छूट भी गई होंगी।

कात्यायन और पतंजलि के कथनों से पता चलता है कि बहुत सी बातें पाणिनीय सूत्रों से ही सिद्ध हो सकती हैं, जबकि उन्हीं के लिए फिट्सूत्रादि का भी विधान किया गया है।

इस बात से तो यह भी विश्वास होने लगता है कि 'फिट्-सूत्र' मूलतः कदाचित् पाणिनि की तथाकथित त्रुटियों को दूर करने के लिए ही लिखे गए

होंगे। इस धारणा के अनुसार इनकी रचना सम्भवत: पाणिनि और कात्यायन के वीच ही मानी जानी चाहिए। किन्तु, सत्य यह है कि इनकी रचना पाणिनि के अर्थ को पूरी तरह न समझ पाने के कारण हुई थी। कम से कम कात्यायन और पतंजलि इसी मत के दीखते हैं।

अनिर्वच नहीं

हम पहले ही कह चुके हैं कि इसका अर्थ यह नहीं कि जो कुछ पाणिनि ने लिखा है, उस पर कलम नहीं चलाई जा सकती। वल्कि, पाणिनि पर जितनी कलम उठी है, उतनी अकेले किसी अन्य विद्वान् नहीं पर उठी। हमारा तो अभिप्राय इतना ही है कि लोक के समान वेद के व्याकरण, और उसके रचनात्मक और उच्चारणात्मक दोनों पक्षों, पर पाणिनि ने एक समान अधिकार के साथ एक ही समान सरणि की जो दिशा दिखाई, उसमें उसकी पूर्णता को अन्यथा नहीं कहा जा सकता।

और, इसी में पाणिनि का महत्त्व निहित है।

———

पाणिनियुग [२]

कात्यायन और पतंजलि

पीठिका

भारतीय साहित्य के इतिहास में कुछ नाम ऐसे हैं कि जिनके चारों ओर समय के प्रवाह में इतना किंवदन्ती-जाल बुन गया है कि उनके बहुमुखी व्यक्तित्व पर सहसा एक बार तो विश्वास ही नहीं आता। पाणिनि के अतिरिक्त **व्यास, पतंज्ञलि, कात्यायन** और **कालिदास** ऐसे ही नाम हैं। प्रस्तुत प्रसंग में हमें **कात्यायन** और **पतंजलि** से ही प्रयोजन है। परम्परा के अनुसार पतंजलि के 'महाभाष्य' में आए **वार्त्तिकों** में से अधिकांश वार्त्तिक कात्यायन के प्रणीत माने जाते हैं। सत्य तो यह है कि पाणिनि के सूत्रों पर '**वृत्ति**' की रचना को ही पर्याप्त समझा जाता रहा, किन्तु इन वार्त्तिकों की व्यापकता के कारण पतंजलि को '**महाभाष्य**' जैसे विशालकाय विवेचन-ग्रन्थ की रचना करनी पड़ी। दोनों ही पद्धतियों के प्रचलन का अन्तिम उद्देश्य पाणिनीय व्याकरण को पूर्णता प्रदान करना था। 'महाभाष्य से स्पष्ट हो जाता है कि **कात्यायन** और **पतंजलि** दोनों ही अपने इस उद्देश्य में सफल हुए। यह बात महाभाष्य पर आधारित '**चान्द्र व्याकरण**' तथा अन्य परवर्त्ती व्याकरणों से सिद्ध हो जाती है।

किन्तु, ये **कात्यायन** और **पतंजलि** कौन थे ? **पतंजलि** का कुछ सांकेतिक परिचय उसके अपने ही कुछ शब्दों से अप्रत्यक्ष रूप में मिल जाता है। किन्तु, जिस **कात्यायन** के वार्त्तिकों पर भाष्य लिखने के लिए **महाभाष्यकार पतंजलि** को कलम उठानी पड़ी, उसके सम्बन्ध में, सिवाय उसके नामोल्लेख के, परिचय का एक भी अन्य शब्द पतंजलि स्वयं नहीं कहते। क्या यह बात अविश्वसनीय और अतिरंजित नहीं लगती ? इस पर भी यह सच है। पर, सच तो यह भी है कि **पाणिनि** के सम्बन्ध में भी कोई प्रत्यक्ष परिचय पतंजलि ने

कहीं नहीं दिया है। सिवाय एक-दो निर्देशक शब्दों के, हम उनसे कुछ भी तो उस सम्बन्ध में न पा सके।

क्या यह जान-बूझकर हुआ या प्रकृतिवश ? योग का दार्शनिक प्रवचन पतंजलि ने किया हो या नहीं, किन्तु सच्चे योगी के अपने स्वरूप का परिचय उन्होंने अवश्य दिया। और, इससे बड़ा जीवन-निरपेक्षिता का प्रमाण और क्या होगा कि वे न अपना परिचय देना उचित समझते हैं, न आचार्य पाणिनि का, और न आचार्य कात्यायन का ही !

कुछ प्रश्न

तब क्या ये भगवान् पतंजलि वही हैं, जिन्होंने 'योगदर्शन' लिखा ? अथवा क्या इन्हें हम 'बृहदारण्यक' का पतंजल काप्य या उससे सम्बद्ध कोई अन्य पूर्वज स्वीकार कर सकते हैं ? या, अन्यत्र 'पतंजलि' नाम से जो भी परिचय मिलते हैं, क्या उन सबका सम्बन्ध महाभाष्यकार होने से ही है ?

और, कात्यायन ! जिसका नाम भी पतंजलि ने अधिक नहीं लिया, किन्तु फिर भी जिसके वार्त्तिकों पर इतना विस्तृत भाष्य उन्होंने लिखा है, उसके बारे में स्थिति क्या इससे अच्छी है ? ये कात्यायन क्या प्रातिशाख्यकार ही हैं, या भिन्न ? और, 'वाररुच निरुक्तसमुच्चय' के लेखक क्या यही नहीं हो सकते ? अथवा, 'प्राकृतप्रकाश' के रूप में प्राकृत का प्रथम व्याकरण लिखने वाले वररुचि यही तो नहीं? और, क्या पद्मनन्द के प्रसिद्ध अमात्य ये ही हैं ? इत्यादि प्रश्नों की एक अनवरत शृंखला है, जिसका समाधान खोज पाना स्वयं में एक श्रमसाध्य कार्य है।

किन्तु, प्रस्तुत प्रसंग में हमारा यत्न होगा कि अधिक विस्तार में बिना गए, हम पाणिनिकृत व्याकरण और महाभाष्य से सम्बद्ध इन दोनों महाप्राण आचार्यों के कृतित्व औरउस से सम्बद्ध अन्य प्रश्नों पर ही विचार करें। अगली पंक्तियों में हम इन्हीं दोनों महानुभावों के विषय में विचार करेंगे।

कात्यायन

दाक्षिणात्य

इनके बारे में एकमात्र अपुष्ट सूचना यह प्राप्त होती है कि ये दाक्षिणात्य

थे। परन्तु, यह सूचना अनुमानिक ही है। क्योंकि, **'यथा लौकिकवैदिकेषु'** वार्त्तिक के प्रसंग में पतंजलि कहते हैं: **'प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः। 'यथा लोके वेदे च' प्रयोक्तव्ये 'यथा लौकिकवैदिकेषु' प्रयुञ्जते।'** परन्तु, इतने वचन मात्र से उन्हें **'दाक्षिणात्य'** मान लेने में उचित प्रामाण्य हमें नहीं प्रतीत हुआ। क्योंकि, यहां अन्यत्र की भांति पूजार्थक **'आचार्य'** या **'भगवान्'**, अथवा अन्य कोई नामनिर्देश आदि, प्रयुक्त नहीं हुआ है, जिससे पता चले कि इस उक्ति का सम्बन्ध वार्त्तिककार **कात्यायन** से ही है। कहा जासकता है कि यह वार्त्तिक कात्यायनप्रोक्त होने से यह उक्ति उसी से सम्बद्ध है। किन्तु, यह वार्त्तिक कात्यायनप्रोक्त है, अथवा अन्य कौन-कौन से वार्त्तिक कात्यायनप्रोक्त हैं, इसका प्रमाण क्या है?

परम्परा से कात्यायनप्रणीत रूप में मान्य **'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'** पर श्री मीमांसक आपत्ति उठाते हैं कि वह वार्त्तिक कात्यायन का नहीं है। और, **'यथा लौकिकवैदिकेषु'** को वे कात्यायन का प्रथम वार्त्तिक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। पर सत्य यह है कि (१) **'यथा लौकिकवैदिकेषु'** का आधार प्रातिशाख्यों में लगभग मिलते-जुलते शब्दों में मिल जाता है, (२) 'पूर्वपाणिनीयम्' में इस भावना के द्योतक सूत्र विद्यमान हैं, और (३) व्याडि की एक पूरी कारिका में **'सिद्धे—'** और **'यथा—'** दोनों ही प्रथम वार्त्तिकों का आधार उपस्थित है।[1] तब यदि **प्रथम** वार्त्तिक कात्यायन का नहीं है, तब शब्दशः **द्वितीय** ही उनका कैसे कहा जा सकता है?

या प्राच्य

फिर, हमें यह सब इसलिए कहना पड़ा कि गोल्डस्टुकर ने कात्यायन को, वेबर की साक्षी पर, **प्राच्य** स्वीकार किया है।[2] वे इस मत को सुदृढ़ आधार पर स्थित मानते हैं। ऐसा उन्होंने 'फिट्सूत्रों' पर विचार के प्रसंग में कहा है। हमारा आशय यह नहीं कि हम भी कात्यायन को **प्राग्देशीय** ही स्वीकार करें, या उसका **दाक्षिणात्य** होना हमें अस्वीकार्य है। बल्कि हमारा निवेदन तो इतना ही है कि **एक ओर** तो हम व्यक्ति के नामोल्लेख से रहित बात को भी एक बड़े निर्णय का आधार बना देना चाहते हैं, और दूसरी

---

१. सम्बन्धस्य न कर्त्तास्ति···इत्यादि।
२. गोल्ड०, पाणि०, पृ. २३६।

और हम उसके सर्वमान्य वार्त्तिक का भी बहिष्कार करना चाहते हैं। हमारा प्रश्न है कि वार्त्तिकों की प्रामाणिकता में हमारा स्थिर मानदण्ड क्या है ?

परम्परा : वार्त्तिककार

ऐसे विषमतापूर्ण अवसरों पर परम्परा की शरण में ही जाना पड़ता है। परम्परा हमें यह बताती है कि 'महाभाष्य' में आए वार्त्तिकों का कर्त्ता कात्यायन ही था। परम्परा ही हमें यह बताती है कि वररुचि आदि नाम भी उसी के थे। परम्परा ही उन्हें 'दाक्षिणात्य' पद से सम्बद्ध करती है; पर उतनी मज़बूती के साथ नहीं। परम्परा ही यह बताती है कि कात्यायन ने भी, अपने से प्राचीन व्याडि आदि मुनियों या आचार्यों के अनुकरण पर, 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' से ही व्याकरण की रचना आरम्भ की थी। भर्तृहरि के शब्दों में : 'शब्द, अर्थ और सम्बन्ध को सूत्र, अनुतन्त्र (वार्त्तिक) और भाष्य के प्रणेता ऋषियों ने सदा ही 'नित्य' कहा है'। और, व्याडि कहते हैं : 'लोक और वेद के शब्दों के सम्बंधों का कर्त्ता कोई भी नहीं है। अर्थात्, उनके अर्थात्मक सम्बन्ध नित्य हैं। क्योंकि मनुष्य तो 'शब्द' के द्वारा ही सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। और, शब्द का शब्द से सम्बन्ध कैसा' ?[1]

कात्यायन अनेक

और, फिर कात्यायन भी कौन सा ? श्री मीमांसक को श्रेय मिलना चाहिए कि उन्होंने पं० भगवद्दत्त द्वारा कथित इस सत्य को बल के साथ प्रस्तुत किया है कि कात्यायन अनेक हुए हैं। 'प्रातिशाख्य' के प्रकरण में हम अनेकता-सम्बन्धी यह धारणा बहुत बलपूर्वक स्थापित कर आए हैं। उन सब कात्यायनों के सम्बन्ध में तथ्य भी उक्त विद्वानों ने ढूंढ निकाले हैं। किन्तु, वार्त्तिककार कात्यायन की चर्चा आते ही उनके तर्क विशुद्ध अनुमानाश्रित हो जाते हैं। और, 'अनुमानप्रधानेन विनिपातो न दुर्लभः'। कारण यह है कि यहाँ उन्होंने इतिहास के अनेक सुपुष्ट तथ्यों के साथ उचित न्याय नहीं किया है। कम से कम कात्यायन के कालनिर्णय की बात ऐसी ही है।

इस पर भी उनकी कई सूचनाएं महत्त्वपूर्ण हैं। हम कात्यायन के सम्बन्ध में समस्त उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर निम्न कुछ तथ्य कह सकते हैं।

---

१. सम्बन्धस्य न कर्त्तास्ति···इत्यादि।

नाम

महाभाष्यकार ने इनके लिए दो नामों का प्रयोग किया है : **कात्य** और **कात्यायन**। ये दोनों नाम एक ही व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुए हैं, यह बात प्रामाणिकता के साथ कही जा सकती है। इसके अतिरिक्त इनके लिए **आचार्य** और **भगवान्** शब्दों का प्रयोग पतंजलि ने किया है, जिससे उनका इनके प्रति पाणिनि के समकक्ष ही आदर प्रकट होता है। हां, पाणिनि के समान इनका नामोल्लेख उतनी बार नहीं हुआ है।

अन्य विद्वानों ने इनके जो नाम दिए हैं, उन्हें पुरुषोत्तमदेव ने एकत्रित करके इस रूप में गिनाया है : **कात्य, कात्यायन, पुनर्वसु, मेधाजित्**, और **वररुचि**। इनमें से **'वररुचि'** नाम ही अधिक प्रसिद्ध है। इस नाम के सम्बन्ध में सम्भवतः अन्य कहीं से प्रमाण न भी मिलता, किन्तु मुनिकवियों के विषय में एकत्रित सूचना देने वाले महाराज समुद्रगुप्त के नाटक **'कृष्णचरित'** की भूमिका या परिचायिका में वे **'वररुचि'** और **'कात्यायन'** नाम एक ही व्यक्ति के मानते हैं, और उसे **वार्त्तिककार** और **कवि** के रूप में साथ-साथ स्मरण करते हैं [1]। महाराज **समुद्रगुप्त** का समय हर हालत में चौथी शती ईस्वी से पूर्व का नहीं है। उनसे पहले कदाचित् **'वररुचि'** नाम का वह व्यक्ति भी हो चुका था, जो बाद में नवरत्नों में परिगणित और प्रसिद्ध हुआ, और जिसने सम्भवतः **'निरुक्तसमुच्चय'** भी लिखा था। वह भी वेद और व्याकरण में निष्णात था।

इसमें सन्देह नहीं कि महाभाष्य में भी **'वाररुच काव्य'** का नाम आया है [2]। उससे, वररुचिकृत कोई काव्य रहा होगा, यह तो अवश्य सिद्ध होता है। और, जब पतंजलि उसका नाम्ना उल्लेख करते हैं, तब उसकी काव्यमयता और श्रेष्ठता में सन्देह नहीं रह जाता। अधिक सम्भव यही है कि 'कात्यायन' नाम **वंशानुक्रम** से रखा गया हो, और वही व्याकरण के क्षेत्र में विख्यात रहा हो; जबकि 'वररुचि' नाम उनका **व्यक्तिवाचक** रहा हो, और उसका प्रयोग उन्होंने काव्य में किया ही।

पर, पुष्ट प्रमाणों के अभाव में यह अनुमान वैसा ही है, जैसा कि श्री

१. 'यः स्वर्गारोहणं कृत्वा०' और 'न केवलं व्याकरणं०', इत्यादि, कृष्णचरित।
२. वाररुचं काव्यम्। म० ४.३.१०१।

मीमांसक का यह अनुमान कि वाररुच 'निरुक्तसमुच्चय' का लेखक भी वररुचि कात्यायन ही था। पहली धारणा का फिर भी एक बड़ा आधार है, जबकि दूसरी धारणा का उतना भी आधार नहीं। कारण यह है कि 'निरुक्त-समुच्चय' का कर्त्ता अपने संरक्षक राजा और अपने विषय में जो परिचय देता है, उससे वह पतंजलि से परवर्त्ती ही सिद्ध होता है। शेष दो नामों को हम यहां अव्यवहार्य समझते हैं।

दो विशेषक नाम

वार्त्तिकों के रचयिता कात्यायन के लिए विशेषणात्मक दो नामों का व्यवहार और मिलता है : **वार्त्तिककार** और **वाक्यकार**। ये दोनों नाम अपना महत्त्व रखते हैं। **पहला नाम** उनकी रचना पर आधारित वस्तुपरक है, जबकी **दूसरा नाम** वार्त्तिकों के विभेदक आकार का इंगित देता है। **'वार्त्तिक-कार'** नाम की तुलना **'वृत्तिकार'** और **'भाष्यकार'** शब्दों से की जासकती है, जोकि रचना के विषय और वस्तुतत्त्व की ओर इंगित करते हैं। **'वाक्य-कार'** को **'सूत्रकार'** और **'पदकार'** जैसे नामों के समकक्ष माना जासकता है, जिससे रचना या वस्तु के आकृतिपरक स्वरूप का अन्तर पता चलता है। **'सूत्र'** में वाक्यरचना का ध्यान नहीं होता। उसे 'वृत्ति' आदि के रूप में पूर्ण करना पड़ता है; जबकि **'वाक्य'** स्वयं में एक पूर्ण इकाई है। उसकी 'वृत्ति' की आवश्यकता नहीं होती। **'वार्त्तिक'** इन्हीं वाक्यों के रूप में ही लिखे गए थे। उनमें सूत्रात्मक संक्षेप नहीं था। इस दृष्टि से यदि ये दोनों नाम एक ही व्यक्ति की सूचना दें, तो कोई आश्चर्य नहीं।

नाम सादृश्य

निश्चय ही कात्यायन पद गोत्र प्रत्ययान्त है। किन्तु, हम 'वाजसनेय' प्रातिशाख्य की चर्चा में कह आए हैं कि निश्चय ही, कात्यायन नाम के अनेक व्यक्ति हुए होंगे। श्री मीमांसक ने कम से कम पांच कात्यायन गिन-वाए हैं। 'प्रतिज्ञापरिशिष्ट' का रचयिता कात्यायन स्वयं को **कौशिकपक्ष** का शिष्य कहता है। मीमांसक की दृष्टि में 'वाजसनेय प्रातिशाख्य' भी इसी कौशिकपक्षीय 'कात्यायन' का रचा था, और श्रौतसूत्रादि की रचना भी इसी ने की थी। इस कात्यायन को उन्होंने **याज्ञवल्क्यपुत्र** कहा है। बाद में वार्त्तिक-

कार **कात्यायन** को वे इस कात्यायन का ही पुत्र मान लेते हैं। हमारा प्रश्न है कि समान नाम होते हुए भी, या उस प्रकार की समानता रखते हुए भी, यदि वाजसनेय **प्रातिशाख्य** और **वार्त्तिकों** के कर्त्ता कात्यायन को अलग-अलग मानना ही है, तब क्या यह अनिवार्य है कि उन्हें एक दूसरे का पिता-पुत्र ही स्वीकार किया जाए ? यह सम्बन्ध तीन या चार पीढ़ी के अन्तर से क्यों नहीं हो सकता ? क्या तब 'निरुक्तसमुच्चय' का कर्त्ता **वररुचि**, जिसे श्री मीमांसक **कात्यायन** ही कहते हैं, इस वार्त्तिककार कात्यायन से भिन्न ठहर सकता है, जबकि दोनों के नाम और वंश तक मिलते हैं ? पर, वहां वे उनके बीच सदियों का व्यवधान मानते हैं। इतना ही नहीं, इससे पूर्व वे स्वयं ही **वार्त्तिक** और **प्रातिशाख्य** के कर्त्ता को एक ही बताकर उसे पाणिनि का समकाल सिद्ध कर चुके हैं। पदे-पदे मत बदलने की अपेक्षा यह अधिक उचित होगा कि हम उक्त दोनों को अलग-अलग ही मानें।

इस विषय में हम **'वाजसनेय प्रातिशाख्य'** की चर्चा में अपना मत अधिक स्पष्ट कर आए हैं।

स्थान

इस विषय में दो ही मत सामने आए हैं। **बेबर, मैक्सम्यूलर** और **गोल्डस्टुकर** कात्यायन को **प्राग्देशीय** या प्राच्य मानते हैं। इसके तीन आधार कहे जा सकते हैं : (१) तथाकथित पाणिनि-आलोचन, (२) प्राच्य परम्परा की पाणिनि के पूर्व से ही समृद्धि, और (३) संज्ञादि के प्रसंग में उनका भिन्न झुकाव। इसके अतिरिक्त पाटलिपुत्र के साथ उनका तथाविश्रुत सम्बन्ध भी एक प्रमुख कारण कहा जा सकता है। महापद्मनन्द के साथ उनका सम्बन्ध विश्रुत ही है।

दूसरी ओर, पतंजलि के पूर्वोक्त मत—**प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः**—पर आधारित मीमांसक का मत उन्हें 'दाक्षिणात्य' मानने का है, जिसे वे स्कन्द-पुराण में कथित याज्ञवल्क्य के आनर्त (गुजरात) प्रदेश से सम्बद्ध मानकर औचित्यपूर्ण स्वीकार करते हैं। साथ ही उनका कहना है कि 'शुक्ल यजुर्वेद' की **कात्यायन शाखा** का महाराष्ट्र में ही अधिक प्रचार है। विन्ध्य के दक्षिण में होने के कारण महाराष्ट्र प्रदेश 'दक्षिण' ही कहलाएगा। आश्चर्य केवल इसी बात का है कि इस अन्तिम बात को कहते हुए वे **वेदवक्ता, प्रतिज्ञा-**

परिशिष्ट-प्रवक्ता, वार्त्तिककार, और प्रातिशाख्यकार, आदि के रूप में प्रसिद्ध व्यक्तियों को एक ही व्यक्ति मान बैठे हैं, जबकि अन्यत्र उनकी धारणा इससे कुछ भिन्न रही दिखाई देती है।

क्या पीढ़ी-दर-पीढ़ी में कात्यायन एक ही जगह रहे, या उन सबका पृथक्-पृथक् नाम्नोल्लेख एक छल मात्र है ? हमें तो यही समझ में आता है कि मूलतः कात्यायन लोग दक्षिण या महाराष्ट्र के ही रहे होंगे, या वहीं से आए होंगे। पतंजलि के 'प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः' कहने का इतना अभिप्राय लेना ही पर्याप्त है। बाद में इनके वंशज विविध विद्वान् देश के विविध भागों में आजीविका या विद्यासेवा के लिए फैल गए होंगे। कितना ही वे फैल जाएँ, कहलाएँगे तो वे 'दाक्षिणात्य' ही। यह युक्तिसंगत नहीं लगता कि एक ओर तो एक शब्द के प्रयोग के आधार पर इतना बड़ा निर्णय ले लिया जाए, और दूसरी ओर पतंजलि की अपने सम्बन्ध में स्पष्ट स्वोक्तियों में अन्तर्विरोध खोजने का अयुक्तिसंगत यत्न किया जाए। अतः हमारी नम्र दृष्टि में यही मानना उचित लगता है कि कात्यायन गोत्र दक्षिण का ही था, किन्तु वार्त्तिककार कात्यायन के प्राच्य या पौर्वात्य होने में इसमें कोई अड़चन नहीं आती; जब तक कि बाधित करने वाले प्रमाण अकाट्य ही न हों।

वार्त्तिक क्या हैं ?

वार्त्तिक का पुराणप्रोक्त यह लक्षण वैयाकरणों के बीच अत्यन्त प्रसिद्ध है :

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्त्तते।
तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः ॥

अर्थात्, 'उक्त, अनुक्त और दुरुक्त विषयों की चर्चा करना वार्त्तिक का कार्य है।' इस दृष्टि से कात्यायन के वार्त्तिक इस परिभाषा पर सही उतरते हैं। उनमें पाणिनिप्रोक्त सूत्रों के विचार का आधार बताया गया है। उनके छूटे अंश को पूरा करने का प्रयास है। और, जहाँ वक्तव्य में कहीं त्रुटि या स्खलन का आभास हुआ है, उसका अपनी बुद्धि के अनुसार परिष्कार करने का प्रयास किया गया है।

इन वार्त्तिकों के लिए तीन अन्य विविध नाम प्रयोग में आते श्री मीमांसक ने गिनाए हैं। प्रथम है अनुतन्त्र, जिसका प्रयोग भर्तृहरि ने 'भाष्य' और 'सूत्र'

के समकक्ष किया है[1]। यदि हम 'अनुतन्त्र' का अर्थ 'वार्त्तिक' लें, तब 'संग्रह' को 'भाष्य' नाम के अन्तर्गत लेना होगा। द्वितीय नाम है अनुस्मृति, जिसे सायण स्पष्ट ही 'वार्त्तिकों' के लिए प्रयोग करते हैं[2]। हम पहले कह आए हैं कि 'स्मृति' का व्यवहार व्याकरण के लिए ही होता है। भर्तृहरि तो 'सूत्र' को स्मृतिसूत्र, और 'व्याकरणशास्त्र' को स्मृतिशास्त्र, ही कहते हैं[3]। इनके अतिरिक्त तीसरा नाम 'भाष्यसूत्र' है, जो कि महाभाष्य में पतंजलि अपने रचित या अन्य पूर्वभाष्यों में से उद्धृत किन्हीं अन्य वार्त्तिकसूत्रों के लिए प्रयुक्त करते हैं।

काल

यदि परम्परानुसार कात्यायन को महापद्मनन्द के समकाल भी माना जाए, तब भी ४०० ई० पू० के लगभग उनका समय बैठता है। पर, हम बहुत सावधानी के साथ उनका समय पाणिनि से दो सौ वर्षों के अन्दर ही रख सकते हैं। इससे डा० गोल्डस्टुकर आदि की उस शंका का भी उत्तर मिल जाएगा कि पाणिनि के बाद और कात्यायन के पहले काफी साहित्य बन चुका था, और भाषा के प्रयोग में भी अन्तर आ चुका था। श्री मीमांसक ने याज्ञवल्क्य को महाभारत से किंचित् पूर्ववर्त्ती मानकर उनका मिथिला जाना स्वीकार किया है। मिथिला की यह ज़िद क्यों? वैदेह जनक के साथ उपनिषद् और आरण्यककार याज्ञवल्क्य के सान्निध्य के कारण? तो क्या वे यह मानते हैं कि वैदेह जनक भी महाभारत से कुछ ही पहले हुए थे? क्या तब राम भी महाभारत के लगभग समकाल ही हुए? सचमुच क्या याज्ञवल्क्य अनेक नहीं हुए? तब इन सब अन्तर्विरोधों को वे कैसे दूर करेंगे? क्या महाभारत के कुछ समय बाद का ही कात्यायन को सिद्ध करने से उसके व्याकरण में सचमुच कुछ उत्कर्ष या अन्तर आ जाएगा? तब अनेक कात्यायन मानने की युक्ति का क्या लाभ रहेगा? अतः क्या पाणिनि के पूर्वनिश्चित समय ७०० ई० पू० के कुछ वर्ष, या एक-दो सदी, बाद स्वीकार करना क्या सचमुच आपत्तिजनक है?

---

१. वा० १.२३।

२. मा० धा० पृ०३०।

३. "उच्यते स्मृतिशास्त्रमिदम्।...यद्वि स्मृतिसूत्रमाह सन्धीयते...।" आदि। म० त्रि० १.९.१।

इस सब पर विचार करके हम कात्यायन को ५०० और ४०० ई० पू० के बीच ही मानने को बाध्य हैं।

कृतियाँ

उनकी दो ही रचनाएँ सप्रमाण स्वीकार की जा सकती हैं : 'वार्त्तिक' और 'स्वर्गारोहण काव्य'। 'भ्राज' नामक श्लोकों को कात्यायन का मानने में कोई ठोस प्रमाण नहीं है। 'प्रतिज्ञासूत्र', 'भाषिकसूत्र' और 'वाजसनेय प्रातिशाख्य',आदि किन्हीं पूर्ववर्त्ती कात्यायन की कृति यदि स्वीकार किए जाएँ, तब तिथिनिश्चय में और अधिक सुविधा रहेगी[1]। यदि प्रातिशाख्य और वार्त्तिकों में यत्किंचित् अथवा नगण्य समानता के बल पर उन्हें एक ही कर्त्ता का रचित माना जा सकता है[2], तब पाणिनि से 'वाजसनेय-प्रातिशाख्य' आदि की पर्याप्त समानता का संकेत भी हमने दूसरे ही अध्याय में दिया है। तब पाणिनीय व्याकरण को भी कात्यायनप्रणीत अथवा 'वाजसनेय प्रातिशाख्य' आदि को पाणिनिप्रणीत क्यों न मान लिया जाए ? क्या ऐसा करना अनुचित न होगा ?

हमें यह अधिक सम्भव लगता है कि मूलतः कात्यायन ने ये सूत्र किसी भाष्य की रचना करते हुए ही लिखे होंगे। पतंजलि ने इस भाष्य और अन्य पूर्ववर्त्ती सौनागादि के भाष्यों पर टिप्पणी के हेतु अपना 'महाभाष्य' लिखा। तभी उनके सूत्रमात्र वहाँ अवशिष्ट हैं। कहीं-कहीं उसका स्पष्टीकरण भी मूल लेखक की ओर से ही दिया गया है। यह बात इससे भी सिद्ध होती है कि वार्त्तिक के पूर्वोक्त लक्षण में उसे 'ग्रन्थ' कहा गया है।

मूल्यांकन

प्रायः ही कात्यायन का मूल्यांकन करते हुए, उसे या तो पाणिनि का आलोचक सिद्ध करने का यत्न किया जाता है, या उसका अनुवर्त्ती। पतंजलि अपना 'महाभाष्य' लिखते हुए दोनों के प्रति समान आदर व्यक्त करते दीखते हैं, यद्यपि कात्यायन की अपेक्षा पाणिनि को उन्होंने अधिक स्मरण किया है। परन्तु, इतने से ही कुछ भी परिणाम निकालना अनुचित होगा।

यूँ तो मूल्यांकन के क्षेत्र में पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि और भर्तृहरि का तुलनात्मक मूल्यांकन ही अधिक महत्त्व रखता है। फिर भी, व्यक्तिशः

---

१. ये सब रचनाएँ मीमांसक जी ने कात्यायन की मानी हैं।

२. गोल्डस्टुकर ने ऐसा ही किया है।

भी इन सब की देन और महत्ता को आँका ही जा सकता है। इस व्यक्तिगत दृष्टि से **कात्यायन** की सबसे बड़ी देन और महत्ता इस बात में है कि **उन्होंने पाणिनि को 'आचार्य' स्वीकार करते हुए भी उसका पर्यालोचन करने का अत्यधिक गुरुतापूर्ण बीड़ा उठाया।**

लगता है कि उनसे पूर्व 'वृत्तियाँ' अधिक लिखी जाती थीं। '**वृत्ति**' लिखने वाले व्यक्ति का अपना वक्तव्य आचार्य के मुख से, या उसका-सा प्रदर्शित होता हुआ ही, आता है। वह अपनी 'इच्छा' या 'इष्टि' कहीं-कहीं ही प्रदर्शित कर सकता है। समानान्तर सूत्र-रचना जैसा गुरुतर कार्य उसका नहीं है। न ही उसका विश्वास है कि नई रचना की आवश्यकता है।

किन्तु, लगता है कि **कात्यायन** मूलतः 'भाष्यकार' बनने का बीड़ा उठाकर चले थे। ठीक उन्हीं अर्थों और उद्देश्यों के साथ, बाद में जिनमें उनके वार्त्तिकों को स्थित माना गया : अर्थात्, **उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्तन** के लिए। बीच-बीच में उन्हें इन वार्त्तिकों की रचना के द्वारा अपने अर्थ को स्पष्ट करना पड़ा। **भर्तृहरि** और **पतंजलि** की साक्षी पर यह कहा जा सकता है कि पतंजलि से पहले भी **भाष्य** बन चुके थे, यद्यपि उनमें आचार्य भगवान् पाणिनि के अभिप्राय को पूरी तरह समझने में कुछ कमी रह गई थी।

हो सकता है कि **व्याडि** का 'संग्रह' भी किसी ऐसे ही भाष्य के रूप में रहा होगा। उसके भी जो अब तक प्रमाण मिले हैं, उनमें सूत्र या वार्त्तिक, **कारिका और गद्यांश**—तीनों—प्रकार के उद्धरण मिले हैं। और, यह भी सम्भव है कि उसका विषय-विभाग '**वाक्यपदीय**' के समान रहा हो। क्योंकि, उपलब्ध सभी प्रमाण उसी तरह प्रकरण-विशेष से सम्बद्ध दीखते हैं।

किन्तु, कात्यायन के सम्बन्ध में यह बात इसलिए अधिक सम्भव है कि प्रसंग के बिना वार्त्तिकों की रचना, और उनमें से अधिकांश की पहचान, असम्भव हो जाती। क्रमपूर्वक उनका निर्माण और रक्षण तभी सम्भव था, जब वे भाष्य लिखते हुए बीच-बीच में रचे गए हों। यह बात, जैसा कि हम पिछले अनुच्छेद में ही कह आए हैं, इस तथ्य से भी सिद्ध होती है कि 'उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता' की जिस पारिभाषिक कारिका में 'वार्त्तिक' का स्वरूप समझाया गया है, उसमें 'ग्रन्थ' को 'वार्त्तिक', या 'वार्त्तिक' को 'ग्रन्थ', के रूप में कहा गया है। यह बात इस तथ्य से भी पुष्ट होती है कि उनके और पतंजलि के बीच **सौनाग, गौतमीय** और **भारद्वाजीय**—तीन—

ऐसी व्याकरण-शाखाओं की रचना का परिज्ञान होता है, जिन्होंने अपने-अपने ढंग से पाणिनि के व्याकरण की व्याख्या उसी रूप में करनी चाही थी, जिस तरह 'पाणिनीय' शिष्यों ने की थी। ऐसा करते हुए सौनाग और भारद्वाजीयों ने कात्यायन के 'वार्त्तिकों' में कुछ हेर-फेर सुझाए हैं। यह सब भाष्यटीका या नए भाष्य के रूप में ही होना सम्भव था। हम कुछ उदाहरणों द्वारा इसे स्पष्ट करेंगे :

(१) पा० २.२.१८ पर कात्यायन के तृतीय और चतुर्थ वार्त्तिक हैं : 'सिद्धं तु क्वाङ्स्वतिदुर्गतिवचनात्' और 'प्रादयः क्तार्थे'। पूरी व्याख्या के बाद पतंजलि लिखते हैं : 'एतदेव च सौनागैर्विस्तरकेण पठितम्।' इस पर कैयट स्पष्ट करते हैं : 'कात्यायनाभिप्रायमेव प्रदर्शयितुं सौनागैरतिविस्तरेण पठितमित्यर्थः'। इससे सिद्ध है कि सौनाग परम्परा के आलोचक या भाष्यकार कात्यायन से उत्तरवर्त्ती और उनके आलोचक थे।

(२) पा० १.१.२०, पर कात्यायन का वार्त्तिक है : 'घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिदर्थम्'। पतंजलि कहते हैं कि भारद्वाजीय लोग इसे इस प्रकार पढ़ते हैं : 'घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिद्विकृतार्थम्।' इसी प्रकार पा० ३.१.८९ पर कात्यायन का वार्त्तिक है : 'यक्चिणोः प्रतिषेधे हेतुमण्णिच्श्रिब्रूञामुपसंख्यानम्।' किन्तु, पतंजलि बताते हैं : 'भारद्वाजीयाः पठन्ति—यक्चिणोः प्रतिषेधे णिश्रन्थिग्रन्थिब्रूञात्मनेपदाकर्मकाणामुपसंख्यानम्।'

इन दोनों प्रमाणों से सिद्ध है कि ये तीनों प्रयास कात्यायन के वार्त्तिक सूत्रों में सुधार का सुझाव लेकर किए गए हैं। इसी प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। निश्चय ही सौनाग, भारद्वाजीय, गौतमीय, व्याडीय, आपिशल, आदि अपनी-अपनी प्राचीन परम्परा में चलते हुए भी पाणिनीय व्याकरण और उसके भाष्यकारों से आदान-प्रदान, भाष्य या टीका आदि के माध्यम से, करते रहते थे। बोथलिंक का यह परिणाम गलत है कि ये वार्त्तिक पाणिनिपूर्व के सौनागों का संकेत करते हैं। हमारे मत में ये परम्पराएँ अवश्य पाणिनिपूर्व की हो सकती हैं, और हैं भी; किन्तु इनके ये सुधरे वार्त्तिक कात्यायन से अधिक पूर्णता का परिचय देने के लिए लिखे गए हैं। हो सकता है, कात्यायन के 'वार्त्तिक' ग्रन्थ पर ये मत भाष्य या पादटिप्पणी के रूप में ही प्रयुक्त हुए होंगे।

यह सब इसलिए कहना पड़ा कि कात्यायन के मूल रचनात्मक पक्ष पर प्रकाश डाला जा सके। इससे पता चलता है कि कात्यायन चाहे प्राच्य रहे हों या दाक्षिणात्य, 'पाणिनि-व्याकरण' ने उन्हें पूरी तरह आप्लावित और प्रभावित किया था। इसीलिए उन्होंने उसके सूत्रों में अपनी दृष्टि से पाई जाने वाली कमियों या अस्पष्टताओं को, अथवा कठिनता से समझ में आने वाली बातों को, सरल वार्त्तिकों के रूप में प्रस्तुत करना अपना कर्त्तव्य समझा। इससे उनकी मूल भावना स्पष्ट होती है।

इससे भी अधिक महत्त्व उनका इस बात में है कि उन्होंने यह सब आत्म-प्रचार की भावना से नहीं किया। इन सबके बीच कहीं उनका नाम-संकेत भी नहीं है। साथ ही, उन्होंने पाणिनि के सूत्रों को किसी सुधरे रूप में प्रस्तुत नहीं किया है; बल्कि उन्हें अविकृत छोड़कर अपना सुझाव वार्त्तिक के रूप में पृथक् से ही दिया है। अन्यथा वे भी, काशिकाकार की भांति, सूत्रों में ही हेर-फेर करके हमारे लिए 'मूल' को सही रूप में खोज निकालने की समस्या खड़ी कर सकते थे।

मीमांसक जी और अन्य कुछ विद्वान् कात्यायन के मूल को अविकृत रखने के इस महान् कार्य का कारण उसकी 'बृहत् पाठ' से अनभिज्ञता आदि को बताते हैं। सच्चा आचार्य कात्यायन, सौनाग, भारद्वाजीय, पतंजलि, चन्द्राचार्य्य और भर्तृहरि की भांति किसी अन्य की आलोच्य कृति में कभी स्वयं परिवर्त्तन नहीं करता। वह तो अपने सुझाव पृथक् से प्रस्तुतमात्र कर देता है। कात्यायन इस श्रेणी के अगुआ आचार्य थे।

इसमें सन्देह नहीं कि इन परवर्त्ती आचार्यों समेत कात्यायन और पतंजलि के प्रयत्नों के बाद पाणिनीय व्याकरण का जो रूप निखरकर सामने आया, उसे ही चन्द्राचार्य्यादि ने अपने व्याकरणों में नए रूप में सुरक्षित करने का प्रयास किया। उनका प्रयास भी पाणिनीय व्याकरण की पूर्णता के लिए ही था। वे सर्वथा नवीन व्याकरण बनाने में प्रवृत्त न हुए थे, प्रस्तुत महान् आचार्यों द्वारा प्रस्तुत सुझावों को कार्यान्वित करके उन्होंने 'अष्टाध्यायी' को प्रतिसंस्कृत रूप में प्रस्तुत किया।

पतंजलि

महत्त्व और परिचय

ऐसे महाभाग कात्यायन और उनके अनुयायियों के प्रयास को एकत्र

करके, उनमें भी पाए गए उक्तानुक्तदुरुक्त को अपनी सौम्य और समन्वयकारी दृष्टि से सुलझाने वाले महामानव पतंजलि ही थे, जिनका भाष्य इसलिए 'महाभाष्य' कहलाया कि एक ओर तो वह कात्यायनादि के भाष्य के आलोचन आधार पर बढ़ा था, दूसरी ओर, भर्तृहरि और पुण्यराज के अनुसार, उसमें प्रथम वार व्याडि द्वारा प्रविष्ट न्यायबीजों को व्याकरण का अविकल अंग बनाकर प्रयोग किया गया था[1]। व्याकरण, दर्शन, आयुर्वेद, और काव्य का इतना बड़ा मर्मज्ञ, अपने समय तक रचित भारतीय वाङ्मय से इतना अधिक सुपरिचित एवं 'योगसूत्रों' के आदि प्रणेता के रूप में प्रसिद्धि पाने वाला पतंजलि सचमुच भारतीय साहित्य का महामानव था। उसने 'पाणिनीय व्याकरण' को ही पुनः प्रतिष्ठित नहीं किया, बल्कि प्रसिद्धि के अनुसार 'चरक' और 'योगसूत्रों' का प्रणयन या प्रतिसंस्कार भी उसने ही किया। काव्यरचना यदि उसने की, तो वह उसकी स्वाभाविक रसज्ञता का सहज परिणाम थी; क्योंकि उसकी झलक तो महाभाष्य में भी पदे-पदे मिल हीं जाती है।

और, आश्चर्य की बात यह कि ऐसे महान् आचार्य ने अपने बारे में एक शब्द भी नहीं कहा। टीकाकारों के लेख से भी कोई परिचय नहीं मिलता। यदि भर्तृहरि द्वारा रचित महाभाष्य के विखण्डनसम्बन्धी श्लोक उपलब्ध न होते, तो बहुत सी वर्त्तमान में उपलब्ध सामग्री से भी हम वंचित रह जाते। चन्द्राचार्य्य जैसे महावैयाकरण ने महाभाष्य का पुनरुद्धार किया, किन्तु पतंजलि का परिचय यत्किञ्चित् मात्रा में वे भी न दे सके। यदि 'कृष्णचरित' विद्यमान न होता, तो सम्भवतः परवर्त्ती ग्रन्थों में जो अनेक प्रमाण पतंजलि के नाम से विविध ग्रन्थों के मिल जाते हैं, वे भी पता नहीं मिल पाते या नहीं ? या, हम ही उनके विषय में असंशय हो पाते या नहीं ? पौराणिक या अन्य किसी परम्परा में भी तो किसी ने उल्लेख नहीं किया है। योगदर्शन या चरकादि के भाष्यकारों ने भी कोई संकेत तक नहीं दिया है। ऐसी स्थिति में इस प्रकार के महान् व्यक्तित्व का किंचित् भी परिचय अत्यावश्यक हो जाता है।

परम्परा और नाम

भारतीय परम्परा के अनुसार पतंजलि शेषनाग के अवतार माने जाते

---

१. वा० २.४७६ से ४८३ तक, तथा पुण्यराजकृत श्लोक ५० से ५३ तक।

हैं। यही कारण है कि उनके अनेक नामों में नागनाथ, वासुकि, अहिपति, फणी और फणिभृत् भी हैं। इनमें से फणिभृत् और वासुकि का व्यवहार अधिक हुआ है। यह बात शब्दकोशों से तो पुष्ट होती ही है, किन्तु विविध स्थलों पर विविध नामों से आए महाभाष्य या चरकादि के उल्लेखों को मिलाकर एकत्र पढ़ने से भी यही परिणाम दृढ़ होता है।

इसके अतिरिक्त गोनर्दीय, गोणिकापुत्र, चूर्णिकार और पदकार नामों से भी पतंजलि को स्मरण किया गया है। प्रथम दो नामों का उल्लेख वात्स्यायन के कामसूत्र में मिलता है। वहाँ इन नामों से मत उद्धृत हैं।[1] कुछ कोषकारों ने इन्हें पतंजलि के ही अपर पर्याय या नाम माना है। महाभाष्यकार स्वयं अनेकत्र इन नामों का प्रयोग करते हैं। नागेश 'गोणिकापुत्र' को, और भर्तृहरि, कैयट आदि 'गोनर्दीय' को, पतंजलि का अपर नाम मानते हैं।

गोनर्दीय

भर्तृहरि का कथन अवधेय है :

"गोनर्दीयस्त्वाह । किमस्याचार्यस्य दर्शनम्? एवं तावत् वर्णयति··· वस्त्रान्तरवसनान्तरा इत्येवमर्थं बहुव्रीहिग्रहणे पठितव्यम्। तच्च सति प्रयोजने अशक्यमंतरंगो विधिर्बहुव्रीहिणा बाधितुम्। तादर्थ्यं वा प्रतिपत्तुम्। इत्येतेनासंप्रत्ययेनोक्तमुपसर्जनप्रतिषेधेनाप्येतत् सिद्धमिति। अन्तरशब्दश्चाप्युपसर्जनम्। तस्मादेतद्‌ भाष्यकारो व्याचक्षति सूत्रमिति।'[2]

यह सारा प्रकरण 'न बहुव्रीहौ' (पा० १.१.२१) का है। इसमें 'गोनर्दीय' और 'भाष्यकार' के दो विशेषक नाम प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ प्रश्न यह है कि 'अन्तर' शब्द सर्वनाम है। किन्तु, बहुव्रीहि समास में, उपसर्जन होकर भी, इन शब्दों में वह बाद में प्रयुक्त हुआ है। उपसर्जन के साथ **'अन्तरंगत्वादकच्स्वरौ तु स्यातामेव'** के अनुसार **'अकच्'** का विधान होना चाहिए। पतञ्जलि स्वयं भी कहते हैं : **'अकच्स्वरौ तु कर्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयौ।'** किन्तु, 'वसनान्तर' या 'वस्त्रान्तर' में 'अकच्' प्रत्यय प्रयुक्त नहीं हुआ है। यह इसलिए कि यहाँ यह

---

१. वा०का० १.४.१५=१६; १.५.२४, ४.२.२५ आदि।
२. त्रि० १.१.५.२१।

बहुव्रीहि समास दिक्शब्दों का नहीं है। बल्कि, 'अन्तरा' शब्द दिक्-वाचक होते हुए भी, सम्पूर्ण समास का अङ्ग है। और, सम्पूर्ण समास दिग्वाचक न होने के कारण इसमें 'अकच्' वाली बात सम्भव नहीं हो सकती।

यह सब कहने का हमारा अभिप्राय यह था कि यह सारा वक्तव्य एक ही व्यक्ति का सिद्ध किया जासके। 'अकच्' की नित्यता कहकर भी 'वसनान्तर' में उसके अभाव को नियमानुकूल ठहराया गया है। अतः जिसने नियम विधान किया है, वह स्वयं ही 'गोनर्दीय' है और स्वयं ही 'भाष्यकार'! अतः श्रीमीमांसक का यह निष्कर्ष कि 'गोनर्दीय' पतंजलि से भिन्न कोई व्यक्ति है, स्वयं उन्हीं की दृष्टि में महाप्रामाणिक माने जाने वाले भर्तृहरि के अनुसार नितान्त भ्रामक है। अन्य अनेक शास्त्रों में इस नाम से उद्धृत वचन पातंजल महाभाष्य में उपलभ्य हैं या नहीं, इतने से ही निषेधात्मक निर्णय नहीं ले लेना चाहिए। और फिर, यह हेतु भी बाधक नहीं है कि वे गोनर्द (पूर्वीय प्रदेश=गोण्डा आदि) के वासी नहीं हो सकते। क्योंकि, वे देश के अधिकांश भागों से परिचित तो थे ही। वेबर और गोल्डस्टुकर तो इस निर्णय पर ही पहुंचे हैं कि पतंजलि के लिए प्रयुक्त कैयट का शब्द 'आचार्यदेशीयः'[1] इस बात की सूचना देता है कि वे कात्यायन के देश के थे। क्योंकि, अन्यथा इस शब्द का दूसरा अर्थ अपमानजनक है; और वैसा अपमान कैयट जैसे आलोचक से सम्भाव्य नहीं है। 'गोनर्द' को कश्मीर में भी माना जा सकता है। 'कश्मीर' की चर्चा पा० ३. २. ११४ के प्रसंग में उन्होंने की भी है।[2] उक्त पाश्चात्य आचार्यों का कहना है कि कश्मीर सम्बन्धी यह उद्धरण अस्थायी निवास का आभास देता है। उधर मीमांसक जी की मान्यता है कि क्योंकि यह स्थान पतंजलि का नहीं है, इसीलिए 'गोनर्दीय' भी पतंजलि नहीं है।

यह स्थान पतंजलि का है या नहीं?, इस विषय में उक्त दोनों मत एकांगी हैं और शीघ्रता में निकाले गए हैं। पूछा जा सकता है कि 'आचार्यदेशीयः' में 'आचार्य' से 'पाणिनि' की संभावना क्यों नहीं की गई, और पतंजलि को भी 'शालातुरीय' या 'वाहीक' क्यों सिद्ध नहीं किया गया?, क्योंकि 'आचार्य' नाम मूलतः पाणिनि के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

---

१. म० ७.१.२.५८ पर टिप्पणी।

२. 'कश्मीरान् गमिष्यामः' म० ३.२.२.११४।

फिर भी, हमारी दृष्टि में वेबर और गोल्डस्टुकर का मत ही अधिक समीचीन है। क्योंकि, कात्यायन, भारद्वाजीय, और सौनागादि का जितना परिचय और ज्ञान पतंजलि को है, उतना परिचय उसे पश्चिमोत्तर के विद्वानों का प्रत्यक्षवत् रहा दिखाई नहीं देता। 'कश्मीर' से उनका कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य है, जैसा कि कश्मीर के महाराज अभिमन्यु द्वारा चन्द्राचार्य्यादि की महाभाष्य के उद्धार कार्य में नियुक्ति किए जाने से आभास होता है [1]। पर, तो भी 'पाटलिपुत्र' में सुदीर्घ निवास और व्याकरण की पूर्वीय शाखा से निकट परिचय उन्हें पूर्व (प्राची) से निश्चय ही सम्बद्ध करते हैं।

अतः उनका 'गोनर्दीय' नाम ठीक ही है।

'गोणिकापुत्र' का महाभाष्य में पा० १.४. ५१ के प्रसंग में एक ही स्थल पर उल्लेख आया है! ऐसा उल्लेख यदि अन्य किसी के लिए आया है, तो केवल 'पाणिनि' के लिए। पाणिनि 'दाक्षीपुत्र' कहे गए हैं। कात्यायन के लिए 'उभयथा' वाली बात ठीक नहीं बैठती। समन्वय की यह शैली, जिसमें शंका के दोनों पक्षों को उचित मानकर स्वीकार करने का संकेत होता है, केवल पतंजलि की ही अपनी है। अतः 'उभयथा गोणिकापुत्रः' का अर्थ है, 'गोणिकापुत्र को दोनों तरह से स्वीकार है' यह पतंजलि की समन्वय शैली है। अतः 'गोणिकापुत्र' नाम भी अन्य आचार्यों के कथनानुसार 'पतंजलि' के लिए ही व्यवहृत हुआ है।

'पदकार'

इस नाम का भी आचार्य पतंजलि के लिए अनेकत्र उल्लेख हुआ है। स्कन्दस्वामी, उवट, आत्मानन्द, भामह और क्षीरस्वामी आदि ने इसी नाम से पतंजलि को स्मरण किया है [2]। वल्लभदेव ने 'पद' का अर्थ 'पतंजलिरचित भाष्य' किया है। [3]

'चूर्णिकार'

इस पद का प्रयोग भी भर्तृहरि, स्कन्दस्वामी, आदि ने किया है [4]।

---

१. राजतरंगिणी, तरंग १.१७४-६।
२. मी०, पृ०, ३६।
३. मी० पृ० २६७।
४. वही०, पृ० २३५।

इत्सिंग ने 'महाभाष्य' का नाम 'चूर्णि' बताया है। अतः पतञ्जलि को इस नाम से भी मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ये सभी नाम सप्रयोजन हैं। केवल 'पतंजलि' नाम ही वैयक्तिक या व्यक्तिवाचक प्रतीत होता है। यद्यपि हम पहले ही कह आए हैं कि इस नाम के अनेक व्यक्ति हुए हैं, फिर भी महाभाष्यकार पतंजलि एक ही है। उसका ही परिचय 'कृष्णचरित' में समुद्रगुप्त हमें देते हैं।

रचनाएं

समुद्रगुप्त के अनुसार पतंजलि मुनि ने महाभाष्य की रचना, चरक का प्रतिसंस्कार, महानन्द पर आश्रित काव्य, और योगदर्शन की कृतियां रची थीं[1]। श्री मीमांसक अन्तिम दोनों कृतियों को एक ही में अन्तर्हित कर देते हैं। वैसे उनकी कल्पना किसी सीमा तक सही भी कही जा सकती है; क्योंकि महानन्द के जीवन के साथ ही 'योगानन्द' की घटना भी प्रसिद्ध है। किन्तु, पतंजलि को 'योगदर्शन' का कर्ता स्वीकार न करना उचित प्रतीत नहीं होता, जबकि समुद्रगुप्त स्पष्टतः 'योगव्याख्यानसम्भूतं योगदर्शनमद्भुतम्' का पाठ करते हैं। क्या यह सम्भव नहीं है कि जिस प्रकार 'महाभाष्य' की सरलता पर श्री मीमांसक मुग्ध हैं, उसी प्रकार 'योगदर्शन' की शैली की सरलता और रुचिरता पर मुग्ध होकर समुद्रगुप्त ने उसे ही 'काव्य' की संज्ञा दे दी हो ? किन्तु, ऐसा न भी हो, तब भी यह अनिवार्य नहीं कि यहां केवल चरक, योगदर्शन और महाभाष्य इन तीन ग्रन्थों का ही उल्लेख हो। केवल अनुमानाश्रित होकर ही कहना हो, तब बात अलग है। इन तीन में से 'चरक' आयुर्वेद का परम प्रामाणिक ग्रन्थ है। सम्भव है कि पतंजलि ने उसमें धर्माविरुद्ध योगों का समावेश किया हो। चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत इस आयुर्वेद ग्रन्थ में पर्याप्त बाद तक भी कुछ न कुछ योगों का मिश्रण होता रहा है। यह प्रक्रिया बहुत बाद में ही जाकर रुकी है। अतः पतंजलि और चरक को एक ही कहने की उतनी अनिवार्य बाध्यता नहीं है। अन्यथा, चक्रपाणि जैसा प्रसिद्ध व्यक्ति उसे 'चरकप्रतिसंस्कर्ता' न कहकर 'अग्निवेशसंहिताप्रतिसंस्कर्ता' कहता, और उसका नाम अहिपति अलग से न गिनाता[2]।

---

१. कृष्णचरित, प्रस्तावना के तीन श्लोक।

२. तुलनीय, मी०, इति०, पृ० २३५।

अन्य ग्रन्थों के विषय में निश्चय से नहीं कहा जा सकता । यूं, निदानसूत्र, सामवेदीय पातंजलशाखा, सेश्वर सांख्य, कोषग्रन्थ, लोहशास्त्र, रसशास्त्र, आदि को भी उनकी कृतियां स्वीकार किया जाता है । आयुर्वेद की कृतियों को छोड़कर अन्य कृतियों को अवश्य ही किसी अन्य लेखक की माना जा-सकता है। आयुर्वेदीय कृतियों की प्रामाणिकता को भी परीक्षा के वाद ही जाना जा सकता है । किन्तु, वे सम्प्रति उपलब्ध नहीं है ।

काल (१)

इस विषय में एकमात्र प्रमाण 'इह पुष्यमित्रं याजयामः[१]' को लेकर यह कहा जाता रहा है, कि पतंजलि पुष्यमित्र के महामन्त्री या पुरोहित बने थे । अन्ततः मीमांसक जी भी इसे स्वीकार करते हैं ।[२] किन्तु, पुष्यमित्र के सम्वन्ध में उनकी कालगणना इतिहास के दृढ़स्थापित सत्यों के एकदम विरुद्ध है । इसपर भी, उन्होंने कुछ प्रमाण इस विषय में ऐसे दिए हैं, जो अत्यन्त महत्त्व के हैं, और उनसे कई वातों पर प्रकाश पड़ता है। इनसे जो सत्य सामने आए हैं, वे निम्न प्रकार कहे जासकते हैं :

(१) उस समय पाटलिपुत्र शोण के किनारे वसा हुआ था : 'अनुशोणं पाटलिपुत्रम्'[३]।

(२) वृषलकुल से परिचय : जेयो वृषलः [४] । काण्डीभूतं वृषलकुलम् । कुड्यीभूतं वृषलकुलम् ।[५]

(३) मौर्यों के लिए भूतकाल का निर्देश भी है : "मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्च्चाः प्रकल्पिताः [६]।"

(४) किसी यवन द्वारा साकेत और माध्यमिकों को घेरा गया था [७]।

(५) उनका परिचय पुष्यमित्र और चन्द्रगुप्त की सभा से था[८] (यद्यपि

१. महाभाष्य ।
२. मी०, इति०, पृ० २३७ ।
३. पा० २.१.१५ ।
४. पा० १.१.५० ।
५. पा० ६.३.६१ ।
६. पा० ५.३.९९ ।
७. पा० ३.२.१११ ।
८. पा० १.१.६८ ।

दोनों के काल में १५० वर्ष से अधिक का अन्तर है) ।

(६) पुष्यमित्र को याग कराया था ।[1]

पाटलिपुत्र

इसके स्थान-निर्णय को लेकर मीमांसक जी को काफी कष्ट उठाना पड़ा है, क्योंकि उनके अनुसार विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' में चन्द्रगुप्त मौर्य के समय कुसुमपुर या पाटलिपुत्र का गंगा के किनारे होना लिखा है । महाभाष्य के कथन को सिद्ध करने के लिए उन्हें अनेक पाटलिपुत्रादि की कल्पना करनी पड़ी । पर, पहली बात तो यह कि विशाख 'कुसुमपुर' की ही चर्चा करता है, पाटलिपुत्र की नहीं । वायुपुराण के अनुसार अजातशत्रु के पुत्र उदयी ने भी 'कुसुमपुर' वसाया था, पाटलिपुत्र नहीं[2]। विशाखदत्त तो हुए भी पांचवी शती विक्रम में हैं : चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन । उनका 'देवीचन्द्रगुप्तम्' अब तो अत्यधिक प्रसिद्ध हो चुका है । शकों का आगमन पाँचवीं शती ई० पू० ही बैठता है । अतः उनका काल चन्द्रगुप्त मौर्य से हर दशा में आठसौ वर्ष से अधिक व्यवधान का बैठता है । क्या विशाख की यह उक्ति वायुपुराणाश्रित नहीं हो सकती ? क्योंकि, उनकी अन्य उक्तियां भी तो अधिकांश काल्पनिक निकली हैं । मलयकेतु सचमुच ऐतिहासिक व्यक्ति है ? और, क्या उसका विद्रोह 'अरुणद् यवनः साकेतम्' आदि को प्रतिध्वनित नहीं करता ? पर्वतक और मलयकेतु उन ऐतिहासिक यवनों के स्मारक हैं, जिन्होंने चन्द्रगुप्त मौर्य की सहायता राज्य की प्राप्ति में की थी । और, छल अनुभव करने पर उन्होंने उसे परेशान भी किया होगा । अतः विशाख की अर्धैतिहासिक उक्ति भी, 'वायुपुराण' पर आश्रित होकर भी, निश्चय नहीं कि सर्वांशतः सत्य ही हो ।

फिर, मीमांसक जी ने स्वयं ही सत्यव्रत सामश्रमी के 'निरुक्तालोचन'[3] से उद्धरण दिया है, जिसके अनुसार शाक्यमुनि के समय अजातशत्रु ने शोण के तट पर उस 'पाटली' ग्राम में दुर्ग-निर्माण कराया था, जिसके लिए बुद्ध ने भविष्य में 'बड़ा नगर' होने की भविष्यवाणी की थी । क्या यही पाटलिपुत्र नहीं था ? अतः 'कुसुमपुर' के वस जाने पर भी यदि पाटलिपुत्र (या उसका

---

१. पा० ३.१.२६, पा० ३.२.१२३ ।
२. वायु० पु० ९९.३१८ ।
३. निरु०, ७१ पृ० ।

पुराना शहर) सोन के किनारे ही रहा हो, तव आश्चर्य क्या ? इससे समय का अन्तर कैसे बैठता है ? अजातशत्रु का वेटा एक नया नगर बसाता है और वह भी गंगा के किनारे, तो इससे पाटलिपुत्र के महत्त्व में क्या अन्तर ?

अतः स्पष्ट है कि भले ही पुष्यमित्र ने **पाटलिपुत्र** को राजधानी वनाया हो या नहीं, किन्तु पतंजलि उसकी सही स्थिति से परिचित थे। और, इसी आधार पर, 'पाटली ग्राम' के **'पाटलिपुत्र'** वन जाने पर, अर्थात् अजातशत्रु के निश्चय ही पर्याप्त वाद, पतंजलि हुए।

काल (२)

इससे उनके काल का प्रश्न वहुत वड़ी सीमा तक हल हो जाता है। अव यह पाटलिपुत्र या कुसुमपुर, पतंजलि के समय तक मौर्यवंश के उत्थान-पतन को देख चुका है। हो सकता है कि पतंजलि अन्तिम या अन्तिमपूर्व मौर्य राजा के समय हुए हों। शाक्यमुनि से वे परिचित हैं। मौर्यों, विशेषकर अशोक महान्, द्वारा प्रचलित 'अर्च्चाओं' का उन्हें परिज्ञान है। **'चन्द्रगुप्तसभा'** का मतलव राज्यशासन की सवसे वड़ी 'परिषद्' से ही है। नाम-ग्रहण वताता है कि वह सभा अत्यन्त ख्यात हो चुकी थी। **'पुष्यमित्रसभा'** स्वभावतः उसी प्रसंग में 'पुष्यमित्र की राज्यसभा' के रूप में समझी जा सकती है। **'पुष्यमित्रं याजयामः'** के प्रयोग से घवराने की आवश्यकता नहीं है। **अश्वमेध** को दुवारा प्रतिष्ठित करने वाले **'पुष्यमित्र शुंग'** को पतंजलि से अच्छा वेदवित् ऋत्विक् और कौन मिलता ?

रह गया पुष्यमित्र का कालनिर्णय ! जव हम अशोक का समय एक वार, उसके शिलालेखों के अकाट्य प्रमाणों के आधार पर, तय कर देते हैं, और सिकन्दर के लगभग पचास वर्ष वाद उसका होना सिद्ध होता है, तव कितना ही ज़ोर लगालें, पुष्यमित्र को १६५ ई० पू० से पहले ले ही नहीं जा सकते। यह हमारी शुभकामनामात्र से ही सम्भव नहीं है कि हम सिकन्दर के आक्रमण को पीछे ले जाएँ। अशोक के शिलालेख स्वयं अपना काल वता रहे हैं।

अतः पतंजलि का काल १६५ ई० पू० के आसपास ही ठहरता है।

पतंजलि की व्याकरण को देन

अनुपम : महान् भाष्य

हम कह आए हैं कि महामुनि पतंजलि की उच्चतम कृति उनका 'महाभाष्य' ही है। यह उनका स्वप्रदत्त नाम नहीं है। सामान्य नाम 'भाष्य' ही ठहरता है। किन्तु, (१) अपने महत्त्व के कारण, (२) भर्तृहरि आदि द्वारा 'महाभाष्य'के रूप में स्वीकृत होने के कारण, तथा(३)'भाष्य'की सीमा से आगे वढ़कर 'न्यायवीजों' के समावेश के कारण इसको 'महाभाष्य' ही कहा गया। भले ही श्रम और सूचना की दृष्टि से भर्तृहरि का प्रयत्न—त्रिपदीभाष्य—इससे भी कितना अधिक मूल्यवान् था, और भट्टोजि ने भी कितना ही नयापन अपने 'शब्दकौस्तुभ' में भरा; किन्तु जो महत्त्व पतंजलि के मूल 'महाभाष्य' को प्राप्त हुआ, वह इससे ही ज्ञात है कि 'महाभाष्य' केवल एक ही वना। वह भी अनुपम और अद्वितीय!

दो दुर्भाग्य : ध्वंस

अनेकानेक वृत्तिकारों, अनेक भाष्यकारों, और अनेक ही वार्त्तिककारों के चंगुल से निकालकर विशुद्ध मणि की भांति पाणिनि-व्याकरण-की ज्योति को प्रतिष्ठित करने वाले इस 'महाभाष्य' को दो दुर्भाग्यों का सामना करना पड़ा। एक तो उसी युग में, जबकि पतंजलि के लगभग तीन सौ वर्ष के भीतर ही उनके इस महान् ग्रन्थ को उनके ऐसे शिष्यों के हाथों गुज़रना पड़ा, जिन्होंने इसके न्यायबीजों को तो 'शुष्क तर्कों' के रूप में परिणत कर दिया, जवकि इसके व्याकरण मूल को उन्होंने गायव ही कर दिया। परिणाम यह कि बैजि, सौभव और हर्यक्ष, आदि आचार्य इसके विप्लावन और विलोप के कारण बने।

किन्तु, इसकी रक्षा दक्षिण में सम्भव हुई। क्योंकि, वहाँ न तो प्राच्य वैयाकरणों के समान टीका-पर-टीका करने की प्रवृत्ति थी, और न ही उन्होंने वौद्धों के वढ़ते हुए 'शुष्क न्याय' का आश्रय लिया था। वहाँ अध्ययन-अध्यापन की प्राचीन प्रथा व्राह्मणों तक ही सीमित होने के कारण कुलागत दृष्टि से 'महाभाष्य' की सुरक्षा सम्भव हुई।[1]

उधर; कश्मीर में जब कभी पतंजलि रहे होंगे, तब उनके 'महाभाष्य की

---

१. वा० २.४७४-८३।

कोई न कोई प्रति कश्मीर के राजवंश के पास भी देर-अवेर में पहुँची ही होगी। महाराज **अभिमन्यु** ने उस कालखण्डित प्रति को देकर ही चन्द्राचार्य्यादि से प्रार्थना की कि दक्षिण की प्रतियों से मिलान करके इसका पुनरुद्धार करें।[1] किन्तु, फिर भी इसकी सुरक्षा पूरी तरह सम्भव न हो सकी। भर्तृहरि के गुरु वसुरात ने फिर से यत्न करके **दक्षिण और चान्द्र प्रतियों** के आधार पर उसका सम्पादन किया[2]। और, तब जाकर कहीं भर्तृहरि की **'महाभाष्य-दीपिका'** या **'त्रिपदीटीका'** प्रकाश में आ सकी। अतः एक दुर्भाग्य तो यह था।

भ्रम

दूसरा दुर्भाग्य इसको मध्य शताब्दियों में, और पिछली दो सदियों में भी, आलोचकों के हाथों देखना पड़ा। वह यह कि पाणिनि के सबसे बड़े **समर्थकों** को उनका सबसे बड़ा **आलोचक** सिद्ध किया गया। यदि पतंजलि के महाभाष्यीय बीजों का अनुसरण करके चान्द्र व्याकरण' सृष्ट हो सकता था, तब क्या स्वयं वार्त्तिककार कात्यायन और पतंजलि ऐसे 'व्याकरण' का सृजन नहीं कर सकते थे? उनके द्वारा इस प्रकार सृजन न करके, पाणिनि के व्याकरण को ही अपनी टिप्पणियों का आधार बनाना और उसकी पूर्णता को अपनी-अपनी समझ के अनुसार अपना लक्ष्य बनाना, इस बात को स्पष्ट करता है कि वे पाणिनीय व्याकरण के प्रति किसी **विरोधी आलोचक** की दृष्टि से नहीं बढ़ रहे थे। बल्कि, उनकी दृष्टि एक **श्रद्धामय आलोचक** की थी, जो व्यक्ति से अधिक उसके सिद्धांतों या उसकी देन की पूजा करता है। उनकी पाणिनि के प्रति दृष्टि उस भक्त के समान थी, जो अपने भगवान् में कोई भी कमी देखना पसन्द नहीं करता, किन्तु साथ ही जिसकी दृष्टि महत्ता बढ़ाने वाले हर सुझाव को आँख मूँदकर मान लेने की भी नहीं होती। प्रत्युत, ऐसा भक्त अपने उपास्य के गुणों से इतना अभिभूत और आबद्ध होता है कि उसकी मूलभावना को पूरी तरह अनुभव करने लगता है।

विरोध और समर्थन

डा० कीलहार्न ने गोल्डस्टुकर द्वारा 'पाणिनि' में व्यक्त महाभाष्य-सम्बन्धी

१. राज० १.१७६।
२. वा० २.४८४, एवं पुण्यराजकृत श्लोक ५३-४।

विचारों की आलोचना एक स्वतन्त्र पुस्तक—'कात्यायन और पतंजलि'—में की है। उन्होंने बताया है, और उसके लिए अनेकानेक उद्धरण और प्रमाण भी दिए हैं, कि गोल्डस्टुकर का अनुकरण करके वेबर और बुर्नेल ने कात्यायन को जिस प्रकार 'पाणिनि का विरोधी', और पतंजलि को 'कात्यायन का विरोधी और पाणिनि का पोषक', सिद्ध किया है, वह स्वयं गोल्डस्टुकर की उस भावना का भी अतिक्रमण करता है, जिसके अनुसार कात्यायन तो पाणिनि का विरोधी आलोचक था, किन्तु पतंजलि का कार्य, पाणिनि के सूत्रों की अपेक्षा, कात्यायन के वार्त्तिकों की व्याख्या करना ही अधिक रहा।

गोल्डस्टुकर के इस वक्तव्य में न तो कात्यायन-विरोध की भावना झलकती है और न ही पाणिनि के विरोध या पक्षपोषण की। कीलहार्न को इस धारणा पर भी आपत्ति है। क्योंकि, उनकी दृष्टि में ये निष्कर्ष न तो किन्हीं निश्चित आधारों पर निकाले गए हैं, और न ही इनमें भारतीय परम्परा का ही यत्किंचित् भी सम्मान किया गया है। बल्कि, उस परम्परा के जिस अंश का आश्रय लिया भी गया है, वह भी तोड़-मरोड़कर। यद्यपि ऐसा किसी विकृत भावना से नहीं किया गया, तब भी इसका प्रभाव बड़ा विकृत हुआ है।

कीलहार्न के ये निष्कर्ष कितने सुदृढ़ आधारों पर स्थित हैं, यह तो उसकी उस लघु-पुस्तिका को पूरी तरह पढ़ने के बाद ही समझ में आ सकता है। किन्तु, 'वार्त्तिकों' की भारतीय परिभाषा और डॉ॰ गोल्डस्टुकर द्वारा स्थापित जाँच के मानदण्डों के आधार पर जिस प्रकार उन्होंने कात्यायन के वार्त्तिकों, भाष्यकार के अपने वार्त्तिकों, एवं पाणिनीय सूत्रों पर सीधी पतंजलि की टीका को स्पष्ट रूप में पृथक्-पृथक् पहचानने की पद्धति निश्चित की है, उसे देखकर लगता है कि उनका यह परिणाम बिलकुल ठीक ही है कि, "कात्यायन का वास्तविक कार्य पाणिनि के व्याकरण में उक्त, अनुक्त, अथवा न समझे जा सकने योग्य (दुरुक्त) अर्थों पर विचार करना था। पतंजलि ने न्याय-पूर्वक उन वार्त्तिकों को उसी क्रम से रखा है, और पाणिनीय व्याकरण के अपने विचार को, उनके और उस समय तक अन्य उपलब्ध वार्त्तिकों के प्रकाश में, पूर्णता तक पहुँचाया है। ऐसा करते हुए, पतंजलि का यत्न भी वार्त्तिककारों के समान-उक्त, अनुक्त और दुरुक्त अर्थ का चिन्तन और उसकी पूर्णता ही रहा है; ताकि एक ऐसा साधन खोजा जा

सके, जिसे पाणिनीय दृष्टि में ही पूर्ण कहा जा सके। सूक्ष्मता और संक्षेप की पाणिनीय धारणा को वे इस सीमा तक ले गए हैं कि उन्हें कात्यायन के या अन्यों के वार्त्तिकों में, अथवा पाणिनीय सूत्रों में भी, यदि कहीं व्यर्थ का विस्तार या पुनरावृत्ति मिली है, तो उन्होंने उसका भी विरोध ही किया है। परन्तु, यह विरोध इतना सुन्दर और इस ढंग का है कि इसे 'विरोध' न कहकर 'सुधार' और 'समन्वय' कहना अधिक उचित लगता है[1]।"

कीलहार्न का यह मत इतना युक्तिसंगत है कि तथाकथित भारतीयताभिमानी भी इसके सामने लज्जित हो जाएँ। कारण यह है कि गोल्डस्टुकर को अपनी भ्रामक धारणा बनाने का मूल आधार नागेश आदि मध्यकालीन वैयाकरणों में से कुछ की गलत धारणा के कारण ही मिला। पर, आज भी जो तथाकथित महावैयाकरण और दिग्गज लोग इस दृष्टि से विचार करते हैं, उनका क्या किया जाए?

मीमांसक जी के निष्कर्ष

आश्चर्य तो तब होता है कि जब पतंजलि और भर्तृहरि पर पूर्ण आस्था रखने वालों में अग्रणी **मीमांसक** जैसे आचार्य भी इससे मिलती-जुलती धारणा व्यक्त करें और स्वयं भर्तृहरि के उस कथन को भूल जाएँ, जिसके अनुसार पतंजलि सच्चे अर्थों में 'ऋषि' थे, और उनका '**संग्रहप्रतिकुंचक भाष्य**' सच्चे अर्थों में 'आर्ष' ग्रन्थ था[2]। मीमांसक जी के निम्न कथन अवधेय हैं :

(१) "पाणिनीय सूत्रों पर केवल वृत्तियाँ ही लिखी गई थीं। वार्त्तिकों पर सीधे भाष्य ग्रन्थ लिखे गए। इसीलिए वार्त्तिकों को 'भाष्यसूत्र' भी कहते हैं[3]।"..."उन (सूत्रों) पर सीधे भाष्य की रचना नहीं हुई[4]।"

(२) "महाभाष्य का यत्किंचित् अध्ययन करने वाले आधुनिक वैयाकरण कहते हैं कि पतंजलि ने पाणिनि के अनेक सूत्रों या सूत्रांशों का खण्डन किया है। उन्होंने '**यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यं**' ऐसा वचन भी घड़ लिया है। वस्तुतः यह विचार सर्वथा अयुक्त है। यदि पतंजलि पाणिनि के ग्रन्थ में इतनी अशुद्धियाँ समझता, तो वह उपर्युक्त ('**दर्भपवित्रपाणिः**'—

१. कील०, 'कात्यायन और पतंजलि'।
२. वा० २.४८१।
३. मी०, इति०, प्र० सं०, पृ० २३०, २३१।
४. वही, प्र० सं०, पृ० १५२।

आदि) वचन कदापि न लिखता। इससे मानना होगा कि पतंजलि उन सूत्रों या सूत्रांशों का खण्डन नहीं करता, अपितु अपने बुद्धिचातुर्य से प्रकारान्तर से प्रयोगसिद्धि का निदर्शन करता है। महाभाष्यकार द्वारा प्रदर्शित प्रकारान्तरनिर्देशों से चन्द्राचार्य आदि अर्वाचीन वैयाकरणों ने अपने ग्रन्थ की रचना में पर्याप्त सहायता ली"[1]।

(३) "इस प्रकार जिन पाणिनीय सूत्रों या सूत्रांशों का पतंजलि ने प्रत्याख्यान कर दिया, चन्द्राचार्य ने उन्हें अपने व्याकरण में स्थान नहीं दिया। इतना होने पर भी अनेक स्थानों पर चन्द्राचार्य ने पतंजलि के व्याख्यान को प्रामाणिक न मानकर अन्य ग्रन्थकारों का आश्रय लिया है[2]।"

(४) "पाणिनीय व्याकरण में जिन शब्दों के साधुत्व का प्रतिपादन वार्त्तिकों और महाभाष्य की इष्टियों से किया गया है, चन्द्राचार्य्य ने उन पदों का सन्निवेश सूत्र-पाठ में कर दिया है [3]।"

(५) 'महाभाष्य में मुख्यतया कात्यायन के वार्त्तिकों का व्याख्यान है [4]।'

(६) 'अर्वाचीन यैयाकरण जहां सूत्र, महाभाष्य और वार्त्तिक में परस्पर विरोध समझते हैं, वहां वे महाभाष्य को ही प्रामाणिक मानते हैं।'[5]

भ्रामकता

इन कथनों का विचार कीलहार्न की कसौटी को ध्यान में रखकर करना चाहिए। तब हम देखेंगे कि—

(१) इनमें से प्रथम वक्तव्य ही अशुद्ध है। जिन 'सूत्रों' पर किसी भी वार्त्तिक का प्रसंग नहीं है, अथवा जहां कोई भी मूल-सूत्र नहीं दिया है, वहां भी पतंजलि सामान्य स्पष्टीकरण को अपना वैसा ही महत्त्वपूर्ण कार्य समझते है, जैसा वार्त्तिकों पर टिप्पणी लिखने को, या नए वार्त्तिकों की सम्भावना पर विचार करने को। कीलहार्न ने यह बात अनेक उदाहरण देकर स्पष्ट करदी है। उनकी दृष्टि में पाणिनि और कात्यायन का, अथवा सूत्रों और वार्त्तिकों का, पतंजलि की टिप्पणी की दृष्टि से समान महत्त्व है।' स्पष्ट है कि यह स्वी-

---

१. वही, पृ० १४३।
२. वही, पृ० ४१६।
३. वही, पृ० ४१५-६।
४. वही, पृ० २१०।
५. वही, पृ० २३४।

कार करते ही 'भाष्य' की मूल परिभाषा ही पलट जाती है। इसके अनुसार 'वृत्ति' सूत्रों के अर्थ और प्रयोग को स्पष्ट करने वाली और उन की सीमा में ही वढ़ने वाली होती है, जब कि 'भाष्य' में मूल सूत्रों में अनुक्त और दुरुक्त बातों का भी समावेश होता है। अतः कहा जाकता है कि पातंजल महाभाष्य मूलतः पाणिनि के व्याकरण का ही भाष्य है, यद्यपि उसमें अन्यों के वार्त्तिकों या विचारों को भी पूरे और उचित महत्त्व के साथ परखा गया है। श्री मीमांसक के चतुर्थ और पंचम उद्धरणों के उत्तर का समावेश भी इसी में हो जाता है।

(२) द्वितीय उद्धरण में उनका 'आधुनिक' शब्द से अभिप्राय 'मध्यकालीन वैयाकरणों' से है। किन्तु, इसका अध्ययन तृतीय उद्धरण के साथ करने पर पता चलता है कि दोनों में पर्याप्त अन्तर्विरोध है। यह विरोध है 'खण्डन' और 'प्रत्याख्यान' शब्दों में! पतंजलि 'खण्डन भी नहीं करता' और 'प्रत्याख्यान भी करता है'। यह विषम स्थिति साधारण बुद्धि की समझ में तो नहीं आती।

(३) षष्ठ वक्तव्य का अर्थ विरोध और तटस्थता दोनों ओर लिया जा-सकता है।

वास्तविकता

वास्तव में पतंजलि के महाभाष्य का महत्त्व इन बातों में है :

(१) उसमें पाणिनि के कृतित्व को पूर्णतः समझने का यत्न किया गया।

(२) कात्यायन के वार्त्तिकों के पूरक रूप को समझ कर ही उनकी आलोचना की गई, और उनकी अनिवार्यता के आधार पर ही उन्हें स्वीकार किया गया। निवार्य अंशों का स्पष्ट ही प्रत्याख्यान किया गया; क्योंकि पाणिनि के 'लघुता' या संक्षेप के उद्देश्य को पतंजलि नष्ट या कम नहीं करना चाहते थे।

(३) उनका मुख्य लक्ष्य पाणिनि ही रहे, और उन्होंने उनमें कोई उल्लेखनीय कमी न पाई थी। अन्यथा, चन्द्राचार्यादि को नए सृजन की प्रेरणा देने वाला स्वयं भी नया सृजन कर ही सकता था।

(४) पाणिनि और कात्यायन को 'भगवान्' और 'आचार्य' मानकर भी ... विवेचन को एक पवित्र कर्त्तव्य समझ कर प्रवृत्त हुए थे।

(५) अत्यधिक सूक्ष्म, किन्तु व्यापक, अध्ययन था उनका ! यह पाणिनि के अपने अध्ययन से कम व्यापक नहीं था।

(६) उनके महाभाष्य में काव्य, इतिहास, शास्त्र और दर्शन सभी का एकत्र समन्वय है।

(७) वे अपने पूर्व के सभी व्याकरणकोष को लेकर पाणिनि के अध्ययन में प्रवृत्त हुए थे।

(८) उन्होंने केवल विचारार्ह या समझने योग्य सूत्रों पर ही विचार किया है। जिन पर नहीं किया, उसका अर्थ यह नहीं कि वे उन्हें मानते नहीं।

भर्तृहरि का वक्तव्य

वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड के ४७८ से ४८३ तक के पुनः-पुनः उल्लिखित पूर्वोक्त श्लोकों का सार क्रमशः इस प्रकार है :

—सामान्यजन की रुचि संक्षेप को ही चाहती है। ऐसे लोगों के अध्ययन में व्यापकता नहीं होती। पाणिनीय व्याकरण को समझने में न तो 'संक्षेप' सहायक था और न 'सीमित अध्ययन'। अतः ऐसे लोगों के हाथ में पड़कर पाणिनीय व्याकरण का सर्वोत्कृष्ट व्याख्यानग्रन्थ 'संग्रह' अस्त हो गया (४७८)।

—यह देख उसमें आए अन्य सभी 'न्यायों' को गुरु पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' में निबद्ध कर दिया। अर्थात्, उसकी सभी मूल युक्तियां 'महाभाष्य' में बांध ली गईं (४७९)।

—यह महाभाष्य सरल होकर भी गम्भीर था। परन्तु, सामान्य लोग उसकी गहराई न पासके। क्योंकि, उसकी सरलता ने उन्हें उसकी उत्तानता या उथलेपन का आभास दे दिया था। इसीलिए अपरिपक्व बुद्धि वालों का निश्चय उसमें न जम सका(४८०)।

—बैजि, सौभव और हर्य्यक्ष जैसे स्वयं को न्याय का आचार्य समझने वाले पण्डितों ने महाभाष्यीय 'न्यायबीजों' को ही इसका सर्वस्व समझकर बाल की जो खाल निकालनी चाही, उसके कारण यह ऋषि परम्परा का, 'संग्रह' का कुंजीरूप, ग्रन्थ उस छीछालेदर के कारण डूब ही गया (४८१)।

—इस प्रकार पतंजलि के शिष्यों से भ्रष्ट हुआ यह ग्रन्थ उत्तर से तो लुप्त

हो गया, किन्तु दक्षिण में यह 'ग्रन्थ' रूप में अवश्य अवशिष्ट रह गया(४८२)।

—भाष्यबीजों का अनुसन्धान करने वाले चन्द्राचार्यादि को तव पर्वत से (कश्मीरनरेश से ?) 'आगम' प्राप्त हुआ। किन्तु, उन्होंने भी पाठ भेद के अनुसार इसकी अनेक शाखाएं या भाष्यादि रचे (४८३)।

कल्हण की साक्षी

इन श्लोकों में यह स्पष्ट होजाता है कि 'महाभाष्य' का कितना महत्त्व था। किन्तु उसे न समझ पाने के कारण एक बार तो संग्रह की भांति वह भी विप्लुत कर दिया गया। चन्द्राचार्यादि द्वारा उद्धार की बात कल्हण ने भी एक श्लोक में की है[1]। परन्तु, कल्हण की ही एक अन्य सूचना से पता चलता है कि कम से कम कश्मीर से एकबार फिर महाभाष्य का उच्छेद हो गया था। तभी क्षीराचार्य की प्रेरणा और अधीनता में बाहर से पण्डितों को बुलाकर जयापीड ने विच्छिन्न महाभाष्य को अपने मण्डल में फिर से प्रचलित किया[2]। लगता है यही वह अवसर था, जब कैयट ने इसपर 'प्रदीप' की रचना की। उसके सामने भी कदाचित् भर्तृहरि का 'वाक्यपदीय' तो था, पर कदाचित् उनकी 'महाभाष्य टीका' उसे अखण्ड रूप में उपलब्ध न हो पाई। पर, तो भी कैयट ने अन्यत्र से मिलान करने का पर्याप्त प्रयत्न किया। कारण यह कि वे वार-बार 'नष्ट पाठ' के अंशों का उल्लेख करते हैं। अन्य भाष्यटीकाओं को देखकर वे पुनःरचना करने में समर्थ होगए। परन्तु, इसका लाभ अद्यावधि के प्रकाशनों में नहीं उठाया गया।

निष्कर्ष

इस प्रकार कम से कम दो वार तो 'महाभाष्य' का विलोप और 'उद्धार' हुआ ही। तीसरी बार 'महाभाष्य' का भ्रष्ट या सही पाठ तो बचा रहा, किन्तु भर्तृहरिकृत टीका जैसा आर्ष और वास्तविक रहस्योद्घाटक ग्रन्थ, अपने आरम्भिक कुछ भाग को छोड़कर, धरती पर से ही विलुप्त हो गया। आज उसके अभाव का दुःख 'महाभाष्य' के 'भ्रष्ट' होने के दुःख से भी गुरुतर है।

दार्शनिक पक्ष

पतंजलि की वास्तविक देन का मूल्यांकन करने के लिए उनके महाभाष्य

१. राज० १.१७३।
२. वही. ४.४८८-९।

में प्रकट दार्शनिक पक्ष पर दृष्टिपात करना होगा। 'सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने' के अनुसार महाभाष्य में दार्शनिक पक्ष (न्यायबीज आदि) की पर्याप्त प्रधानता थी। यहाँ 'सर्वेषां' का अर्थ 'संग्रह में वर्णित सभी न्यायबीज' होना सम्भव है। क्योंकि, 'संग्रह' में ही इस प्रकार का दार्शनिक विचार हुआ है। हो सकता है, वे बीज 'ज्ञापक' या 'न्यायवार्त्तिकों' के रूप में रहे हों, या त्रिपदीप्रोक्त 'चतुर्दशसहस्र परीक्षित तत्त्वों' के रूप में रहे हों। भाष्य की रचना के समय, इस सबके विचार-प्रसंग में, व्याकरण की रचनात्मक भूमिका का अतिक्रमण करके उसे 'दर्शन' से सम्बद्ध कर देना, और इस प्रकार दर्शन और व्याकरण की अलग-अलग सीमाओं को मिलाकर एक कर देना, स्वतः सरल कार्य नहीं है। और, यह सच है कि पतंजलि के महाभाष्य को पढ़कर यह लगता ही नहीं कि व्याकरण का मुख्य कार्य 'यह शब्द कैसे बना' का निर्णय करना है। बल्कि, लगता है कि उसका मुख्य कार्य है : "यह शब्द किस रूप में व्यवहृत होना चाहिए और क्यों? इसका शुद्धरूप या शुद्ध उच्चारण क्या है और क्यों?" क्यों और कैसे की यह जिज्ञासा ही इस 'महाभाष्य' को 'व्याकरण' की मान्य सीमाओं से उठाकर 'दर्शन' की सीमा में ले जाती है।

इस परम्परा का आरम्भ किया था व्याडि ने! 'कात्यायन' ने भी उसमें अपना योगदान अवश्य दिया, जो अब उनके उपलब्ध वार्त्तिकों के रूप में यत्-किंचित् ही सुरक्षित है। किन्तु, उन दोनों की भावना को, अपनी प्रतिभा और विचार से सम्पुष्ट कर, हम तक पहुँचाया पतंजलि ने। अतः 'व्याकरण-दर्शन' के महान् आचार्य के रूप में हम उन्हें आज भी अन्यतम पाते हैं। उनकी कुछ देनों को, जिन्हें निश्चय ही पाणिनि, व्याडि और कात्यायन का समर्थन प्राप्त है, हम निम्न रूप में कह सकते हैं। उनकी सम्पूर्ण परीक्षा का यहाँ अवकाश नहीं है।

शब्द क्या है ?

'अथ शब्दानुशासनम्' की व्याख्या में प्रथम बार वे शब्द के स्वरूप को अवितथ और ऋजुतम रूप में कहते हैं :'येनोच्चारितेनेह सास्नालाङ्गूलखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति[1]।' और, क्या इतने से ही स्पष्ट नहीं हो जाता कि

---

१. म० १.१.१।

न द्रव्य शब्द है, न आकृति शब्द है, और न ही उच्चरित ध्वनि। जिसके उच्चारण से बोध्य वस्तु का पूरा सम्प्रत्यय हो जाए, वही 'शब्द' है।

नित्यता

और, यह शब्द नित्य ही हो सकता है। क्योंकि, जो चीज़ उच्चारण के बाद नष्ट हो जाती है, वह ध्वनि या द्रव्य हो सकती है। किन्तु, जो कुछ नष्ट नहीं होता, उसे आकृति कहते हैं। द्रव्याश्रित उस आकृति का बोध कराने वाला शब्द बुद्धिस्थ है। 'उच्चरित' होने से तो वह प्रत्यक्षमात्र होता है। अतः उच्चरित न होने पर भी शब्द में शब्दत्व तो रहता ही है। शब्द का वह शब्दत्व ही नित्य है। उसका उच्चरित रूप कार्य-सापेक्ष है। अतएव वह अनित्य है।[2]

अपशब्द और धर्म

और, यह सौभाग्य भर्तृहरि से पूर्व केवल पतंजलि, और कदाचित् व्याडि, को ही प्राप्त था कि उन्होंने साधु शब्दों और असाधु शब्दों के ज्ञान में धर्म की बात समान रूप से घोषित की। पतंजलि कितना भोला तर्क देते हैं, किंतु कितना सशक्त : शब्द थोड़े हैं और असाधुशब्द या अपशब्द अनन्त। यदि अपशब्द के ज्ञान में अधर्म है, तब तो अधर्म की ही बहुतायत होगी?[3] और, भर्तृहरि इस पर पाद-टिप्पणी देते हैं : 'साधु-असाधु की यह व्यवस्था प्राणियों की ही भांति नित्य कही जा सकती है। इसमें नित्य-कार्य अथवा मूल-परिणाम का अन्तर भी जाना नहीं जा सकता।[4]'

वर्णों की अर्थवत्ता

एक वर्ण वाले शब्दों की अर्थभावना एवं शब्दसारूप्य होने पर भी आने वाले अर्थान्तर आदि की सम्पूर्ण समस्याओं पर, कात्यायनादि के मतों के प्रकाश में,विचार करने के बाद पतंजलि इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि वर्ण तो अविश्वसनीय होते हैं। वे विभाजित भी हो सकते हैं, लुप्त भी हो सकते हैं, बदल भी सकते हैं। किन्तु, इससे अर्थ पर प्रभाव पड़ भी सकता है और नहीं भी। न ही

---

१. म० १.१ १।
२. म० १.१.१।
३. म० १.१.१।
४. वा० १.२६।

वर्णों की समानता के कारण अर्थसाम्य हो जाता है, और उनके पलटने के कारण ही अर्थ पलटता है। वर्ण अर्थात्मक इकाई नहीं है।'[1]

व्याकरण

'व्याक्रियन्ते शब्दा अनेन अस्मिन्निति वा,[2]' की परिभाषा व्याकरण की प्राथमिक और आकृतिमूलक परिभाषा हो सकती है, किन्तु दार्शनिक अथवा तर्कसंगत नहीं। फिर, क्या 'सूत्र' व्याकरण है ? नहीं ! क्या उदाहरण सहित सूत्र व्याकरण है ? नहीं ! फिर व्याकरण क्या है ? स्मृति, उदाहरण, प्रत्युदाहरण और वाक्याध्याहार या पूर्ण वृत्ति का समुदित रूप ![3] यही शब्दसिद्धि क लघुतम और सरलतम मार्ग है ![4] भर्तृहरि ने टिप्पणी की : 'अन्य उपाय एव न संभवति' ![5]

सम्बन्ध

'नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः'[6] की सर्वप्रथम प्रामाणिक अभिव्यक्ति हमें महाभाष्य से ही 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'[7] के द्वारा मिलती है।

ध्वनिविभाजन

विभिन्न प्रसंगों में उत्तरभूयः, वर्णसमानैकदेशाः, वर्णान्तरैसमानाकृतयः, वर्णतुरीयभागः, आदि के द्वारा पतंजलि हमें वर्णविभाजन की वास्तविकता और अवास्तविकता का स्पष्ट परिचय देते हैं। चारायणीयों द्वारा मान्य अर्धेकारौकार की प्रथम अधिकृत स्वीकृति भी हमें यहीं से मिलती है।

प्रभाव

इस प्रकार के विचारों की विषयानुसारिणी एक लम्बी सूची बनाई जा सकती है। ये ही सब विचार थे, जिन्होंने आगे चल कर भर्तृहरि और भट्टोजि के रूप में भाषा के दो महान् दार्शनिक दिए, जिनमें से एक सरलता और गाम्भीर्य में समान महत्त्व रखता था, जबकि दूसरा अपनी विद्वत्ता के बोझ के नीचे स्वयं ही झुका जा रहा था। इस पर भी भट्टोजि का तर्क 'शुष्क' नहीं कहा जासकता, कम से कम कौण्डभट्ट की तुलना में; जिसने उनका अनुकरण करके भी फिर से शुष्कता से व्याकरण के दार्शनिक चिन्तन को भर दिया।

---

१. म० १.१.२। २. म० १.१.१। ३. वही, १.१.१। ४. वही, १.१.१।
५. त्रि० १.१.१। ६. वा० १.२३। ७. म० १.१.१, वा० १।

महाभाष्य के अनुयायी और टीकाकार

भर्तृहरि, कैयट, नागेश, भट्टोजि और स्वामी दयानन्द

पीठिका

गाम्भीर्य और सौष्ठव के अद्भुत व्यामिश्रण के कारण 'महाभाष्य' के महत्त्व को समझने में असमर्थ कितने नासमझ लोगों की नासमझी का परिणाम, उसके विलोप और पुनरुद्धार के रूप में विश्व को भुगतना पड़ा हो, किन्तु उस प्रक्रिया में तीन चार रत्न ऐसे भी हाथ लगे, जो कदाचित् इस ऊहापोह के अभाव में सामने न भी आते। भर्तृहरि की महाभाष्य टीका ('दीपिका' अथवा 'त्रिपदी') और कैयट का 'प्रदीप' ऐसे ही दो रत्न हैं। किन्तु, उसके साथ ही दो और रत्न भी ऐसे हैं, जिनका महत्त्व, उनके युग को देखते हुए, कम नहीं कहा जा सकता। ये दोनों रत्न हैं : नागेश का 'प्रदीपोद्योत' और भट्टोजि दीक्षित का शब्दकौस्तुभ' ! निश्चय ही भर्तृहरि के त्रिपदी और कैयट के 'प्रदीप' ने परवर्त्ती भाष्यों की एक अनवरत शृंखला छोड़ी, जिनमें से अनेक को न तो अभी प्रतिसंस्कार का दिन देखना मिला है और न पूरा-पूरा मूल्यांकन हो सका है। किन्तु, उक्त चार रत्न ऐसे हैं, जिनकी परीक्षा से हम उन सब आधारभूत निष्कर्षों पर पहुंच ही जाएंगे, जिनके आधार पर समय आने पर शेष ग्रन्थों की भी परीक्षा हो ही सकेगी। स्वामी दयानन्द का 'भाष्य' पृथक् कोटि का है। इस अध्याय की अगली पंक्तियों में हम इन पाँचों भाष्योद्घाटक भाष्यों और भाष्यकारों का ही पर्यालोचन करेंगे। पर, संक्षेप में ही !

महावैयाकरण भर्तृहरि

विवादास्पद व्यक्तित्व

व्यक्तित्व, कृतित्व, विचार और काल की दृष्टि से सर्वाधिक विवादास्पद, किन्तु महत्त्व की दृष्टि से अपने पूर्ववर्त्तियों में भी कइयों से आगे बढ़े हुए, महावैयाकरण भर्तृहरि के विषय में भाग्य की यह विडम्बना ही कहनी चाहिये कि दुनियां उन्हें या तो नीतिशतकादि के माध्यम से जानती है,

या सिद्धकथाओं के माध्यम से, और या फिर चीनी यात्री इत्सिंग की प्रामाणिकता के आधार पर। पाणिनि, व्याडि, कात्यायन और पतंजलि की सरणि पर बढ़ने वाले, और उन्हीं के समान उज्ज्वल व्यक्तित्व वाले, इस महाविज्ञानी ने एक जगह भी, अपने उक्त पूर्वजों की परम्परा में चलकर ही, अपना परिचय नहीं दिया है। आत्मपरिचय के अभाव में भी यह नाम भारतीय चेतना पर इतना छा गया है कि अन्य आचार्यों की भांति इनके विषय में भी यह निश्चय करना दुरूह हो गया है कि भर्तृहरि एक ही हुआ है, या अनेक ? भर्तृहरि, भर्तृमेण्ठ, भर्तृस्वामी, भट्टि, आदि ऐसे अनेक नाम, और इन नामों से सम्बद्ध ग्रन्थ, सामने आते हैं कि एक वार तो निश्चय करना भी कठिन प्रतीत होता है कि इनमें से वैयाकरण कौन था ? कवि कौन ? एवं, ये सब एक थे या अनेक ?

और, इससे बड़ा विवाद है उनके व्यक्तित्व और विचार के विषय में ! कुछ लोग उन्हें बौद्ध कहते हैं, जबकि कुछ उन्हें परम आर्ष और वैदिक कहते हैं। कुछ विद्वान् उन्हें गृहत्यागी वैरागी सिद्ध के रूप में वर्णित करते हैं, तो कुछ उन्हें राजा भर्तृहरि के रूप में जानते हैं। कुछ के अनुसार वह सम्राट् विक्रमादित्य के भाई हैं, जबकि कुछ उन्हें प्रसिद्ध योगी राजा गोपीचन्द का अनुज मानते हैं। और, इत्सिंग की सूचना तो कमाल की है। उसके अनुसार इन महावैयाकरण भर्तृहरि ने बौद्धधर्म के अन्दर ही सात वार प्रव्रज्या ली और फिर संसार में लौट आए।

किन्तु, यही वह प्रतिभा थी, जिसने 'वाक्यपदीय' देकर संसार को चकित और मुग्ध कर दिया। जिसके 'महाभाष्यदीपिका या त्रिपदी' नामक 'भाष्य' ने वैयाकरणों के आगे गम्भीर और मर्मभेदी अध्ययन का द्वार खोल दिया। और, जिसके वेदज्ञान ने उसके विचारों का विश्लेषण करने वालों को आश्चर्य में डाल दिया !

महान् दुर्भाग्य

किन्तु, इसे महान् दुर्भाग्य न कहा जाए तो क्या कहा जाए कि उन्हीं महावैयाकरण भर्तृहरि की उच्चतम व्याकरण-कृति 'महाभाष्यदीपिका' को हम सुरक्षित न रख पाए। आज बहुत ही कठिनता से प्रथम सात आह्निकों की एक खण्डित और त्रुटिभरित प्रति ही विदेशियों की कृपा से सुरक्षित रह पाई है। स्वातन्त्र्य के इन बीसियों वर्षों में हम इस दिशा में एक कदम भी

आगे न बढ़ सके। जबकि आशा यही होती है कि उसी प्रति के शेष १८०० पृष्ठ (३६०० पृष्ठ दोनों ओर के) अब तक भी कहीं न कहीं अवश्य सुरक्षित होंगे। काश! हम उसकी उपलब्धि का मूल स्रोत पता करके नए सिरे से उसकी प्राप्ति का यत्न करते। यह भी हमारा सौभाग्य ही है कि जैसे तैसे ही सही, **'वाक्यपदीय'** किसी न किसी तरह सुरक्षित तो रह पाया! अन्यथा, उससे वंचित होने पर विश्व को **व्याकरण के दर्शन** के क्षेत्र में चमत्कृत कर देने के लिए हमारे पास रह ही क्या जाता? इसी प्रकार, भट्टोजि का **'शब्दकौस्तुभ'** भी उनकी **'सिद्धान्तकौमुदी'** के आगे पूर्णतः सुरक्षित न रह सका! यह क्या कम आश्चर्य की बात है? वह तो है भी अत्याधुनिक!

त्रुटित पाठ

'त्रिपदी' का जो पाठ सुरक्षित है भी, वह भी अत्यन्त भ्रामक और त्रुटिपूर्ण है। उसके कारण दो हैं: **प्रथम** लिपिकार का उस **लिपि** से पूरी तरह परिचित न रहा होना, जिससे उसने वर्त्तमान ग्रंथ को प्रतिलिपि किया है; तथा **द्वितीय** उसका **विषय** से पूरी तरह परिचित न रहा होना। जहां तक **लिपि** का प्रश्न है, इसकी मूललिपि **आठवीं** या अधिक से अधिक **दसवीं** शती ईस्वी की होनी चाहिए। क्योंकि एक तो **'ए', 'इ'** आदि की मात्राओं को लिपिकार, जो स्वयं सत्रहवीं या अट्ठारहवीं शती के बाद का ही लगता है, नहीं पहचान पाया। उस समय तक इन मात्राओं का विकास वर्त्तमान रूप में नहीं हो पाया था। या, फिर उसने जिस ग्रन्थ से प्रतिलिपि किया है, वह पूर्वी लिपि में लिखित तेरहवीं सदी से इधर का लिखा नहीं होना चाहिए। **ब्ध, द्य, प, य,** आदि में परस्पर सन्देह हमारी पूर्ववर्त्ती धारणा को अधिक पुष्ट करता है।

जहां तक विषय के न जानने का सम्बन्ध है, लिपिकार व्याकरण और अष्टाध्यायी से सामान्य परिचित तो दीखता है। क्योंकि उसने एक जगह पाद-टिप्पणी दी है, जिससे इनमें से दो प्रसंग पूरे के पूरे 'खण्डित' होने का पता चलता है। परन्तु, इसके अतिरिक्त भी, जो अंश उपलब्ध है, उसमें से भी एक स्थल पर एक साथ चार सूत्रों का प्रकरण ही गायब है; और उसी प्रसंग के एक सूत्र का एक अंश, बीच में एक अन्य सूत्र की व्याख्या हो जाने के बाद अचानक ही आरम्भ होकर समाप्त हो जाता है। एक अन्य स्थान पर बीच के दो पृष्ठ बाद में, अन्य प्रकरण के बीच में, लिपिकार लिख गया है। किन्तु, पृष्ठ संख्या वह निर्बाध क्रम से देता गया है।

इससे पता चलता है कि उसने बिना समझे प्रतिलिपि करने का अपना उत्तरदायित्व पूरा किया है। कहीं यहां भी ऐसा ही न हुआ हो कि जिस विदेशी विद्वान् ने इसकी प्रतिलिपि करवाई होगी, उसे जैसे-तैसे पूरा करके देने की भावना से यथासंभव प्रतिलिपि करदी गई हो। परन्तु, अन्यत्र उल्लेख है: "खण्डित प्रति पृष्ठ संख्या २००० (दो हजार)!" परन्तु, उसी गणना पद्धति से उपलब्ध पृष्ठों की संख्या है २१७। इसीलिए हमने लिखा कि इस प्रति के १८०० पृष्ठ कहीं भारत में ही बचे होने चाहिएँ। सम्भव है कि कहीं कोई प्रति पूरी ही सुरक्षित हो। इस के लिए यत्न होना चाहिए। पूर्ण प्रति मिले सही; लिपि का दोष तो सम्पादकीय प्रतिभा द्वारा भी दूर किया जासकता है।

सबसे अधिक दुर्भाग्य की बात तो यह है कि आरम्भ के तीन पृष्ठ (६ पृष्ठ उभयवर्त्ती) ही विलुप्त हैं। तब शायद 'अथ शब्दानुशासनम्' की पाणिनीयता-अपाणिनीयता पर भी प्रकाश डल पाता। 'शब्द' का अधिकांश विचार उसी अंश में था।

फिर भी जो कुछ बचा है, वह भी कम महत्त्व पूर्ण नहीं है।

सौभाग्य से अब इसके प्रथम चार आह्निकों का एकत्र प्रकाशन श्री स्वामिनाथन् के सम्पादकत्व में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से हो गया है। दूसरा सम्पादन डॉ० अभयंकर आदि द्वारा पूना से हुआ है, जिसे अंशक्रम से 'भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीच्यूट' की 'वार्षिकी' में छापा जाता रहा है।

केवल अनुकरण या मौलिकता

निश्चय ही इस टीका का बहुत ही थोड़ा अंश उपलब्ध होने से भर्तृहरि की देन के एक बड़े अंश को पाने से हम वंचित होगए। किन्तु, जितना कुछ है, उससे भी कई ऐसे तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है, जिन्हें पतंजलि से सर्वथा व्यतिरिक्त और मौलिक कहा जासकता है। यहां हम 'त्रिपदी' और 'वाक्यपदीय' में से तुलनात्मक रूप में कुछ ऐसे तथ्य कहेंगे, जिनसे भर्तृहरि की मौलिकता सिद्ध होगी।

शब्द : दो रूप

'महाभाष्य' के 'गौरित्यत्र कः शब्दः ?' के उत्तर में भर्तृहरि कहते हैं:

'अथ द्वौ भागौ शब्दस्य : स्वरूपभागः अर्थभागश्च[1] ।' और, वाक्यपदीय में इसे ही कहते हैं : 'अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रतीयते[2] ।'

स्फोट : शब्दात्मा

'महाभाष्य' के 'येनोच्चरितेनेह'[3] की व्याख्या में भर्तृहरि कहते हैं : 'एतच्च अर्थस्वरूपं स्फोटः, अयमेव शब्दात्मा नित्यः ।' इसी प्रकार 'तस्माद् ध्वनिः शब्दः' की व्याख्या में फिर दोहराते हैं : "उक्तं च, स्फोटः शब्दो ध्वनिस्तस्य व्यायामादुपजायते इति[4] । ...उच्यते—'द्रव्यादयो न भवन्ति शब्दा' इत्येवंपरायां चोदनायां ध्वनिशब्दयोरन्यत्वे प्रयोजनाभावादेकत्वेन व्यपदेशः"[5]। इन्हीं भावों को वे 'वाक्यपदीय' में दोहराते हैं : 'शब्द स्फोटात्मा है । उसकी अभिव्यक्ति के बाद 'वैकृत ध्वनियाँ' समुद्भूत होती हैं । किन्तु, स्फोटात्मा शब्द उससे भिन्न है[6] ।'

आगम

'आगमः खल्वपि' की व्याख्या में केवल इतना कहते हैं : "पारम्पर्येणाविच्छिन्न उपदेश आगमः, श्रुतिलक्षणः स्मृतिलक्षणश्च सः ।" इसकी तुलना वा० १.४३, १३३, १३४ और १४५ को साथ-साथ रखकर की जा सकती है, जिसमें 'आगम' के इन्हीं 'श्रुति' और 'स्मृति' रूपों की चर्चा की गई है ।

व्याकरण : लघु उपाय

भर्तृहरि इस प्रकरण में अपनी टिप्पणी जोड़ देते हैं : 'अन्य उपाय एव न सम्भवति[8] ।'

अपभ्रंश शब्द

भर्तृहरि के अनुसार 'अपभ्रंशा ये त्वर्थस्य प्रत्यायका न भवन्ति ।... अथवाऽपशब्देषूपदिश्यमानेषु आनुमानिकी प्रतिपत्तिः ।' इसकी तुलना करें

---

१. त्रि० १.१.१ । २. वा० १.५० ।
३. म० १.१.१ । ४. त्रि० १.१.३ ।
५. वही । ६. वा० १.७७, ८१, १०६ ।
७. त्रि० १.१.१ । ८. वही ।

वा० १.१५०, १५१ से। अन्यत्र वे कहते हैं: 'अन्ये तु मन्यन्ते, य एवैते प्राकृताः शब्दास्त एवैते नित्याः। प्रकृतौ भवाः प्राकृताः। अन्ये मन्यन्ते— इयं दैवी वाक्। सा तु पुरुषाशक्तेरालस्याद्वा प्रकीर्णा। यथाम्बाम्बेति शिक्षमाणो बालो अन्यथोच्चारयति[1]।' वाक्यपदीय में वे इसे ही दुहरा देते हैं, ठीक इन्हीं शब्दों में[2]।

ये कुछ उदाहरण 'त्रिपदी' के प्रथम आह्निक में से हैं। इस प्रकार के अनेक उद्धरण प्रत्येक पृष्ठ पर खोजे जा सकते हैं। इनका निदर्शन हमने केवल इसलिए दिया है कि यह दिखाया जा सके कि भर्तृहरि का उद्देश्य महज़ टीका लिखना नहीं था। प्रत्युत व्याकरण के क्षेत्र में वे एक निश्चित देन देने के लिए व्यग्र थे। 'महाभाष्य' पर भाष्यरचना के प्रति उनका आकर्षण इसलिऐ भी सम्भवतः हुआ था कि उसमें 'न्याय' का पक्ष तो प्रबल है, पर 'मीमांसा' का पक्ष उतना प्रबल नहीं है।[3] भर्तृहरि मीमांसा के भी आचार्य थे। उन्होंने मीमांसा पर 'वृत्ति' भी लिखी थी[4]। 'प्रस्थान' की चर्चा वे 'न्याय' के साथ अपने गुरु के स्वाध्याय के प्रसंग में करते हैं। परन्तु, साथ ही यह भी स्मर्त्तव्य है कि वे इनमें से किसी एक के ही अन्धानुयायी नहीं थे। उनका यह कथन सर्वथा सत्य है: 'अभ्यस्य स्वं च दर्शनम्[5]।' अतः मौलिकता तो उनकी कृतियों में कूट-कूट कर भरी ही है।

कृतित्व

ऊपर हमने जितने भी उद्धरण दिए हैं, उनमें जान बूझकर 'वाक्यपदीय' से तुलना की है। उपलब्ध अंश में ही कम से कम तीन सौ से अधिक स्थल ऐसे हैं, जहाँ वाक्यपदीय के श्लोक समानान्तर रूप में, और ठीक उन्हीं शब्दों में, उद्धृत किए जा सकते हैं। अतः यह तो निश्चित है कि ये दोनों कृतियाँ एक ही व्यक्ति की हैं। 'वाक्यपदीय' निश्चय ही भर्तृहरि की कृति माना गया है। अतः 'त्रिपदी' या 'दीपिका' के भी भर्तृहरि द्वारा प्रणीत होने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहना चाहिए।

---

१. वही।
२. वा० १.१३०, १५२, १५६।
३. वा० २.४७६।
४. मी० इति०, प्रथम भाग, पृ० २६१।
५. वा० २.४८४।

वाक्यपदीय

इसके विषय में हम अपने प्रबन्ध 'भाषातत्त्व और वाक्यपदीय' में विस्तार से लिख ही चुके हैं। इसके दार्शनिक पक्ष से सम्बद्ध इसके अतिरिक्त हमारा ही एक अन्य प्रबन्ध 'व्याकरण की दार्शनिक भूमिका' नाम से सामने आ चुका है। इस प्रकार अत्यन्त विस्तार से अन्यत्र हम यह बता चुके हैं कि 'वाक्यपदीय' व्याकरण के दार्शनिक और भाषावैज्ञानिक अध्ययन में नितान्त क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ है। इसमें व्यक्त मत इतने आधुनिक हैं कि एक बार तो आधुनिकतम विद्वान् भी आश्चर्यचकित रह जाते हैं। आश्चर्य तो इस बात का है कि एक महान् दार्शनिक द्वारा प्रसूत होकर भी यह इतनी सरल भाषा और शैली में निबद्ध है कि इसे समझने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती। आधुनिक विद्वान् इसलिए मतिभ्रम में पड़ जाते हैं कि क्या ऐसे विचार भी इतने पहले प्रकट किये गए थे, विशेषकर भारत के तथाकथित पतन-काल में, कि जिन्हें देखकर आज का भाषाविद् भी स्वयं को 'शिशु' समझने लगता है? वे तो पाणिनि की 'पहुँच' के चमत्कार से ही चकित हैं। भर्तृहरि का 'वाक्यपदीय' तो उन्हें और भी चमत्कारी लगा है।

इस महान् कृति का परिचय हम पृथक् से ही देंगे। यहाँ हम 'महाभाष्य' के प्रकरण तक सीमित रह कर इतना ही कहना चाहेंगे कि 'वाक्यपदीय' में भी भर्तृहरि बढ़े तो हैं 'महाभाष्य' के अनुसार, और उसकी शंकाओं को उठाकर; किन्तु उनकी विवेचना यहाँ सर्वतन्त्र स्वतन्त्र और निर्बाध रही है। इसका अध्ययन पृथक् रूपमें ही करना उचित और अभीष्ट है।

काल-निर्णय की जटिलता

भर्तृहरि के काल-विनिश्चय के सम्बन्ध में सबसे बड़ी बाधा या युक्ति चीनी यात्री इत्सिंग का 'यात्रा वर्णन' है। उसमें भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में बहुत सी बातें कही गई हैं। इत्सिंग का ज्ञान कहाँ तक तथ्याधारित है, या कहाँ तक उसने केवल जनश्रुति के बल पर लिख दिया है, इस बात की परीक्षा होनी चाहिए। फिर भी कुछ बातें ऐसी हैं, जिनका उल्लेख उसके अनुसार करना इसलिए आवश्यक है कि उस वर्णन से कम से कम यह तो निर्विवाद सिद्ध हो ही जाता है कि जिन व्यक्तियों या बातों का उल्लेख उसने किया है, उन सब का अस्तित्व उसे पहले तो विद्यमान था ही; भले ही उनके सम्बन्ध में इत्सिग की सूचना पूरी तरह ठीक न हो।

इत्सिंग की उक्ति

भर्तृहरि के सम्बन्ध में उसकी उक्ति ऐसी ही है। वह लिखता है : 'उस (भर्तृहरि) की मृत्यु हुए चालीस वर्ष हुए।' उसका अपना समय ६९२ ई० माना जाता है। उसके इस वक्तव्य के अनुसार भर्तृहरि ने लगभग ६५० ई० से पहले ही 'वाक्यपदीय' आदि की रचना निश्चय ही समाप्त कर ली थी।

अन्य प्रमाण

अब इस तथ्य की परीक्षा के लिए हमें अन्य प्रमाण देखने होंगे। श्री मीमांसक ने हमारे पथदर्शन के लिए इतने प्रमाण जुटा दिए हैं कि हम सहज ही इनकी छानबीन कर सकते हैं। दो प्रमाण इस प्रकार हैं :

(१) काशिका ४.३.८८ में **"शब्दार्थसम्बन्धीयं प्रकरणं वाक्यपदीयम्"** उदाहरण दिया गया है। महामहोपाध्याय काशिनाथ अभयंकर भर्तृहरि को काशिकाकार का **वृद्ध-समकालिक** स्वीकार करते हैं। काशिका का समय वे सातवीं शती ईस्वी मानते हैं। यदि अन्य मतों का भी पर्यालोचन किया जाए, तो यह काल लगभग ६५० ई० बैठता है। **वृद्ध समकालिक** होने का अर्थ है, भर्तृहरि का समय ६०० ई० के आसपास भी हो सकता है। पर, ६०० ई० के बाद और ६५० ई० के पहले तो कहीं न कहीं यह बैठता ही है। परन्तु, डा० अभयंकर का यह निर्णय किस आधार पर है, कहा नहीं जा सकता।

(२) **'काशिका'** से भी प्राचीन है 'कातन्त्र' की **दुर्गसिंहरचित वृत्ति**। उसमें कात० १.१.९ की व्याख्या में भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' की ३.८.१ कारिका यथावत् उद्धृत की गई है। एक किंवदन्ती के अनुसार भर्तृहरि और यह दुर्गसिंह दोनों ही **विक्रम सम्वत् के संस्थापक** विक्रमार्क अवन्तिनाथ के सहोदर भ्राता हैं। परन्तु, विक्रम संवत् का संस्थापक कोई विक्रमार्क या विक्रमादित्य अवन्तिनाथ था भी या नहीं ?, यह सन्देहास्पद है। पं० भगवद्दत्त जी उस विक्रमादित्य को चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य से अभिन्न मानते हैं। उनके अनुसार यही विक्रमादित्य विक्रम सम्वत् का प्रवर्त्तक है। ये दोनों बातें कई अन्य ऐतिहासिक भी मानते हैं।

विक्रम सम्वत् : विवाद

किन्तु, आपत्ति यहाँ यह आती है कि इतिहासज्ञ अकाट्य प्रमाणों के आधार पर कहते हैं कि अवन्ति पर गुप्तवंश का शासन तो समुद्रगुप्त के

समय में ही स्थापित हो पाया था। किन्तु, तब तक जो 'सम्वत्' चल रहा था, वह चन्द्रगुप्त प्रथम से आरम्भ माना जाता था। यह चन्द्रगुप्त प्रथम साधारण सा ही राजा था और इसका शासन बिहार और पूर्वी उत्तरप्रदेश से अधिक कभी नहीं रहा। बनारस से इधर और चारों ओर कदम बढ़ाने वाला प्रथम गुप्त वीर समुद्रगुप्त ही था। किन्तु, वह स्वयं जिस सम्वत् का उल्लेख करता है, और उसके बाद स्कन्दगुप्त के आरम्भिक काल तक हर गुप्त नृपति ने जिस सम्वत् का प्रयोग किया है, उसके अनुसार चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का काल ९१, ९३, आदि सम्वतों में मिलता है। और, इसे प्राय: उनके शिलालेखों में 'गुप्तानां अब्द:' या '**गुप्ताब्द:**' कहा गया है। अत: विक्रमादित्य के नाम से ख्यात चन्द्रगुप्त द्वितीय तो गुप्तवर्ष का आदिपुरुष नहीं बैठता।

हाँ, जब यह प्रसंग चल ही पड़ा है, तब सत्य को सीमा तक लेजाकर ही छोड़ना चाहिए। **स्कन्दगुप्त** का नाम भी 'विक्रमार्क' या 'विक्रमादित्य' था। उसके शिलालेख १३६ से १३८ संवत् तक के मिलते हैं। ये गुप्तों के शिलालेख हैं। किन्तु, उसी समय के, उससे ही सम्बद्ध किन्तु मालवा के मन्दसौर आदि में पाए जाने वाले, शिलालेख, जिनमें उसका उल्लेख बड़े गौरव के साथ किया गया है, '**मालव सम्वत्**' नाम को वहन करते हैं। यही वह संवत् है, जिसे हम सहसा उसके बाद 'विक्रम संवत्' के नाम से परिवर्त्तित पाते हैं[1]।

तब हमें स्कन्दगुप्त के कुछ बाद का ही गोविन्दगुप्त नामक गुप्तवंशज नृपति के एक उत्तराधिकारी के समय का ५२४ संवत् का शिलालेख गोरखपुर के पास से मिलता है, जो अपने वंशक्रम को देता है और गोविन्दगुप्त को चन्द्रगुप्त द्वितीय का पुत्र बताता है। इस शिलालेख में 'गुप्त' और 'मालव' संवत् का एकीभाव नितान्त स्पष्ट हो गया है। तब क्या प्रपौत्र और प्रपितामह में ५२४ वर्ष का अन्तर आ गया था?

मन्दसौर का ऐतिहासिक शिलालेख : स्कन्दगुप्त का राज्यारोहण

बात यह है कि हमने मन्दसौर के जिन शिलालेखों की चर्चा की है, उनमें से एक इतिहास प्रसिद्ध है। वह बन्धुवर्मा और स्कन्दगुप्त के नाम से प्रसिद्ध है। हूणों के भारत पर आक्रमण सम्राट् चन्द्रगुप्त के पुत्र सम्राट् कुमारगुप्त

---

१. श्री चन्द्रकान्त बाली ने सम्वतों सम्बन्धी अपने अप्रकाशित प्रबन्ध में 'विक्रम' और 'मालव' संवतों की गणना में लगभग ५० वर्ष का अन्तर स्वीकार किया है।

के शासनकाल में ही आरम्भ हो गए थे। उसने जीवन भर हूणों को भारत की सीमा में घुसने नहीं दिया। किन्तु, उसके अन्तकाल के निकट उन्होंने फिर हमले तीव्र कर दिए। इस पर उसका पुत्र राजकुमार स्कन्दगुप्त उनके दमन के लिए भेजा गया, और वह उन्हें हराने में सफल भी हुआ। किन्तु, उसके पीछे से पिता की मृत्यु हो गई और उसके एक अन्य भाई पुरुगुप्त को षड्यंत्रकारियों ने राजा बना दिया। शीघ्र ही राज्य षड्यंत्रों का केन्द्र बन गया। भीतर के शत्रु उठ खड़े हुए। बाहर से हूणों और सीमावर्ती राजाओं ने भी हमले आरम्भ कर दिए। धीरे-धीरे सारा गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। मालवा पर हूणों का एकाधिपत्य हो गया। तब तक गुप्तों का केन्द्र मालवा न था। किन्तु, इस विनाश की वेला में लोगों का ध्यान उपेक्षित राजकुमार स्कन्दगुप्त की ओर गया, जो अविवाहित रहकर ही उदासीन भाव से अपना समय सम्भवतः पड़ौसी राज्यों में व्यतीत कर रहा था, क्योंकि उसकी माता को उसके शासक भाई ने विमाता जानकर कारागार में डाल रखा था। या, हो सकता है, वह भी कारागार में ही बन्द रहा हो।

अस्तु, स्थिति बिगड़ने पर राज्य के ही कुछ अधिकारियों ने उसका साथ दिया। मालव की सारी जनता उसकी पुकार पर एक हो उठी। मालवगण के प्रमुख बन्धुवर्मा ने उसे बड़ा मानकर उसके नीचे लड़ना स्वीकार किया। और तब, न केवल हूण हरा दिए गए, बल्कि आन्तरिक और बाह्य सभी शत्रुओं का सफाया कर दिया गया। और, यह सब करते हुए स्कन्दगुप्त को सच्चे जननायक की भांति जंगलों में रातें बितानी पड़ीं, ज़मीन पर सोना पड़ा, और हर तरह के कष्टमय जीवन में से गुज़रना पड़ा। पर, वह सच्चा योगी था। विजय होने पर जनता और मालवाधिपति उसे राजत्व स्वीकार करने पर विवश करने लगे। उधर गुप्तों के शासनाधिकारियों ने भी उसके सामने झुकना स्वीकार किया। बहुत विवश होने पर ही उसने राज्यभार स्वीकार किया। संभवतः इसी समय उसने मालव को अपना केन्द्र बनाया[1]।

'विक्रम संवत्' की नींव

दोनों राज्यों के इस स्वैच्छिक मिलन की खुशी में, लगता है, बन्धुवर्मा के

---

१. इस विषय में हमारा एक लेख 'दि प्राब्लम् ऑफ़ पुष्यमित्राज़' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। ये समस्याएँ भितरी के शिलालेख पर भी आश्रित हैं।

ही प्रस्ताव पर तब से 'मालव संवत्' को 'विक्रम संवत्' का नाम दे दिया गया : हूणों की उस महान् पराजय और दोनों राज्यों के उस स्वैच्छिक मिलन को स्थायी याद और आधार देने के लिए। संदेह नहीं कि इस दिन के बाद से ही 'मालव संवत्' नाम का प्रयोग नहीं मिलता, और 'विक्रम संवत्' नाम का प्रयोग आरम्भ होता है। इसके बाद गुप्तों का अपना सम्वत् महत्त्व-हीन रह गया। तब इसी 'विक्रम सम्वत्' का उनके शेष राज्य में भी प्रयोग किया जाने लगा।

परिणाम यह कि गुप्तों के आदि पुरुष चन्द्रगुप्त प्रथम को कालान्तर में भ्रमवश इसका संस्थापक माना जाने लगा। स्कन्दगुप्त द्वारा अपने पराक्रम के बल पर अर्जित 'विक्रमांक' या 'विक्रमार्क' की उपाधि का भी कालान्तर में इस सम्वत् के प्रवर्त्तक के साथ ही सम्बन्ध मान लिया गया। इस भ्रान्ति के कारण इतिहास के अनुसन्धित्सुओं ने आधुनिक युग में खोज आरम्भ की कि ईस्वी सन् के आरम्भ से ५७ वर्ष पूर्व कौन-सा 'विक्रम' या 'विक्रमादित्य' अवन्ति पर शासन कर रहा था? और, कौन इस 'विक्रम सम्वत्' का प्रवर्त्तक था?

परन्तु, यह काल तो 'विक्रम संवत्' के नाम से कहलाया ही अपनी स्थापना के लगभग ५०० वर्ष के बाद से है। क्या महात्मा गांधी को 'राष्ट्र-पिता' कहने का कालान्तर में यह अर्थ नहीं लिया जा सकता कि भारत का राष्ट्र के रूप में जन्म ही महात्मा गांधी के बाद हुआ? कल्पना को कौन रोक सकता है!

युक्ति समाहार

अतः यह कहना सर्वथा भ्रामक है कि 'विक्रमादित्य' का अर्थ विक्रम संवत् के आदि संस्थापक विक्रमादित्य से ही है, और क्योंकि एक महान् पराक्रमी चन्द्रगुप्त का भी यशोनाम 'विक्रमादित्य' था, इसलिए हर कोई विक्रम-सम्बद्ध व्यक्ति उसी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से सम्बद्ध है। इस सम्वत् के इतिहास को बिना समझे 'साहसांक विक्रमादित्य', 'सातवाहन राजा', 'शूद्रक', या ऐसे ही अन्य व्यक्तियों को इसलिए 'विक्रमादित्य' सिद्ध करने का प्रयत्न, कि किसी तरह उन्हें 'विक्रम सम्वत्' का प्रवर्त्तक सिद्ध किया जा सके, पूर्णतः भ्रम पर आधारित है। क्या वे सभी अवन्तिनाथ थे? तब फिर, वह अवन्ति-नाथ विक्रम कौन था?

विक्रम कौन ?

विवाद का आरम्भ सदाशिव लक्ष्मीधर कत्रे के उस लेख से होता है, जिसमें उन्होंने हरिस्वामी के निम्न श्लोक का सम्बन्ध खींचकर विक्रम सम्वत् के प्रवर्त्तक विक्रमादित्य के साथ जोड़ दिया है। हरिस्वामी शतपथ ब्राह्मण की व्याख्या में प्रथम काण्ड के अन्त में लिखता है :

> श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः।
> धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यच्छातपथीं श्रुतिम् ॥
> यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै।
> चत्वारिंशत् समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम् ॥

सरलार्थ के अनुसार यह काल ३७४० कलिसम्वत् बैठता है, जिसका अर्थ ६९५ विक्रम या ६३८ ईस्वी बैठता है। परन्तु, कत्रे ने इसका अर्थ कर दिया ३०४७ कलिकाल। इसके अनुसार विक्रम सम्वत् २ में उसने यह रचना की। किन्तु, क्या कलि का उल्लेख करने वाला व्यक्ति विक्रम सम्वत् के संस्थापक का अमात्य होकर उसका वर्णन या उल्लेख तो कर सकता है, किन्तु इतिहास की तथाकथित सर्वप्रमुख और क्रान्तिकारी घटना के परिणाम स्वरूप स्थापित होने वाले 'विक्रमसम्वत्' नाम का प्रयोग नहीं कर सकता ? उसे 'कलिकाल' या 'कलिसम्वत्' गिनाने की क्या सूझी ? कदाचित् इसका ध्यान किसी को नहीं रहा। और, न ही 'विक्रमसंवत्' के सभी उल्लेखों को एकत्र करके कभी विचार किया गया है कि उनमें कौन कितना प्राचीन है ? ऐसा करने पर हम देखेंगे कि यह काल अपने तथाकथित संस्थापक के बहुत बाद ही प्रयोग में आया।

परिणाम

अतः इन सब उल्लेखों के रहते भी न तो दुर्गसिंह और भर्तृहरि का, और न हरिस्वामी का ही, कोई सम्बन्ध विक्रम सम्वत् के प्रवर्त्तक विक्रमादित्य से बैठता है। अतः उनका काल अन्य प्रमाणों के आधार पर ही तय करना होगा। और, यह आधार स्थापित परम्परा द्वारा ही मान्य हो सकता है।

युक्तिशेष

इस श्लोक के अनुसार हरिस्वामी ६३८ ई० में भाष्य लिख चुके थे। उस भाष्य में भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' की प्रथम कारिका का उत्तरार्द्ध अविकल

रूपसे उद्धृत है। दुर्गसिंह की 'कातन्त्रवृत्ति' में भी एक कारिका उद्धृत है, यह हम कह ही चुके हैं। कुछ अन्य कारिकाएँ भी अन्यत्र उसने उद्धृत की हैं।

हरिस्वामी प्रभाकर के शिष्य कुमारिल का उल्लेख करते हैं। कुमारिल अपने तन्त्रवार्त्तिक में पा० १.३.८ पर वाक्यपदीय की एक कारिका उद्धृत करते हैं[1]। इसका उन्होंने खण्डन किया है। अतः भर्तृहरि का काल कुमारिल से भी प्राचीन ठहरता है।

याकोबी और कीथ ने कुमारिल को प्रभाकर के एक सौ साल बाद माना है। उनके अनुसार प्रभाकर ६००ई० और कुमारिल ७००ई० के लगभग हुए। परन्तु, कुमारिल शंकर से पूर्व हुए हैं। शंकर का काल कीथ ७८८ ई० मानते हैं। कुमारिल का समय मैक्डानल ७०० ई० और बुर्नेल और वेवर ६५० ई० के बाद मानते हैं। अतः हर दशा में भर्तृहरि कुमारिल से पूर्व, अर्थात् ६५० से पर्याप्त पूर्व हो चुके थे। कुमारिल द्वारा उनके उद्धरण और खण्डन देने का कारण स्पष्ट है। भर्तृहरि ने भी पूर्वमीमांसा पर एक 'वृत्ति' लिखी थी। कम से कम उन्होंने 'वाक्यपदीय' और 'महाभाष्यदीपिका' में मीमांसा का आश्रय तो लिया ही था, और उसकी व्याख्या भी अपने ढंग से की थी।

इत्सिंग के प्रामाण्य पर कीथ वाग्भट का काल भी भर्तृहरि के समकाल ही बताते हैं, जबकि मीमांसक वाग्भट के 'अष्टांगहृदय' की 'इन्दु' टीका के सम्पादक के इस वक्तव्य को प्रामाणिक मानते हैं कि '**कुछ जर्मन विद्वान् वाग्भट को दूसरी शती ईस्वी में मानते हैं**[2]'। यह टीका वाग्भट के निजी शिष्य इन्दु ने लिखी है। अर्थात्, इत्सिंग की गणना के अनुसार यह टीका भर्तृहरि के ५० या १०० वर्षों के भीतर ही लिखी गई है।

निम्नतम

इन सब बातों पर विचार करके कीथ भर्तृहरि का काल ६५० ई० से पूर्व ही मानते है। किन्तु, पं० रामकृष्ण कवि ने भर्तृहरिकृत 'जैमिनीय मीमांसा वृत्ति' को शबरस्वामी के मीमांसाभाष्य से प्राचीन बताया है[3]। शबरस्वामी का काल हर दशा में कीथ आदि ६०० ई० से बहुत पहले मानते

---

१. वा० १.१३।
२. मी०, इति०, प्रथम भाग, पृ० २६२।
३. आ० पु०, वॉल्यू० ५१।

हैं। मीमांसक जी ने तुलना के द्वारा यह सिद्ध भी किया है[1]। 'महाभाष्य-दीपिका' में मीमांसकों के जितने मतों का उद्धरण या खण्डन दिया गया है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि भर्तृहरि कदाचित् शबर के भाष्य से परिचित नहीं थे।

अतः इन सब प्रमाणों के आधार पर भर्तृहरि की उपस्थिति की निम्नतम सीमा ५५० ई० से पहले मानी जा सकती है।

ऊपरी सीमा

अब हमें ऊपरी सीमा का निर्धारण कर लेना चाहिए। इसका निर्णय करना बहुत सरल है। उन्होंने चन्द्राचार्य्य द्वारा महाभाष्य के उद्धार और उनके चान्द्र व्याकरण के निर्माण की बात लिखी है[2]। अतः निश्चय ही वे उसके बाद हुए हैं। अभयंकर चन्द्र का काल ५वीं सदी ईस्वी मानते हैं[3]। चन्द्राचार्य्य के 'अजयत् जर्त्तो हूणान्' के बहुचर्चित उदाहरण का भी यही समय बैठता है[4]। इसी आधार पर कीथ उन्हें ४७० ई० के आसपास का मानते हैं। कल्हण ने चन्द्राचार्य्य को काश्मीर के महाराज अभिमन्यु का समकालीन माना है। उनका समय कदाचित् चौथी शती ई० में बैठता है। इस दृष्टि से चन्द्राचार्य्य का समय ४०० ई० से पूर्व ही माना जाना चाहिए। इनके लगभग सौ वर्ष बाद ही भर्तृहरि का समय बैठ सकता है। क्योंकि भर्तृहरि 'चन्द्राचार्य्यादिभिः' पद का प्रयोग करके उन आचार्यों के द्वारा 'बहुशाखात्व' लाने की बात कहते हैं[5]। इससे दोनों के बीच सौ वर्ष का व्यवधान मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

उचित निर्णय

अतः अन्तिम निर्णय यही किया जा सकता है कि भर्तृहरि का काल ५०० ई० के आसपास ही रहा होगा। थोड़ा-बहुत हेर-फेर इसमें हो सकता है।

---

१. मी०; इति०, प्रथम भाग, पृ० १६३।
२. वा० २.४८३।
३. डि० ग्रा०, 'चन्द्राचार्य'।
४. कीथ, (हिन्दी), पृ० ५११।
५. वा० २.४८३।

भर्तृहरि और कृतियाँ

यदि हम बौद्ध और सिद्ध परम्परा में पाई जाने वाली किंवदन्तियों पर आधारित भर्तृहरि सम्बन्धी मान्यता को छोड़कर केवल उन मान्यताओं पर विचार करें, जिनके अनुसार भर्तृहरि को महावैयाकरण कहकर भी 'महाभाष्य' का टीकाकार, 'वाक्यपदीय' का रचयिता, 'भट्टिकाव्य' का कवि, और 'भागवृत्ति' का वृत्तिकार होने के साथ-साथ कुछ अन्य कृतियों का लेखक भी स्वीकार किया जाता है, तब हम पाएँगे कि मीमांसक जी की यह धारणा, कि कम से कम तीन भर्तृहरि हुए हैं, कुछ उचित ही लगती है। इन तीनों को ही भर्तृहरि कहें, या भर्तृहरि, भर्तृस्वामी, और भर्तृ आदि के भिन्न-भिन्न नामों से पुकारें, यह एक पृथक् प्रश्न है। यह धारणा मीमांसक जी से पूर्व कीथ, मैक्डॉनल, आदि ने भी भिन्न रूप में व्यक्त की है। किन्तु, मीमांसक जी ने इस सम्बन्ध में प्रमाणों का अम्बार लगा दिया है।

इसके लिए पहले हमें इस नाम से पाई जाने वाली कुल कृतियों का नाम-परिचय होना चाहिए।

उपलब्ध और अनुपलब्ध कुल कृतियाँ निम्न हैं—

१. महाभाष्यदीपिका या 'त्रिपदी'।
२. वाक्यपदीय—तीनों काण्ड।
३. वाक्यपदीय की स्वोपज्ञ वृत्ति—प्रथम और द्वितीय काण्ड।
४. नीति, शृङ्गार और वैराग्यशतक।
५. जैमिनीय मीमांसावृत्ति।
६. वेदान्तसूत्रवृत्ति।
७. शब्दधातुसमीक्षा।
८. भट्टिकाव्य।
९. भागवृत्ति।

इनमें से प्रथम तीन का कर्त्ता तो निर्विवाद रूप से, और प्रथम सात का कुछ आशंका की संभावना के साथ, वाक्यपदीयकार भर्तृहरि को ही कहा जा सकता है। 'भट्टिकाव्य' के विषय में सभी सहमत हैं कि यह कृति किसी भट्टिस्वामी या भर्तृस्वामी की है। 'भागवृत्ति' भी, 'महाभाष्यदीपिका' के समान ही, पाणिनीय व्याकरण की महत्त्वपूर्ण रचना है। यह 'वृत्तिग्रन्थ' है, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है। किन्तु, इसका कर्ता वलभी के श्रीधरसेन के

राज्य का भर्तृहरि (१), और उनका कृपापात्र, था। पुरुषोत्तम देव की 'भाषा वृत्ति' का टीकाकार सृष्टिधराचार्य उसका नाम 'भर्तृहरि' देता है, जबकि 'कातन्त्रपरिशिष्ट' का कर्त्ता श्रीपतिदत्त 'भागवृत्ति के कर्त्ता का नाम 'विमलमति' मानता है। सृष्टिधर का समय १५वीं शती से प्राचीन नहीं है, जब कि श्रीपतिदत्त का समय ११वीं शती माना गया है। इस विषय में श्रीपतिदत्त को ही प्रामाणिक मानना अधिक उचित है। अतः भागवृत्ति का रचयिता विमलमति ही माना जाना चाहिए। इतना ही नहीं, मीमांसक जी ने शरणदेव की 'दुर्घटवृत्ति', मैत्रेयरक्षित के 'तन्त्रप्रदीप' और सीरदेव की 'परिभाषावृत्ति' के विविध उदाहरणों से सिद्ध किया है कि ये तीनों विद्वान् भागवृत्तिकार और त्रिपदीकार को स्पष्ट ही अलग-अलग व्यक्ति, और परस्पर भिन्न मत प्रकट करते हुए, मानते हैं। इनमें से मैत्रेयरक्षित और सीरदेव १२वीं शती के पूर्वार्ध के हैं, जबकि शरणदेव उत्तरार्ध का है। तब भी ये सब 'सृष्टिधर' से पर्याप्त पहले के हैं। अतः इनका प्रमाण मानना ही चाहिए। हां, यह अवश्य है कि नामसाम्य के अतिरिक्त भागवृत्तिकार और भर्तृहरि का काल भी थोड़े-बहुत अन्तर पर ही है। इनमें से वाक्यपदीयकार भर्तृहरि प्राचीन हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। भागवृत्ति का समय 'काशिका' की रचना के आसपास ही ठहरता है।

नीतिशतकादि का निर्माण किसने किया? इसका संकेत देते हुए 'गणरत्नमहोदधि' में वर्धमान लिखता है: 'अखिल शब्दों के ज्ञाता भर्तृहरि ने अपने ही किसी सम्बन्धी की कथा को गुम्फित किया।[1]' मीमांसक जी इससे नीतिशतक के 'यां चिन्तयामि'[2] श्लोक का संकेत समझते हैं।[3]

इत्सिंग और भर्तृहरि का बौद्ध होना

जहां इत्सिंग के यात्राविवरण ने बहुत सी सूचना को सुरक्षित रखकर उपकार किया है, वहां उसकी कुछ सूचनाएं अनुश्रुति के आधार पर भी टिकी दीखती हैं। भर्तृहरि के कृतित्व के विषय में भी ऐसी ही बात है। इस अनुमान का आधार यह है कि उसने भर्तृहरि को 'बौद्ध' लिखा है। बौद्ध होने का सम्बन्ध विमलमति से तो जुड़ता है, जो प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् हुआ है, और जिसका नाम 'भागवृत्ति' के रचयिता के रूप में श्रीपतिदत्त ने गिनाया है।

---

१. गणरत्न०, १२० पृ०। २. नीति०, श्लोक—२।
३. मी०, इति०, प्र० भ०, पृ० २३८।

किन्तु, वाक्यपदीय का कर्त्ता भर्तृहरि तो किसी भी प्रकार बौद्ध नहीं था। यह बात 'गणरत्नमहोदधि' के कर्त्ता जैन वर्धमान सूरि के प्रमाण से भी स्पष्ट है, जो इस प्रकार लिखता है : 'भर्तृहरिर्वाक्यपदीयप्रकीर्णयोः कर्त्ता महाभाष्यत्रिपाद्या व्याख्याता च [1]।' तथा, 'यस्त्वयं वेदविदामलंकारभूतो वेदांगत्वात् प्रमाणितशब्दशास्त्रः सर्वज्ञंमन्य उपमीयते [2]।' स्वयं भर्तृहरि का कहना है : 'वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम् [3]।' ऐसे व्यक्ति को बौद्ध कहना कैसे न्यायसंगत ठहर सकता है ?

अतः मीमांसक जी[4] का यह कथन ठीक है कि संभवतः इत्सिंग के आने से कुछ पहले ही भागवृत्ति का रचयिता (उपनाम-भर्तृहरि) स्वर्गस्थ हुआ होगा। वैयाकरण के रूप में उसकी ख्याति से मूढ़ होकर ही सम्भवतः उसने वाक्यपदीय, त्रिपदी, आदि के कर्त्ता भर्तृहरि को भी उससे अभिन्न समझ कर उस की मृत्यु के विषय में ऐसा लिख दिया होगा। हमारा तो यह विचार है कि ऐसी भूलें इतिहासकारों और कवियों से अन्यत्र भी हुई हैं। व्याकरण के क्षेत्र में ही व्याडि, यास्क, कात्यायन, याज्ञवल्क्य, पतंजलि, आदि कितने ही व्यक्तियों के विषय में यही स्थिति है। किसी एक व्यक्ति के अतिप्रसिद्ध हो जाने पर, अन्य तत्सम नामों की बहुत सी बातें भी उसके साथ ही जुड़ जाती हैं। भर्तृहरि के लगभग समकाल कालिदास के विषय में भी तो यही बात रही है।

आश्चर्य की ही बात है कि १४वीं शती का 'सांख्यकारिका' का एक टीकाकार अचानक ही ईश्वरकृष्ण, कालिदास, और भर्तृमेण्ठ, आदि के एक ही व्यक्ति होने का उल्लेख करता है, और कालिदास के उद्धरणों को ईश्वरकृष्ण का लिखा बताता है।[5] यह तो भारत के ही एक टीकाकार की बात है, जो परम्परा से अधिक परिचित समझा जा सकता है। किन्तु एक विदेशी पर्यटक के लिए तो यह भ्रम होना और भी अधिक स्वाभाविक है। अतः ऐसे भ्रम के कारण आश्चर्यजनक स्थापनाएं प्रस्तुत की जाएं, तो उससे विचारकों को अपना संतुलन और निर्णय नहीं खोना चाहिए। ऐसे ही विदेशी या देशी

१. गणरत्न०, पृ० १२३। २. वही।
३. वा० १.१३६। ४. मी० इति०, प्र० भा०, पृ० २६९।
५. टी० जी० मेनकर. 'आइडेण्टिटी ऑफ़ कालिदास'।

भ्रमपूर्ण लेख, अन्त:साक्ष्यों के अभाव में, एक गलत परम्परा के सृजन के हेतु बन जाते हैं।

ग्रन्थों का परिमाण

इत्सिंग ने ही एक और भ्रांति का सृजन किया है। ईत्सिंग लिखता है : 'भर्तृहरि की महाभाष्यटीका का परिमाण २५००० श्लोक है।' वर्त्तमान में उपलब्ध ४३४ (२१७ उभयपृष्ठ) पृष्ठों की हस्तलिखित प्रति का परिमाण मीमांसक जी ने ५७०० श्लोक किया है। इस आधार पर वे अनुमान करते हैं कि संभवतः कुल टीका तीसरे पाद तक ही रही होगी। इसमें उन्हें सहायता मिली है, वर्धमान के 'त्रिपादी' और हेलाराज के 'त्रिपदी' नामों के प्रयोगों से। परन्तु, साथ ही वे यह मानने पर भी विवश हैं कि मूल टीका सारी अष्टाध्यायी ही पर रही होगी। क्योंकि, स्वयं भर्तृहरि वाक्यपदीय की स्वोपज्ञवृत्ति में पा० १-४-१०९ आदि पर लिखने का संकेत देते हैं।[1] उनके शोध के प्रति पूर्ण आदर-भाव रखते हुए भी, हम श्री मीमांसक का ध्यान निम्न सत्यों की ओर फिर से दिलाना चाहते हैं। यद्यपि हम इन्हें पहले भी कह आए हैं। प्रमाण इस प्रकार हैं:—

(१) वर्तमान उपलब्ध प्रति का लेखक एक पृष्ठ के हाशिये में अपने ही लेख में लिखता है : 'खण्डित प्रति, पृष्ठ संख्या २००० (दो सहस्र) सम्पूर्ण।' दूसरे स्थान पर उसने ही एक और टिप्पणी दी है : 'इसमें दो प्रकरण त्रुटित हैं।' फिर से पर्यवेक्षण पर एक अन्य स्थान पर हमने लिखा पाया है : 'महाभाष्य टीका ग्रन्थ संख्या ६ हजार साठि।' इनमें पहली उक्ति बताती है कि जिस प्रति में से वह कापी कर रहा था, वह २०००(उभयतः चार हजार) पृष्ठों की थी।

आवश्यक नहीं कि यह संख्या सम्पूर्ण टीका की हो। क्योंकि उसने यद्यपि अक्षर-अक्षर प्रतिलिपि किया है, तब भी इसमें बीच के अनेक भाग छूट गए हैं, या आगे-पीछे होगए हैं। स्पष्ट है कि प्रतिलिपिकार मूल विषय, अथवा उसकी पूर्णता-अपूर्णता, को बताने में समर्थ अधिकारी विद्वान् नहीं है। फिर, इन दो हजार पृष्ठों से बाहर ही वे दो प्रकरण हैं, जो छूट गए हैं। अतः इनकी पृष्ठराशि का परिगणन नहीं हुआ।

---

१. मी०, इति०, प्र० खण्ड, पृ० २७०।

तीसरी बात, छह हजार साठ ग्रन्थसंख्या होने की है। यह बात बिल्कुल प्रवाहमय लेख में ही लिखी गई है। पृष्ठ संख्या १४४ (अ) पर लेखक ने यह लिखा है। 'ग्रन्थ' शब्द का क्या अर्थ है, यह हम मीमांसक जी जैसे विचारक विद्वान् के विचार के लिए ही छोड़ते हैं। क्योंकि 'श्लोक' के सामान्य अर्थ में यह नहीं है। यदि ऐसा ही है, तब प्रतिलिपिकार ने वर्तमान प्रतिलिपि मात्र के २१७ पृष्ठों में आए शब्दों की ही गणना देकर अपना कर्त्तव्य मान लिया है। पर, तब उन दो प्रकरणों के छूटने की सूचना देने का कोई अर्थ नहीं रहता। इससे तो इत्सिंग का प्रमाण ही बहुत उचित एवं न्याय्य जँचता है। उसके अनुसार इससे चार गुणा बड़ा तो महाभाष्य-टीका का आकार रहा ही होगा।

परन्तु, कोई भी निर्णय करते हुए यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रतिलिपिकार स्वयं इन शब्दों के परम्परागत अर्थों से परिचित नहीं है। साथ ही, यह भी कि जिस प्रतिलिपिकार 'राम' के हाथ की यह प्रतिलिपि है, उसी के हाथ की अन्य अनेक प्रतिलिपियां, प्रातिशाख्यादि की भी, देखने में आई हैं।[1] मात्रादि की त्रुटियां सबमें एक सी ही पाई जाती हैं। इसलिए उसके वक्तव्यों को, विषयविशेषज्ञ के वक्तव्य न समझ कर, लिपिकार के वक्तव्यमात्र ही समझना चाहिए।

(२) भर्तृहरि ने बहुत से सूत्र स्वयं भी छोड़ दिये थे। यथा, 'ङिच्च' और 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' के बीच में वह 'आदेः परस्य' को छोड़ जाते हैं। पर परवर्त्ती सूत्र में ही उसके तत्त्व का भी विश्लेषण वे अन्तर्हित करते हैं।

(३) बीच-बीच में वे पतंजलि की अपेक्षा अत्यधिक संख्या में परवर्त्ती सूत्रों के उद्धरण देते हैं। उनके विवेचन से स्पष्ट आभास मिलता है कि वे बाद में उन पर भी विचार करेंगे।

(४) 'वाक्यपदीय' और 'महाभाष्य टीका' के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा पता चलता है कि 'वाक्यपदीय' में उन्होंने जो-जो विषय उठाए हैं, उन्हें वे महाभाष्यटीका के अपने निष्कर्षों के अनुसार ही उठाते हैं। लिंग, संख्या, गुण, वृत्ति, आदि तृतीयकाण्डान्तर्गत प्रायः सभी विषय अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय से बाद के ही हैं। 'कारक प्रकरण' सारा ही द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद पर आधारित है। 'समास प्रकरण' 'वृत्तिसमुद्देश' का अभिन्न अंग है। वह अष्टाध्यायी के द्वितीय अध्याय ही से आरम्भ होता है।

---

१. डा० सूर्यकान्त द्वारा सम्पादित 'अथर्वप्रातिशाख्य' की एक प्रति, जिसकी फोटो प्रति का नमूना उसमें मुद्रित है, इसी 'राम' की लिखी है।

हमारी दृष्टि में यही प्रमाण सिद्ध करते हैं कि उन्होंने सम्पूर्ण महाभाष्य पर अपनी दीपिका, त्रिपदी या त्रिपादी टीका लिखी होगी। त्रिपदी या त्रिपादी नाम[3] से तीन पादमात्र पर टीका मानने की बात उचित नहीं। वैसे भी हेलाराज ने 'त्रिपदी' शब्द का प्रयोग यह दिखाने के लिए ही किया है कि जिस प्रकार विष्णु ने तीन कदम में त्रैलोक्य को नाप लिया था, उसी प्रकार इस तीन काण्डों में भर्तृहरि ने भी सम्पूर्ण व्याकरण को नाप लिया है : 'त्रैलोक्यगामिनी येन त्रिकाण्डी त्रिपदी कृता।'

भर्तृहरि का वाक्यपदीय : व्याकरण का दर्शन

आरम्भिक

भर्तृहरि का वह ग्रन्थ, जो उन्हें सबसे भिन्न और कदाचित् सर्वातिशायी सिद्ध करता है, और जिस एक मात्र ग्रन्थ के सहारे ही वह अमर रह सकते हैं, 'वाक्यपदीय' है। यह ग्रन्थरत्न भी हम तक ठीक रूप में सुरक्षित नहीं पहुंच पाया। आज हम इतना तो सन्तोष कर सकते हैं कि कम से कम प्रथम काण्ड से लेकर तृतीय काण्ड तक इसका एक मूलसंस्करण तो पूना विश्वविद्यालय से प्रकाशित हो गया है। सटीक संस्करण भी प्रथम, द्वितीय, और तृतीय काण्ड के उपलब्ध होने लगे हैं। इसमें से प्रामाणिकता की समस्या द्वितीय काण्ड की है। काशी से प्रकाशित इसका एक मात्र पूरा संस्करण पुराना हो चुका है, और अब अप्राप्य भी है। वह प्रामणिक भी नहीं था। सम्पादित संस्करण के रूप में पं० चारुदेव जी का लाहौर से मुद्रित १८४ श्लोक तक का अपूर्ण संस्करण भी अब प्राप्य नहीं है।

अतः आवश्यकता थी कि इसको द्वितीय वार, भर्तृहरि की स्वोपज्ञ टीका और पुण्यराज की टीका के साथ, प्रकाशित किया जाए। तभी 'अर्थविज्ञान' और 'वाक्यविज्ञान' की वे सभी बड़ी-बड़ी उलझनें दूर होनी सम्भव हैं, जिनके हल की बलवती आशा केवल मूलमात्र द्वितीय काण्ड को देखकर बलवती हो गई है। व्याकरण की भी बहुत-सी समस्याओं का भर्तृहरिसम्मत उत्तर भी तभी मिल सकता है। यह सौभाग्य की बात है कि वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय ने पं० रघुनाथ शर्मा की 'अम्बाकर्त्री' टीका के साथ यह 'द्वितीय काण्ड' भी प्रकाशित कर दिया है। इसमें 'स्वोपज्ञ' और 'पुण्यराज' की टीका के यथा-सम्भव अंशों को लेकर ही सन्तोष किया गया है। 'स्वोपज्ञ' टीका पं०

चारुदेव द्वारा सम्पादित १८४ श्लोक तक ही है। पर, इसके बाद भी श्री एय्यर द्वारा सम्पादित 'द्वितीयकाण्ड' के मुद्रण की प्रतीक्षा बनी हुई है।

रचना : परिचय

भर्तृहरि का यह **वाक्यपदीय** तीन काण्डों से मिलकर बना है। किन्तु, जिस प्रकार के उद्धरण प्राचीन लेखकों और इत्सिंग आदि के मिले हैं, उनसे लगता है कि भर्तृहरि ने मूलतः तीनों काण्ड स्वतन्त्र रूप से लिखे थे, और परस्पराश्रित सम्बद्ध रूप में भी। **'आगमकाण्ड'** को कई लोग उसकी स्वतन्त्र कृति मानते हैं। उसका प्रमाण वे भर्तृहरि द्वारा द्वितीय काण्ड के अन्त में प्रोक्त उस श्लोक के रूप में देते हैं, जिसमें उन्होंने कहा है :

> 'न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम्।
> प्रणीतो गुरुणाऽस्माकमयमागमसंग्रहः ॥ वा० २. ४८४ ॥

जिस प्रसंग में वह श्लोक लिखा गया है, उसमें **'महाभाष्य'** की, 'आगम' के रूप में, पुनः उपलब्धि सम्भव बनाने की बात कहने की सम्भावना अधिक दीखती है। केवल 'आगम' नाम देखकर ही **'आगमकाण्ड'** की बात नहीं सोच लेनी चाहिए। न ही इससे **प्रथम** और **द्वितीय** काण्ड को गुरु द्वारा या स्वयं रचे जाने का संकेत मिलता है। फिर, **'गुरुणा प्रणीतः'** का अर्थ केवल 'गुरु द्वारा रचा गया' ही नहीं हो सकता। **'गुरु का उपदेश इसकी रचना का हेतु बना'** या **'गुरु से प्रेरित'**—यह भावना भी इससे स्पष्ट होती है। अतः इतने मात्र से ही **'वाक्यपदीय'** को प्रथम दो काण्ड तक सीमित स्वीकार न कर लेना चाहिए।

इस प्रकार आपत्ति उन समीक्षकों के विषय में होती है, जिन्होंने **प्रथम दो काण्डों** को ही 'वाक्यपदीय' नाम देना उचित समझा है। कुछ ने तो केवल **द्वितीय काण्ड** को ही 'वाक्यपदीय' कह दिया है। किन्तु, उक्त कारिका से अगली कारिका में ही भर्तृहरि स्पष्टतः **तृतीय काण्ड** की रचना और विषय का किंचित् आभास देते हैं।[1]

प्रथम काण्ड

कुछ भी हो, वर्तमान समय में इन तीनों काण्डों को मिलाकर ही 'वाक्यपदीय' के नाम से पुकारा जाता है। इनमें से प्रथम काण्ड को 'आगम' या **'ब्रह्मकाण्ड'**

---

१. वा० २. ४८५ : 'काण्डे तृतीये न्यक्षेण भविष्यति विचारणा।'

के नाम से कहा जाता है। इसमें भर्तृहरि की शब्दविषयक मूल उपस्थापना निहित है। मिलान करने पर कह सकते हैं कि इसमें मूलतः 'महाभाष्य' के पस्पशाह्निक और द्वितीयाह्निक के सारे ही विषय गृहीत हो गए हैं : शब्द क्या है ? शब्दानुशासन क्या है ? शब्द और अर्थ का परस्पर क्या सम्बन्ध है ? ध्वनि का स्वरूप से क्या सम्बन्ध है ? शब्द जाति है या व्यक्ति ? साधु-असाधु शब्द कौन से हैं ? व्याकरण का प्रयोजन क्या है ? शब्दोत्पत्ति में आन्तरिक और वाह्यप्रयत्नों का कितना और कैसा हाथ है ?, इत्यादि सभी प्रमुख प्रश्न इसमें वर्णित हुए हैं। इसमें वर्णित भावनाओं से अभिन्न, और लगभग उन्हीं शब्दों में निवद्ध, भावनाएं भर्तृहरि ने 'महाभाष्यदीपिका' के प्रथम दो आह्निकों में भी कही हैं। कई वार शब्द इतने मिलतेजुलते लगते हैं, कि दोनों रचनाओं का पौर्वापर्य सन्दिग्ध हो उठता है। उदाहरण हम इसी अध्याय में पहले दे आए हैं।

द्वितीय काण्ड

कहा जाता है कि 'वाक्यपदीय' का सारा आधार ही इस काण्ड पर है। किन्तु, हमारी दृष्टि में 'वाक्यपदीय' के तीनों ही काण्डों का महत्त्व एकसमान है। यदि प्रमुखता देनी ही हो, तो प्रथम काण्ड को ही मिलनी चाहिए। यद्यपि यह सच है कि द्वितीय काण्ड में वाक्य की अखण्डता के उस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया गया है, जिसे आज की सबसे वड़ी भाषा-तात्त्विक उपलब्धि कहा जाता है। तथापि इसमें वर्णित वहुत से विषयों का सार, वाक्य की अखण्डता की इस धारणा के साथ ही, प्रथम काण्ड में वर्णन हो चुका है। इस पर भी, व्याकरण के विविध पक्षों को उपस्थित कर, न्याय और मीमांसा के मतों से उनकी तुलना करते हुए, जिस प्रकार इस काण्ड में उन पर विचार कियी गया है, उससे उन-उन विषयों में इसका अपना महत्त्व सर्वातिशायी हो उठता है।

और, सवसे अधिक महत्त्व तो इस काण्ड का इसलिए हो गया है कि इन सव विषयों के वर्णन के साथ-साथ इसके अन्तिम दस श्लोकों में भर्तृहरि ने महाभाष्य की ऐतिहासिक स्थिति और पुनरुद्धार, एवं अपने अध्ययन की पृष्ठभूमिका, हमें प्रदान की है। इससे विचारकों को 'महाभाष्य' को समझने और उसका पाठ ठीक करने में ही सहायता नहीं मिली, वल्कि भर्तृहरि को समझने का एक दृढ़ आधार भी मिला है।

प्रमुख विषय

इस काण्ड में वर्णित विषयों में सर्वप्रमुख है : **वाक्य की परिभाषा**। भर्तृहरि वाक्य को एक और अविभाज्य इकाई के रूप में मानते हैं। इसी प्रसंग में वे प्रथमकाण्ड में कथित वर्ण-पद-वाक्य की पारस्परिक स्थिति पर फिर से विचार उठाते हैं, और अन्ततः उनके सापेक्षिक मूल्यों की स्थापना करते हैं। आज के विश्व में अकेली यही बात उन्हें अमर कर देती। परन्तु, इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण विषय उन्होंने लिया है, **'अर्थविचार'** के रूप में ! अर्थ क्या है ? उसके कितने भेद हैं ? शब्दशक्ति या लक्षणादि का क्या महत्त्व है ? गौण और मुख्य अर्थ क्या हैं ? उनमें तात्त्विक दृष्टि से साम्य कैसे हैं ? एक ही अर्थ एक समय में मुख्य और दूसरे समय में गौण कैसे हो जाता है ? वाक्य में अर्थ की एकता और अखण्डता का क्या अर्थ है ?, इत्यादि अत्यन्त महत्त्व के भिन्न-भिन्न प्रश्नों को इसमें लिया गया है।

इसी प्रसंग में हमें औदुम्बरायण के उन मतों की प्रथम आधिकारिक व्याख्या भी मिलती है, जिन्हें निरुक्त के टीकाकारों की नासमझी के कारण नितान्त भ्रमपूर्ण ढंग से उपस्थित करके उनके साथ महान् अन्याय किया गया था[1]।

इस प्रबन्ध में, और इससे पहले के अपने प्रबन्धों में, हमने औदुम्बरायण को जो स्फोटवाद का सबसे बड़ा उद्घोषक कहा है, वह केवल भर्तृहरि के इस वक्तव्य के आधार पर ही। उस बात की पुष्टि हरदत्त मिश्र आदि के वक्तव्यों से भी होती है। परन्तु, भर्तृहरि के विनिश्चयात्मक कथन ने उन मतों का मूल स्रोत ही हमारे सामने उपस्थित कर दिया है। तभी हमने मीमांसक द्वारा उल्लिखित इस अनुमान को प्रामाणिक कहने का साहस किया है : **'औदुम्बरायण' और 'स्फोटायन' नाम एक ही व्यक्ति के हैं।**

यह महत्त्वपूर्ण श्लोक उद्धृत करने का लोभ हम यहाँ संवरण नहीं कर सकते :

> **वाक्यस्य बुद्धौ नित्यत्वमर्थयोगं च शाश्वतम् ।**
> **दृष्ट्वा चतुष्ट्वं नास्तीति वार्ताक्षौदुम्बरायणौ ॥** वा० २.३४३ ॥

इस काण्ड का एक अन्य नाम 'वाक्यकाण्ड' भी है।

---

१. वा० २.३४३ ।

तृतीय काण्ड

इत्सिंग की भ्रमपूर्ण उक्तियों का शिकार तृतीय काण्ड भी बना है। या तो उसकी उक्तियों का अनुवाद अशुद्ध हुआ है, या फिर उसने तथ्यों को विना जाँचे लिख डाला है। उसके अनुसार, 'इस काण्ड में तीन हजार श्लोक हैं। उनकी व्याख्या वैयाकरण उपाध्याय धर्मपाल ने की है। और, इस व्याख्या का परिमाण चौदह हजार श्लोक का है।[1] किन्तु, इन तीनों में से एक भी कथन प्रामाणिक नहीं लगता। इसकी वर्त्तमान श्लोक संख्या १३२६ है। यदि हेलाराज के कथन के प्रमाण पर 'लक्षण' और 'बाधा' समुद्देशों को, जो निश्चय ही पूर्वमीमांसा पर आश्रित रहे होंगे, लुप्त भी मानलें, तब भी यह संख्या सौ से अधिक नहीं बढ़ेगी। तब इत्सिंग के गिनाए तीन हजार श्लोक कैसे ? यदि पहले दोनों काण्ड भी मिलादें, तब भी यह संख्या 'दो हजार' से बहुत ऊपर नहीं जाती। अतः कहीं न कहीं त्रुटि अवश्य है।

रही धर्मपाल द्वारा टीका रचना की बात ! सम्भव है कि भर्तृहरि प्रथम दो काण्डों की भांति इसकी वृत्ति या टीका स्वयं न लिख पाए हों। अतः सम्भव है, उनके शिष्य या सहाध्यायी धर्मपाल, या इस नाम के किसी अन्य व्यक्ति, ने इसकी टीका लिखी हो। हमें यह 'धर्मपाल' नाम भ्रामक लगता है। बाद के टीकाकार हेलाराज और पुण्यराज आदि इसका उल्लेख तक नहीं करते। फिर, टीका का आकार भी मूल से कुल पाँचगुणा विस्तार ही बताता है, जबकि इस काण्ड में अधिक विस्तार की संभावना थी; क्योंकि दर्शन के जाति-व्यक्ति आदि सभी दुरूह विषय इसमें ही समवेत हुए हैं। पर यदि 'धर्मपाल' ने सच ही इसकी टीका रची हो, तो कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है।

इस काण्ड में कुल चौदह समुद्देश हैं। इनमें सबसे दीर्घ, बल्कि अन्य सबके तुल्य, चौदहवां समुद्देश 'वृत्तिसमुद्देश' के नाम से है। बाकी तेरहों समुद्देशों में से चौथा 'भूयो द्रव्यसमुद्देशः' किसी की त्रुटिवश अलग गिना जाने लगा है; और अब तक गिना जा रहा है। अन्यथा, स्पष्ट है कि वह 'गुणसमुद्देश' का ही अंग है। इसका तीसरा श्लोक 'गुणसमुद्देश' के प्रथम श्लोक से नितान्त सम्बद्ध है। पता नहीं इस त्रुटि को नवीनतम सम्पादकों ने भी क्यों दूर नहीं किया ?

इस काण्ड के समस्त वर्ण्य विषय व्याकरण या 'पद' से सम्बन्ध रखते हैं।

---

१. डा० पेय्यर, अभयंकर, लिमये, आदि।

इसलिए इसका नाम 'प्रकीर्ण काण्ड' के अतिरिक्त 'पद काण्ड' भी है। पद से सम्बद्ध प्रायः सभी विषय, जो तथाकथित व्याकरण के विषय हैं, इस काण्ड में वर्णित हैं। जाति-व्यक्ति, द्रव्य और पदार्थ, शब्दार्थसम्बन्ध, गुण, संख्या और वचन, दिक्, साधन या कारक, उपग्रह, पुरुष, क्रिया, काल, लिंग, और वृत्ति (अर्थवा समासयोजना और वाक्य)—ये सब विषय इसमें विवेचित हुए हैं। इन सबके दार्शनिक और व्याकरणात्मक पहलुओं पर बहुत कुछ, और बहुत ही मौलिक ढंग से, कहा गया है। काल, दिक्, क्रिया, और लिंग के सम्बन्ध में उनके विचार अत्यन्त उत्प्रेरक हैं। आज के विद्वानों को उनसे पर्याप्त दिशानिर्देश मिल सकता है।

शैली

'महाभाष्यदीपिका(त्रिपदी)' और 'वाक्यपदीय'—दोनों—में भर्तृहरि की शैली इतनी सरल रही है कि एक बार तो पतंजलि की शैली भी इसके सामने कठिन लगने लगती है। किन्तु, दुर्भाग्य इसी बात का है कि 'वाक्यपदीय' तो काल के थपेड़ों को सहकर भी हम तक अक्षुण्ण रूप में पहुँच गया है, जब कि 'महाभाष्यदीपिका' जैसी अभूतपूर्व कृति का, ऐसा लगता है, मध्यकालीन वैयाकरणों ने ध्यान ही नहीं रखा। अथवा, भर्तृहरि के शब्दों में ही कह सकते हैं: 'शुष्कतर्कानुसारियों के सामने वह भी महाभाष्य की भांति सुरक्षित न रह सकी !'

आश्चर्य तो इस बात का है कि पुण्यराज और हेलाराज जैसे टीकाकार भी इसका कहीं नामशः उल्लेख नहीं करते। जिन वैयाकरणों ने इसके उद्धरण दिये हैं, वे बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। कैयट स्वयं 'महाभाष्यदीपिका' का शब्दशः अनुकरण करके भी नाम्ना उल्लेख 'वाक्यपदीय' के उद्धरणों का ही करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वे 'दीपिका' का ही शब्दशः अनुकरण अपने 'प्रदीप' में कर रहे हैं। नागेश ने अपने 'प्रदीपोद्योत' में इससे इतना अधिक लाभ नहीं उठाया है। 'शब्दकौस्तुभ' की रचना में भट्टोजि ने 'वाक्यपदीय' को अपना आधार बनाया है, किन्तु 'त्रिपदी' का आश्रय वे भी स्वीकार नहीं करते। हो सकता है, उस समय में उन्हें उसका दर्शन उपलब्ध न हुआ हो। उन पर आश्रित कौण्डभट्ट तो केवल 'वाक्यपदीय' की कारिकाओं को ही उद्धृत करते हैं। शरणदेव, सीरदेव, पुरुषोत्तम, मैत्रेयरक्षित, हरदत्त, जिनेन्द्र-बुद्धि, आदि ने भी 'वाक्यपदीय' पर अधिक बल दिया है। न्यासकार, पदमंजरी-

कार, आदि ने महाभाष्यदीपिका से भी अनेक मत और व्याख्यान ग्रहण किए हैं। पर, इसका नाम्ना उल्लेख उन्होंने उतना नहीं किया।

आखिर, यह सब उपेक्षा क्यों? 'शुष्कतर्कानुसारियों द्वारा इसके सर्वथा उच्छेद' के अतिरिक्त और कोई कारण हमें दिखाई नहीं देता। अनेक बौद्ध आचार्यों ने भी खण्डनमात्र के लिए ही 'वाक्यपदीय' का आश्रय लिया है। अन्यथा, उसे भर्तृहरि की उपलब्धियों के प्रति कोई आकर्षण न था।

कदाचित् वैदिक आस्था का उस युग में बहुत ह्रास होगया था। 'वेदान्त' या 'उत्तरमीमांसा' का शांकर रूप—दोनों ही—पुरानी वैदिक धारणाओं के विरोधी थे। पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा पर समान रूप से लिखने वाले भर्तृहरि की गहरी वैदिक निष्ठा उनके सिद्धान्तों के विरुद्ध थी। बौद्धों के शुष्क दार्शनिक मतवाद भी उनके युक्तिक्रम की सरलता और अकाट्यता को स्वीकार करने को तैयार न थे। अतः उनकी रचनाएं उस युग के तथा-कथित विद्वानों में समादृत न होसकीं। किन्तु, फिर भी, इन रचनाओं ने व्याकरण और दार्शनिक चिन्तन पर एक व्यापक प्रभाव डाला है। और संपूर्ण रूप में सुरक्षित रहकर भी ये रचनाएं जो प्रभाव अपने युग में न डाल सकी थीं, उससे कहीं अधिक प्रभाव आज डाल रही हैं। समय के थपेड़ों ने इनके आकार को भले ही मिटा दिया अथवा विकृत कर दिया, किन्तु वह इनमें अन्तर्हित विचार और भावना को नहीं मिटा सका। कदाचित्, यदि आज भी वही सरलता और ऋजुता वर्त्तमान युक्तिक्रम में समा सकती, तो हम देखते नव्यन्याय का बढ़ता युग-प्रभाव स्वयं ही काफी कम रह जाता।

वाक्यपदीय पर कार्य

इस 'वाक्यपदीय' को आधार बनाकर अब तक कई अनुसन्धानात्मक प्रयास हो चुके हैं। सन् १९६३ में 'भाषातत्त्व और वाक्यपदीय' के नाम से हमने ही एक शोधप्रबन्ध इसी 'वाक्यपदीय' के आधार पर लिखा था, जो तब से ही प्रकाशित है। हमारा ही एक अन्य प्रयास 'व्याकरण की दार्शनिक पृष्ठभूमि' अभी छपकर चुका है। डा० कपिलदेव द्विवेदी का 'अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन' भी मुख्यतः इसी के आधार पर लिखा गया है। डा० गौरीनाथ शास्त्री का 'दि फिलासफी ऑफ मीनिंग' भी इसी के आधार पर लिखा गया शोध-ग्रन्थ है। डा० रामसुरेश त्रिपाठी का 'वाक्यपदीय में आख्यात-विवेचन' अभी अप्रकाशित ही पड़ा है। सुश्री बियार्दो ने इसकी व्याख्या और दर्शन पर भी

में लिखा है। डा० ऐयर ने कई वर्ष तक श्रम करके इसका सम्पादन किया है, और प्रथम दो काण्डों की स्वोपज्ञ टीका का अनुवाद भी अंग्रेजी में किया है। अन्य भी कई व्यक्ति इस दिशा में काम कर रहे हैं। 'आगम काण्ड' पर अनेक टीकाएं भी निकल चुकी हैं। कुछ आधुनिक टीकाएं भी दर्शन के व्यामोह में पड़ गई हैं। सूर्यनारायण शुक्ल, रघुनाथ शर्मा, आदि की टीकाएं ऐसी ही हैं। हमारी भी एक त्रिभाषी टीका अभी प्रकाशित हुई है। इन सब में कुछ न कुछ नवीनता का आभास भी मिलता है। सुश्री बियार्दो द्वारा हरि की स्वोपज्ञटीका का फ्रेंच अनुवाद भी अवधेय है।

पुरानी टीकाओं को ऊपर गिनाया ही गया है। केवल एक उल्लेख रह गया : वह है प्रथम काण्ड पर उपलब्ध वृषभदेव की टीका, जिन्हें कइयों ने 'हरिवृषभ' नाम से भी कहा है। यह टीका हरि की अपनी 'स्वोपज्ञ' वृत्ति पर रची गई है।

कैयट : प्रदीपकार

पीठिका

भर्तृहरि की 'महाभाष्यदीपिका' या 'त्रिपदी' के बाद बहुत कुछ लिखा गया। इस युग की सबसे मूल्यवान् निधि काशिका है, जिसके रचयिता वामन और जयादित्य स्वीकार किये जाते हैं। यह रचना सातवीं शती के उत्तरार्ध की है। उसके बाद के काल में जिनेन्द्रबुद्धि आदि वैयाकरणों के 'न्यास' आदि ग्रन्थों को देखते हुए ऐसा लगता है कि एक बार तो भर्तृहरि की 'त्रिपदी' का इतना प्रभाव पड़ा कि विद्वानों ने 'भाष्य' की परम्परा से हाथ खींच कर 'वृत्ति' के उपेक्षित पक्ष की ओर ध्यान दिया। इतनी सामग्री पहले से प्रस्तुत थी ही। इस युग में कुछ नए व्याकरण भी बनने आरम्भ हुए। इन सब का आधार भी, 'चान्द्र' व्याकरण की भांति, पाणिनीय व्याकरण का महाभाष्य द्वारा सुधरा हुआ रूप ही बना। 'कातन्त्र' व्याकरण एक दूसरी और भिन्न धारा का सूचक है। उसपर भी इस युग में ध्यान गया और कुछ टीकाएं लिखी गईं। अतः ऐसा लगता है, जैसे तीन-चार सौ साल के लिए भाष्यों का युग समाप्त सा हो गया और वृत्तियों का युग आरम्भ हुआ।

ऐसी ही पृष्ठभूमि पर आए कश्मीर के उज्ज्वल रत्न कैयट, जिन्होंने फिर से उस भाष्य-परम्परा का प्रचलन किया। लगता है, इतने वर्षों के

व्यवधान में 'महाभाष्य' के प्रति विद्वानों में अरुचि जाग चुकी थी। कदाचित् पतंजलि के 'महाभाष्य' को फिर से दुर्दिन देखने पड़े थे। और, कैयट ने जिन दो ग्रन्थरत्नों को सेतु बनाया, वे दोनों ग्रन्थ—'महाभाष्यत्रिपदी' और 'वाक्यपदीय'—भी कदाचित् घोर उपेक्षा के ग्रास बन चुके थे। प्रतिलिपि-कारों का प्रमाद 'महाभाष्य' के लिए ग्रहण के समान सिद्ध हुआ। भर्तृहरि की 'त्रिपदी' भी लिपिकारों की दुष्कृपा की पात्र बनी। अतः ऐसे समय कैयट जैसे महान् वैयाकरण का आना सफल ही हुआ। उसने अपने नए सृजन द्वारा 'भाष्य' की लुप्तप्राय परम्परा को पुनरुज्जीवित किया।

और, इस बार की आरम्भ हुई यह परम्परा अब तक रुकने में नहीं आरही।

पुनरुद्धार : प्रेरणा

कय्यट द्वारा इस परम्परा के पुनरुद्धार के पीछे एक प्रेरक कारण भी रहा दीखता है। कल्हण ने कैयट के समकालीन कश्मीर नरेश जयापीड द्वारा 'महाभाष्य' के जीर्णोद्धार या पुनरुद्धार की बात विस्तार से लिखी है। यह प्रकरण ठीक वैसा ही है, जैसा कि 'चान्द्र व्याकरण' के कर्त्ता चन्द्राचार्य्य आदि को प्रेरित करने वाले नरेश अभिमन्यु का है। अभिमन्यु ने विलुप्त और भ्रष्ट 'महाभाष्य' के पुनरुद्धार के लिए चन्द्राचार्य्य के नेतृत्व में वैयाकरणों को कार्यव्यापृत किया था। यहाँ जयापीड को भी 'महाभाष्य' के पुनरुद्धार की चिन्ता हुई, और उसने कैयट जैसे महान् वैयाकरण को इस कार्य में प्रवृत्त किया। लगता है, बौद्ध वैयाकरणों के हाथों पतंजलि और भर्तृहरि की कृतियों का रूपान्तर या भ्रंश हुआ होगा। कैयट को इस कार्य में प्रवृत्त होने की प्रेरणा यहीं से मिली होगी। उसके संकेतों से स्पष्ट लगता है कि लिपिकारों के प्रमाद आदि से तब तक महाभाष्य के मूलपाठ में भी पर्याप्त अन्तर आ गया होगा। इसे पुनः व्यवस्थित करने में कैयट को भर्तृहरि की त्रिपदी से पर्याप्त सहायता मिली दीखती है। मूल पाठ को पुनः व्यवस्थित करने के प्रयास में ही उन्होंने 'संक्षेप' की लोकरुचि का ध्यान रखते हुए अपने संक्षिप्ततम 'प्रदीप भाष्य' का सृजन किया। इसे 'टीका' कहने पर भी इसका महत्त्व नहीं घटता।

प्रदीप

कैयट की इस टीका या भाष्य का नाम 'प्रदीप' है। इसे 'प्रदीपभाष्य'

अथवा 'महाभाष्यप्रदीप' भी कहा जाता है। इसकी रचना ने परवर्त्ती व्याकरण-चिन्तन की प्रक्रिया को बहुत तीव्र कर दिया। यह बात हम पहले भी कह चुके हैं। भर्तृहरि की 'त्रिपदी' के इतने वर्षों बाद आने वाली यह टीका कुछ मौलिक चिन्तन भी लिए हुए है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु, इसमें भर्तृहरि के मतों का सार भी अविकल समाविष्ट है, यह बात परम सन्तोषप्रद है। इसका कारण यह है कि भर्तृहरि के ग्रन्थों का अध्ययन मन्द पड़ जाने पर इसके माध्यम से लोगों को भर्तृहरि और पतंजलि—दोनों—का मूल और अभिप्रेत आशय अत्यन्त संक्षेप में समझना सम्भव हो गया।

वैशिष्टय : संक्षेप

इस रचना की सबसे बड़ी विशेषता **संक्षेप** है। किन्तु, साथ ही स्पष्टीकरण की बात भी छूटी नहीं है। कैयट ने अपनी बात अधिक कहने, और पाण्डित्य का प्रदर्शन अधिक करने, की अपेक्षा महाभाष्य के भाव को ही अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है। निश्चय ही इस 'संक्षिप्तता' के विषय में भर्तृहरि की 'त्रिपदी' ही उनका पथप्रदर्शन करती रही है। हम यहाँ कुछ ऐसे उदाहरण देंगे, जिनसे भर्तृहरि और महाभाष्य की 'भावना' को पूरी तरह समझने के अतिरिक्त उनकी **संक्षेप** की वृत्ति भी स्पष्ट हो जाएगी :

(१) महाभाष्य के उद्घाटक अधिकार सूत्र **'अथ शब्दानुशासनम्'** को पतंजलि ने स्वयं **'अधिकारार्थे'** कहकर उसकी व्याख्या उसी तरह की है, जिस तरह वे किसी **वार्त्तिक** या **अष्टाध्यायी-सूत्र** की करते हैं। किन्तु, ऐसी ही व्याख्या वे अपने रचित 'भाष्यसूत्र' की भी करते हैं। भर्तृहरि की 'त्रिपदी' के आरम्भिक कुछ पृष्ठ विलुप्त हैं। अतः उनका निर्विवाद मत क्या है, हम नहीं जान सकते। किन्तु, 'प्रदीप' को आरम्भ करते हुए आरम्भिक वाक्य ही कैयट ऐसा कहते हैं, जिससे महाभाष्य के इस सूत्र के विषय में उनकी आधिकारिकता और प्रामाणिकता प्रकट होती है। वे कहते हैं : **'भाष्यकारो विवरणकारत्वात् व्याकरणस्य साक्षात्प्रयोजनमाह।'** फिर वहीं वह लिखते हैं : **'स्ववाक्यं व्याख्यातुं तदवयवमथशब्दं तावत् व्याचष्टे।'** ये दोनों वाक्य जैसे अधिकारपूर्वक बात को कह रहे हैं, उसकी तुलना इसी प्रसंग में कहे इन शब्दों से करने योग्य है : **"अधिकारः प्रस्तावः, द्योत्यत्वेनास्य प्रयोजनमित्यर्थः। निपातानां च द्योतकत्वं वाक्यपदीये निर्णीतम्।"** इस कथन के अनुसार यह प्रथम सूत्र, पाणिनिकृत न होकर, पतंजलि का 'स्ववाक्य' है। यह

बात हमारी पूर्वोक्त धारणा से मेल नहीं खाती। इस पर भी, एक नया पक्ष तो सामने आता ही है।

स्पष्ट है कि आरम्भिक शब्दों में ही कैयट भर्तृहरि पर अपने आश्रय को एकदम स्पष्ट कर देते हैं। भर्तृहरि की 'त्रिपदी' ही ऐसे कठिन स्थलों में हमें भाष्यकार के मूल वचन या अभिप्राय से परिचित कराती है। अतः इसका आधार भी वहीं से लिया गया है। अन्यथा, अन्य किसी आधार का भी कैयट उल्लेख करते। पर, साथ ही संक्षेप इतना अधिक है कि विद्यार्थियों के लिए उपयोगी भर्तृहरि और महाभाष्यकार का सारा ही अभिप्राय आ गया है; और वह भी केवल कुछ शब्दों में ही।

(२) 'त्रिपदी' का उपलब्ध अंश इस प्रकार आरम्भ होता है : "-पनार्थं वैदिकानां पृथगुपादानम्। प्राधान्यस्यापि हि सामान्येऽन्तर्भूतस्य पृथगुपदेशो दृश्यते, 'ब्राह्मणा आयाता वसिष्ठोऽप्यायात' इति। अथवा लौकिकानामित्येव-मुक्ते, लौकिकशब्दं सामान्यमपि विशेषेण प्रतिपद्यते : भाषाशब्दानामेवेदमनु-शासनं, न वैदिकानाम्। यस्मात्ते हि नियतसंवेशाः प्रतिनियतप्रातिशाख्या दृष्टानुविधित्वात्तेष्विति।' इसी को अत्यन्त संक्षेप और सरलता के साथ कैयट अक्षरशः दोहरा देते हैं, जिससे हमें 'त्रिपदी' के आरम्भिक त्रुटित अंश का भी ज्ञान हो जाता है : 'वैदिकानामपि लौकिकत्वे प्राधान्यख्यापनाय पृथगुपादानम्। यथा—ब्राह्मणा आयाता वसिष्ठोऽप्यायात इति वसिष्ठस्य। तेषां तु प्राधान्यं यत्नेनापभ्रंशपरिहारात्। अथवा भाषाशब्दानामेव लौकिकत्वमिति भेदेन निर्देशः। तत्र लोके पदानुपूर्वीनियमाभावात्'। दोनों का मिलान करते ही यह स्पष्ट हो जाएगा कि भर्तृहरि के ठीक उन्हीं शब्दों को, केवल बीच के कुछ अंश छोड़कर, ही कैयट दोहरा रहे हैं। एक मात्रा का भी तो अन्तर नहीं है।

(३) महाभाष्य के 'नेत्याह, आकृतिर्नाम सा' पर 'त्रिपदी' में कहा है : "आकृतिरिति तत्संस्थानम्। किं तर्हि? जातिरेव।:..आक्रियते अनयेति आकृतिः। आक्रियते इति भिद्यते पदार्थान्तरेभ्य इत्याकृतिः।" और इसे ही कैयट दोहराते हैं : "आकृतिः—जातिः संस्थानं च। आक्रियते व्यवच्छिद्यते स्वाश्रयोऽनयेति।"

ठीक इसके साथ के प्रसंग का उपन्यास भर्तृहरि इस प्रकार करते हैं : "संप्रति द्रव्यादिषु निरस्तेषु द्वयमपि स्थितम्।..... इत्यतः पृच्छति—कस्तर्हि

शब्द इति ?" और, कैयट ठीक यही शब्द रख देते हैं : "द्रव्यादिषु निरस्तेषु पृच्छति कस्तर्हीति ।"

हम इस प्रसंग को विस्तृत नहीं करना चाहते । यहाँ हमारा उद्देश्य यह बताना है कि कैयट की भावना जहाँ यह रही है कि वे भाष्य के भर्तृहरि-सम्मत अर्थ को व्याकरण के अध्येताओं तक अविकल पहुँचा दें, वहाँ संक्षेप उन्हें अधिक प्रिय रहा है; अन्यथा कहीं उनका यत्न भी उपेक्षित न रह जाए ! और, इस प्रयास में वे सफल भी हुए हैं ।

अपनी सीमा का ज्ञान

'संक्षेप' के अतिरिक्त एक और गुण भी कैयट का अन्वेय है । वह है उनके द्वारा अपनी ज्ञानसीमा की स्वीकृति ! हम कह चुके हैं कि वे अपने आत्मप्रदर्शन के लिए हर घिसी-पिटी चीज़ की व्याख्या में प्रवृत्त नहीं हो जाते । वे हर बात के नए उदाहरण प्रस्तुत करके अपनी मौलिकता का सिक्का जमाने की धुन में भी नहीं रहते । उदाहरणार्थ, व्याकरण-प्रयोजनों में 'ऊह' की चर्चा में स्पष्ट ही लिखते हैं : "विस्तरेण भर्तृहरिणा प्रदर्शित ऊहः" ।[1] 'त्रिपदी' में भर्तृहरि ने 'ऊह' पर पर्याप्त अधिक विचार किया है । उन्होंने अनेक उदाहरण देकर विषय को पूरी तरह स्पष्ट किया है । वेदों के कम ही विद्वान् वैसा कर सकते हैं । पतंजलि के समकक्ष या उससे बढ़ा हुआ विद्वान् ही इतने विस्तार से ऐसे विषय को उठा सकता था । पर, स्पष्ट ही कैयट अपने को इतना बड़ा अधिकारी विद्वान् समझते थे । अतः, हर जगह उसकी बातों को अपनाने या आलोचित करने वाले कैयट भी, इतना कह-कर अपना कार्य पूरा समझ लेते हैं कि, 'इसका वर्णन भर्तृहरि ने विस्तार से कर ही दिया है ।' यह निरभिमान वृत्ति हर टीकाकार में विद्यमान नहीं होती ।

महाभाष्य का अनुसरण

निरभिमानिता की इस वृत्ति के कारण ही कैयट 'महाभाष्य' की मूल भावना को ठीक से समझ पाए हैं, और उसके अनुसरण में समर्थ हुए हैं । इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा है । 'चत्वारि शृङ्गा' और 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' की व्याख्या में पतंजलि 'चत्वारि' का अर्थ 'नामाख्यातो-पसर्गनिपाताश्च' के रूप में करते हैं ।[1] भर्तृहरि इस पर टिप्पणी देते हैं :

'कर्मप्रवचनीयस्तु निपातेष्वन्तर्भूतः, इति चत्वार्युच्यन्ते।' परन्तु कैयट 'कर्म-प्रवचनीय' की इस बात पर अधिक ध्यान नहीं दे पाए। सम्भवतः वे उसका महत्त्व न समझ पाए। उन्होंने 'महाभाष्य' के मूल वचन को ही अधिक प्रामाणिक माना है, और उसे ही फिर से उद्धृत कर दिया है। यह उनकी मूल भावना के अनुकूल ही बैठता है।

इसकी तुलना में नागेश वहाँ 'परापश्यन्तीमध्यमावैखर्यः' के रूप में उच्चारण काल में प्रयुक्त वाणी के चार पादों की चर्चा करते हैं।

काल-निर्णय

मैत्रेयरक्षित का उल्लेख ११,५८ ई० में 'अमरकोष' की अपनी व्याख्या में सर्वानन्द ने किया है। वह उनके 'धातुप्रदीप' का उल्लेख करता है। यही मैत्रेय-रक्षित कैयट का नामोल्लेख अपने 'तन्त्रप्रदीप' (१.२.१) में कज्जट के नाम से करते हैं। मैत्रेयरक्षित ने ही धर्मकीर्त्ति के 'रूपावतार' की चर्चा भी की है। अपने 'रूपावतार' में धर्मकीर्त्ति पदमञ्जरीकार हरदत्त का उल्लेख करता है। हरदत्त अपनी 'पदमंजरी' में कैयट के अनेक वचनों को 'अन्ये', 'अपरः', या 'आह च' आदि वचनों के द्वारा उद्धृत करता है। व्याडि के 'संग्रह' के एक श्लोक को कैयट नामोल्लेखपूर्वक दोहराता है, जबकि हरदत्त उसे 'आह च' के द्वारा उल्लेख करता है। अन्यत्र वह बिना नामोल्लेख के स्पष्ट ही कैयट के मत को उद्धृत करता है। प्रसंग है महाभाष्योक्त 'हे त्रपु' के स्थान पर कैयट द्वारा 'हे त्रपो' के विधान का। हरदत्त का कैयटानुसारी होना भाषाव्याख्याप्रपंचकार ने भी सिद्ध किया है।

इन सब बातों पर विचार करें, तो पता चलता है कि ११वीं शती के मध्य में विद्यमान हरदत्त से भी कम से कम पचास वर्ष पहले कैयट अवश्य विद्यमान रहे होंगे। इसका एक कारण है। हरदत्त दक्षिण के द्रविड ब्राह्मण हैं। उन तक कैयट की वृत्ति का पहुँचना, और उनके द्वारा बिना नामोल्लेख के उनका अनुसरण या आलोचना, कम से कम इतने व्यवधान की तो अपेक्षा रखते ही हैं। अतः कैयट का काल बहुत आसानी से ग्यारहवीं शती ईस्वी के आरम्भ में रखा जा सकता है। यदि इससे भी कुछ पूर्व यह काल हो, तो कोई आश्चर्य नहीं!

'देवीशतक' का लेखक

इस सम्बन्ध में एक ही बात विचारणीय है। कैयट नामक एक विद्वान् ने

आनन्दवर्धनाचार्य के 'देवीशतक' की एक व्याख्या लिखी है। परन्तु, वहाँ पिता का नाम 'चन्द्रादित्य' दिया हुआ है। कैयट अपने पिता का नाम महाभाष्य के आरम्भ में ही जय्यट लिखते हैं। अतः मीमांसक जी इन दोनों को एक मानने में आपत्ति मानते हैं। हम भी उनसे सहमत हैं।

किन्तु, एक शंका यह रह जाती है कि उसमें लेखन तिथि १०३४ विक्रमी (९८७ ई०) दे रखी है। यदि यह ठीक है, तब हमें लगता है कि कहीं कुछ गलती ज़रूर है। क्या इसकी और अधिक परीक्षा हो सकती है? कहीं अन्तरंग परीक्षा से दोनों एक ही तो न सिद्ध होंगे? इसकी अधिक जाँच होनी चाहिए। मैक्डोनल कैयट का समय १३वीं सदी ई० में मानते हैं।

अन्य परिचय

कैयट कश्मीर के निवासी थे, यह बात निर्विवाद है। उनके पिता का जय्यट नाम वे स्वयं लिखते हैं। उवट और कैयट को प्रायः मम्मट का अनुज बता दिया जाता है। कदाचित्, यह नामसाम्य के कारण ही। अन्यथा, हर एक अपने पिता का नाम भिन्न देता है। मम्मट को कीथ ११०० ई० के आसपास स्वीकार करते हैं। मैक्डोनल भी यही समय मानते हैं। उवट अपने पिता का नाम वज्रट लिखते हैं। यह कैयट द्वारा दिए अपने पिता के नाम से भिन्न है। मम्मट अपने पिता का नाम देते ही नहीं। अतः यह बात प्रामाणिक नहीं कही जा सकती।

इनके एक शिष्य उद्योतकर अवश्य रहे हैं, जो इन सब के भाई होने का उल्लेख करते हैं। लगता है, उन्होंने भी कोई व्याकरणसम्बद्ध टीकादि लिखी थी। चन्द्रसागर सूरि ने 'हैमबृहद्वृत्ति' में उसके कुछ उद्धरण दिए हैं।

भट्टोजि दीक्षित : शब्दकौस्तुभ और कौमुदी

पीठिका : महत्त्व

'महाभाष्य के टीकाकार' प्रकरण में भट्टोजि का नाम पढ़कर संस्कृत के सामान्य विद्यार्थी को बहुत आश्चर्य होगा। क्योंकि वह भट्टोजि और सिद्धान्त-

कौमुदी को परस्पर इतना अविच्छिन्न समझ बैठता है कि उसकी कल्पना में यह आ ही नहीं सकता कि प्रक्रियाक्रम के अतिरिक्त अन्य किसी क्रम में भी भट्टोजि लिख सकते हैं? यह सत्य है कि पाणिनि के व्याकरण को खण्डरूप में उपस्थापित करने में 'सिद्धान्तकौमुदी' का हाथ सबसे प्रमुख रहा है। उसके बाद तो किंवदन्ती ही चल पड़ी :

कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः।
कौमुदी यद्यकण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः॥

इसमें जहाँ 'कौमुदी' का अत्यधिक महत्त्व स्पष्ट किया गया है, वहाँ यह भी स्वीकार किया गया है कि 'कौमुदी' का निर्माण भी भट्टोजि ने 'महाभाष्य' के आधार पर और उसके अनुसार चलकर ही किया था। उनका 'कौमुदी' ग्रन्थ, सामान्य धारणा के अनुसार पाणिनीय व्याकरण का ध्वंसक न होकर, महाभाष्य की भावनानुकूल चलकर उसका प्रसारक ही रहा है। कारण यह है कि उसमें मूल विषय को सरल ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

एक आपत्ति

किन्तु, यहाँ एक आपत्ति भी आ जाती है। जबतक पाणिनीय क्रम से न चला जाए, तब तक मार्ग में हज़ारों शंकाएँ पद-पद पर उठती हैं। जिस विद्यार्थी ने सामान्य आरम्भिक बातें पाणिनीय क्रम से नहीं पढ़ीं, उसे खण्डशः पढ़ाने का क्या लाभ? कई बातें, जो उसे आरम्भ में पता होनी चाहिएं, वह बहुत बाद में जान पाता है।

इसमें संदेह नहीं! हमारा व्यक्तिगत अनुभव भी यही बताता है कि पाणिनीय ढंग से पढ़ने के उपरान्त 'कौमुदी' को देख जाने पर विषय अधिक सरलता से दोहराया जाता है। किन्तु, इसके खण्डशः होने के कारण इस ढंग से पढ़ाने से विद्यार्थी विषय को, एक व्यापक परिपार्श्व में न देखकर, उन्हीं खण्डों में बंटा हुआ-सा देखता है। परिणाम यह कि वह हरेक खण्ड को अपने में एक इकाई मानकर चलता है, और उसमें आए सूत्रों को वह उन्हीं प्रकरणों तक सीमित समझता है।

किन्तु, यह दोष केवल भट्टोजि का ही नहीं है। उनसे बहुत पहले रामचन्द्र की 'प्रक्रियाकौमुदी' प्रकाश में आ चुकी थी। उससे भी पहले धर्मकीर्त्ति का 'रूपावतार' इस सरणि का उद्घाटन कर चुका था। मार्ग खुल चुका था। प्रश्न

था, उसे पूर्णता से युक्त करने का। और, यह सत्य है कि भट्टोजि ने वह पूर्णता उसे, भाष्य का अनुसरण करते हुए, प्रदान की।

दूसरा प्रमुख ग्रन्थ : शब्दकौस्तुभ

उनका नाम अमर करने वाला ग्रन्थ 'सिद्धान्तकौमुदी' भले ही रहा हो, किन्तु उनकी प्रतिभा का अपूर्व परिचय देने वाला ग्रन्थ कोई अन्य ही रहा है। **वह है 'शब्दकौस्तुभ': 'महाभाष्य' पर रचित एक सरल और बेजोड़ टिप्पणी।** उसे देखकर ही भट्टोजि के पाण्डित्य का सिक्का बैठ पाता है। हमारी दृष्टि में उस के सामने 'सिद्धान्तकौमुदी' भी महत्त्वहीन और फीकी लगने लगती है। उसमें भट्टोजि का स्वतन्त्र चिन्तन और उनकी तार्किक प्रतिभा अपने वास्तविक रूप में प्रकट हुए हैं। अतः पहले हम उसे ही विचारार्थ लेंगे। बाद में सिद्धान्त-कौमुदी पर भी संक्षिप्त विचार करेंगे; ताकि उनका मूल्यांकन एक ही स्थल पर किया जासके। पर, 'सिद्धान्तकौमुदी' की चर्चा का उचित स्थल 'प्रक्रिया-ग्रन्थों' के साथ ही आएगा।

इससे पहले उनके विषय में कुछ सामान्य परिचय पा लेना उपयोगी होगा।

काल

भट्टोजि का काल **अभयंकर** सत्रहवीं शती के पूर्वार्ध में मानते हैं। किन्तु, **मीमांसक** अनेक प्रमाणों के बलपर उनका काल १५वीं शती के उत्तरार्ध में मानते हैं। एक बात इस सम्बन्ध में समझ नहीं आती। एक ओर तो, वे भट्टोजि को १४६० ई० के पूर्व मानते हैं, और दूसरी ओर **नागेश** का काल वे १६५५ ई० के आसपास मानते हैं। **हरिदीक्षित** भट्टोजि के पौत्र थे। अधिक से अधिक उनका पचास वर्ष का अन्तर माना जा सकता है। **हरिदीक्षित** और **नागेश** साथ-साथ और एक समय में ही लिख रहे थे, यह बात इससे सिद्ध होती है कि दीक्षित ने **'लघुशब्दरत्न'** में अपने **'बृहच्छब्दरत्न'** और नागेश के **'लघुशब्देन्दुशेखर'** का उल्लेख किया है। बहुत हो तो, इन दोनों का भी पच्चीस वर्ष का अन्तर माना जा सकता है। दूसरे शब्दों में, भट्टोजि और नागेश का अन्तर पचहत्तर वर्ष से अधिक किसी भी दशा में नहीं बैठता। अर्थात्, बहुत खींचने पर भी उनका काल किसी भी तरह १५७० ई० से पहले नहीं जाता; क्योंकि मीमांसक जी के मत में 'नागेश' का समय इधर-उधर नहीं किया जा सकता। इसका एक कारण यह है कि उनके शिष्य **बालशर्मा** कोलब्रुक के

समकालीन थे। कोलब्रुक का भारतवास का समय १७८३-१८१५ ई० है। अतः नागेश उससे कुछ ही पहले माने जा सकते हैं। कदाचित् इसी आधार पर डा० बेल्वेल्कर ने भट्टोजि का काल १६०० ई० और १६५० ई० के बीच रखा है।

शेषकृष्ण कौन ?

मीमांसक जी द्वारा दी हुई वंशावली और सारे प्रमाणों को पढ़कर हमें जो गलती समझ में आई है, वह यह कि उन्होंने कृष्णसूरि को, शेषकृष्ण न मानकर उससे लगभग ७५-१०० वर्ष पहले के 'कृष्ण' को भट्टोजि का गुरु शेषकृष्ण मान लिया है। उनके सारे प्रमाण 'शेष' वंश से सम्बद्ध व्यक्तियों के ही हैं, किसी निर्णायक व्यक्ति के नहीं। यदि हमारा सुझाव स्वीकार कर लिया जाए, तक भट्टोजि का काल हमारी गणना के अनुसार बड़ी सरलता से १५६० ई० के बाद रखा जा सकता है।

जगन्नाथ समकालीन

एक बात यह है कि जगन्नाथ पण्डितराज उनके सतीर्थ्य और समकालीन भी थे। उनका समय अभयंकर ने ईसा की सोलहवीं शती माना है। इसकी प्रामाणिकता कीथ स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार भट्टोजि और पण्डितराज का समय १६५० के लगभग बैठता है। अतः अभयंकर के मत में जो सौ साल पहले पण्डितराज को माना गया है या तो वह गलत है; या फिर भट्टोजि को पण्डितराज से सौ साल बाद हुआ मानना गलत है। एक सदी का अन्तर दोनों में नहीं माना जासकता। पर, उधर मीमांसक जी का मत भी इस लिए ठीक नहीं है कि वे हमें अकबर के काल से भी पहले, बल्कि बाबर (१५२६ ई०) से भी पहले, भट्टोजि और पण्डितराज की उपस्थिति का भान कराना चाहते हैं। जब कि सच यह है कि पण्डितराज निश्चय ही १६०० ई० से कुछ ही पहले रखे जा सकते हैं। अतः उचित होगा कि हम डा० बेल्वेल्कर के अनुसार उनका समय १६०० ई० ही मानलें, या २० वर्ष पहले तक ले जाएं। इससे अधिक पहले नहीं !

परिचय

इस चर्चा में हमने पण्डितराज जगन्नाथ के प्रमाण पर आश्रित इस तथ्य का उल्लेख किया है कि वे दोनों शेषवंश के किन्हीं 'कृष्ण' के शिष्य थे। हमने

इन्हें 'कृष्णसूरि' से अभिन्न माना है। अन्यथा, कालगणना में गड़बड़ पड़ती है।[1]

भट्टोजि महाराष्ट्र के ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर और छोटे भाई का नाम रंगोजि था। इनके पुत्र वीरेश्वर के भी पुत्र हरिदीक्षित ने इनकी 'प्रौढ़मनोरमा' पर ही 'बृहच्छब्दरत्न' और 'लघुशब्दरत्न' नाम की दो टीकाएं लिखीं। उनके ही शिष्य थे प्रसिद्ध वैयाकरण नागोजी भट्ट या नागेश ! रंगोजि के पुत्र और भट्टोजि के भतीजे थे कौण्डभट्ट, जिन्होंने 'वैयाकरण-भूषण' जैसे व्याकरण के दार्शनिक ग्रन्थ की रचना की। उन्होंने 'शब्दकौस्तुभ' और 'वाक्यपदीय' का आधार लेकर ही यह रचना की।

भट्टोजि ने अनेकानेक ग्रन्थ लिखे। किन्तु, यहाँ हम केवल दो का ही उल्लेख करेंगे। इन दोनों का हम पहले नामोल्लेख कर आए हैं : शब्दकौस्तुभ और सिद्धान्तकौमुदी। 'प्रक्रिया ग्रन्थों' के अगले अध्याय में हम 'सिद्धान्तकौमुदी' पर पृथक् से लिखेंगे।

शब्दकौस्तुभ

महाभाष्य, त्रिपदी और प्रदीप की चर्चा के प्रसंग में हम देख आए हैं कि उन सबका अपना-अपना महत्त्व है। नागेश का 'प्रदीपोद्योत' भी इस दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। किन्तु, इस पर भी इस सत्य से निषेध नहीं किया जा सकता कि भट्टोजि के 'शब्दकौस्तुभ' का स्थान इन सबसे भिन्न और अपने ढंग का अनूठा है। यह पहला ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें 'महाभाष्य' की परम्परागत विषय-विभाग-शैली को अपनाकर भी उसकी पंक्ति-पंक्ति पर टिप्पणी नहीं की गई। इसी प्रकार, 'त्रिपदी' और 'वाक्यपदीय' से भी जगह-जगह सहायता ली गई है। इसपर भी, यह उनकी व्याख्यामात्र बनकर नहीं रह गया। इसमें 'प्रदीप' के वचनों पर भी अनेकत्र ध्यान दिया गया है; किन्तु उसका अनुकरण इसमें नहीं किया गया। नागेश का तो किसी सीमा तक प्रेरणास्रोत ही रहा है यह ग्रन्थ। इसका कुछ ऐसा व्यक्तिगत वैशिष्ट्य है कि यह इन सबसे अलग अपना अस्तित्व बनाए हुए है। किन्तु, मीमांसक ने इसी ग्रन्थ को 'अष्टाध्यायी का वृत्तिग्रन्थ' कहा है, 'महाभाष्य का व्याख्याग्रन्थ' या 'भाष्य' नहीं। पता नहीं, उन्होंने किस आधार पर ऐसा कह दिया ? लगता है, कहीं कुछ भूल उनसे अवश्य हो गई है।

—इसकी कुछ संक्षिप्त परीक्षा करनी उचित रहेगी।

शैली

सर्वप्रथम इसके शैलीवैशिष्ट्य को समझना आवश्यक है। एक ओर, इसमें आह्निकों की सीमा और विषय 'महाभाष्य' के समान ही रखा गया है। आलोच्य वस्तु भी स्वयं महाभाष्य ही है। किन्तु, दूसरी ओर, प्रत्येक आह्निक में महाभाष्योक्त पदार्थ में से कुछ गिनी-चुनी बातों को ही विवाद या विस्तृत व्याख्या के लिए आधार रूप में चुना गया है। शेष को तो उल्लेखमात्र करके छोड़ दिया गया है।

यथा, प्रथम आह्निक में 'अथ शब्दानुशासनम्' से आरम्भ होते ही 'अथ' के 'अव्यय' रूप पर विस्तार से विचार किया गया है। किस प्रकार 'अव्यय' द्योतक भी हो सकते हैं, और कहां वे वाचक हो जाते हैं? इन सब बातों पर विचार करके, तब 'अथ' के इस स्थान पर प्रयोग का महत्त्व समझाया गया है। उनकी अन्तिम टिप्पणी इस विषय में है: "अस्तु वा मतान्तरं, निपाता वाचका इति। सर्वथापि प्रादयो द्योतकाश्चादयस्तु वाचका, इत्येवं रूपमर्थ-जातीयं नैयायिकाभ्युपगतमप्रामाणिकमेवेति दिक्।" और, तब वे 'अथ विषय-निरूपणम्' के द्वारा महाभाष्य या अष्टाध्यायी के मुख्य विषय की प्रस्तावना समाप्त करते हैं।

अगला प्रकरण 'शब्द' का है। किन्तु इसमें उन्होंने शब्द के 'स्फोट'-स्वरूप पर विचार किया है। यहाँ वे विस्तार के साथ स्फोट की विविध विधाओं की चर्चा करते हैं। इसी प्रसंग में भर्तृहरि के जाति-द्रव्य-विषयक मतों की समीक्षा करते हुए स्फोट के जाति और नित्य रूप पर विचार करते हैं। इस सारे विषय का वे 'इति स्फोटस्वरूपव्युत्पादनम्' के द्वारा समाहार करते हैं।

इसी प्रकार, शब्दों के 'साधुत्व-असाधुत्व' आदि विषयों में बाँट कर वे एक-एक आह्निक पर विचार करते हैं। इस शैली से केवल विषय ही अधिक स्पष्ट नहीं हुआ है; इस प्रकार के वस्तु-विभाजन के द्वारा नए ढंग से बात को समझाने का भी प्रयास किया गया है। हां, पुनरुक्ति और दोहराने से अवश्य बचा गया है। वार्त्तिकादि को सर्वत्र पूरी संख्या में और पूरी तरह उद्धृत नहीं किया गया है।

विषय

इस शैली की चर्चा में ही विषय की भी बात आ गई। भट्टोजि ने निपा-

विशेष पर ध्यान रखते हुए ही हर प्रसंग में प्रमुख विषयों को विशेष रूप में चुन लिया है। उन्हें ही वे पूरी तरह विवेचित करते हैं। इसी आधार पर उनके भतीजे और शिष्य कौण्डभट्ट को वह दिशा मिली, जिसका अनुगमन कर उन्होंने 'वैयाकरणभूषण' और 'वैयाकरणभूषणसार' की रचना की। उसमें धात्वर्थनिर्णय, लकारार्थनिर्णय, आदि जिन विषयों को उठाया गया है, उनका आधार भट्टोजि के इसी 'शब्दकौस्तुभ' में प्रस्तुत हुआ है। इसकी रचना से ही व्याकरण में 'वाक्यपदीय' के ढंग पर नए सिरे से चिन्तन की एक प्रवृत्ति फिर से जागी। अतः कहा जा सकता है कि शैली की दृष्टि से 'महाभाष्य' की परम्परा में रहकर भी, विषय की दृष्टि से यह 'वाक्यपदीय' की परम्परा में रहा है।

आकार और सीमा

यह दुर्भाग्य है कि यह ग्रन्थ हमें अखण्ड और पूर्ण रूप में नहीं मिलता। वर्त्तमान में यह खण्डित अवस्था में ही मिलता है। किन्तु, भट्टोजि इसकी रचना 'सिद्धान्तकौमुदी' से पहले कर चुके थे। कारण यह है कि उन्होंने ऐसा संकेत स्वयं 'सिद्धान्तकौमुदी' में दिया है। 'उत्तरकृदन्त' प्रकरण के अन्त में एक श्लोक में वे लिखते भी हैं: **'विस्तरस्तु यथाशास्त्रं दर्शितः शब्दकौस्तुभे'**। यह बात वे तभी लिख सकते थे, यदि उन्होंने 'शब्दकौस्तुभ' की रचना तब तक पूरी करली होती। ऐसा लगता है कि 'शब्दकौस्तुभ' की रचना के बाद उन्हें 'प्रक्रियाकौमुदी' की त्रुटियाँ अखरने लगीं। अतः विद्यार्थियों की सुविधा के लिए उस पद्धति पर ही 'सिद्धान्तकौमुदी' लिख डाली। और आश्चर्य नहीं कि उसमें भी वे पूर्णता पा गए। अतः 'शब्दकौस्तुभ' के पूरा लिखा जाने के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। न वैसा सन्देह होना ही चाहिए।

सिद्धान्तकौमुदी

परम्परा

उनका दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ सिद्धान्तकौमुदी है। कहा ही जा चुका है कि उनसे पूर्व प्रक्रियाग्रन्थों की एक परम्परा चालू हो चुकी थी। 'जैन शाकटायन-व्याकरण' पर 'प्रक्रियासंग्रह' के नाम से अभयचन्द्राचार्य का प्रक्रियाग्रन्थ मिलता है। यह सम्भवतः ईसा की ११वीं शती का है। पर, डॉ० अभयंकर

इसे १२ वीं सदी ई० का मानते हैं। पाणिनीय परम्परा में अब तक उपलब्ध प्रक्रियाग्रन्थों में यही सबसे प्राचीन प्रक्रियाग्रन्थ लगता है। इसके कुछ ही कालान्तर से धर्मकीर्ति का 'रूपावतार' लिखा गया। धर्मकीर्ति का काल हरदत्त और मैत्रेयके बीच, १०९० ई० के आसपास, रखा जा सकता है। एक अन्य ग्रन्थ 'प्रक्रियारत्न' का उल्लेख सायण की धातुवृत्ति में मिलता है। अन्यत्र भी इसका उल्लेख मिलता है। सायण का काल चौदहवीं शती माना गया है। अतः यह तेरहवीं शती की रचना तो मानी ही जा सकती है। तब आती है सबसे प्रसिद्ध, और भट्टोजि से पूर्व की, कृति 'प्रक्रियाकौमुदी', जिसका बहुत अंशों तक भट्टोजि ने अनुसरण किया है, और जिसमें अत्यधिक संक्षेप और अनिवार्यता को ही ध्यान में रखा गया है। इसके निर्माता रामचन्द्र का काल मीमांसक जी १४२३ ई० के लगभग मानते हैं। ई० १४६० से पूर्व ही भोजराज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' पर 'पदसिन्धुसेतु' नामक प्रक्रियाग्रन्थ भी लिखा जा चुका था।

महत्त्व

इस लम्बी परम्परा के बाद आता है भट्टोजि और उनकी 'सिद्धान्तकौमुदी' का स्थान। उनकी सिद्धान्तकौमुदी आज व्याकरण के नव अध्येताओं के लिए एकमात्र आश्रय बनी हुई है। इसके दो संक्षिप्त संस्करण भी—'मध्यकौमुदी' और 'लघुकौमुदी' के नाम से—परवर्ती विद्वानों ने तैयार किए। भट्टोजि की इस 'सिद्धान्तकौमुदी' का वास्तविक आधार रामचन्द्र की 'प्रक्रियाकौमुदी' ही है। हमने मिलान करने पर पाया कि अधिकांशतः वृत्ति आदि सभी कुछ उसी की अनुकृत हुई हैं। कहीं-कहीं कोई एकाध सूत्र आगे-पीछे, या वृत्ति में शब्दों को आगे-पीछे, कर दिया गया है। परन्तु फिर भी 'सिद्धान्तकौमुदी' की अपेक्षा 'प्रक्रियाकौमुदी' का प्रचार कम हुआ; यह आश्चर्य की ही बात है।

कारण

इसका एक कारण तो यह है कि भट्टोजि भाष्यादि के मतों को 'प्रक्रिया-कौमुदी' की अपेक्षा अधिक पूर्णता के साथ लेते हैं। संक्षेप दोनों में विद्यमान है। परन्तु 'सिद्धान्तकौमुदी' में पाणिनि के सभी सूत्रों को लेने का प्रयास है, जबकि 'प्रक्रियाकौमुदी' में बहुत से सूत्र छोड़ दिए गए हैं। 'महाभाष्य' की भावना का पूर्ण अनुकरण भी इस के प्रचार का एक कारण है।

टीकाकार भट्टोजि

टीका और प्रसिद्धि की दृष्टि से यद्यपि 'प्रक्रियाकौमुदी' किसी भी प्रकार 'सिद्धान्तकौमुदी' से कम नहीं है, फिर भी पठनपाठन में 'सिद्धान्तकौमुदी' को ही अधिक प्रचार और स्थान मिला है। इसका एक कारण यह है कि भट्टोजि ने स्वयं ही 'प्रौढमनोरमा' नामक टीका से इसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया को भाष्यानुसारिणी और गौरवमय बना दिया। विद्यार्थी और अध्यापक का कार्य 'प्रौढमनोरमा' ने अत्यन्त सरल कर दिया। इसमें महाभाष्यप्रोक्त सिद्धान्तादि का समावेश भी हो जाता है, किन्तु वे बोझ भी प्रतीत नहीं हो पाते।

सच तो यह है कि यह टीका ही भट्टोजि की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन है। मूल 'सिद्धान्तकौमुदी' तो अधिकांशतः 'प्रक्रियाकौमुदी' का ही रूपान्तर है। किन्तु, इस टीका ने उनके महत्त्व में सारा अन्तर ला दिया है। यदि 'प्रौढमनोरमा' टीका न होती, तो रामचन्द्र की 'प्रक्रियाकौमुदी' निस्संदेह अब भी सबसे अधिक प्रचार पाती।

सरलता

वास्तविकता यह है कि उस पर रची गई विट्ठल की टीका कई अंशों में 'प्रौढमनोरमा' से भी अधिक पूर्ण है। किन्तु, उस पूर्णता में पाण्डित्य का जो प्रदर्शनात्मक अंश सम्मिलित है, विद्यार्थियों के लिए वह सुगम नहीं है। न ही वर्त्तमान समय के 'त्वरिता वक्तारः' अध्यापक ही उसे अपने अनुकूल पाते हैं। इसके विपरीत, 'प्रौढमनोरमा' सभी के लिए ग्राह्य सरल विधि से लिखी गई है।

अतः हमारे विचार से 'सिद्धान्तकौमुदी' का महत्त्व उसकी भट्टोजि-विरचित टीका 'प्रौढमनोरमा' के कारण अधिक है। पर, इस टीका पर भी पचीस से ऊपर टीकाएं लिखी गई। आश्चर्यं किमतः परम् ?

भट्टोजि के इन दो ग्रन्थों से अधिक का परिचय देना हमें अभीष्ट नहीं प्रतीत होता।

नागोजी : नागेश

पीठिका

जिस तरह कैयट ने वास्तव में ही भर्तृहरिकृत त्रिपदी रूपी सेतु के

साहाय्य से 'भाष्याब्धि' को पार किया, और साथ-साथ काल के थपेड़ों से, या अल्पविद्यापरिग्रह विद्वानों के हाथों से, नष्टप्राय हो चुके 'भाष्य' और 'त्रिपदी' की भावना को संक्षेप के साथ हम तक पहुँचा दिया, उसी तरह नागेश ने प्रदीपोद्योत लिख कर न केवल 'प्रदीप' को ही सुरक्षित रखा, बल्कि उसकी भावना को फिर से विस्तार में ले जाकर 'महाभाष्य' के प्रति जनमानस की अभिरुचि को अपने तरीके से जगाने का यत्न किया। पर, नागेश का गौरव इतने में ही सीमित नहीं है। परिभाषेन्दुशेखर, बृहच्छब्देन्दुशेखर, लघुशब्देन्दुशेखर, लघुमंजूषा, परमलघुमंजूषा, स्फोटवाद और महाभाष्यप्रत्याख्यान-संग्रह के रूप में सात अन्य भी व्याकरण-सम्वन्धी ग्रन्थ उन्होंने लिखे हैं। अतः कहा जा सकता है कि नागेश की ख्याति का आधार केवल 'प्रदीपोद्योत' ही नहीं है।

वास्तविकता यह है कि अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शती के अर्वाचीन वैयाकरणों ने जिस प्रकार नव्य न्याय या तार्किकता के साथ व्याकरण को सम्वद्ध कर दिया, उसका पूरी तरह प्रतिष्ठापन नागेश ने ही किया। नागेश ने एक साथ इतने क्षेत्रों में कार्य करने की प्रेरणा संभवतः भट्टोजिदीक्षित के उदाहरण से ही पाई थी। भट्टोजि का पौत्र हरिदीक्षित था। यह वात मीमांसक जी ने ऑफ्रेख्ट के प्रमाण पर लिखी है। इसी हरिदीक्षित से नागेश ने व्याकरण का, एक अनुश्रुति के अनुसार, १८ वार अध्ययन किया था। अतः उनमें भी वही कर्मठता आनी स्वाभाविक थी।

नागेश की किसी भी कृति को पढ़लें, एक बार वह भर्तृहरि की सी ज्ञान-गरिमा की याद दिला देता है। वैदिक ज्ञान की बात को यदि छोड़ दें, तो व्याकरण, दर्शन, साहित्य, अलंकार, धर्मशास्त्र, आदि में तो वह परम निष्णात है। उनकी शैली में भले ही भर्तृहरि जितनी सरलता न हो, किन्तु व्यापकता में उसका ज्ञान उनसे किसी भी प्रकार कम नहीं है।

विवरण या उद्योत

नागेश स्वयं 'प्रदीप' की अपनी टीका को 'विवरण' नाम से कहता है। किन्तु, परवर्त्ती विद्वानों ने इसे 'उद्योत' नाम से ही कहा है। आरम्भ में नागेश इसे 'प्रदीपव्याख्यान' के रूप में कहते हैं।[1]

---

१. म० उ०, आरम्भ का चतुर्थ श्लोक, १.१.१।

विशेषताएँ : दार्शनिकता

इस 'व्याख्यान' या 'विवरण' की यह विशेषता है कि **भाष्याभिप्रायमात्र** को समझाना ही इसका लक्ष्य नहीं है। यह अभिप्राय तो **प्रदीप** से भी पूर्ण हो जाता है। किन्तु जहाँ उसमें कुछ बातें अस्पष्ट रह गई हैं, चाहे भाष्य में या 'दीपिका' में उनका संकेतमात्र होने के कारण ही सही, उन्हें पूरी तरह सोदाहरण और सव्याख्यान समझाने के साथ ही साथ **उद्योतकार नागेश** अपना कर्त्तव्य यह भी समझते हैं कि अब तक जिन पक्षों को बिल्कुल भी नहीं उठाया गया है, चाहे अज्ञान से या प्रमाद से अथवा उपेक्षा के कारण, उन्हें भी पूरी तरह उठाकर स्पष्ट कर दिया जाए। उनका विचारक रूप ऐसे स्थलों पर ही स्पष्ट होता है। स्पष्ट है कि वे वैयाकरण की सीमा से बढ़कर दार्शनिक बनना चाहते हैं। मज़ा यह है कि यह सब कुछ करते वे वैयाकरणों की शैली में ही हैं। अर्थात्, वैयाकरणों की भांति **प्रदीप**, **दीपिका**, या **महाभाष्य** की उक्तियों में ही च, वा, आदि के माध्यम से अवकाश निकाल कर।

नई सूचनाएँ

कई जगह वे नई सूचना भी देते हैं, जिसे देने के प्रामाणिक अधिकारी और विद्वान् भर्तृहरि थे; पर वे दे नहीं पाए। हो सकता है यह सूचना नागेश के अपने स्वाध्याय का परिणाम हो, या हरदत्तादि टीकाकारों अथवा प्राचीन वैयाकरणों के माध्यम से उन्हें मिली हो। ऐसी कुछ सूचनाएँ हम निम्न कुछ उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट करेंगे :

(१) **'केषां शब्दानाम्'** के महाभाष्यीय प्रश्न की भूमिका में वे एक सर्वथा नयी सूचना देते हैं : **'केषाम्, इति प्रश्नस्तु लौकिकमात्रविषयं शाकटायनादिशास्त्रमधिकृतम् उत वैदिकमात्रविषयं प्रातिशाख्यमिति, इति परे**[1]।' वास्तविकता यह है कि इस बात को 'प्रदीप' में उठाया भी नहीं गया है। पर **शाकटायन** के नामोल्लेख के बिना यह सारी बात 'त्रिपदी' की उपलब्ध प्रति की आरम्भिक पंक्तियों में कही गई है। शब्दों में अन्तर अवश्य है। हो सकता है कि त्रिपदी के उपलब्ध पन्नों से पहले के अनुपलब्ध पन्नों में यह बात नामोल्लेखपूर्वक कही गई हो। 'लौकिक' शब्दों के अन्वाख्यान की इस बात का सम्बन्ध पाल्यकीर्त्ति के 'शाकटायन व्याकरण' से भी जोड़ा जा सकता है।

---

१. महाभाष्य के 'केषां शब्दानाम् ?' के पूर्वापर प्रसंग पर त्रिपदी, प्रदीप और प्रदीपोद्योत की टिप्पणियाँ म० १.१.१ में देखें।

किन्तु, 'प्रातिशाख्य' के उल्लेख के साथ पढ़ने से शाकटायन और प्रातिशाख्यों की तुल्यकालिकता की सम्भावना अधिक बलवती हो जाती है।

(२) 'तस्माद् ध्वनिः शब्दः' के प्रसंग की चर्चा में प्रदीपकार भर्तृहरि के अभिमत को पूरी तरह स्पष्ट करने में समर्थ नहीं हो पाए, क्योंकि वे ध्वनि और स्फोट की त्रिपदीप्रोक्त या वाक्यपदीयप्रोक्त महत्त्वपूर्ण चर्चा को छूते तक नहीं। हाँ, उन्होंने ध्वनि और स्फोट के भेद की बातें बताकर 'इहाभेदेन व्यवहारेऽपि न दोषः' कहा है। किन्तु, नागेश यहाँ भी हमारी सहायता करते हैं। वे स्फोट और ध्वनि की चर्चा अपने ही ढंग से करते हैं: 'ध्वनिपदेनात्र वैखरी, स्फोटपदेनाभिव्यक्तकत्वादिको मध्यमावस्थ आन्तरः शब्द उच्यते।' इसी को भर्तृहरि ने कहा था: 'स्फोटः शब्दो ध्वनिस्तस्य व्यायामादुपजायते...एवंपरायां चोदनायां ध्वनिशब्दयोरन्यत्वे प्रयोजनाभावात् एकत्वेन व्यपदेशः।'[1]

तीनों का अपना व्यक्तित्व इस एक उक्ति में ही स्पष्ट है।

(३) 'चत्वारि' के नाम से दो मन्त्रों की व्याख्या महाभाष्य में हुई है। भर्तृहरि तो इसे 'नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च' भी नहीं कहते। बल्कि, सच्चे मौलिक व्याख्याकार की भांति अपनी छोटी सी टिप्पणी जोड़कर आगे चल पड़ते हैं: 'कर्मप्रवचनीयस्तु निपातेष्वन्तर्भूत इति चत्वार्युच्यन्ते।' कैयट चारों का उल्लेख अवश्य कर देते हैं, पर भर्तृहरि की इस मौलिक टिप्पणी को दोहराना वे भूल जाते हैं।

पर, नागेश के अन्दर का दार्शनिक सजग है। भला अपनी ओर से जिस चुभन को उसने अनुभव किया है, उसे वह क्यों न कहे? और, वह 'परापश्यन्तीमध्यमावैखर्यः[2]' के रूप में अपनी नवीन अनुभूति को कह ही देता है। यह बात नागेश के निजी और युगव्याप्त चिन्तन को व्यक्त करती है।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उनसे पहले परा, पश्यन्ती, आदि वाणी के चार पदों का ज्ञान भर्तृहरि या कैयट को नहीं था। पता होते हुए भी उन्होंने उसका उल्लेख इस प्रकरण में नहीं किया। इन चारों चरणों का ज्ञान तो वैदिक काल से ही था; भले ही उनका नामोल्लेख उस रूप में नहीं मिलता। भर्तृहरि ने इनमें से परवर्ती तीन चरणों को 'व्याकरण का क्षेत्र' घोषित

---

१. म० १.१.१ के 'तस्माद् ध्वनिः शब्दः' पर सम्बद्ध टिप्पणियाँ।

२. म० १.१.१ के 'चत्वारि' प्रयोजन पर उक्त भाष्यों की टिप्पणियाँ।

किया है। 'शब्दकौस्तुभ' के रचयिता भट्टोजि भी इस सारे प्रसंग को अछूता ही छोड़ जाते हैं। अतः कम से कम नागेश ने इस स्थल पर उन चरणों का उल्लेख अपनी प्रतिभा के वल पर ही किया है।

इस प्रकार के अनेकानेक उद्धरण प्रत्येक चर्चा में दिये जा सकते हैं, जिनसे यह पता चलता है कि कैयट जितने 'त्रिपदी' पर आश्रित थे, नागेश उतने ही 'प्रदीप' पर आश्रित न थे; बल्कि वे स्वतन्त्रता के साथ वढ़े जा रहे थे।

जीवन और रचनाकाल

नागेश भट्ट का काल अभयंकर और मीमांसक ने १६५५ ई० और १७४० ई० के बीच तय किया है। इस विषय में अधिक विवाद की संभावना नहीं है। कारण यह है कि उनके शिष्य बालशर्मा को कोलब्रुक (१७८३-१८१५ई०) का समकालीन माना है। उन नागेश का रचना-काल इससे ६०-६५ वर्ष पूर्व से स्वीकार किया जा सकता है। अतः स्वाभाविक है कि उनका रचनाकाल भी १६८० ई० के वाद की ठहरता है। 'महाभाष्यप्रदीपोद्योत' में नागेश अपने रचे ग्रन्थों लघुमंजूषा और शब्देन्दुशेखर की ओर इंगित करते हैं। स्पष्ट है कि वे इनका निर्माण पहले ही कर चुके थे। उन्हें प्रयाग के समीपवर्त्ती शृंगवेरपुर के राजा रामसिंह से जीविका प्राप्त होती थी। उनके पिता शिवभट्ट थे, और माता का नाम सती था। उनके गुरु हरिदीक्षित थे। जीवन के अन्तिम दिनों में वे संन्यासी वन गए थे। लगता है, उनके सन्तान कोई न थी। इसीलिए 'लघुशब्देन्दुशेखर' के अन्त में वे 'शब्देन्दुशेखर' को अपना पुत्र और 'मंजूषा' को अपनी कन्या वताकर कहते हैं कि उन्हें मैंने अपने माता-पिता के अर्पित कर दिया है।

ये महाराष्ट्र के सतारा जिले के तासगांव के थे। जात्या ब्राह्मण थे। अंतिम दिनों बनारस में रहे थे। इतना ही परिचय इनका उपलब्ध होता है। अभयंकर के अनुसार इनकी समस्त छोटी-बड़ी रचनाओं की संख्या एक सौ से ऊपर जा बैठती है। इनके शिष्यों में प्रमुख थे वैद्यनाथ पायगुण्ड और उनका पुत्र बालशर्मा।

शास्त्रार्थों में ये चरम सिद्ध थे। इनमें विजयी होने के कारण ही इन्हें 'सभापति' की उपाधि मिली।

अन्य रचनाएं

यहां हम संक्षेप में इनकी सर्वप्रसिद्ध दो कृतियों का परिचय देना उचित समझते हैं, यद्यपि इनका प्रसंग यहां नहीं है।

शब्देन्दुशेखर

महाभाष्य पर टीका के रूप में 'प्रदीपोद्योत' को लिखने से पूर्व नागेश ने अपने गुरु हरिदीक्षित के पास रहते हुए ही उनके पितामह भट्टोजिदीक्षित की रचित 'सिद्धान्तकौमुदी' पर एक विस्तृत विवेचनात्मक ग्रन्थ 'लघुशब्देन्दुशेखर' के नाम से लिखा। 'गुरुचरणों में रहते हुए' इसलिए कहा कि ऐसा संकेत हरिदीक्षित ने 'सिद्धान्तकौमुदी' की आत्मकृत 'लघुशब्दरत्न' नामक टीका में एक जगह दिया है। वे लिखते हैं: **'विस्तरस्तु अस्मत्कृते बृहच्छब्दरत्ने मदन्तेवासिकृतलघुशब्देन्दुशेखरे च द्रष्टव्यः।'**

परन्तु, 'उद्योत' में नागेश इसे 'शब्देन्दुशेखर' के नाम से ही कहते हैं। लघु और 'बृहत्' का प्रयोग उन्होंने नहीं किया है। इससे पता चलता है कि गुरु द्वारा प्रणीत लघु और बृहत् दो 'शब्दरत्नों' के अनुकरण पर नागेश ने भी बाद में 'सिद्धान्तकौमुदी' की अत्यन्त विस्तृत टीका 'बृहच्छब्देन्दुशेखर' के नाम से लिखी। परन्तु, वैयाकरणों में उसके 'लघुशेखर' को ही अधिक मान मिला। यह पढ़ने में संक्षिप्त होने के अतिरिक्त सरल भी है। इसका नाम 'शेखर' भी प्रचलित है।

मौलिक दृष्टि

इस 'शेखर' में मौलिक दृष्टि भी देखते ही बनती है। माहेश्वर सूत्रों के विषय में इसका यह वक्तव्य कितना ताजगी देने वाला है: **'माहेश्वराणीति। महेश्वरादागतानीत्यर्थः, महेश्वरप्रसादफलितानीति लब्धम्। एवं चैवमानुपूर्वीका श्रुतिरेषा। तत्प्रसादात्पाणिनिना लब्धा। श्रुतिमूलकत्वादस्यैव वेदाङ्गत्वम्। अत्र प्रमाणं—'येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्, कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं इति शिक्षावचनम्'।...'लण्सूत्रे णकारविषयाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति 'व्याख्यानत' इति इत्यादावाचार्यपदेन महेश्वरः। अनुबन्धाश्च महेश्वरकृता एवेत्यनुपदं स्फुटीभविष्यति।'**[1]

---

१. शब्देन्दु०, पृ० १६।

बात यह है कि इन सूत्रों को माहेश्वर सूत्र कहने की भी प्रवृत्ति पहले से रही है, और साथ ही प्रत्याहारादि के विषय में 'आचार्य' का पद और गौरव-पाणिनि को भी दिया जाता रहा है। यह एक विरोधाभास है। नागेश का युवक मन इस विरोधाभास का हल ढूंढने के लिए व्यग्र हो उठता है। वह हल निकाल लेता है : 'अक्षरसमाम्नाय' शब्द के प्रयोग से। आम्नाय और समाम्नाय का अर्थ उसकी दृष्टि में वेद ही होता है। वह 'समाम्नाय' का निरुक्तप्रोक्त अर्थ स्वीकार नहीं करता। और, जब 'अक्षरसमाम्नाय' का सम्बन्ध वेद से है, तब 'महेश्वर' भी अनादि कर्त्ता ही हो सकता है। और, उस दशा में 'आचार्य' का अर्थ पाणिनि कैसे हो सकता है? अतः वह 'आचार्य' शब्द का अर्थ 'महेश्वर' करता है।

और, उसका यह अर्थ निराधार नहीं है। भर्तृहरि उसे यहां भी आधार देते हैं। वह उनका कथन इस प्रकार उद्धृत करता है : "सोऽयमक्षरसमाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डितो ब्रह्मराशिरिति यथैवेदमव्युच्छिन्नं चन्द्रतारकादि, एवमस्याक्षरसमाम्नायस्य न कश्चिदाधुनिकः कर्त्तास्ति। एवमेव वेदपारम्पर्येण इति[1]"। इसमें पहला अंश पतंजलि का है, और बाद की टिप्पणी भर्तृहरि की है। 'वेदपारम्पर्येण' की जगह भर्तृहरि की 'त्रिपदी' के सम्पादक श्री स्वामिनाथन् ने इसे 'वेदं पारम्पर्येण' कर दिया है; जिससे सारी भावना ही पलट जाती है[2]। 'आधुनिकः' शब्द भी वर्त्तमान प्रति में नहीं है। 'आधुनिकः' का अर्थ नागेश करते हैं 'शरीरी'[3]।

कितनी सप्रमाण और कितनी नई प्रतीत होने वाली पहुंच है! ऐसे उदाहरण इस ग्रन्थ में भरे पड़े हैं। अतः यह कहना अनुचित नहीं है कि 'शेखर' में नागेश केवल 'सिद्धान्तकौमुदी' से बंधकर ही नहीं चले हैं।

इनके प्रदीपोद्योत की अनेक व्याख्याएँ हुईं। इनमें अतिप्रसिद्ध है 'छाया', जिसे नागेश के शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्ड ने लिखा।

परिभाषेन्दुशेखर

नागेश्वर, नागोजी या नागेश भट्ट द्वारा लिखित ग्रन्थ पाणिनीय व्याकरण

---

१. वही, पृ० २१।
२. महाभाष्यटीका, पृ० १०८, द्वितीय आह्निक।
३. प्रदीपोद्योत, म० १.१.२।

में ज्ञापक और न्याय के रूप में मान्य और प्रचलित परिभाषाओं की व्याख्या करता है। गोल्डस्टुकर ने ज्ञापक और न्याय को 'परिभाषा' से भिन्न मानकर उनकी व्याख्या भिन्न ढंग से की है। किन्तु, नागेश के वचनों में इतना सारल्य और ऋजुता है कि उसे भ्रान्त समझना सम्भव नहीं है। उसके अनुसार पहले के ऐन्द्रादि व्याकरणों में जो 'वाचनिक' अथवा सूत्रकारों द्वारा कृत सूत्र थे, उन्हें पाणिनीयतन्त्र में ज्ञापक और न्याय के रूप में ग्रहण कर लिया गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि पाणिनीय व्याकरण में 'ज्ञापक' और 'न्याय' से भिन्न अन्य कोई ऐसा सूत्र नहीं है, जो पहले के व्याकरण से न चला आ रहा हो! 'परिभाषा' शब्द ही इस बात को स्पष्ट कर रहा है कि यहां किन्हीं विशिष्ट प्रकार के सूत्रों का ही उल्लेख किया जा रहा है, जिन्हें 'अधिकार' के अन्तर्गत 'परिभाषा' माना गया है, और जिनका स्थान, आनुपूर्वी क्रम से किसी एक विशिष्ट स्थल पर न होकर भी, सर्वत्र स्वीकार किया जाता है। अथवा, जिनका परिगणन पाणिनि ने कहीं भी नहीं किया है, किन्तु फिर भी उनका अस्तित्व स्वीकार किया गया है। इस विषय में नागेश के ये वक्तव्य अवधेय हैं:

(१) 'प्राचीनवैयाकरणतन्त्रे वाचनिकान्यत्र पाणिनीयतन्त्रे ज्ञापकन्यायसिद्धानि भाष्यवार्त्तिकयोरुपनिबद्धानि यानि परिभाषारूपाणि तानि व्याख्यायन्ते।'

(२) 'अधिकारो नाम त्रिप्रकारः। कश्चिदेकदेशस्थः सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति, यथा प्रदीपः सुप्रज्वलितः सर्वं वेश्माभिज्वलयतीति।' इत्यादि।

मौलिकता

इससे उनकी सरलता और मौलिकता पता चलती है। परिभाषाओं पर इससे पहले भी कार्य हुए थे। किन्तु, ऐसा संक्षेप और ऐसी ताज़गी हर जगह दिखाई नहीं देती। इसकी व्याख्या भी नागेश और उनके पच्चीस से अधिक शिष्य-प्रशिष्यों ने की; यह एक अद्भुत बात ही लगती है। पर, कदाचित् इसके बिना शिष्यों को शिष्यत्व से उऋण होने का जैसे कोई अन्य मार्ग ही न मिल पाया हो। इनमें से वैद्यनाथ पायगुण्ड की 'गदा', भैरवमिश्र की 'मिश्री', एवं राघवेन्द्राचार्य गजेन्द्रगडकर की 'त्रिपथगा' अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त अनेक विद्वानों ने 'टीका', 'व्याख्या', 'विवृति' या 'टिप्पणी' के नाम से बहुत सी टीकाएं लिखी हैं।

इस परिभाषेन्दुशेखर में जो ताज़गी है, वह सीरदेव की 'परिभाषावृत्ति' में भी उतनी नहीं है। व्याकरण के विद्यार्थियों के लिए इसका अपना ही महत्त्व है। नागेश के अन्य ग्रन्थों की चर्चा करना हम आवश्यक नहीं समझते।

स्वामी दयानन्द सरस्वती

पीठिका

इस चर्चा में स्वामी दयानन्द को सम्मिलित करना उचित भी कहा जा सकता है, और नहीं भी। वास्तविकता यह है कि मीमांसक जी ने उन्हें, शब्दकौस्तुभकार भट्टोजि की भाँति, **अष्टाध्यायी के वृत्तिकारों** में स्थान दिया है। उधर, 'वेदाङ्गप्रकाश' के चौदह खण्डों की रचना के कारण उनका स्थान **'प्रक्रियाकारों'** में भी गिना जासकता है। परन्तु, प्रस्तुत प्रसंग में विचारार्ह उनके ग्रन्थ का नाम है, **'अष्टाध्यायीभाष्यम्'**। इसका अर्थ हुआ कि लेखक स्वयं अपने ग्रन्थ को, केवल **वृत्तिग्रन्थ** न मानकर, **भाष्यग्रन्थ** मानता है। तब चाहिए यह था कि हम उन्हें 'पतंजलि' के समकक्ष रखकर विचार करते। किन्तु यह इस कारण सम्भव नहीं है कि उन्होंने भर्तृहरि आदि की अपेक्षा कोई नई और आधारभूत सामग्री प्रस्तुत नहीं की है। प्रत्युत महाभाष्य के सारे परिणामों और निष्कर्षों को ध्यान में रखकर वे अपने भाष्य की रचना में प्रवृत्त हुए।

हां, वृत्ति से उनका भाष्य दो बातों में मिलता है : **पाणिनि सूत्रों की अविकल रूप से व्याख्या करने में, और उनमें से ही पूर्णता पाने की खोज में!** किन्तु, दूसरी ओर, भाष्य की शैली भी उसमें अनुकृत हुई है : **वृत्ति के अतिरिक्त अन्य सम्बद्ध समस्याओं को उठाकर उनका हल देने में, और अपनी ओर से नई सूचना देने में।** 'महाभाष्य के टीकाकारों' में हम इसलिए उन्हें रख रहे हैं कि अन्ततः उनका आधार भी पतंजलि के महाभाष्य पर ही रहा है।

परिचय

स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवन-परिचय अधिक विस्तार से देने की आवश्यकता हम इसलिए नहीं समझते कि वे इसी युग की विभूति थे, और इतने विख्यात थे कि उनके पूरे जीवन-चरित तक उपलब्ध होते हैं। फिर भी, संक्षिप्त परिचय दे देना अभीष्ट होगा।

गुजरात के सौराष्ट्र भाग के टंकारा नामक नगर में, जो उस समय मोरवी राज्य में था, एक सामवेदी औदीच्य ब्राह्मण के घर इनका जन्म हुआ। चौदह वर्ष की आयु में ही घरबार छोड़कर ज्ञान की खोज में निकल पड़े। एक अन्य सूचना के अनुसार उन्होंने घर बाईस वर्ष की आयु में छोड़ा था।

स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती से संन्यास लेने पर इनका नाम दयानन्द सरस्वती पड़ा। अनेक वर्ष पर्वतों और वनों में साधना और ज्ञानार्जन की खोज में भटकने, और देश की राजनैतिक क्रांति में अपनी यत्किंचित् आहुति देने, के बाद सच्चे ज्ञानार्जन की टोह में उन्होंने मथुरा के दण्डी स्वामी विरजानन्द की कुटिया के द्वार खटखटाए। यहां उन्होंने लगभग ढाई वर्ष तक नए सिरे से पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन किया। यूं तो बचपन से ही वे इस को, वेदाध्ययन के साथ ही, पढ़ते आए थे। किन्तु अब जैसे आंखें ही खुल गईं।

अब की बार जब स्वामी जी बाहर आए, तब न केवल व्याकरण के क्षेत्र में ही लुप्तप्राय महाभाष्य और काशिकादि के माध्यम से पाणिनीय व्याकरण के अध्ययनाध्यापन पर बल देने लगे, बल्कि आमूल भारतीय संस्कृति और साहित्य के सही और वैज्ञानिक मूल्यांकन पर भी उन्होंने बल दिया। आर्यसमाज के संस्थापक के रूप में उन्होंने एक महान् सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। वे सारी शिक्षा-पद्धति को नए सिरे से गठित करना चाहते थे, और उसमें पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' को सर्वप्रथम और महत्त्व का स्थान देते थे। इसी प्रसंग में उन्होंने 'सिद्धान्तकौमुदी' के अध्ययनाध्यापन का कड़ा विरोध किया। और, स्वयं अत्यन्त प्रयत्न के साथ उन्होंने 'वेदाङ्गप्रकाश' के रूप में समस्त प्रक्रिया और तत्सम्बद्ध ग्रन्थ लिखे। उन्होंने ही 'पाणिनीय अष्टाध्यायी' का उक्त भाष्य लिखा।

उनका जन्म १८२४ ई० और देहत्याग १८८३ ई० में हुआ। उनका रचनाकाल १८६९ ई० से मृत्युपर्यन्त गिना जा सकता है।

भाष्य

स्वामीजी द्वारा लिखित अष्टाध्यायी के स्वरूप की कुछ चर्चा हमने प्रथम और द्वितीय अध्याय के अन्त में ही की है। उनके 'भाष्य' के सम्पादक श्री ब्रह्मदत्त 'जिज्ञासु' की सूचनानुसार मृत्यु से दो वर्ष पूर्व तक के स्वामी जी के पत्रों से पता चलता है कि उनका यह भाष्य १५ अगस्त १८७५ ई० में आरम्भ होकर २४ अप्रैल १८७९ तक चार अध्यायों तक पूर्ण हो चुका था।

उस समय स्वामी जी इसका मुद्रण कराने के लिए व्यग्र थे। पर ग्राहकों के लिए वार-वार विज्ञापन करने पर भी जब उनका प्रयास सफल न हुआ, तब उन्होंने इसकी रचना इसके प्रकाशित होने तक रोक दी लगती है। मृत्यु के कुछ पहले भी उनकी इच्छा थी कि **यजुर्वेद भाष्य** पूरा होते ही इसको छपवाना आरम्भ करेंगे।

लगता है तभी उन्होंने शेष भाग लिखने का उपक्रम किया होगा। किन्तु काल वलवान् निकला। अतः भाष्य चौथे अध्याय तक ही रह गया। कम से कम हमें यह यहीं तक मिलता है। इसमें से भी हस्तलिखित लगभग ११३ पत्र गायब हो चुके हैं। किसके प्रमाद से यह हुआ, नहीं कहा जासकता। किन्तु है यह अत्यन्त दुर्भाग्य की बात। इससे भी अधिक दुर्भाग्य की बात यह है कि किसी भी पाठ्यक्रम में स्वामीजी के आर्ष, संक्षिप्त और प्रामाणिक भाष्य को स्थान तक नहीं मिला। हमें तो यह भाष्य एकदम हृदयहारी और चमत्कारी लगा। काश, व्याकरण का आदर्श इस प्रकार के पाठों से ऊँचा उठाया जासकता!

अन्य ग्रन्थ

हम कह चुके हैं कि स्वामी जी ने 'वेदाङ्गप्रकाश' के नाम से 'वर्णोच्चारण शिक्षा' (पाणिनीय सूत्रमय शिक्षा) से लेकर 'गणपाठ' तक चौदह ग्रन्थ, वैदिक और स्वरप्रक्रिया के ग्रन्थों समेत, व्याकरण के विषय पर लिखे। उनकी दृष्टि में व्याकरण के पूर्ण अधिकार के विना वेदों को समझना अत्यन्त कठिन है।

इसके अतिरिक्त उन्होंने वेदों के **भाष्य, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सत्यार्थ-प्रकाश, संस्कारविधि**, आदि अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनकी चर्चा यहां प्रसंग-बाह्य होगी। महाभाष्य या **भाष्य** की परम्परा में वे अन्तिम लेखक ठहरते हैं।

अष्टाध्यायी के वृत्तिकार

पीठिका

हम पहले कह आए हैं कि महाभाष्य के बनने से पूर्व ही अनेक वृत्तियाँ पाणिनीय 'अष्टाध्यायी' पर बन चुकी थीं। **मीमांसक** का कहना है कि कम से कम **तीन** वृत्तियां ऐसी अवश्य ही बन चुकी थीं। किन्तु, हमें तो ऐसा लगता है कि जैसे हर आचार्य ही 'वृत्ति' को लिखना अपना कर्तव्य मानता रहा हो। मानो शिष्यों को पढ़ाने के लिए हर गुरु या आचार्य अपने ढंग से व्याख्या करना अपना कर्तव्य मानता रहा हो। ऐसा करना कोई आपत्ति की बात भी नहीं है। हमें इसका संकेत आधुनिक युग के अतिरिक्त उस प्राचीन युग से भी मिलता है, जिसका उल्लेख पतंजलि करते हैं। उन्होंने स्पष्ट ही **आपिशलाः, पाणिनीयाः, व्याडीयाः, भारद्वाजीयाः, रौढीयाः,** आदि का पाठ किया है। भर्तृहरि रही-सही कमी पूरी कर देते हैं। **'यः पतंजलिशिष्येभ्यो'**[1] कहकर वे हमें पतंजलि की शिष्य-परम्परा का भी स्मरण कराते हैं। पर, आश्चर्य की ही बात है कि इन्हीं **'शिष्यों'** के हाथों **'वृत्तिभेद'** को प्राप्त होकर आचार्यों के ग्रन्थ प्रायः नष्ट या भ्रष्ट भी होते रहे हैं। ये शिष्य अपनी-अपनी समझ के अनुसार अर्थ या अनर्थ करते रहते हैं। **पतंजलि** इन समस्याओं को जानते थे। इसीलिए उन्होंने विविध परम्पराओं का उल्लेख स्वभावतः व्याख्याभेदों या पाठभेदों के रूप में किया है। वहां 'पठन्ति' का स्पष्ट अर्थ उनकी अपनी परम्परा के ग्रन्थों के पाठ से है।

यह सब इसलिए कहना पड़ा कि 'वृत्ति' का उद्भव स्पष्ट किया जासके! वास्तव में 'वृत्ति' का संज्ञाकरण अन्वर्थक हुआ है। किसी वक्तव्य का जो अर्थ हम समझते हैं, वही हमारे लिए 'वृत्ति' है। परन्तु, यह कैसे कहा जा सकता है कि ग्रन्थकर्त्ता को भी वही अभिप्रेत था या नहीं? अतः 'वृत्ति' का लेखक वास्तव में अपने **स्वाभिप्राय** को, या अपनी समझ में आए सार को, ही, स्पष्ट करता है। 'भाष्य' में वह, अपने कथन और मूल ग्रन्थकार के कथन के अतिरिक्त, अन्य विद्वानों द्वारा व्यक्त **'अभिप्राय'** का भी अनुशीलन करता है।

---

१. वा० २.४८२।

आधार की व्यापकता का यह भेद ही 'वृत्ति' और 'भाष्य' के स्वरूप में अन्तर का कारण है।

प्रसंग

पाणिनि के प्रसंग में हम कुछ प्राचीन और मध्यकालीन वृत्तिकारों का नामोल्लेख या संक्षिप्त उल्लेख कर आए हैं। यहां हम कुछ विशिष्ट **'वृत्तियों'** और **'वृत्तिकारों'** का उल्लेख, कुछ अधिक विस्तार के साथ एवं उनके परिचय-पूर्वक, करना चाहेंगे। इसके लिये हमने **काशिका, भागवृत्ति, न्यास, पदमंजरी, भाषावृत्ति, दुर्घटवृत्ति, मिताक्षरा** और **व्याकरणदीपिका** को, और उनके लेखकों को, चुना है। यह सूची छोटी भी है और प्रतिनिधि भी। यद्यपि जहां तक वृत्तियों के निर्माण का प्रश्न है, आजतक भी 'वृत्तियां' वन रही हैं। और, आगामी युग में भी इस प्रक्रिया को रोका नहीं जासकेगा। सबसे प्रथम हम **'भागवृत्ति'** और उसके कर्त्ता को लेंगे, क्योंकि उसका काल भर्तृहरि के लगभग समकाल ही बैठता है।

भागवृत्ति : भर्तृहरि

पीठिका : नामसाम्य

भर्तृहरि की चर्चा के प्रसंग में हम कह आए हैं कि **भागवृत्तिकार** और भर्तृहरि दो व्यक्ति हैं; यद्यपि **नामसाम्य** के साथ उनका क्षेत्र भी समान है। **मीमांसक** का यह अनुमान सत्य होसकता है कि कदाचित् **प्रसिद्धि** भी दोनों की **समान** ही रही होगी। जन-सामान्य के लिए, ऐसी स्थिति में, दोनों को एक मान बैठना कोई आश्चर्य की वात न रही होगी। सामान्य जन उनकी शैली आदि के अन्तरंग की सूक्ष्म परीक्षा कहाँ कर सकते हैं? अतः इत्सिंग ने यदि भर्तृहरि के व्याकरण-ग्रन्थों और जीवन-सम्बन्धी किंवदन्तियों को जानने के उपरान्त, 'भागवृत्तिकार' की मृत्यु के विषय में कभी यह भी जान लिया हो कि 'वैयाकरण भर्तृहरि तो अभी चालीस वर्ष पहले ही मरा है', तो क्या आश्चर्य कि वह दोनों में अन्तर पहचानने के लिए किसी विद्वान् की शरण में न भी गया हो। उसकी दृष्टि में इतनी सूचना भी पर्याप्त रही होगी। संदेह और शंका होने पर ही उसके निवारण का प्रश्न उठता है। जब कोई निःशंक होकर किसी तथ्य को सत्य मान बैठे, तब शंका का अवकाश कहाँ?

परिचय

भागवृत्तिकार भर्तृहरि वलभी के श्रीधरसेन नाम के किसी राजा के शासनकाल में हुए थे। उसके कर्त्ता के विषय में 'भाषावृत्ति' का टीकाकार सृष्टिधराचार्य लिखता है—'भर्तृहरि ने श्रीधरसेन की आज्ञा से 'भागवृत्ति' की रचना की' : 'भाषावृत्तिर्भर्तृहरिणा श्रीधरसेननरेन्द्रादिष्टा विरचिता।'[1] परन्तु, पुरुषोत्तमदेव का स्वयं ऐसा कोई संकेत नहीं है। 'कातन्त्रपरिशष्ट' के कर्त्ता श्रीपतिदत्त के अनुसार भागवृत्ति के रचयिता का नाम विमलमति था : 'तथा च भागवृत्तिकृता विमलमतिना निपातितः।'[2]

इनमें से श्रीपतिदत्त का समय दशम शती ईस्वी उत्तरार्ध में बैठता है, और सृष्टिधर का तेरहवीं शती में। होसकता है, श्रीपतिदत्त की सूचना सृष्टिधराचार्य से अधिक विश्वसनीय हो! या, श्री मीमांसक का यह अनुमान भी सही हो सकता है कि उसका वास्तविक नाम विमलमति रहा हो, और प्रसिद्ध वैयाकरण 'महाभाष्यदीपिका' के कर्त्ता भर्तृहरि के अनुकरण पर, या उसकी वृत्ति का समादर करने के लिए, उसे 'भर्तृहरि' उपनाम से स्मरण किया गया हो। विक्रम की प्रसिद्ध नवरत्न-सभा में रत्नों के भी वे नाम 'उपनाम' ही थे, जो राजा ने उन-उन विद्वानों की स्मृति में अपने समय के विद्वानों को दिए थे। यह परम्परा प्राचीन है। अतः राजा श्रीधरसेन द्वारा उसे 'भर्तृहरि' उपनाम दिया जाना भी असंभव नहीं है।

परन्तु, दूसरी ओर, यह भी सम्भव है कि सृष्टिधर ने 'भट्टिकाव्य' और 'भागवृत्ति' के रचयिता का नामसाम्य देखकर भट्टि के इस कथन को कि उसने श्रीधरसेन द्वारा पालित वलभी में अपना वह काव्य लिखा,[3] भागवृत्तिकार के लिए भी सत्य मान लिया हो! जबतक अन्य प्रमाणों से निश्चित न हो जाए, तब तक वलभी वाली बात सन्देहपूर्ण ही माननी होगी।

तीन व्यक्तित्व : कारण

पर, इतना निश्चित है कि भट्टिकाव्य, भागवृत्ति और वाक्यपदीय का कर्त्ता, एक व्यक्ति न होकर, तीन पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं। इसके कारणों को हम निम्न रूप में कह सकते हैं :

---

१. भाषा०, पा० ८.४.६८।
२. कातन्त्र, सन्धिसूत्र १४२।
३. भट्टि० २२.३५।

(१) 'भट्टिकाव्य' के उदाहरण देकर **मीमांसक** ने यह सिद्ध किया है कि उसमें 'महाभाष्य' की भावना के विपरीत भी प्रयोग पाए जाते हैं।[१] किन्तु 'भागवृत्ति' बहुत सावधानता के साथ महाभाष्य का अनुकरण करती है।

(२) पुरुषोत्तमदेव की सम्मति में दोनों लेखक पृथक् व्यक्ति हैं।[२]

(३) पुरुषोत्तमदेव की ही साक्षी पर यह भी पता चलता है कि भागवृत्ति-कार भट्टिकाव्य के छन्दोभंगादि दोषों का समाधान करता है।[३]

(४) पुरुषोत्तमदेव 'भागवृत्ति' और **काशिका** को आधार बनाकर चला है। और वह स्थान-स्थान पर भर्तृहरि की **'त्रिपदी'** और **'भागवृत्ति'** में आए उल्लेखों को एक दूसरे के विपरीत बताता है।[४] स्पष्टतः वह दोनों को एक दूसरे से भिन्न समझता है।

(५) 'महाभाष्यदीपिका' में **वाक्यपदीय** के उद्धरणों को, अथवा भर्तृहरि कृत 'वाक्यपदीय' की **स्वोपज्ञ** टीका के उद्धरणों को भी, **'उक्तं च'** के रूप में कहा गया है।[५] स्पष्ट है कि वे दोनों कृतियां 'महाभाष्यदीपिका' से पूर्व बन चुकी थीं। किन्तु, 'भागवृत्ति' का एक भी उल्लेख उसमें नहीं हैं। 'भागवृत्ति' उपलब्ध न होने से, उसमें आए **'त्रिपदी'** के उल्लेखों की बात सही नहीं कही जा सकती।

हमारा अनुमान है कि पुरुषोत्तमदेव ने **'भागवृत्ति'** और **'त्रिपदी'** का जो पारस्परिक विरोध दिखाया है, वह 'भागवृत्ति' में आए **'त्रिपदी'** के आलोचनात्मक उल्लेखों से ही लिया है। कदाचित् वहां उसके कर्त्ता ने उस उल्लेख का खण्डन करके स्वमत का प्रदर्शन किया होगा। तभी दोनों की चर्चा साथ-साथ आई है। और, यह बात इससे भी सिद्ध होती है कि प्रतिज्ञा के रूप में 'काशिका' और 'भागवृत्ति' के साथ-साथ पुरुषोत्तम ने 'त्रिपदी' को आधार बनाने का उल्लेख नहीं किया है। फिर भी, उसके उल्लेखों की तुलना 'काशिका' या 'भागवृत्ति' के तत्तदंशों के साथ स्थान-स्थान पर की है। इससे स्पष्ट है कि उसे सीधे **'त्रिपदी'** का आश्रय लेना न अभिप्रेत था, और न उसने लिया ही है।

काल

श्रीधरसेन नाम के वलभी के **चार** राजा एक ही वंश में थोड़े-थोड़े कालान्तर

१. मी०, इति०, पृ० २६७। २. भापा०, पा० २.४.७४।
३. भाषा०, पा० ५.२.११२। ४. प्रमाण देखें, मी० पृ० २६७।
५. वही, ३४०।

से हुए हैं। उनका शासनकाल ४९३ से ६४८ ई० तक माना जाता है। अतः भट्टि और भागवृत्तिकार का समय इस अन्तर में ही कहीं ठहरता है।

उधर, भागवृत्ति यद्यपि प्राचीनतम वृत्ति मानी जाती है, किन्तु मीमांसक इसे 'काशिका' के बाद की रचना मानते हैं।[1] पुरुषोत्तमदेव ने दोनों को समान प्रामाणिकता दी है। उधर, मीमांसक का कथन है कि इसके अनेक मत काशिका के मतों का खण्डन करते प्रतीत होते हैं।[2] न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि के 'न्यास' के सम्पादक 'भागवृत्ति' को 'काशिका' से कम से कम पच्चीस वर्ष पहले का बना मानते हैं।[3] सीरदेव के अनुसार 'भागवृत्ति' में कुछ ऐसे 'कविप्रयोगों' को अनुचित ठहराया गया है, जो माघ के 'शिशुपालवध' में प्रयुक्त हुए हैं।[4]

माघ के बाद

इसी आधार पर उसे माघ के बाद ठहराया जाता है। दूसरी ओर, माघ के एक श्लोक को उद्धृत करके 'सद्वृत्ति'[5] शब्द का अर्थ 'काशिका' से लिया जाता है। उसमें तो 'न्यास' का अर्थ भी कई लोग 'जिनेन्द्रबुद्धि के न्यास' से लेते हैं। वास्तविकता यह है कि माघ के वचन को इन दोनों या तीनों ग्रन्थों का ही वाचक नहीं माना जा सकता। वहाँ, किसी ग्रन्थविशेष की ओर संकेत न करके, 'वृत्ति' और 'न्यास' शब्द उसी भावना को वहन कर रहे हैं, जिसमें उनका प्रयोग 'महाभाष्य' और 'त्रिपदी' में हुआ है।

अब केवल एक ही बात चिन्त्य रह जाती है। वह है सीरदेव का 'परिभाषावृत्ति' में यह वक्तव्य कि 'भागवृत्ति' में भारवि और माघ के प्रयोगों का खण्डन किया गया है। हमें इसमें कुछ सन्देह दीखता है। सीरदेव का काल यदि तेरहवीं शती भी मानें, तब भी 'भागवृत्ति' की रचना से उनका ६०० वर्ष से अधिक का अन्तर बैठता है। अतः इस बीच प्रक्षेपादि होने की भी सम्भावना है; क्योंकि भागवृत्ति का पूर्ण या त्रुटित हस्तलेख अब तक कोई सामने नहीं आया। इधर-उधर आए उद्धरणों को संकलन करके ही श्री मीमांसक ने 'भागवृत्तिसंकलनम्' के नाम से एक संकलन प्रकाशित किया है।

---

१. मी०, इति०, पृ० ३४० ।
२. देखें 'त्रिपदी' के उपलब्ध अंश ।
३. श्रीशचन्द्र चक्र०, भूमिका, २६ ।
४. परिभाषावृ०, ४३-१३७ ।
५. शिशु० २.११२ ।

'काशिका' के समकाल

अतः हमें यह उचित लगता है कि 'काशिका' और 'भागवृत्ति' को लगभग समकाल ही माना जाना चाहिए। यह अधिक सम्भव दीखता है कि इनकी रचना भले ही आगे-पीछे हुई हो, किन्तु एक-दूसरे के मतों का खण्डन विद्वत्-प्रसिद्धि के वल पर भी हुआ सम्भव हो सकता है। और, यदि 'भागवृत्ति' की रचना 'काशिका' से परवर्त्ती भी मानी जाए, तब भी यह बहुत परवर्त्ती नहीं हो सकती।

अतः यदि इत्सिंग के वचन को भी प्रामाणिक माना जाए, तब भी ६५०-६० ई० के बीच में 'काशिका' का निर्माण हो चुका था। इसी समय के आस-पास 'भागवृत्ति' भी रची गई होगी।

यह भी कहा जा सकता है कि काशिकाकार 'भागवृत्ति' का कहीं भी उल्लेख नहीं करता। किंतु, यह बात 'भागवृत्ति' के सम्बन्ध में भी सत्य हो सकती है। वास्तविकता तो यह है कि काशिकाकार ने अपने सामने किसी 'वृत्ति' को प्रमाण अवश्य रखा है। और, इसे वह महाभाष्य और कात्यायन के 'वार्त्तिकग्रन्थ' के समकक्ष ही मान देता है। स्वयं वृत्ति की रचना करने वाले जयादित्य ने 'वृत्ति' शब्द को आदि में पढ़ा, और न्यासकार ने उसकी व्याख्या 'कुणि या चुल्लिनिर्लूरादि की वृत्ति' के रूप में की।[1] स्पष्ट है कि किसी एक या अनेक वृत्तियों का आदर्श काशिकाकार के सामने अवश्य रहा था। इन वृत्तियों में 'भागवृत्ति' भी सम्मिलित थी या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता।

यदि केवल उल्लेख के बल पर ही काल का निर्णय करना हो, तो हरदत्त मिश्र तक ने 'भागवृत्ति' या उसके कर्त्ता का उल्लेख कहीं नहीं किया है। उधर, 'दुर्घटवृत्ति' का रचयिता शरणदेव उसके रचयिता और भर्तृहरि को समकक्ष रखकर उनके मतों की तुलना करता है। वह 'काशिका' की भी तुलना साथ ही कर सकता था। हमारे विचार में उससे पूर्व भी किसी ने इस प्रकार दोनों की परस्पर तुलना अवश्य ही की होगी। 'भाषावृत्ति' का प्रमाण हमारे सामने है। उसका आधार 'काशिका' और 'भागवृत्ति' मात्र पर है, ऐसा लेखक ने स्वयं कहा है।[2] किन्तु, उसकी कृति का 'काशिका' से मिलान करने पर यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि 'भागवृत्ति' का जो

१. काशिका, आरम्भिक श्लोक।
२. भाषा वृ०, अन्तिम श्लोक।

भी अंश उसकी कृति में झलकता है, वह 'भागवृत्ति' की अपराश्रितता और संक्षेप-वृत्ति को बताता है। अतः 'काशिका' यदि 'भागवृत्ति' पर आश्रित रही हो, तो इसमें आश्चर्य नहीं! इसीलिए हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि दोनों की रचना लगभग समकाल ही हुई होगी।

सृष्टिधराचार्य का प्रमाण

मीमांसक जी ने सृष्टिधर का जो प्रमाण दिया है[1], वह कितना विचार्य हो सकता है तथा उस द्वारा की हुई तुलनाएँ कितनी प्रामाणिक हैं ?, यह बात उसके प्रमाणों पर एक बार नज़र डालते ही स्पष्ट हो जाती है। 'काशिका' में प्रत्याहारसूत्रों के अवसान पर **'एकस्माद्'** आदि कारिका रखी गई है। सृष्टिधर, जिसे कि 'काशिका' और 'भागवृत्ति' से निकटता से परिचित होना चाहिए, लिखता है कि यह कारिका **"महाभाष्य'** की है। श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती उनके इस 'कमाल' पर आश्चर्यान्वित हो उठें, तो आश्चर्य क्या! इतना ही नहीं, **'वाक्यपदीय'** के श्लोकों के साथ इधर-उधर के श्लोकों को भी सृष्टिधर पढ़ गए हैं, किन्तु उन्हें पता नहीं चला है कि इनका मूल क्या है ?

इसलिए चक्रवर्ती जी की यह शंका भी ठीक है कि स्वयं पुरुषोत्तमदेव के सम्बन्ध में सृष्टिधर का यह वक्तव्य कि **'वह लक्ष्मणसेन राजा की आज्ञा से इस कार्य में लगा'** भी संदेहास्पद ही लगता है; क्योंकि कम से कम २५ वर्ष का अन्तर तो इसमें भी रहा लगता है।[2] अतः ऐसा व्यक्ति जब **'भागवृत्ति-र्भर्तृहरिणा श्रीधरसेननरेन्द्रादिष्टा विरचिता**[3]' कहता है, तब यह सब सन्देहास्पद हो उठता है कि 'भागवृत्ति' का कर्त्ता भट्टि था या भर्तृहरि ?, और वह श्रीधरसेन के राज्य में रहा भी था या नहीं ? लगता है कि वाक्यपदीय-कार भर्तृहरि, भागवृत्तिकार और भट्टिकाव्यकार वलभीवासी भट्टि (श्रीधर-सेन के समकालीन) की पहचान को गड़बड़ाकर सृष्टिधर उन्हें एक कर गए हैं। अतः, उनके वक्तव्य पर अधिक आश्रित न रहकर, इत्सिंग और दूसरे प्रमाणों के बल पर ही किसी परिणामविशेष पर पहुँचने का यत्न करना चाहिए। गुरुपद हालदार भी सृष्टिधर की बात प्रामाणिक नहीं मानते।[4]

---

१. "आभागवृत्तिर्भर्तृहरिणा", आदि।
२. भा० वृ०, भूमिका।
३. भाषावृत्ति की टीका का अन्त्य भाग।
४. 'संस्कृत व्याकरणदर्शनेर इतिहास'।

'भागवृत्ति' का स्वरूप : भाषावृत्ति की साक्षी

यह वृत्ति इस समय अनुपलब्ध है। किन्तु **पदमंजरी**, भाषावृत्ति, दुर्घट-वृत्ति, **अमरटीकासर्वस्व**, आदि में विद्यमान इसके सवासौ के लगभग उद्धरणों को श्री मीमांसक ने **'भागवृत्तिसंकलनम्'** के नाम से पृथक् छपवा दिया है। मूलतः यह वृत्ति सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर लिखी गई थी। इसमें भी, लगता है, काशिका के समान ही संक्षेप की वृत्ति प्रधान थी। 'वृत्ति' का प्रधानतम लक्ष्य केवल **सूत्रार्थ** का स्पष्टीकरण होता है। किन्तु, दोनों ही ग्रन्थों में कहीं-कहीं **महाभाष्य** और **वार्त्तिकों** का आधार भी लिया गया है। भर्तृहरिकृत **'त्रिपदी'** से 'काशिका' का बहुत सूक्ष्मता के साथ मिलान करने पर लगता है कि उसमें **'त्रिपदी'** से अवश्य ही सहायता ली गई है। 'भागवृत्ति' और 'काशिका' की तुलना का आधार 'भाषावृत्ति' को बनाया ही जा सकता है। पुरुषोत्तमदेव ने 'भाषावृत्ति' के अन्तिम श्लोक में स्वयं यह घोषणा की है।

यदि 'भाषावृत्ति' को 'काशिका' से मिलान करके पढ़ा जाए, तो उसमें स्थान-स्थान पर उपलभ्यमान अन्तर से भागवृत्तिकार के **उदाहरणों**, उसकी **वृत्तियों** एवं अन्य **मतों** का भी परिज्ञान हो जाता है। अनेक स्थलों पर नामोल्लेखपूर्वक भाषावृत्तिकार ने **भागवृत्तिकार** के मतों से काशिकाकार के मतों का अन्तर बताया है। इनमें 'भागवृत्ति' का नाम सदा बाद में आया है। इसी आधार पर मीमांसक आदि विद्वान् इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि 'काशिका' की अपेक्षा 'भागवृत्ति' कदाचित् बाद में रची गई। परन्तु, यह भी सम्भव है कि इन दोनों का ही आधार कोई अन्य 'वृत्ति' रही हो। कुछ स्थानों पर **केशव** आदि अन्य आचार्यों का भी उल्लेख मिलता है। **'भाषावृत्ति'** के अधिकतर प्रयोगात्मक उदाहरण **'भट्टिकाव्य'** में से लिये गये हैं। परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि ये उदाहरण **भागवृत्तिकार** ने भी लिए थे या नहीं? परन्तु, **भट्टिकाव्य** के 'छन्दोभंग' के समाधान से यह सिद्ध होता है कि 'भट्टिकाव्य' की रचना 'भागवृत्ति' से पूर्व अवश्य हो चुकी थी।[1]

परन्तु, इस पर भी सारी 'भाषावृत्ति' को पढ़कर यही लगता है कि 'भागवृत्ति' कदाचित् अधिक संक्षिप्त और भाष्यानुसारिणी रही थी। उसमें भाष्यविरुद्ध प्रयोगों को अनुचित ठहराया गया है। लेखक की यह प्रवृत्ति उसे

---

१. भाषावृत्ति में आए उद्धरणों के आधार पर।

भर्तृहरि के अधिक समीप ठहराती है। 'काशिका' में महाभाष्य का इस तरह अनुकरण नहीं किया गया है। भर्तृहरि और भागवृत्तिकार के मतभेदों की चर्चा शरणदेव, मैत्रेयरक्षित और सीरदेवादि ने की है। किन्तु, इससे पर-वर्तिता आदि सिद्ध करने के पचड़े में पड़ने के बजाय, हमारी दृष्टि में यही मानना उचित प्रतीत होता है कि दोनों सर्वथा स्वतन्त्र होकर बढ़ रहे थे। दोनों के मत भिन्न थे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या? काशिका के विषय में भी यही बात ठीक है।

उद्धरण

इसके उद्धरण कम से कम २१ ग्रन्थों में मीमांसक जी ने गिनाए हैं। इनमें से १५ मुद्रित हैं।[1] इसकी टीका श्रीधर नाम के विद्वान् ने रची थी। इसकी सूचना हमें लीलाशुकमुनि[2] के द्वारा रचित 'दैवम्' की 'पुरुषकार' व्याख्या से मिलती है। 'माधवीया धातुवृत्ति' में भी सम्भवतः इसी श्रीधर का उल्लेख 'श्रीकर' के नाम से मिलता ह। यह बात लीलाशुक और माधव के एक ही वचन की तुलना से सिद्ध हो जाती है:

लीलाशुक—'तथा च श्रीधरो नृत्यादीन् पठित्वा एतान् सप्त वर्जयित्वा इत्याह'।

माधव—'नृतिनन्दीति वाक्ये नाधृवर्जं नृत्यादीन् पठित्वैतान् सप्त वर्जयित्वेति वदन् श्रीकरोऽप्यत्रैवानुकूलः'।

महत्त्व

इस सब को देखकर यही प्रतीत होता है कि कभी 'भागवृत्ति' का प्रचलन खूब रहा होगा। इसके कुछ उद्धरण कैयट के 'महाभाष्यप्रदीप' और हरदत्त की 'पदमंजरी' में मिलते हैं। दूसरी ओर, अट्ठारहवीं शती तक की रचनाओं में इसके उद्धरण मिलते हैं। प्रायः ये सभी रचनाएं और 'भाषावृत्ति' प्राच्य परम्परा की कही जा सकती हैं। अतः इन सबको देखकर यही सम्भव प्रतीत होता है कि यदि बंगाल की ओर अब भी खोज की जाए, तो कहीं न कहीं इसकी प्राचीन प्रति मिल सकती है। इस विषय में टीकाकारों के प्रदेशों, और यदि संभव हो तो कुलों, में भी खोज की जा सकती है। निश्चय ही इसके प्रकाश म

---

१. मी०, ३४३।

२. वही, पृ० ३४१।

आने पर कई सत्य स्पष्ट हो सकते हैं। कम से कम काशिका, भर्तृहरिकृत त्रिपदी और भट्टिकाव्य से इसका सम्बन्ध तो स्पष्ट हो ही जाएगा।

ऐसी महत्त्वपूर्ण रचना का अनुपलब्ध रहना दुर्भाग्य की ही बात है।

काशिका जयादित्य और वामन

पीठिका

वृत्तिग्रन्थों में सर्वाधिक ख्यात और पठित, 'महाभाष्य' और 'दीपिका (त्रिपदी)' के बाद सर्वाधिक समादृत, अनेक टीकाकारों द्वारा सम्मानित, एवं पाणिनीय व्याकरण के संक्षिप्त पठन-पाठन में सर्वाधिक योगदान देने वाली 'काशिकावृत्ति' भी जन्म और कर्तृ विषयक विवादों से सर्वथा मुक्त नहीं है। यह बात भारतीय मनीषियों की 'निधिगोपिता' या 'सतर्कता' के प्रति उपेक्षामयी प्रवृत्ति को स्पष्टतम रूप में उद्घोषित कर रही है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि जिस रचना को आज हम दो लेखकों की एक कृति मान बैठे हैं, वह आज से बहुत पूर्व ही, १२वीं शती तक, अपने दोनों कर्त्ताओं—**वामन और जयादित्य**—की **'सम्पूर्ण वृत्तियों'** का रूप खोकर इस वर्त्तमान रूपमें आ चुकी थी। यह बात हम **पुरुषोत्तमदेव** की 'भाषावृत्ति' के प्रमाण पर कह सकते हैं। उसमें प्रथम पांच अध्यायों में काशिका से जयादित्य के ही उद्धरण दिए गए हैं, जबकि अन्तिम तीन अध्यायों में वामन के नाम से ही उद्धरण दिये गए हैं। उधर, न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि और **हरदत्त** मिश्र दोनों लेखकों की अलग-अलग **सम्पूर्ण वृत्तियों** से परिचित लगते हैं।

यदि यह मान भी लिया जाय कि हरदत्त ने ऐसा उल्लेख न्यासकार की नकल पर ही किया है, तब भी यह तो स्पष्ट ही है कि न्यासकार के काल तक जयादित्य और वामन दोनों की वृत्तियां पूर्ण रूप में उपलब्ध थीं। किन्तु, लगता है कि आठवीं शती के बाद और बारहवीं शती ईस्वी के पहले कहीं यह गड़बड़ हुई है। 'न्यास' में पूरे उल्लेखों के कारण हम मीमांसक जी का यह सुझाव मानने को तैयार नहीं कि 'कहीं दोनों लेखकों ने स्वयं ही तो ऐसा संस्करण तैयार नहीं किया था'। लगता तो यह है कि कालचक्र से किसी प्रमुख पण्डित के पास पड़ी जयादित्य की मूलप्रति में से अन्तिम तीन अध्यायों का भाग खण्डित हो गया होगा। उसे वामन रचित वृत्ति से पूरा करके,

उस महान् विद्वान् ने ही यह प्रवाद प्रचलित किया होगा कि **'काशिका'** की वह प्रति दोनों ने ही लिखी है। बाद में कदाचित् इसी की प्रतिलिपियां प्रचार पागईं। अतः भाषावृत्ति के समय तक ऐसी ही प्रतियां कदाचित् उपलभ्य रह गई होंगी।

परन्तु, क्या यह विडम्बना नहीं है कि जो कृति भर्तृहरि की 'महाभाष्य-दीपिका' या त्रिपदी की समकालिकता का दावा रखती हो, उसका भाग्य 'त्रिपदी' से भी बुरा हो गया हो ! कम से कम 'त्रिपदी' के उपलब्ध ग्रंश को किन्हीं दो व्यक्तियों की कृति तो नहीं माना जा सकता !

रचनाकार

कुछ भी हो वर्त्तमान 'काशिका' के रचनाकार दो माने जाते हैं : **जयादित्य और वामन** ! परन्तु, जब **इत्सिंग** ने 'काशिका' देखी थी, तब यह एक ही कर्त्ता—**जयादित्य**—के नाम से विख्यात थी। **न्यासकार** ने भी जयादित्य द्वारा रचित सम्पूर्ण काशिका देखी थी। लगता है कि इत्सिंग के समय, या उसके कुछ ही बाद, **वामन** ने इससे मिलती-जुलती, और कुछ मतभेदों के साथ, एक और 'काशिका' लिखी होगी। दोनों में अन्तर कम और साम्य अधिक रहा होगा। यही कारण है कि केवल दोनों के **मतभेदों** को दिखाने के प्रसंग में ही न्यासकार उन दोनों का अलग-अलग उल्लेख करता है। यह अधिक सम्भव है कि इन दोनों ने किसी एक ही प्राचीन वृत्ति को आधार बनाकर अपनी-अपनी रचना लिखी हो। या, फिर यह भी सम्भव है कि दोनों ने मिलकर—**एक ने मूल और दूसरे ने प्रतिसंस्कार के रूप में**—लिखी हो। **मैत्रेय** के एक वचन द्वारा यह प्रतीत होता है कि उसके समय **'चुल्लिभट्टि'** की वृत्ति विद्यमान थी : **'अत्र चुल्लिभट्टिकृतावपि 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्यलुग् दृश्यते।'** न्यासोक्त **निर्लूरवृत्ति** का एक वचन **श्रीपतिदत्त** कृत 'कातन्त्रपरिशिष्ट' में लिखा है : **'निर्लूरवृत्तौ चोक्तम्—भाषायामपि यङ्लुगस्तीति।'** इसी प्रकार **'चूर्णि'** की वृत्ति का भी उल्लेख मिलता है। इनमें से अनेक मत 'काशिका' में विनैव नामोल्लेख के अपना लिए गए हैं। 'भागवृत्ति' में भी ऐसे अनेक मत अपनाए गए हैं। मिलान करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है।

यह सब बात इसलिए कही कि यह सम्भव दिखाया जासके कि दोनों का समान आधार होने से यह सम्भव था कि **जयादित्य-वामन** ने अलग-अलग या

मिलकर 'काशिका' लिखी हो। किन्तु, यह सत्य है कि अन्ततः उनका मिश्रण एक में ही हो गया। **मीमांसक** ने ऐसे अनेक उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि न्यासकार मूलतः किसी-किसी अध्याय की टीका किसी एक लेखक की व्याख्या को मुख्य आधार बनाकर लिख रहा होता है, पर वह दूसरी व्याख्या से उसका मिलान करके उसका मत प्रदर्शित करता है। पर, अन्त में अचानक ही वे निर्णय यह देते हैं कि, **'कदाचित् दोनों ने मिलकर ही काशिका लिखी।'** हमारी दृष्टि में सम्भावना यही अधिक संगत दीखती है कि दोनों ने पृथक्-पृथक् ही वृत्ति लिखी होगी। किन्तु परवर्त्ती टीकाकारों ने शुभभावनावश, या किसी और कारण, उन दोनों टीकाओं के पृथक् व्यक्तित्व को मिटाकर एक कर दिया। कम से कम न्यासकार उन दोनों की पृथक्ता का अटल साक्षी है, जो कि दोनों के अचिरकाल पश्चात् ही हुआ।

व्यामोह और वाद

परन्तु वर्त्तमान काशिका में से कौन सा भाग किस लेखक का है ?, इस पर 'न्यास' और परवर्त्ती व्याख्याकारों में ऐकमत्य नहीं पाया जाता। **कोई केवल अष्टमाध्याय को वामनकृत मानता है, कोई सप्तमाध्याय को, कोई अन्तिम चार को, तो कोई तीसरे, चौथे, सातवें और आठवें अध्याय को, और कोई अन्तिम तीन अध्यायों को ही।** परन्तु 'भाषावृत्ति' आदि परवर्त्ती ग्रन्थों के उल्लेखों से पता चलता है कि अन्तिम तीन अध्याय ही **वामन** रचित **काशिकाभाग** के रूप में उस समय स्वीकार किये जाते थे। विद्वानों का कथन है कि इन अध्यायों की शैली की भिन्नता भी स्पष्ट है।

काल

जयादित्य—इत्सिग की सूचना के अनुसार **भर्तृहरि** की मृत्यु ६५२ ई० में और **जयादित्य** की मृत्यु ६५१ ई० में हुई थी। यदि यह सत्य भी मान लिया जाए, तब भी काशिका में **'वाक्यपदीयम्'** नाम का उल्लेख ४.३.८८ पर मिलता है। स्पष्ट है कि इसकी रचना तब हो चुकी थी। 'वाक्यपदीय' का रचना-काल मीमांसकजी ५५० ई० से पूर्व मानते हैं। अतः 'काशिका' इसके बाद ही रची गई। तब निश्चय ही 'महाभाष्यदीपिका' या 'त्रिपदी' भी उससे पहले ही रची गई होगी। भारवि के 'किरातार्जुनीय' का एक उद्धरण भी काशिका में है। **मीमांसक** भारवि को ४८० ई० के आसपास रखते हैं। अन्य कई विद्वान् उन्हें बाद का मानते हैं। तब भी **जयादित्य** से उसे पहले ही मानना पड़ेगा। हर हालत में **जयादित्य** को ६७० ई० के आसपास माना जा सकता है।

इस प्रकार ६०० ई० और ६५० ई० के बीच जयादित्यकृत 'काशिका' का काल माना जासकता है। स्वभावतः यह काल जयादित्य के काल के आधार पर ही गिना गया है।

वामन

वामन और उसके काल के विषय में सन्देह हो सकता है। यहाँ मीमांसक हमारा ध्यान फिर से 'भागवृत्ति' की ओर खींचते हैं और बताते हैं कि 'भाषावृत्ति' के कुछ वचनों के अनुसार **वामन का खण्डन** भी भागवृत्ति ने किया है। हम कह चुके हैं कि हमें इन सब, तथा अन्य अनेक, वचनों को पढ़-कर यह लगता है कि कहीं इस निर्णय में कदाचित् त्रुटि न हो। कारण यह है कि यहाँ, 'भागवृत्ति' और **'त्रिपदी'** में प्रदर्शित पूर्वोक्त मतवैविध्य की भांति, 'काशिका' और 'भागवृत्ति' का पारस्परिक दृष्टिवैविध्य बताया जा रहा है। सच तो यह है कि दोनों ही वृत्तिकारों का आधार कई प्राचीन वृत्तियां समान रूप से बनी थीं। स्वयं मीमांसक और अन्य विद्वानों के अनुसार इनमें से अनेक के मत 'महाभाष्य' से भिन्न थे। 'काशिका' ने कदाचित् इन्हें अप-नाया, जबकि **भागवृत्तिकार** ने महाभाष्य के मतों का अनुकरण करते हुए उन वृत्तिओं के भिन्न मतों का खण्डन किया है। **'भाषावृत्ति'** के इन उल्लेखों से यह कहीं भी नहीं पता चलता कि भागवृत्तिकार नामोल्लेखपूर्वक किसी का विरोध करता है। इसके विपरीत, एक अन्य बात भाषावृत्ति को देखने से अवश्य पुष्ट होती है कि बिना 'भट्टि' के नाम के भी जो उसमें शतशः उल्लेख **'भट्टिकाव्य'** के हैं, वे सम्भवतः 'भागवृत्ति' के कारण आए होंगे। पर, इससे भी काशिका से इसके पूर्वापरत्व का कोई निर्णय स्थिर नहीं होता। अतः हमारा मत यही है कि 'काशिका' और 'भागवृत्ति' लगभग **समकाल** ही रची गई होंगी: हो सकता है, दोनों के रचयिता परस्पर परिचित रहे हों या न भी रहे हों; हो सकता है, वामन जयादित्य के समकाल रहे हों या परवर्त्ती रहे हों! इसका कालनिर्णय केवल इसी रूप में किया जा सकता है कि **वामन** न्यासकार से पर्याप्त पूर्व हो चुके थे और अपनी 'काशिका' वृत्ति लिख चुके थे!

काशिका : नामकरण

मीमांसक ने पदमंजरीकार हरदत्त मिश्र, वृत्तिप्रदीपकार रामदेवमिश्र,

उणादिवृत्तिकार उज्ज्वलदत्त, और सृष्टिधराचार्य के प्रमाणों से 'काशिका' का शब्दार्थ 'काशिषु भवा'[1], अर्थात् 'काशी में लिखी गई', के रूप में किया है। किन्तु 'इष्टयुपसंख्यानवती'[2] कारिका में जयादित्य स्वयं, और इस कारिका की व्याख्या में न्यासकार, गुणों की परिगणना करते हुए 'काशिका' के काशी में बनने की बात पर जोर न देकर उस के नाम को सार्थक नाम (प्रकाशिका=काशिका) के रूप में मानते प्रतीत होते हैं। सारसंग्रह का कार्य करने वाली यह कृति पूर्वतन वृत्तियों की 'काशिका' ही हो सकती है : प्रकाशिका। यह बात भी सृष्टिधराचार्य साथ-साथ ही कहते हैं, जिसकी ओर विद्वानों का ध्यान नहीं गया है। उनके शब्द हैं : 'काशयति प्रकाशयति सूत्रार्थमिति काशिका, जयादित्य-विरचिता वृत्तिः। काश्यां भवा वा।' और न्यासकार 'वृत्ति' की परिभाषा करते हैं : 'पाणिनिप्रणीतानां सूत्राणां विवरणम्।' अर्थात्, 'वृत्ति' का ही दूसरा पर्याय 'काशिका' के रूप में, और सूत्रार्थप्रकाशिका के अर्थ में, कहा गया है। और, न्यासकार फिर कह देते हैं : 'स पुनरयमेव काशिकाख्यो वृत्ति-विशेषः'। 'वृत्ति' का नाम यदि 'काशिका' है, तो उसका काशी से सम्बन्ध न भी हो, तब भी क्या अन्तर आ जाता है! अन्ततः तो वह संज्ञामात्र ही है। और संज्ञा सदा सार्थक नहीं होती।

विशेषताएं और महत्त्व

१—काशिका से प्राचीन और समकालिक वृत्तियों में गणपाठ विद्यमान नहीं था, जब कि काशिका में इसे साथ-साथ दिया गया है। यह बात हरदत्त आरम्भ में ही स्पष्ट कहते हैं।

२—'महाभाष्यदीपिका' की भांति इसमें भी अनेक प्राचीन आचार्यों की वृत्तियों और भाष्यादि से उनके मतों को, नामोल्लेखपूर्वक या बिना नामोल्लेख के भी, अपनाया गया है। इनका उल्लेख न तो पहले के महा-भाष्यादि में और न बाद में ग्रन्थों में ही कहीं मिलता है। लगता है, यह प्राचीन साहित्य के पुनरुद्धार का काल था।

३—इसमें अनेक वृत्तियां प्राचीन ग्रन्थों के अनुकरण पर लिखी गई हैं। यही कारण है कि बाद की संक्षिप्त और सीधी शैली के स्थान पर इसमें महाभाष्य से कुछ मिलती-जुलती, किन्तु मूलतः भिन्न, शैली में सूत्र-वृत्तियां मिलती हैं।

---

१. द्वितीय कारिका की व्याख्या। २ प्रथम कारिका।

४—बहुत से वार्त्तिकादि को बिना विचार के ही छोड़ दिया गया है।

५—इष्टियों के रूप में कुछ वार्त्तिकाकार वाक्य पढ़े गए हैं, कदाचित् किसी प्राचीन परम्परा के आधार पर।

६—वृत्ति के लक्षण के अनुसार एक भी पाणिनीय सूत्र को त्याज्य समझ कर छोड़ा नहीं गया है। हर सूत्र की व्याख्या की गई है।

७—महाभाष्य के मत से भिन्न मतों को भी व्यक्त किया गया है। पाणिनि और परवर्त्ती आचार्यों में विरोध होने पर पाणिनि को ही प्रामाणिक ठहराया गया है। अतः इन्हें 'भाष्यविरुद्ध' कहकर 'त्याज्य' ठहराना उचित नहीं। इनका आधार भी प्राचीन आचार्यों के वचनों पर ही स्थित है।

८—भागवृत्ति से भिन्न काशिका के उदाहरण-प्रत्युदाहरण-वाक्याध्याहारादि प्राचीनतर वृत्तियों पर आधारित होने से ही महाभाष्य से भिन्न हैं।

९—भागवृत्ति में महाभाष्य का अनुकरण किया गया है। काशिका के इन भिन्न उदाहरणों से नए ऐतिहासिक तथ्यों का परिज्ञान होता है।

काशिका की व्याख्या

लगता है कि आने वाले समय में इन विशेषताओं को शीघ्र ही हृदयंगम नहीं किया जासका। कारण यह कि इस पर तुरन्त ही लम्बी-लम्बी टीकाओं का सृजन आरम्भ हो गया। 'न्यास' में अधिकांशतः भर्तृहरि की त्रिपदी या 'महाभाष्यदीपिका' का अनुकरण किया गया है। हां, विवाद की बाहरी सीमा वहां अवश्य ही 'काशिका' के आधार पर स्वीकार की गई है। पदमंजरीकार तो पाण्डित्यप्रदर्शन के व्यामोह में 'न्यास' की अपेक्षा भी पर्याप्त विस्तार में चला गया है। संक्षेप की काशिका-सदृश वृत्ति 'भागवृत्ति' में भी प्रधान रही थी। पुरुषोत्तमदेव की 'भाषावृत्ति' में संक्षेप की वह आत्यन्तिकता भले ही स्वतः संक्षेप की भावना से आई हो, किन्तु उस प्रेरणा देने में 'भागवृत्ति' का भी हाथ रहा लगता है। बाद में तो यह परम्परा ही बन गई कि 'वृत्ति' के नाम पर अत्यन्त संक्षिप्त वृत्ति बनाई जाए, जबकि उसकी 'व्याख्या' में भाष्यादि के विचार की सब कमी पूरी कर दी जाए।

शैली

महाभाष्य का अनुकरण—बहुत काल बाद वृत्तियों का पुनरुद्धार करने वाली पद्धति को अपनाने पर भी 'भागवृत्ति' के सदृश 'काशिका' भी 'महाभाष्य' और उसके प्रधानतम विचारक्रम की सर्वथा उपेक्षा करने में नितान्त

असमर्थ रही। यह बात उस पर एक दृष्टि डालते ही स्पष्ट होजाती है। 'अथ शब्दानुशासनम्'[१] से आरम्भ करके चाहे प्रथम आह्निक के तत्त्व को कुछ पंक्तियों में ही समाप्त कर दिया गया है, तब भी यह बात अवधेय है कि काशिकाकार 'महाभाष्य' की उस आरम्भिक चर्चा से बच नहीं सके हैं। यही बात द्वितीय आह्निक के साथ भी है। उसका संग्रहसार, केवल तत्त्वमात्र के रूप में, चौदह प्रत्याहार सूत्रों की विवेचना में समाहित होगया है। कितना ही संक्षेप हो, किन्तु इन पर काशिकाकार द्वारा विचारमात्र इन्हें पाणिनि के क्रम का अभिन्न अंग सिद्ध करता है। कारण यह है कि इन्हें समझे बिना पाणिनीय व्याकरण का आरम्भ समझना ही कठिन है। 'माहेश्वरसूत्र'-सम्बन्धी धारणा या इनकी जन्मकथा की यहां चर्चा भी नहीं की गई है। स्पष्ट है कि 'महाभाष्य' की भांति यहां भी इन्हें पाणिनीय व्याकरण का अभिन्न अंग माना गया है। अन्यथा इनपर टिप्पणी देने की आवश्यकता ही नहीं थी। परवर्त्ती वत्तियों में इन्हें अछूता ही छोड़ दिया गया है।

इसके बाद के व्याख्यान में भी 'महाभाष्य' और 'त्रिपदी' की विशेष-विशेष बातों का समावेश किया गया दिखाई देता है। किन्तु, केवल मुख्यतम अंश का ही ! उनका स्वीकारात्मक होना अनिवार्य नहीं है। पर, पतंजलि की 'स्मृत्युदाहरणप्रत्युदाहरणवाक्याध्याहारश्चेति, व्याख्यानम्'[२] की बात का यहां पूरी तरह अनुवर्त्तन किया गया है। प्रायः कम ही सूत्र इस परिभाषा की पकड़ से बच पाए होंगे।

वार्त्तिकों की स्थिति

जहां तक वार्त्तिकों का सम्बन्ध है, काशिकाकार का मत यह लगता है कि उन्हें भी संक्षेप के साथ भावनात्मक अभिव्यक्ति के रूप में सामान्य चर्चा का अंग वैसे ही बनाया जा सकता है, जैसे महाभाष्य या अन्य वृत्तियों के वचनों को। इसीलिए वह उन्हें सर्वत्र 'वार्त्तिक' के रूप में न गिनवा कर सामान्य वचनों या वक्तव्यों के रूप में लिख जाता है। ऐसा करते हुए उसने उनकी भाषा में भी हेर-फेर कर दिया है। जितने छोड़ दिए हैं, उनका तो कोई हिसाब ही नहीं है।

काशिकाकारों का मुख्य उद्देश्य है पाणिनि के अभिप्रेत को सिद्ध करना।

---

१. म० १.१.१।

२. म० १.१.१।

इसीलिए 'वार्त्तिककार' को जिन वक्तव्यों की आवश्यकता हुई, उन्हें पाणिनि की इच्छा का 'अभिव्यंजक' मानकर उन्होंने 'इष्टियों' के रूप में पढ़ दिया है।

पाणिनीय अभिप्राय

पाणिनीय अभिप्राय को स्पष्ट करने की बात को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करना होगा। 'अ इ उ ण्' सूत्र की काशिकाप्रोक्त वृत्ति सामान्य है: 'अ इ उ इत्यनेन क्रमेण वर्णानुपदिश्य अन्ते णकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्।' किन्तु 'ऋ लृक्' और परवर्त्ती सूत्रों में ढंग बदल जाता है: 'ऋ लृ इत्येतौ वर्णावुपदिश्य पूर्वांश्च अन्ते' इत्यादि। यह 'पूर्वांश्च' वहां-वहां जुड़ा है, जहां पाणिनि को उसका ग्रहण अभिप्रेत है। किन्तु 'एओङ्' सूत्र में इसे नहीं पढ़ा गया है, क्योंकि 'अङ्' नाम से कोई सप्रयोजन प्रत्याहार मानना सम्भव नहीं है। इस 'पूर्वांश्च' के उदाहरण न्यासकार आदि ने पर्याप्त दिए हैं। यह बात महाभाष्य के लिए विशेष ग्राह्य नहीं थी। अगले सभी सूत्रों में इसे फिर से दोहराया गया है। इन सूत्रों के अन्त में 'एकस्मात्' वाली कारिका पढ़ी गई है,[1] जिसमें प्रत्याहारों का परिसंख्यान कराया गया है। भ्रमवश इसे सृष्टिधर ने 'महाभाष्य' की कारिका के रूप में माना है। लगता है, यह कारिका प्राचीन वृत्तियों से ही चली आती होगी, ताकि पाणिनि द्वारा मान्य प्रत्याहारों की गणना पूरी रखी जासके।

काशिका का पाठ

लिपिकारों के प्रमाद से भारत के प्राचीन विद्याग्रन्थों का कितना अपकार हुआ है, इसका एक ज्वलन्त प्रमाण 'काशिका' भी है। कहा जाचुका है कि न्यासकार का काल जयादित्यादि से १०० वर्ष से भी कम अन्तर पर स्थित है। किन्तु, इस बीच में ही इस काशिका का पाठ इतना भ्रष्ट होचुका था कि न्यासकार को भी तंग आकर लिखना पड़ा: 'लघूपधगुणस्यात्र प्रतिषेध इति। एतेन संक्रमत्वं दर्शयति। अन्ये तु—'उत्तरसूत्रे कणिता श्वः, रणिता श्वः इत्यनन्तरमनेन ग्रन्थेन भवितव्यम्। इह तु दुर्विन्यस्तकाकुपदजनित-भ्रान्तिभिः कुलेखकैर्लिखितमिति वर्णयन्ति। अथ वा'...[2] इत्यादि।

---

१. 'एकस्मात्', आदि कारिका।

२. न्यास, भाग-१, पृ० ४१।

यह बात न्यासकार द्वारा उद्धृत 'त्रिपदी या दीपिका' के उद्धरणों में भी स्पष्ट झलकती है। पर, उन्हें नाम्ना उल्लेख न करके भी लेखक ने अपना मूल आधार बना लिया है। अतः वहां प्रमाद का दोष लिपिकारों पर नहीं डाला जासकता। 'पदमंजरी' के समय तक तो और भी पाठभेद हो गए थे। दोनों ही व्याख्याग्रन्थों में पाठभेद कई जगह वर्णित किये गये हैं।

व्याख्याएं

काशिका पर भी अनेक आचार्यों ने व्याख्याएं लिखी हैं। इनका वर्णन यहाँ आवश्यक नहीं है। किन्तु, वर्तमान प्रसंग में हम उनमें से जिनेन्द्रबुद्धि के 'न्यास' और हरदत्त की 'पदमंजरी' को इसलिए विचारार्थ लेंगे, कि उनकी शैली उन्हें एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का रूप प्रदान करती है। अतः स्वतन्त्र वृत्ति-ग्रन्थ न होते हुए भी उनका अपना महत्त्व 'वृत्तिग्रन्थों' से कम नहीं है।

न्यास : जिनेन्द्रबुद्धि

पीठिका

काशिका की सर्वप्राचीन और सर्वप्रसिद्ध व्याख्या 'न्यास' नाम से प्रसिद्ध है। 'न्यास' बौद्ध विद्वान् बोधिसत्त्वदेशीय जिनेन्द्रबुद्धिकृत 'काशिकाविवरण-पंचिका' का ही अपर नाम है। न्यास पहले भी बनते रहे हैं, यह बात भर्तृहरि द्वारा 'त्रिपदी या दीपिका' में कथित 'न्यास' के एक वचन से भी स्पष्ट है।[1] आचार्य देवनन्दी और मल्लवादि सूरि के नाम से भी 'न्यास' मिलते हैं। फिर, मज़ा तो यह है कि इस व्याख्या को न तो लेखक जिनेन्द्रबुद्धि स्वयं 'न्यास' कहता है, न उसके तुरन्त बाद ही इसे ऐसा कहा गया। हरदत्तमिश्र उनका नाम्ना उल्लेख करते हैं, किन्तु 'न्यास' नाम की प्रामाणिकता उनसे भी सिद्ध नहीं होती।[2] लगता है, लेखक के काफी बाद ही उनके ग्रन्थ का यह नाम किसी भ्रान्तिवश या जानबूझकर रखा गया। स्वयं तो इसे 'पंचिका' मात्र ही कहते हैं। इसे ही किसी ने शुद्ध(?)करके 'पंजिका' कर दिया प्रतीत होता है।

'न्यास' नाम से भ्रान्ति

यह सब इसलिए कहना पड़ा कि इस 'न्यास' नाम के कारण अनेक

१. त्रि०, १.१.६, ११।

२. पा० ४.१.४२ पर टिप्पणी में।

भ्रान्तियों का सृजन हुआ है। माघ के 'शिशुपालवध' काव्य में और भामह के अलंकारग्रन्थ में 'न्यास' और 'न्यासकार' शब्द क्रमशः पढ़े गए हैं[1]। इनसे कीथ समेत कई विद्वानों ने यह परिणाम निकाला है कि जिनेन्द्रबुद्धि उन दोनों से पहले हुए हैं। वास्तव में कीथ इस मत के पूरी तरह कायल नहीं दिखाई देते। वे कहते हैं कि माघ के उक्त श्लोक की यही व्याख्या उचित हो सकती है कि वह जिनेन्द्रबुद्धि के न्यास से परिचित था।[2] उन का कथन स्पष्ट ही पूर्व व्याख्याकारों की व्याख्या पर निर्भर दीखता है। पर, यह सब मानकर भी वे माघ का काल ७०० ई० के बाद नहीं ले जाते।[3] वास्तव में यह काल ६५० ई० और ७०० ई० के बीच ठहरता है।

परन्तु, आश्चर्य की बात है कि जिस नाम से जिनेन्द्रबुद्धि स्वयं परिचित नहीं है, उस 'न्यास' को माघ और भामह साथ-साथ दोहरा दें। भामह ने तो न्यासकार के पूरे मत को ही उद्धृत किया है।[4] किन्तु, यह उदाहरण और उद्धरण न्यास के किसी भी वक्तव्य से मेल नहीं खाता। स्वभावतः वे भर्तृहरिप्रोक्त किसी 'न्यास' की ही, अथवा किसी अन्य 'न्यास' की, चर्चा कर रहे प्रतीत होते हैं।

काल

अतः इन आधारों पर जिनेन्द्रबुद्धि के काल को माघ और भामह से पूर्व ले जाने का अर्थ होगा, उसे भी काशिकाकार का समकालीन मानना। यह असम्भव दिखाई देता है। 'कुलेखक' के दोषों से युक्त प्रति आदि के रूप में इसका कारण हम पहले ही दे आए हैं।

इसके विपरीत माघ काव्य के कुछ उदाहरण 'भागवृत्ति' और 'काशिका' में मिलते हैं।[5] सत्य यह है कि 'माघ' के उक्त श्लोक में 'सद्वृत्तिः' के द्वारा 'काशिका' का भी उल्लेख ध्वनित नहीं होता है। वहां तो 'सनिबन्धना वृत्ति' की, और विशेषकर अच्छी वृत्ति की, परिभाषा बताई जा रही है। 'अनुत्सूत्रपदन्यासा' का वास्तविक अर्थ है : 'जिसमें सूत्रोक्त पदों के न्यास(=स्थापन) मात्र से ही तात्पर्य्य स्पष्ट किया जाता है, ऐसी 'सद्वृत्ति' : अर्थात् जिसमें सूत्रविरुद्ध या

---

१. शिशु०, २.११२। २. कीथ, हिन्दी, पृ० १५२।
३. वही। ४. 'शिष्टप्रयोगमात्रेण', श्लोक।
५. 'परिभाषावृत्ति', पृ० १३७ पर 'भागवृत्ति' का उद्धरण, एवं माध० धा० वृ०, पृ० २६७ पर 'वृत्तिकारादीनाम्' के द्वारा दोनों का उद्धरण।

सूत्रवाह्य (=उत्सूत्र) कोई वात न कही गई हो।' भर्तृहरि भी तो इससे मिलते-जुलते शब्दों में ही कहते हैं : 'स्मृतिं च सन्निबन्धनां' तथा, 'यो ह्युत्सूत्रं कथयति, नादो गृह्येत'[१]।

ये दो उद्धरणमात्र इस वात को स्पष्ट करते हैं कि 'माघ' भर्तृहरि की 'महाभाष्यदीपिका' या 'त्रिपदी' से भलीभांति परिचित थे ; इससे अधिक कुछ नहीं। फिर, अनेक वृत्तिकारों की चर्चा तो 'त्रिपदी' में भी विना नामोल्लेख के ही हुई है। तव भर्तृहरि को काशिकाकार से परवर्त्ती क्यों नहीं मान लिया जाता। स्पष्ट है कि चिन्तन में वैज्ञानिक पूर्णता की दुहाई देने वाले कभी-कभी स्वयं ही 'अनुमान' के सहारे वढ़ने लगते हैं। और, भर्तृहरि ने ऐसे ही लोगों के लिए कहा था: 'अनुमानप्रधानेन विनिपातो न दुर्लभः[२]'।

अतः निश्चय ही माघ ६५०-७००ई० के बीच हुए। पर, उनसे पहले काशिका या न्यास को सिद्ध करने की जरूरत नहीं। स्वयं कीथ न्यासकार को ७०० ई० में रखते हैं। तव माघ का समय उसके पर्याप्त वाद का ही होना चाहिए। किन्तु, हमें इस शीघ्र निर्णय पर भी आपत्ति है। केवल एक ही भ्रमावह उक्ति के आधार पर इतना वड़ा निर्णय ! हमारी दृष्टि से 'न्यास' की रचना ७५० ई० आसपास ही हुई होगी; उससे पहले नहीं। उसका प्रथम उपयोग कैयट ने 'केचित्' आदि नाम से किया है और उसकी व्याख्या का विस्तार हरदत्त मिश्र ने 'पदमंजरी' में किया है। अतः जिनेन्द्रबुद्धि कैयट से कितने पूर्व के हैं, यह नहीं कहा जा सकता। पर उनसे पहले के हैं, यह तो निश्चित ही हैं। वौद्ध साहित्य के परिशीलन से यदि 'वोधिसत्त्वदेशीय' के विषय में अन्य प्रमाण मिल सकें, तभी कुछ स्थिरता के साथ इस विषय में कहा जासकेगा।

न्यास का आधार-ग्रन्थ 'त्रिपदी' या 'दीपिका'

हम पहले भी कह आए है कि यद्यपि न्यास या 'पंचिका' की रचना 'काशिका' की व्याख्या के लिए ही हुई है, किन्तु उसके समस्त प्रमाणों और वक्तव्यों का प्रमुखतम आधार भर्तृहरि की 'महाभाष्यदीपिका' या 'त्रिपदी' ही रही है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रतिपद पर न्यासकार भर्तृहरि का नामशः

---

१. वा० १.४३, त्रि० १.१.१। २. वा० १.४२।

उल्लेख नहीं करते, किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि उनकी प्रतिपद व्याख्या भर्तृहरि के ग्रन्थ को सामने रखे बिना नहीं बढ़ती। हरदत्त की तो दशा और भी विचित्र है। वह तो 'वाक्यपदीय' के श्लोकों के उद्धरण देकर भी उसका नामोल्लेख नहीं करते। पर, ऐसा उन्होंने प्रायः सब ग्रन्थों के साथ ही किया है।

'पंचिका' पर 'त्रिपदी' के प्रभाव की बात तो यह है कि चतुर्थ आह्निक में 'त्रिपदी' की एक पंक्ति का शुद्ध पाठ हमें केवल 'न्यास' में ही मिला। हमने मूल से प्रतिलिपि किया था: 'व्यक्तपरिमाणस्य शब्दस्य'[1]। सम्पादक स्वामिनाथन् ने इसे शुद्ध कर दिया: 'अक्तपरिमाणस्य'।[2] किन्तु, पंचिका में लिखा है: 'उक्तपरिमाणस्य'[3]। यही बात आरम्भिक त्रुटित पाठ के विषय में है। लगता है, जैसे लगभग 'त्रिपदी' का सार न्यासकार ने यथावत् उठाकर रख दिया हो। एक-एक वाक्य 'त्रिपदी' का ही प्रतीत होता है। तुलनार्थ हम वर्तमान में प्राप्त भर्तृहरि की त्रिपदी के प्रथम आह्निक से प्रथम दो पंक्तियों को 'न्यास' के समानान्तर लेते है:

भर्तृहरि

'···पनार्थं वैदिकानां पृथगुपादानम्। प्राधान्यस्यापि हि सामान्येऽन्तर्भूतस्य पृथगुपदेशो दृश्यते 'ब्राह्मणा आयाता वसिष्ठोऽप्यायात' इति (त्रि०, १.१.१)।'

जिनेन्द्रबुद्धि

'वैदिकानां लौकिकेभ्यः पृथगुपादानं प्राधान्यख्यापनार्थम्। यथा-'ब्राह्मणा आयाता वसिष्ठोऽप्यायातः' इति। अत्र ब्राह्मणत्वादेव वसिष्ठस्याप्यागमने सिद्धे प्राधान्यख्यापनार्थं तस्य पृथगुपादानम् (आरम्भिक भाग)।'

पूर्वोक्त और इस उदाहरण को मिला कर यह सिद्ध हो जाएगा कि न्यासकार ने भी, कैयट की ही भांति, 'त्रिपदी' का श्रद्धापूर्वक अनुगमन किया है।

शैली

स्पष्ट है कि 'काशिका' की व्याख्या के प्रसंग में उसकी सीमा में रहते हुए

---

१. 'त्रिपदी' का हमारा शुद्ध लेख।
२. 'महाभाष्यटीका', स्वा०, १.१.४.५।
३. पा० १.१.५।

भी जिनेन्द्रबुद्धि ने 'महाभाष्य' और 'त्रिपदी' से पूरी-पूरी सहायता ली। इसीलिए उसमें वृत्ति की संक्षेपमयता को बचाये रखना, या उतने शब्दों की व्याख्या-मात्र तक ही स्वयं को सीमित रखना, सम्भव न था। इससे जहां जिनेन्द्र-बुद्धि की व्यापक वृत्ति का संकेत मिलता है, वहां यह भी पता चलता है कि वह अत्यन्त सतर्क होकर बढ़ रहे थे। बौद्ध होने के कारण ही उन्होंने किसी का खण्डन नहीं किया। वैदिक शब्दों के इस प्रसंग पर जो उनकी अपनी टिप्पणी है, वह उनकी निष्पक्षता को घोषित कर रही है।

हरदत्त और जिनेन्द्रबुद्धि की शैली की परस्पर तुलना से पता चलता है कि जिनेन्द्रबुद्धि केवल अनिवार्य और आवश्यक प्रसंगों को ही चर्चा का विषय बनाते हैं, जबकि हरदत्त केवल पांडित्यप्रदर्शन के लिए ऐसे विस्तार में चले जाते हैं, जो सामान्य अध्येता के लिए बोझ बन जाता है।

परन्तु, कोई भी आवश्यक बात या सूत्रगत उद्धरण जिनेन्द्र की निगाह से बच नहीं गया है। लगता है कि उनके सामने 'काशिका' से पूर्व की कई वृत्तियां भी उपस्थित थीं। हरदत्त भी उनको 'देखने' की बात कहते हैं। परन्तु, न्यासकार का वचन अधिक प्रामाणिक लगता है। अतः दोनों के उद्धरण बहुत अंशों तक प्रामाणिक ही कहे जा सकते हैं।

न्यास की टीकाएं

इसकी सर्वप्रधान टीका हरदत्त की 'पदमंजरी' ही है। परन्तु, कदाचित् ऐसा कहने से 'पदमंजरी' के महत्त्व को कम न समझ लिया जाए! क्योंकि पदमंजरीकार का अपना कहना यह है कि उससे पूर्व बनी 'काशिका' की जितनी भी, या सैंकड़ों ही 'व्याख्याएं' थीं, वे केवल अविचार पर आश्रित थीं। केवल उनकी अपनी ही व्याख्या गुणिजनों के हृदयंगम होने योग्य है। एक शब्द से सन्देह होता है कि उन्होंने कदाचित् जिनेन्द्रबुद्धि का नामोल्लेख किया है। आरम्भ के परिचयात्मक श्लोकों में से तीसरे श्लोक में वे 'आचार्य-मपराजितम्' कहते हैं।[1] इससे ही यदि किंचिन्मात्र आभास जिनेन्द्रबुद्धि के प्रति उनके आभार-स्वीकार का मिले, तो मिले। अन्यथा, नामोल्लेख तो उन्होंने कहीं-कहीं और किसी-किसी का ही किया है।

पर ऐसा व्यक्ति, जिसने विधिवत् नामोल्लेख करके 'न्यास का भाष्य'

---

१. आरम्भिक श्लोक—३।

किया है, मैत्रेयरक्षित ही ठहरता है, जिसने 'तन्त्र-प्रदीप' की रचना की। इस 'प्रदीप' पर भी आगे-चलकर कई टीकाएं हुईं। इनमें से नन्दनमिश्र की 'तन्त्रप्रदीपोद्योतन', सनातन तर्काचार्य की 'प्रभा', और अज्ञातनामा किसी विद्वान् की 'आलोक' टीका का उल्लेख मिलता है।

'न्यास' के अन्य टीकाकारों में मल्लिनाथ, महामिश्र और रत्नमित्र प्रसिद्ध हैं। मल्लिनाथ ने 'न्यासोद्योत' और महामिश्र ने 'व्याकरणप्रकाश' व्याख्याएं रची थीं। किन्तु रत्नमति द्वारा रचित व्याख्या का संकेतमात्र सर्वानन्द की 'अमरटीकासर्वस्व' में मिलता है।

इस प्रकार न्यास और उसके कर्त्ता का अपना ही महत्त्व है।

हरदत्त मिश्र : पदमंजरी

पीठिका

हरदत्त मिश्र की 'पदमंजरी' भी अब तक विद्वानों के लिए, 'वाक्यपदीय' आदि के समान, शक्तिपरीक्षा का स्थल वनी रही है। आधुनिक युग में भी इसे विद्वत्ता की कसौटी माना जाता रहा है। कहा जा चुका है कि इसके रचयिता हरदत्त मिश्र महान् विद्वान् थे। उन्होंने 'न्यास' को आधार बनाकर भी अपनी व्यापक और सर्वग्राहिणी बुद्धि का परिचय अपनी 'पदमंजरी' टीका के द्वारा दिया है। इस सम्बन्ध में, लगता यह है कि उन्हें महाभाष्य का जो अगाध अनुशीलन करना पड़ा, उससे प्रेरित होकर ही पहले उन्होंने 'महापद-मंजरी' का निर्माण किया होगा[1]। इसकी रचना उन्होंने 'भाष्य' और 'वार्त्तिक' के विरोध को दिखाने के लिए की होगी। उनके अपने शब्दों में : "भाष्यवर्त्तिकविरोधस्तु महापदमंजर्यामस्माभिः प्रपंचितः[2]।" 'काशिका' पर रची उनकी व्याख्या, उसी अनुकरण पर, 'पदमंजरी' नाम से कहलाई।

'न्यास' या पंचिका के अनुपद आने वाली यह टीका विद्वद्गण के हृदया-ह्लाद के लिए ही अधिक लिखी गई है, ऐसा लेखक की प्रतिज्ञा से भी पता चलता है।[3] इसमें सामान्य पाठक के लिए दिशानिर्देश कम है। परिणाम यह

१. महाभाष्य की स्वतन्त्र टीका।
२. पा० १.१.२०।
३. आरम्भिक श्लोक।

कि इसका नाम जितना ही अधिक फैला, पठन-पाठन में इसका प्रचार उतना ही कम हुआ। भर्तृहरि का यह कथन सार्वकालिक सत्य की भांति अटल प्रतीत होता है : 'प्रायेण संक्षेपरुचीनल्पविद्यापरिग्रहान्, संप्राप्य वैयाकरणान्'[1]। महाभाष्यकार भी तो इस समस्या को पहचान चुके थे : 'तदद्यत्वे न तथा। वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति[2]।'

इसलिए चाहे हरदत्त हो या कोई अन्य विद्वान्, जब वह अपनी टीका को विद्वज्जनों के विनोद की वस्तु बताता है, तब उसका ध्यान स्वभावतः सामान्य पाठक की ओर नहीं रहता। परिणामतः उसकी कृति का सामान्य अध्येताओं में प्रचलन नहीं हो पाता। और, हरदत्त की 'पदमंजरी' के साथ भी यही हुआ।

परिचय

हरदत्त ने अपने परिचय के सम्बन्ध में निम्न श्लोक कहा है :

तातं पद्मकुमाराख्यं, प्रणम्याम्बां श्रियं तथा।
ज्येष्ठं चाग्निकुमाराख्यम्, आचार्यमपराजितम्॥

इसकी व्याख्या प्रायः लोगों ने यही की है कि वह अपने पिता का नाम पद्मकुमार, माता का नाम श्रीदेवी, बड़े भाई का नाम अग्निकुमार, और गुरु का नाम अपराजित देते हैं। हम पहले ही 'न्यास टीकाओं' के प्रकरण में, कह आए हैं कि कम से कम इस श्लोक में 'अपराजित' को 'आचार्य' के रूप में प्रणाम करने से हमें ऐसा लगा कि जैसे वे 'बोधिसत्त्वदेशीय' का ही अपरनाम ले रहे हों। हो सकता है यह अनुमान भ्रामक हो। इसपर भी इसे ही मानने को जी चाहता है, क्योंकि उनके 'न्यास' को ही उन्होंने आधार बनाया है।

'न्यास' और 'त्रिपदी' का प्रभाव

हरदत्त जैसा महान् विद्वान् अपने लिए आधारग्रन्थ को प्रस्तुत करने वाले जिनेन्द्रबुद्धि को किसी भी रूप में स्मरण न करे, ऐसा मानने को हमारा जी नहीं चाहता। भले ही अपनी विद्या का उसे कितना ही दावा हो, किन्तु जिस ग्रन्थ के सहारे वह बढ़ रहा है, उसके रचयिता को प्रणामांजलि प्रस्तुत करना उसका स्वाभाविक कर्त्तव्य हो जाता है। सम्भव यह भी है कि उसे यह अभिप्रेत न रहा हो। नाम्ना उसनें कुछ स्थलों पर तो न्यासकार का उल्लेख किया भी है, जबकि अन्यत्र उसने अपने सभी सूचना-स्रोतों को अधिकांशतः बिना

१. वा० २.४७८।
२. म० १.१.१।

नामोल्लेख के ही प्रयोग किया है। भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' की कारिकाओं को, परवर्ती सृष्टिधर की भांति, वे किसी अन्य के श्लोकों के साथ जोड़कर एक साथ ही पढ़ जाते हैं। कुछ जगह उन्होंने 'वाक्यपदीय' की कारिकाओं के पाठ की शुद्धता की भी परवाह नहीं की है। उदाहरणार्थः 'तद्व्याकरणमागम्य परब्रह्माधिगम्यते' की जगह वह 'शब्दब्रह्मणि स्थित्वापि परब्रह्माधिगम्यते' पाठ पढ़ते हैं[1]।

उन्होंने, चाहे न्यासकार के माध्यम से अथवा प्रत्यक्ष अधिगम के द्वारा, भर्तृहरि की 'महाभाष्यदीपिका' या 'त्रिपदी' को भी अपना आधार बनाया है; परन्तु उसका प्रत्यक्षोल्लेख कदाचित् नहीं किया। 'न्यास' और 'त्रिपदी' की अनुकृति की यह बात 'केषां शब्दानाम् ? लौकिकानां वैदिकानां च' की व्याख्या में स्पष्ट हो जाती है। एक-एक शब्द उनकी प्रतिच्छाया है, फिर भी उनका कोई संकेत तक नहीं है।

उधर, मौलिकता भी इन्हीं आधारों के सहारे अधिक चमकी है। यह बात 'ऊह' के विचार में स्पष्ट हो जाती है। वहां 'त्रिपदी' की तुलना में वह नए उदाहरण चुनकर अपने वेदज्ञान का परिचय देते हैं। हो सकता है यह अभिमान के कारण हो, या हो सकता है यह स्वच्छन्दता का परिणाम हो। एक बात अवश्य स्पष्ट है कि उनके विवाद का सारा केन्द्र 'न्यास' या 'पंचिका' की पंक्तियों पर ही टिका है।

दाक्षिणात्य

हरदत्त मिश्र का परिचय इतना और मिलता है कि वे 'दक्षिण' के निवासी थे, और द्रविड-भाषाभाषी थे। यह सूचना 'पदमंजरी' तथा अन्य ग्रन्थों से विकीर्ण रूप में उपलब्ध हुई है। इससे अधिक सूचना यह और मिलती है कि वह कावेरी के तटवर्त्ती किसी नगर के निवासी थे।

काल

कैयट की कालचर्चा के प्रसंग में हरदत्त के कालनिर्णय का प्रश्न भी आया था। मीमांसक जी उनका समय १०६० ई० के आसपास मानते हैं, जब कि श्रीशचन्द्र चक्रवर्त्ती, अभयंकर और बेलवेलकर इन्हें ११०० ई० का मानते हैं। किन्तु, इन्ही लोगों ने मैत्रेयरक्षित का भी यही काल माना है। यह भ्रामक हो जाता है। क्योंकि मैत्रेयरक्षित ने धर्मकीर्त्ति के 'रूपावतार' का उल्लेख अपने

१. वा० १.२२। सम्भव है हरदत्त ने किसी अन्य की यह कारिका उद्धृत की हो।

'धातुप्रदीप' में किया है। और, धर्मकीर्त्ति ने हरदत्त का उल्लेख अपने 'रूपावतार' में किया है। अतः हरदत्त और मैत्रेय दोनों समकाल नहीं हो सकते। इसी आधार पर हरदत्त को उससे ५० वर्ष पहले स्वीकार करने पर १०५० ई० के लगभग उनका काल बैठता है। यही प्रामाणिक भी है।

अन्य ग्रन्थ

मीमांसक जी ने हरदत्त के व्याकरणसम्बन्धी तीन ग्रन्थ गिनाए हैं : पदमंजरी, महापदमंजरी और परिभाषाप्रकरण। ये तीनों क्रमशः काशिका, महाभाष्य और 'परिभाषाओं' पर लिखे गए हैं।

इनके अतिरिक्त आठ अन्य ग्रन्थ आश्वलायन गृह्यसूत्र, गौतम धर्मसूत्र, आपस्तम्ब धर्मसूत्र और गृह्यसूत्र आदि पर गिनाए गए हैं, जो कि 'पदमंजरी' के विविध स्थलों के निरीक्षण के बाद उन्हीं के रचित प्रमाणित होते हैं। उन्होंने इन सबका पूरी तरह अध्ययन किया था।

शैली

'पदमंजरी' की शैली का आभास उक्त पंक्तियों से ही बहुत कुछ हो गया होगा। त्रिपदी, प्राचीन वृत्तियों और पंचिका से पूरी सहायता लेकर भी वह उनके मतों से स्वयं को बंधा हुआ नहीं मानते। इसीलिए वह सर्वतन्त्रस्वतन्त्र की भांति हर बात को अपने ही तरीके से प्रस्तुत करते हैं। जहाँ उन्हें उचित प्रतीत होता है, वहाँ वह उनका खण्डन भी डटकर करते हैं। महाभाष्य की अपेक्षा वह 'वृत्ति' का पक्ष अधिक लेते हैं। पाणिनि के प्रति उनकी पूजाबुद्धि आरम्भिक श्लोकों में से अन्तिम में सर्वथा स्पष्ट हो जाती है : 'न हि दर्भपवित्रपाणिताढ्यपरं मङ्गलमत्र कीर्त्यते।' मूलसूत्र या मूल वक्तव्य तक सीमित रहने की उसकी आदत नहीं है। किसी भी प्रसंग में अपने सम्पूर्ण ज्ञान का प्रदर्शन किए बिना वह नहीं रह सकते। आपिशलि आदि पूर्वाचार्यों द्वारा 'अस्' और 'आस्' धातुओं के स्थान पर 'स' धातु के पाठ करने जैसी अनेक सूचनाएं वे हमें देते हैं, जिन्हें उन्होंने सम्भवतः त्रिपदी एवं अन्य प्राचीन वृत्तियों से पाया था। इसी प्रकार के अन्य भी कई उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

उनकी सम्पूर्ण कृति आरम्भ से अन्त तक एक परम आस्तिक और वेदविज्ञ की रचना होने की सूचना देती है। पाण्डित्य अगाध है; किन्तु उसका

नियोजन भी विद्वज्जनों के लिए अभिराम ढंग से ही हुआ है। सरलता के अभाव के कारण ही पठन-पाठन में इसका अधिक प्रचार न हो सका।

व्याख्याकार

इस 'पदमंजरी' की दो व्याख्याएँ प्रसिद्ध हैं। प्रथम है रंगनाथ यज्वा की 'मंजरीमकरन्द' नामक टीका, और दूसरी है शिवभट्ट की 'कुंकुमविकास' नाम की टीका। दोनों १८वीं शती की हैं।

पुरुषोत्तमदेव : भाषावृत्ति

पीठिका

भागवृत्ति का स्थान काशिका के समकक्ष समादृत था। कम से कम उसके मत विद्वज्जनों को कम ग्राह्य नहीं थे। बहुत जगह 'भागवृत्ति' के मन्तव्य नई पहुँच का निर्देश करते थे, यह सूचना हमें पुरुषोत्तमदेव की 'भाषावृत्ति' से ही मिलती है। इसप्रकार एक ऐसे सत्य को हम तक पहुँचाने का श्रेय भाषावृत्ति को ही सबसे अधिक जाता है, कि जो उसके अभाव में हम तक बहुत ही विकृत रूप में पहुँचता। इसके साथ ही, 'भाषावृत्ति' का महत्त्व इस बात में भी है कि उसकी 'काशिका' से तुलना करने पर हम कुछ ऐसे स्थूल परिणामों पर पहुँच सकते हैं, जो लघुता के अतिरिक्त अन्य बातों में 'भागवृत्ति' की मान्यताओं, स्वरूप और पद्धति पर प्रकाश डालते हैं। उनमें से कुछ बातें हम पहले कह आए हैं। उन पर अधिक विचार तो स्वतन्त्र प्रबन्ध में ही किया जा सकता है।

परिचय

इन्हीं पुरुषोत्तमदेव ने महाभाष्य और अष्टाध्यायी पर अलग-अलग दो लघु वृत्तियाँ लिखीं। इनमें से अष्टाध्यायी पर रचित 'भाषावृत्ति' अधिक प्रसिद्ध हो गई। 'भाष्यवृत्ति' का प्रकाशन अब तक नहीं हुआ है। भाषावृत्ति के अवलोकन से दो सत्य सामने आए हैं। प्रथम यह कि इसका निर्माण केवल वृत्ति की लघुता के लिए ही नहीं हुआ था, बल्कि पाणिनीय व्याकरण के केवल 'लोकभाषाविषयक' अंश को एकत्र करने के लिए भी हुआ था। दूसरे शब्दों में, इस ग्रन्थ की रचना का मुख्य उद्देश्य है मात्र 'लोकभाषा' के व्याकरण को छाँट कर उसकी व्याख्या करना। इसीलिए लेखक ने उन सब अंशों को 'छान्दसम्'

कहकर छोड़ दिया, जो पूर्णतः या आंशिक रूप में 'मन्त्रब्राह्मणादि' से सम्बन्ध रखते हैं। दूसरा सत्य यह कि पुरुषोत्तमदेव बंगीय थे। मीमांसकजी ने समुचित रूप से यह बात उनके प्रत्याहार पाठ में 'वश्' और 'पुनर्वंश्' पाठ से सिद्ध की है।[1] वंगीय उच्चारण 'व' और 'ब' में कोई भेद नहीं मानता। यही कारण है कि उनकी लिपि में भी दोनों के लिए एक ही चिह्न है। केवल इतना ही नहीं। लौकिक व्याकरण के प्रति ऐसी व्यामोहमयी प्रवृत्ति भी आरम्भ से प्राच्य और वंगीय वैयाकरणों की रही है।

एक और सूचना अपने विषय में पुरुषोत्तमदेव स्वयं देते हैं, वह यह है कि वे 'बौद्ध' थे। यह सूचना वे आरम्भिक श्लोकों में तो देते ही हैं,[2] बीच-बीच में बौद्धचिन्तन और बुद्ध आदि के प्रति प्रकट उनके भावों से भी यह सूचना उपलब्ध होती है।[3]

कालनिर्णय

इन सत्यों के अतिरिक्त एक सत्य उनकी 'भाषावृत्ति' के टीकाकार सृष्टिधराचार्य ने सूचित किया है, जिसका सम्बन्ध उनके कालनिर्णय से है। वह यह कि उन्होंने यह रचना राजा लक्ष्मणसेन की आज्ञा से की[4]। इस पर टिप्पणी करते हुए श्री श्रीशचन्द्र चक्रवर्त्ती कहते हैं कि जब सृष्टिधर के सारे ही प्रमाण अविश्वसनीय ठहरते हैं, तब उनका यह प्रमाण भी उतना विश्वसनीय नहीं लगता। अत्यधिक विचार के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सम्भव यही है कि लक्ष्मणसेन के युवराज-काल में ही यह रचना रची गई होगी। अतः उनका अनुमान है कि ११५०ई० के आसपास ही पुरुषोत्तमदेव ने इसकी रचना की होगी। कम से कम उस समय तक इसकी रचना पूर्ण हो चुकी थी। उनके अनुसार लक्ष्मणसेन का शासनकाल ११६९ ई० में आरम्भ हुआ था।[5]

यह सब समस्या इसलिए उठती है कि शरणदेव ने 'दुर्घटवृत्ति' में

---

१. मी०, इति, प्रथमखण्ड, पृ० २८७।

२. भाषावृत्ति के आदि का श्लोक 'नमो बुद्धाय भाषायां' आदि है, तथा भाष्यवृत्ति का 'नमो बुधाय बुद्धाय' है।

३. मी०, पृ० २८७ पर उद्धृत प्रमाण।

४. 'वैदिकप्रयोगानर्थिनो लक्ष्मणसेनस्य राज्ञ आज्ञया'—विवृति प्रथम श्लोक।

५. भाषावृ०, भूमिका, पृ० ८—९।

'भाषावृत्ति' का बार-बार उल्लेख किया है। उसका काल निश्चित है। यह है ११७३ ईस्वी [1]। इसलिए पुरुषोत्तमदेव को उससे पहले ही होना चाहिए। इस दृष्टि से मीमांसक जी का यह मत, कि पुरुषोत्तम का काल ११४३ ई० से पहले माना जा सकता है, उचित ही है। उनकी सूचना में त्रुटि यही है कि वे लक्ष्मणसेन का काल १११७ ई० मानते हैं। इसका आधार उन्होंने 'अनेक व्यक्तियों' के मत को बनाया है[2]।

कुछ भी हो, पुरुषोत्तमदेव ११४० ई० के आसपास रचना कर चुके थे, या कर रहे थे। यह बात दोनों दृष्टियों से सत्य बैठती है। इसमें ५-६ साल का इधर-उधर हेर-फेर हो सकता है।

प्रमुख वैशिष्ट्य : लौकिक व्याकरण

निस्संदेह 'भाषावृत्ति' की सर्वप्रमुख विशेषता उसका **वैदिक-प्रकरण-विहीन** होना है। प्राच्य व्याकरण की अपाणिनीय प्रवृत्ति का उल्लेख गोल्डस्टुकर ने भी किया है। उनकी दृष्टि में प्राच्य वैयाकरणों की समृद्ध परम्परा ने पाणिनीय व्याकरण की रचना के बाद भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाए रखी[3]। हम भी कह आए हैं कि भारद्वाजीय आदि कुछ परम्पराएं प्राच्य ही हैं। पाणिनि ने भी 'प्राचां' के महत्त्व को स्वीकार किया था। श्रीशचन्द्र चक्रवर्त्ती का यह कथन समुचित ही लगता है कि 'महाभाष्य' की रचना के बाद भी प्राच्यदेश में पाणिनि के व्याकरण का प्रचार अधिक नहीं हुआ। लगता है, यह प्रचार धीरे-धीरे घटता रहा[4]।

लक्ष्मणसेन ने अपने अध्ययन-काल में अनुभव किया होगा कि यह अप्रियता कम हो सकती है, यदि पाणिनीय व्याकरण में से वैदिक अंश को निकाल दिया जाए, और उसे अत्यन्त लघु रूप में केवल लौकिक भाषा तक ही सीमित किया जाए! ऐसी प्रतीति सृष्टिधर के लेख से ही होती है। चाहे पुरुषोत्तमदेव लक्ष्मणसेन के गुरु रहे हों या परिचित, उन्होंने अपनी वैयक्तिक रुचि के कारण भी वैदिक प्रकरण को छोड़ देना अभीष्ट ही समझा। कारण, कि वे बौद्ध थे। उन्हें वैदिक व्याकरण में रुचि न थी। अब चाहे इसे भाषा के प्रति रुचि नाम दे, या कुछ और! सत्य यही है।

---

१. मी०, इति, पृ० २८७।
२. वही, भाषा० भू०, पृ० ७।
३. पा०, गो०, पृ० २३६।
४. भाषा० भू०, पृ० २०।

संक्षेप

उनकी 'भाषावृत्ति' और 'भाष्यवृत्ति' की दूसरी विशेषता उनका संक्षिप्त होना है। संक्षेप की यह प्रक्रिया यद्यपि रामचन्द्र की 'प्रक्रियाकौमुदी' में बहुत उग्र दिखाई देती है, तब भी अष्टाध्यायी के क्रम में, बिना किसी पूर्व प्रभाव के, लिखी गई 'भाषावृत्ति' पहली संक्षिप्त वृत्ति है। हो सकता है, इसपर 'भागवृत्ति' का प्रभाव इस विषय में पड़ा हो। पर, 'भाषावृत्ति' के आरम्भ में लेखक द्वारा उसे 'लघ्वी वृत्ति' कहना, और 'भाष्यवृत्ति' के आरम्भ में उसे 'लघुवृत्ति' कहना, इस बात का संकेत देता है कि वह इस दिशा में कहीं से भी अप्रभावित रह कर स्वतः ही प्रवृत्त हुए थे। उदाहरणादि में भी वह अत्यन्त सतर्क और आवश्यकग्राही मात्र होकर चले हैं। 'काशिका' का संक्षेप उन्होंने कैसे किया है, इसका एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा। काशिका के आरम्भ में 'अथ शब्दानुशासनम्' की व्याख्या में एक अत्यत संक्षिप्त वक्तव्य दिया गया है। किन्तु, पुरुषोत्तमदेव इसे भी अत्यधिक संक्षेप के साथ कहते है:

'अथ शब्दानुशासनम् । लौकिकानां, प्रकृतिप्रत्ययविभागपरिकल्पनया, सामान्यविशेषवता च लक्षणेन । गत्यन्तराभावात्' ।

इसमें से सम्भव है 'गत्यन्तराभावात्' पाठ 'भागवृत्ति' की देन हो। पर एक भी अनावश्यक शब्द, प्रश्नार्थक या अन्यथा, इसमें रह नहीं पाया है। चौदह प्रत्याहारसूत्रों को एक साथ ही बिना टिप्पणी के ही गिनाकर उनकी सारी वृत्तियों का सम्पूर्ण सार वे केवल दो पंक्तियों और एक 'कारिका' में ही देकर समाप्त कर देते हैं:

'अकारादीनेतान् वर्णान् क्रमेणोपदिश्यान्ते णकारादीनित्संज्ञकाननुबध्नाति । प्रत्याहारार्थम् । तत्र णकाराद्यैश्चतुर्दशभिरनुबन्धैर्यथाक्रमम्—

एकं त्रीणि पुनश्चैकं चत्वार्येकं चयं त्रयम् ।
एकं द्वे षट् तथैवैकं चतुः पंच षडेव च ।। इति ।।'

अन्य महत्त्वपूर्ण सूचनाएं

इस पर भी वैशिष्ट्य यह है कि सारे प्रत्याहार नामशः उल्लेख कर दिए हैं। इसके बाद की यह टिप्पणी सम्भवतः 'भागवृत्ति' से ली गई है : 'इत्येकचत्वारिंशद् प्रत्याहारा भवन्ति । 'उरण रपरः' । चयो द्वितीयाः पौष्करसादेः । 'अमङ्ङणनम्' इत्येतैश्चतुश्चत्वारिंशदिति' । यह सूचना स्वयं महत्त्वपूर्ण है।

इसी 'ञम्' प्रत्याहार के आधार पर मीमांसक जी ने इस सूत्र को, और इसके कारण सारे 'उणादिपाठ' को, आपिशलिकृत माना है। पाणिनि इस 'ञम्' प्रत्याहार का अपने व्याकरण में इस उणादि सूत्र के अतिरिक्त अन्य कहीं प्रयोग नहीं करते।

आगे के सूत्रों में भी अत्यन्त संक्षेप के साथ-साथ नई सूचनाएं देने में उन्होंने कमी नहीं की है। इससे उनकी सतर्कता का पता चलता है। उनकी सतर्कता और उनके आधारग्रन्थों का साथ-साथ परिचय उनकी इस अन्तिम कारिका से मिलता है :

काशिकाभागवृत्त्योश्चेत् सिद्धान्तं बोद्धुमस्ति धीः।
तदा विचिन्त्यतां भ्रातर्भाषावृत्तिरियं मम ॥

एक साथ एकाधिक वृत्तियों के रहस्योद्घाटन का यह दावा विना सतर्कता के सम्भव नहीं हो सकता।

वैशिष्ट्य : पंचांगपूर्णता

काशिकाकार ने 'पंचांगपूर्ण' व्याकरण की परम्परा को मान्यता देकर शुद्ध गणपाठादि की रचना या आयोजना की।' पुरुषोत्तमदेव के पाठ का मिलान करने से पता चलता है, और सृष्टिधर ऐसा प्रमाणित करते हैं, कि उन्होंने भागवृत्तिकार द्वारा सम्पादित या फुटकर रूप में पठित गणपाठ, धातुपाठ, आदि भी अवश्य देखे थे। उनकी तुलना के बाद ही उन्होंने चारों पाठ अपनी 'भाषावृत्ति' के अन्त में दिए हैं। इस प्रकार व्याकरण की सर्वांग-पूर्णता का परिचय उन्होंने भी उसी रूप में दिया है, जिस तरह काशिकाकार ने दिया था।

अन्य ग्रन्थ

भाषावृत्ति के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ भी पुरुषोत्तमदेव ने लिखे थे। वे अपने समय के बहुत बड़े विद्वान् थे। किन्तु, उनके साथियों ने उनका उल्लेख कदाचित् इसलिए नहीं किया कि वे लोग प्रायः ब्राह्मण थे, और पुरुषोत्तमदेव को अपने बौद्ध होने का गर्व था। परिणाम यह कि उनके बारे में, और उनके ग्रन्थों के बारे में, अधिक परिचय नहीं मिलता। फिर भी निम्न ग्रन्थों की सूचना इधर-उधर से मिलती है। उनके व्याकरण ग्रन्थों का परिगणन संक्षेप में इस प्रकार किया जा सकता है :

भाष्यवृत्ति

इसका आदिश्लोक इस प्रकार है :

नमो बुधाय बुद्धाय यथात्रिमुनिलक्षणम् ।
विधीयते प्राणपणा भाषायां लघुवृत्तिका ।।

इसी से यह पता चलता है कि उनकी इस 'भाष्यवृत्ति' का नाम 'प्राणपणा' था, तथा यह कि उसमें भी सम्भवतः वैदिक अंशों को त्यागने का उपक्रम विद्यमान था ।

इस पर आगे चलकर कुछ टीकाएं भी रची गईं । प्रथम टीका शंकर की उपलब्ध होती है, परन्तु खण्डित रूप में ही । द्वितीय टीका 'भाष्यव्याख्याप्रपंच' के नाम से उपलब्ध होती है । इस प्रति का लेखक और सम्भवतः इस टीका का कर्त्ता शिवरुद्र शर्मा है, जिससे ७०२ शकाब्द, अर्थात् १७८० ई०, में इसे पूर्ण किया । इसके कुछ उद्धरण मीमांसक जी ने दिए हैं[1] । शंकर की व्याख्या पर मणिकण्ठ नाम के एक अन्य विद्वान् ने भी टीका की । ये सब खण्ड रूप में ही उपलब्ध हुए हैं ।

कुण्डलीव्याख्यान

शंकर के प्रमाण के आधार पर पता चलता है कि पुरुषोत्तम द्वारा 'भाषावृत्ति' में बहुशः उद्धृत श्रुतपाल ने 'कुण्डलीसप्तक' नामक ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमें पतंजलि के 'महाभाष्य' के कठिन वचनों को समझाया गया था । उसकी ही सरल व्याख्या 'भाषा' में करने की दृष्टि से ही पुरुषोत्तमदेव ने यह ग्रन्थ रचा । उनके अपने शब्द हैं :

कुण्डलीसप्तके येऽर्था दुर्बोध्याः फणिभाषिताः ।
ते सर्वे प्रतिपाद्यन्ते साधुशब्देन भाषया ।।

कारककारिका

लगता है कि भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' के तृतीय 'प्रकीर्णक या पदकाण्ड' के 'साधनसमुद्देश' को देखकर देव ने भी इस 'कारिका' की रचना की । इसमें भर्तृहरि कृत अनेक श्लोकों की विद्यमानता का संकेत मणिकण्ठ द्वारा रचित, पुरुषोत्तम की भाष्यवृत्ति की शंकरव्याख्या के भाष्य से पता चलता है । उसने इसका नाम 'कारकविवेक' दिया है ।

---

१. मी०, इति०, प्रथमखण्ड, पृ० २९० ।

उनके व्याकरणविषयक शेष ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं:—

१. दुर्घटवृत्ति, २. परिभाषावृत्ति
३. ज्ञापकसमुच्चय ४. उणादिवृत्ति

इनके अतिरिक्त कोषादि विषयों पर उनके त्रिकाण्डशेषादि अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं।

शरणदेव : दुर्घटवृत्ति

पाठिका

संस्कृत व्याकरण के इतिहास में शरणदेव का महत्त्व इस बात में इतना अधिक नहीं है कि उसने क्या और कैसा लिखा, बल्कि इस बात में है कि उसके लेख से हमें कितनी अधिक नई सूचना की उपलब्धि हुई! सच तो यह है कि शरणदेव की 'दुर्घटवृत्ति' हम तक पहुंच तो गई है, किन्तु केवल छाया के रूप में ही! उसका मूल स्वरूप क्या रहा होगा, यह केवल अनुमान का ही विषय है। परिणाम यह हुआ है कि अन्य वैयाकरणों की अधिकांश उक्तियां भी हम तक किंचिद् विकृत शब्दावली में ही पहुंची हैं। फिर भी, इतनी बड़ी सूचना किसी एक या दूसरे रूप में पहुंची, यही क्या कम है?

परिचय

इस सूचना देने वाले शरणदेव के विषय में हमें स्वयं कोई विशेष सूचना उपलब्ध नहीं होती। उनके तथाकथित ग्रन्थ 'दुर्घटवृत्ति' के आरम्भ में तीन कारिकाएं इस प्रकार दी हैं:

नत्वा शरणदेवेन सर्वज्ञं ज्ञानहेतवे।
वृहद्भट्टजनाम्भोज़कोशवीकासभास्वते॥

शाकमहीपतिवत्सरमाने एकनभोनवपंचवितानें।
दुर्घटवृत्तिरकारि मुदे वः कण्ठविभूषणहारलतेव॥

वाक्याच्छरणदेवस्य छात्रावग्रहपीडया।
श्रीसर्वरक्षितेनैषा संक्षिप्य प्रतिसंस्कृता॥

(१) इन तीनों में से प्रथम कारिका में बुद्ध या सर्वज्ञ को प्रणाम किया है। यह तथ्य लेखक का बौद्धमतावलम्बी होना प्रदर्शित करता है।

(२) दूसरे श्लोक से यह महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है कि १०६५ शाक संवत्, अर्थात् ११७३ ई०, में शरणदेव ने वास्तविक 'दुर्घटवृत्ति' लिखी।

(३) तृतीय कारिका में किंचित् पाठभेद भी है। 'छात्रावग्रह' की जगह कुछ लोग 'छायाधग्रह' पाठ उचित मानते हैं। अतः एक ओर सर्वरक्षित द्वारा इसके संक्षेप का कारण 'छात्रों की जिद' को बताया गया है, तो दूसरी ओर 'संक्षेप करने की भावना' को! दोनों ही दशाओं में इसका वर्तमान रूप संक्षिप्त और सरलीकृत माना गया है। और, कदाचित् ऐसा स्वयं लेखक की अनुमति से किया गया है।

स्थान

इनके स्थान के विषय में श्रीशचन्द्र चक्रवर्त्ती का अनुमान है कि 'शरण' नाम से ख्यात एक वंगीय लेखक भी हैं। सम्भवतः शरणदेव उनसे भिन्न नहीं हैं। किन्तु, यदि यह उनसे भिन्न हैं, तब किसी अन्य प्रदेश के भी हो सकते हैं।

इस विषय में हमें दो बातें कहनी हैं। प्रथम यह कि दुर्घटवृत्तियों की परम्परा बंगाल की ही दीखती है। पुरुषोत्तमदेव ने एक 'दुर्घटवृत्ति' लिखी! रक्षित के नाम से एक 'दुर्घटवृत्ति' का उल्लेख उज्ज्वलदत्त ने अपनी 'उणादि-वृत्ति' में किया है। श्री मीमांसक का कहना है कि यह रक्षित शरणदेव की 'वृत्ति' का प्रतिसंस्कर्त्ता सर्वरक्षित नहीं है। बल्कि वे इसे मैत्रेयरक्षित कहना अधिक निरापद मानते हैं, क्योंकि उज्ज्वलदत्त द्वारा अन्यत्र उद्धृत 'रक्षित' पद से मैत्रेयरक्षित का ही अभिप्राय सही बैठता है। अतः वे मैत्रेयरक्षित को भी एक 'दुर्घटवृत्ति' का रचयिता मानते हैं[1]। किन्तु इसके साथ ही इसकी चर्चा करने वाला उज्ज्वलदत्त बंगीय है, ऐसा भी उनका कहना है। फिर, शरणदेव के भी वंगीय होने की सम्भावना प्रकट की गई है।

द्वितीय बात यह कि इन शतियों में सम्पूर्ण भारत से ही बौद्ध धर्म का लगभग उन्मूलन हो गया था। विशेषकर विद्वत्परम्परा में! बंगप्रदेश ही एकमात्र ऐसा प्रदेश दिखाई देता है, जहां राजाश्रय के बिना भी इन सदियों में बौद्धधर्म के अनुयायी विद्वान् अवशिष्ट रहे। वहां के पर्वतीय प्रदेशों में तो यह धर्म बहुत काल तक, बल्कि वर्तमान युग तक, अक्षुण्ण रूप में चलता रहा। अतः

---

१. मी०, इति०, द्वितीय भाग, पृ० १८४।

इन सब प्रमाणों या अनुमानों के साथ शरणदेव को बंगीय कहने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

विशेषता और शैली

पाणिनीय व्याकरण की पकड़ में आने से बचे हुए कुछ प्रचलित पदों का साधुत्व दर्शाने के लिए अनेक यत्न आरम्भ से ही किये जाते रहे हैं। 'दुर्घट-वृत्ति' की परम्परा वहीं से जन्म लेती है। महाभाष्यानुगामी होने के कारण शरणदेव ने भी अपने किसी सामान्य वृत्तिग्रन्थ में इनका साधुत्व प्रदर्शित न करके अलग से 'दुर्घटवृत्ति' की रचना की थी। अतः शरणदेव का यह प्रयास इस दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखता है। कई पदों को साधु सिद्ध करने के प्रयास में उन्होंने पुरुषोत्तमदेव से भिन्न मत भी प्रदर्शित किया है। 'गुर्विणी' पद इसका उदाहरण है[1]। उधर शब्दकौस्तुभादि परवर्ती ग्रन्थों में इसके बताए कई साधु पदों को असाधु दिखाकर शरणदेव के मत को निरस्त किया गया है। परन्तु, इस पर भी एक बात निश्चित है कि शरणदेव की साधुत्वप्रदर्शन शैली का अपना प्रभाव पर्याप्त गहरा पड़ा है। स्वयं भट्टोजि आदि ने इससे ही यह मन्त्र लिया दीखता है।

इस सब प्रयास में शरणदेव की प्रवृत्ति यही रही है कि सब कुछ पाणि-नीय ढंग से ही, उसके सूत्रों के माध्यम से ही, सिद्ध किया जाए।

अन्य वैयाकरणों का उल्लेख

हम कह आए हैं कि इस ग्रन्थ का एक महत्त्व इस बात में है कि इसमें अन्य अनेक लेखकों और ग्रन्थों के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। परन्तु, यहीं हम एक चेतावनी भी देना चाहते हैं। वह यह कि इसमें जितने भी मत दिये गए हैं उनमें से अधिकांश भाषा बदल कर लेखक की भाषा में ही दिये गए हैं। मूल-शब्दों को ढूंढने के प्रयास में वहां निराशा ही हाथ लगेगी। हमने इस प्रकार के तीन-चार वचनों की परीक्षा करनी चाही, पर हमें निराशा ही हाथ लगी। तब भी उन वचनों या लेखकों की भावना अवश्य हम तक सही रूप में पहुंची है। यह बात हम भर्तृहरि, भवभूति और पुरुषोत्तमदेव आदि के नाम से उपलब्ध प्रमाणों के तुलनात्मक अध्ययन से कह सकते हैं।

भर्तृहरि

इसमें भर्तृहरि के कुल तीन उद्धरण नाम्ना उल्लिखित मिलते हैं।

---

१. दुर्घटवृत्ति, पा० ५.२.११५।

इनमें से केवल एक हमारी आलोचना का विषय ठहरता है : 'ऐऔच्' सूत्र की व्याख्या वाला उद्धरण जो 'क्ङिति च' (पा० १.१.५) के नीचे शरणदेव ने दिया है। शेष दोनों की तुलनात्मक व्याख्या अप्राप्य है, क्योंकि उनमें से एक प्रथम अध्याय के तीसरे पाद का है, और एक सप्तम अध्याय के तीसरे पाद का। उल्लेखयोग्य भर्तृहरि का वचन यहां दिया है : 'ऐऔजित्यत्र भर्तृहरिः 'सन्ध्यक्षरेषु विरामोपादानाभ्यां लक्ष्यौ प्रयत्नौ द्वौ' इति। अत एव 'ए ऐ कण्ठतालव्यौ, ओ औ कण्ठोष्ठ्यौ' इति कालविच्छेदाभावेऽपि पृथक्प्रयत्नत्वात् 'हे गौः' इत्यत्र न सम्बुद्धिलोपः।'

सत्य यह है कि भर्तृहरि की 'त्रिपदी' में दिए 'ऐ औ च्' सूत्र में यह उल्लेख इस रूप में, या किंचित् भिन्न रूप में भी, नहीं है। हां, यह भावना भर्तृहरि की अवश्य है। ऐसा उनके तत्रस्थ निम्न वचनों के बल पर कहा जा सकता है :

'सन्ध्यक्षराणीति पूर्वाचार्यसंज्ञैषा। तेषां चान्वर्थत्वं, सन्धीयमानावयवत्वात्। सन्धीयमानौ पूर्वापरावयवौ एषामिति।...ऐचोस्तु विश्लिष्टावर्णत्वात् संश्लिष्टावर्णौ अर्धैकारार्धौकारौ न भवतः इति।...एतौ चेन्न स्तः, तालव्यस्य तालव्यः सस्थानः, ओष्ठ्यस्य ओष्ठ्य इति।...यथा सन्ध्यक्षराणि। एतानि हि द्विमात्राण्येव पठितानि।...एतस्य चेदं बीजं, यथा अकारादिषु एकप्रयत्नप्रेरितकरणः ध्वनिः ध्वन्यन्तरमारभमाणः अनुपरत एव करणव्यापारे कालभेदं दर्शयति, नैवं व्यंजनेषु।'

इन दोनों उद्धरणों की तुलना करने पर उनका मूल भाव एक ही ठहरेगा। फिर भी शब्दों का कितना अन्तर है? सम्भव है कि उक्त वाक्य 'वृद्धिरादैच्' सूत्र के खण्डित भाग में से हो। पर, तब शरणदेव की 'ऐऔच्' सम्बन्धी उक्ति (ऐऔजिति सूत्रे) गड़बड़ है।

भवभूति

पा० १.३.७८ के नीचे शरणदेव लिखते हैं : "इदं गुरुभ्यः पूर्वेभ्यो नमोवाकं प्रशास्महे' इति भवभूतिः'। इसका सर्वत्र उपलब्ध और प्रसंगोचित पाठ 'इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यः' है।

इसी प्रकार पा० ५.३.४० पर शरणदेव भवभूति का यह पाठ उद्धृत करते हैं : 'पश्यामि तां तत इतः पुरतश्च पश्चात्'। 'सिद्धान्तकौमुदी' में इसे ही भट्टोजि ने इस प्रकार पढ़ा है : 'पश्यामि तामत इतः पुरतश्च पश्चात्'।

इसमें 'ततः' और 'अतः' का पाठभेद चिन्त्य है।

भाषावृत्ति :

भाषावृत्ति के उद्धरणों में से भी दो-तीन की समीक्षा उचित रहेगी।

(१) पा० १.४.६ के अधीन पुरुषोत्तमदेव लिखते हैं : 'नावयवाश्रयेति स्मृतिः।' इसी को शरणदेव उद्धृत करते हैं : 'न चावयवाश्रयेति स्मृतिः' इति भाषावृत्तिः।' इसमें 'च' पद अधिक है।

(२) पा० २.३.३६ पर शरणदेव लिखते हैं : 'शयानेन भुक्तमिति।... उच्यते। चिन्त्यम् अनभिधानादिति रक्षितभाषावृत्तौ।'

उधर, 'भाषावृत्ति' में 'चिन्त्यम्' के अतिरिक्त यह पाठ २.३.३७ के नीचे इस प्रकार दिया है : 'नेह। शयानेन भुक्तम्। अनभिधानात्।'

(३) इसी प्रकार पा० ३.२.१८ के नीचे 'भाषावृत्ति' में लिखा है : 'कथं पुरःसरा वाचः? व्युत्पत्त्यन्तरेण। पचाद्यच्।' किन्तु, इसे ही 'दुर्घटवृत्ति' में शरणदेव दोहराते हैं : "'कथं पुरस्सरा वाग्' इति भाषावृत्तिः। पचादिपाठात् सिद्धिरिति केचित्।"

दोनों के मिलान से स्पष्ट होगा कि केवल 'वाचः' और 'वाग्' का ही अन्तर नहीं है, बल्कि 'भाषावृत्ति' के 'पचाद्यच्' पाठ को उसने 'केचित्' के नाम से प्रयोग किया है।

अन्य कई उद्धरण मूल पुस्तकों में या तो उचित स्थान पर नहीं हैं, या हैं ही नहीं। अथवा, भिन्न रूप में किन्तु उसी भावना के साथ मिलते हैं।

परिणाम

इन सबको उद्धृत करके हम यह कदापि सिद्ध करना नहीं चाहते कि शरणदेव ने जानबूझकर ग़लती की है, या उसे सही ज्ञान नहीं था। हमारा यही कथन है कि उसके सब प्रमाणों की परीक्षा सावधानता के साथ करनी चाहिए। उनमें से अधिकांश ठीक ही हैं, किन्तु अनेक जगह भ्रम भी हो सकता है। इतने अधिक उद्धरण देने वाला त्रुटि भी कर सकता है।

एक परिणाम और भी इस सब विवेचन से निकलता है : शरणदेव भर्तृहरि की इस मूल धारणा से सहमत दीखते हैं कि शब्दप्रयोग के विषय में 'प्रयोक्ता' ही सर्वाधिक प्रमाण है। तभी वह प्रयोग बाहुल्य के द्वारा ही अपनी बात की पुष्टि करते हैं। यह बात उक्त कुछ उदाहरणों से भी स्पष्ट हो जाएगी।

निस्संदेह शरणदेव ने प्रायोगिक सत्यता बताकर संस्कृत व्याकरण के साथ-साथ संस्कृत काव्य की भी महान् सेवा की।

अन्नम् भट्ट : मिताक्षरा

परिचय

अन्नम् भट्ट द्वारा स्वयं अपने विषय में जो सूचना दी गई है, उसके अनुसार उनके पिता का नाम श्री तिरुमलाचार्य था। अद्वैतविद्याचार्य राघव सोमयाजी के कुल में इनका जन्म हुआ था। यह तैलंग देश के निवासी थे। इन्होंने काशी में जाकर अध्ययन किया था।

काल

इनका काल श्रीकृष्णमाचार्य के अनुसार १६वीं शती ई० का पूर्वार्ध बैठता है। किन्तु यह लिखकर भी मीमांसक जी अन्ततः इनका काल १६०० ई० में मानते हैं। और, यह काल उचित भी है।

रचनाएँ

इन्होंने भी अन्य वैयाकरणों के समान 'अष्टाध्यायी' और 'महाभाष्य' दोनों पर लिखा। अष्टाध्यायी पर इनकी वृत्ति 'मिताक्षरा' के नाम से है। महाभाष्य पर इन्होंने 'प्रदीपोद्योतन' नाम से कैयट के 'प्रदीप' की टीका लिखी। इसके अतिरिक्त 'तर्कसंग्रह' एवं 'ब्रह्मसूत्रव्याख्या' आदि कुछ व्याख्याग्रन्थ भी लिखे।

मिताक्षरा : परिचय

इनकी वृत्ति की कुछ अपनी ही विशेषताएँ हैं। यथा, अन्य वृत्तियों की भांति इसका आरम्भ 'अथ शब्दानुशासनम्' से नहीं होता। परिणामतः उससे सम्बद्ध विवाद भी इसमें नहीं है [1]। इस सूत्र का अभाव तो संक्षेप के प्रति अत्यन्त रुचिवान् 'भाषावृत्ति' के लेखक पुरुषोत्तमदेव तक ने स्वीकार नहीं किया।

प्रत्याहार सूत्रों के बाद की टिप्पणी में 'मिताक्षरा' में कुछ बातें नई भी कही गई हैं। यथा, ' 'अ इ उ ण्' इत्यादावसन्देहार्थं सन्धिर्न कृतः।' या, 'अटां मध्ये विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानामुपदेशः कर्तव्यः' इत्यादि [2]।

---

१. देखें, आरम्भ प्रत्याहार-सूत्रों से हुआ है।

२. मिताक्षरा, प्रत्याहारसूत्र।

तुलना

वृत्ति में 'काशिका' की परम्परा निभाकर भी 'भाषावृत्ति' की अपेक्षा अधिक संक्षेप बरता गया है। प्रायः यह संक्षेप 'प्रक्रियाकौमुदी' के प्रभाव की झलक देता है। कुछ बातें भर्तृहरि की 'त्रिपदी' से भी, वहाँ उद्धृत वृत्तिकारादि की, संक्षेप के साथ बिना उद्धरण दिए लेली गई हैं। यथा, 'न धातुलोप आर्धधातुके' (पा० १.१.४) की वृत्ति में 'धात्वेकदेशलोपनिमित्ते आर्धधातुके' का अंश वहीं से लिया गया है। यह बात सम्भव है न्यास या पदमंजरी के माध्यम से ली गई हो। परन्तु, यह वहां भर्तृहरि के शब्दों में ही है : 'अतो वृत्तिकारो व्याचष्टे धातोर्लोपः धातुलोपः। धात्वेकदेशनिमित्ते आर्धधातुके, इति[1]।'

पूर्णता

इसमें छान्दस सूत्रों की भी पूरी व्याख्या की गई है। उन्हें छोड़ा नहीं गया है। इस तरह यह वृत्ति सम्पूर्ण 'अष्टाध्यायी' पर है।

प्रतिज्ञा

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि ग्रन्थकार अपनी इस घोषणा में सफल रहा है :

ग्रन्थविस्तारभीरुभ्य इयं वृत्तिर्मया कृता।
यया व्याकरणं सर्वं करस्थामलकायते[2] ॥

ओरम् भट्ट : वैद्यनाथ भट्ट

परिचय

स्वामी दयानन्द सरस्वती की भांति ओरम् भट्ट भी वर्त्तमान युग के वैयाकरण ही गिने जा सकते हैं। उन्होंने भी लगभग उसी समय अपनी 'व्याकरणदीपिका' नाम की 'अष्टाध्यायी-वृत्ति' लिखी।

ये काशी निवासी महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इनका काल लगभग १८५० ई० के आसपास बैठता है। इनके पिता का नाम श्री घोण्ड भट्ट था। इनका

१. त्रिपदी, १.१.४.४।
२. वृत्ति की अन्तिम कारिका।

नाम 'वैद्यनाथ भट्ट' था, किन्तु विद्वज्जगत् में ये ओरम् भट्ट के नाम से ख्यात हुए।

वृत्ति का स्वरूप

इनकी 'दीपिका' वृत्ति का प्रकाशन १९१६ ई० में श्री गणपति शास्त्री के सम्पादकत्व में हुआ। शास्त्री जी ने इस पर अपनी टिप्पणी देते हुए लिखा है कि यह रचना भट्टोजि दीक्षित की 'सिद्धान्तकौमुदी' का ही अष्टाध्यायी क्रम में परिवर्तित रूप है। किन्तु, साथ ही वे एक विशेषता का भी उल्लेख करते हैं कि 'सिद्धान्तकौमुदी' में अनेक फक्किकाएं अत्यन्त दुरूह ही रह गई हैं। इस टीका में उन्हें विद्यार्थियों के लिए बोधगम्य रूप में सरल बना दिया गया है। स्वभावतः अन्यत्र भी सरलता पर ऐसा ही बल रहा है।

वैशिष्ट्य

इस वक्तव्य से ऐसा आभास होता है कि केवल क्रमपरिवर्तन और सरलता के समावेश के अतिरिक्त इस वृत्ति की अन्य कोई विशेषता नहीं है। हमने इसकी अन्तरंग परीक्षा करने पर पाया कि इसमें यद्यपि हर बात को अपने शब्दों में कहने का झूठा प्रयास नहीं किया गया, और परिणामतः 'सिद्धान्त-कौमुदी' और 'प्रक्रियाकौमुदी' आदि ग्रन्थों से वृत्तियां और उदाहरण लेने में उदारता से काम लिया गया है, तब भी इसमें बहुत कुछ नवीनता है। हम कह चुके हैं कि वृत्ति के 'अनुकरणमात्र' से ही यदि व्यक्तित्व का निर्णय होता हो, तब प्रायः भट्टोजि की अधिकांश वृत्तियां और उदाहरण प्रक्रिया-कौमुदी के पुनरनुवाद मात्र हैं। पर, सिद्धान्तकौमुदी का अपना वैशिष्ट्य तब भी है ही। इसी प्रकार व्याख्यान के अवसर पर जो टिप्पणियां इस 'दीपिका' में दी गई हैं, उनमें ही लेखक का व्यक्तित्व छिपा है। इनमें से कुछ विशेषताओं को हम यहां निदर्शनार्थ उपस्थित करेंगे।

वृत्तिपरम्परा

हम कह आए हैं कि प्रायः वृत्तिकार आरम्भ से ही 'अथ शब्दानुशासनम्' और उसके अधीन होने वाले व्याख्यान को पाणिनि की अष्टाध्यायी-पद्धति का अभिन्न अंग मानते रहे हैं। 'सिद्धान्तकौमुदी' में इस बात को स्वीकार नहीं किया गया। इससे पहले भी पदमंजरीकार और कुछ अन्य लोगों ने 'माहेश्वरसूत्राणि' के 'माहेश्वर' अंश पर आवश्यकता से अधिक बल दिया

था। परिणामतः इसे पाणिनीय व्याकरण का अंश या अंग मानना छोड़ दिया गया। यूं तो पूर्वाचार्यों के अनेकानेक सूत्र पाणिनि ने अपनाए हैं। क्या उन्हें भी छोड़ देना उचित है ? फिर, 'अथ शब्दानुशासनम्' का तो माहेश्वर सूत्रों से सम्बन्ध भी नहीं है। अतः उसे क्यों निकाला जाए ?

'सिद्धान्तकौमुदी' का अनुकरण करने वाले व्यक्ति के लिए यह समस्या अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो उठती है, यदि केवल अन्धानुकरण ही उसका उद्देश्य न हो। और, यह आह्लाद की बात है कि ओरम् भट्ट इस विषय में 'काशिका' का अनुकरण करते हैं, न कि 'सिद्धान्तकौमुदी' का ! अर्थात् उन्होंने इस सूत्र से ही अपनी वृत्ति का आरम्भ किया है।

माहेश्वर सूत्र

इनको लेखकों ने 'कौमुदी' की भांति एक साथ पढ़कर ही अपनी टिप्पणी अन्त में दी है। किन्तु जहां 'सिद्धान्तकौमुदी' में यह टिप्पणी बहुत सीमित है, वहां 'दीपिका' के लेखक ने उसमें 'काशिका' एवं अन्यत्र हुई समस्त चर्चा को अपने शब्दों में, अपनी टिप्पणियों के साथ-साथ, दे दिया है : उनकी यह चर्चा पर्याप्त व्यापक हो गई।

नवीनता

अन्यत्र भी स्थल-स्थल पर नवीन उद्भावनाओं के साथ उन्होंने कई नई बातें कही हैं। उनका यत्न यह रहा प्रतीत होता है कि भाष्योक्त और वृत्ति-प्रोक्त कोई भी बात छूटने न पाए। और इसमें वे पर्याप्त मात्रा तक सफल भी रहे हैं। 'वृत्तिग्रन्थों' की परम्परा और 'सिद्धान्तकौमुदी' की परम्परा में से उन्होंने वृत्ति की परम्परा को ही चुना है। इसका उदाहरण हम किसी भी सूत्र से ले सकते हैं।

उदाहरणार्थ, हमारा ध्यान संज्ञासूत्र 'भूवादयो धातवः[1]' की ओर जाता है। 'प्रक्रियाकौमुदी' में कही गई परिभाषा को 'सिद्धान्तकौमुदी' में यथावत् दोहरा दिया गया है, यद्यपि उसमें प्रोक्त कारिका का पाठ वहां नहीं किया गया है। किन्तु, 'दीपिका' का लेखक उस वृत्ति को लिखने के बाद अगली बात भी इन शब्दों में समझाता है : 'धातुत्वाल्लडादयः। भवति। एधते।'

एक और उदाहरण 'हलन्त्यम्[2]' को लिया जा सकता है। इसकी व्याख्या

---

१. पा० १.३.१।
२. पा० १.३.३।

में लेखक ने पर्याप्त मौलिकता प्रदर्शित की है। इसका आरम्भ ही वे इन शब्दों से करते हैं 'इदं सूत्रमावर्तनीयम्'! स्पष्ट है कि उनका अपना चिन्तन अपने ही पथ पर बढ़ा है।

निष्कर्ष

अतः स्पष्ट है कि 'व्याकरणदीपिका' का अपना निजी महत्त्व है, और उसके लेखक का अपना व्यक्तित्व है। अतः गणपतिशास्त्री और मीमांसक जी का यह कहना, कि इसमें केवल 'सिद्धान्तकौमुदी' के पाठ को ही अष्टाध्यायी के क्रम में रख दिया गया है, सर्वथा भ्रामक है। इसकी मौलिकता और आवश्यकता स्वतः स्पष्ट है।

पाणिनीय व्याकरण के प्रक्रियाकार

कुछ प्रश्न

प्रक्रियाग्रन्थ क्या हैं ? उनका प्रचलन कब और कैसे आरम्भ हुआ ? उनकी आवश्यकता ही क्यों पड़ी ? क्या वे उस आवश्यकता को पूरा कर सके ? और क्या उनसे पाणिनीय व्याकरण के पठन-पाठन में कुछ सहायता पहुँची ? इत्यादि कुछ प्रश्न हैं, जिनकी हलकी सी चर्चा और उत्तर देने का प्रयास हम 'सिद्धान्तकौमुदी' के दोनों प्रसंगों में कर आए हैं। किन्तु, वहाँ मुख्य विचार भट्टोजि के कृतित्व में 'सिद्धान्तकौमुदी' के स्थान और योगदान का था। अतः वहां यह चर्चा व्यापक आधार ग्रहण न कर पाई। इन पंक्तियों में हम इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास करेंगे और उसकी कसौटी पर नाना उपलब्ध प्रक्रिया-ग्रन्थों को कस कर देखेंगे।

पीठिका

'महाभाष्यप्रदीप' के लेखक कैयट के समय तक व्याकरण की जो धारा चली, उसमें सूत्रकार, वृत्तिकार, वाक्यकार, पदकार और भाष्यकार आदि विविध आचार्य-परम्पराओं का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु किसी भी 'प्रक्रियाकार' का उल्लेख नहीं मिलता। इसमें सन्देह नहीं कि जिसे हम बाद में 'प्रक्रिया' के रूप में जानते हैं, उसका आरम्भ कम से कम पाणिनि के व्याकरण के पूर्व से ही बीज रूप में हो चुका था। पाणिनि के प्रत्येक 'पाद' या 'अध्याय' में विषय-क्रम से ही चला गया है : संज्ञा, परिभाषा, कारक, सन्धि, आदि 'प्रकरण' लगभग अलग-अलग प्रदेशों में विभक्त हैं। यही बात उपग्रह (आत्मनेपद-परस्मैपद), लकारप्रक्रिया, स्वरप्रक्रिया, आदि के विषय में कही जा सकती है। समास, तद्धित, और कृदन्त के प्रकरण तो सर्वथा स्वतन्त्र से ही हैं।

फिर भी, एक समय आया जब शब्दों की रूपसिद्धि की भावना बल पकड़ने लगी। 'निरुक्त' के टीकाकार दुर्गाचार्य के एक कथन के अनुसार रूपसिद्धि की प्रक्रिया के सम्बन्ध में मतभेद काफी प्राचीन हैं। ये मतभेद वास्तव में प्राची में अधिक समादृत 'ऐन्द्र' व्याकरण, और पश्चिमोत्तर में अधिक

समादृत 'पाणिनीय' व्याकरण, की पहुंच और पद्धति की भिन्नता के कारण हैं।

फिर भी, यह तो स्पष्ट है कि महाभाष्य की 'चिन्तन-पद्धति' और वृत्तिकारों की 'व्याख्यान-पद्धति' में रूप-सिद्धि-प्रक्रिया को कदाचित् उतना महत्त्व नहीं दिया गया था। उस ढंग से पढ़ने-पढ़ाने वालों का विश्वास था कि रूपसिद्धि ही व्याकरण का सार नहीं है। वह तो व्याकरण का तत्त्व समझ लेने के बाद स्वयं आ जाती है। इसीलिए रूपसिद्धि के प्रयास का आभास हमें महाभाष्य या परवर्त्ती ग्रन्थों तक में नहीं मिलता। यहां तक कि काशिका तक में भी प्रत्येक सूत्र के उदाहरण-प्रत्युदाहरणादि देने तक ही अपने कार्य की इतिश्री समझी गई है। पाणिनीय सूत्रों में इतने स्पष्ट संकेत विद्यमान हैं कि उनके आधार पर कौन सा प्रत्यय या आगम कब और कहां आता है, तथा किस वर्ण का कब और कहां लोप होता है ?, इस बात को अध्येता बड़ी आसानी से जान लेता है।

किन्तु, इस पर भी लगता है कि 'शब्दपारायण' और 'नामपारायण' जैसे ग्रन्थों का प्रचलन बहुत पहले से ही पनप रहा था। 'प्रतिपदपाठ' की इन्द्र-पूर्व बृहस्पतिप्रोक्त पद्धति भी इसी 'पारायण' परम्परा पर आधारित थी [1]। बाद में चलकर यही परम्परा 'रूपावतार' जैसे रूपसिद्धि करने वाले प्रक्रिया-ग्रन्थों का आधार बनी। रूपों का प्रचलन ही बाद में रूपसिद्धि की भावना को जगाने का कारण बना।

प्रसार

पाणिनीय व्याकरण के क्षेत्र में 'रूपावतार' उस प्रक्रिया का आरम्भिक चरण था, जिसने परवर्त्ती पाणिनीय व्याकरण को एक नई दिशा में मोड़ दिया। पाणिनीय व्याकरण के लिए यह दिशा अनजानी न थी। 'चान्द्र व्याकरण', 'सरस्वतीकण्ठाभरण', आदि में ठीक इसी प्रकार के प्रयास विद्यमान हैं। किन्तु पाणिनि की मूल 'अष्टाध्यायी' की अपेक्षा अधिक प्रक्रियात्मक होते हुए भी, उनमें विषयों—धातु, संज्ञा, कृत् तद्धित, उणादि, आदि—की प्रधानता है, रूपसिद्धि की नहीं। इसीलिए उसमें 'सन्धिप्रकरण' आदि को आरम्भ में लाने का प्रयास नहीं है। किन्तु, अब 'रूपावतार' में कहीं-कहीं आवश्यकता के नाम पर पाणिनीय क्रम में आमूल अन्तर ला दिया गया। ऐसा

१ बृहस्पति ने इन्द्र को 'शब्दपारायण' का प्रवचन किया था। म० १.१.१।

रूपसिद्धि की सरलता के नाम पर किया गया। सच तो यह है कि 'रूपावतार' का प्रयत्न भी अपने से परवर्त्ती प्रयत्नों से पर्याप्त भिन्न था।

उदाहरणार्थ, हम उसके 'धातुप्रत्ययपंचिका' के अधिकार को लेलें। इसमें एक बात बाद की प्रक्रियाकौमुदी, सिद्धान्तकौमुदी आदि से एकदम भिन्न है। वह यह कि इसका विभाजन गणों के आधारों पर न करके लकारों के आधार पर किया गया है। 'लकारों' का क्रम भी वह नहीं माना गया, जो सामान्यतः अन्य ग्रन्थों में माना गया है। मोटे रूप में 'सार्वधातुक' और 'आर्धधातुक' लकारों के क्रम से सभी धातुओं को, अपने-अपने 'गण' के क्रम में, लिया गया है। इस प्रकार 'लकार-क्रम' को मुख्यता और गण-क्रम को गौण स्थान देकर एक सर्वथा भिन्न क्रम को अपनाया गया है।

इस दृष्टि से इसकी उपादेयता एक मूल या बीज ग्रन्थ के रूप में कही जा सकती है। किन्तु इसके बाद के प्रयत्नों में बीज या नींव के ग्रन्थ के रूप में जो महत्त्व 'प्रक्रियाकौमुदी' को मिला, उसे आज भी कम नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि उसमें अपनाई गई सरणि आज भी उसी रूप में अनुकृत हो रही है। नारायण का 'प्रक्रियासर्वस्व' और भट्टोजि की 'सिद्धान्तकौमुदी' नाम्ना या आकारतः भिन्न होकर भी प्रकार और तत्त्व में 'प्रक्रियाकौमुदी' के अनुवर्त्ती ही हैं। कुछ सूत्रों के क्रम में हेर-फेर कर देने मात्र से ही प्रक्रिया में नवीनता नहीं आ जाती।

परन्तु, इस क्षेत्र में 'सिद्धान्तकौमुदी' को जितनी लोकप्रियता प्राप्त हुई, उतनी इनमें से अन्य किसी भी ग्रन्थ को प्राप्त न हुई। बाद में तो इसी 'सिद्धान्तकौमुदी' के 'लघु' और 'मध्य' संस्करण भी विद्वानों ने बना डाले। सरलीकरण की इस प्रक्रिया ने इतना प्रसार पाया कि एक बार तो सामान्य पाठ्यक्रम में से पाणिनीय अष्टाध्यायी की मूलानुवर्त्तिनी परम्परा का उच्छेद ही होता लगने लगा। 'काशिका' का पठन-पाठन तो रुक ही गया। अंग्रेजों का राज्य स्थापित हो जाने के बाद भी शिक्षाप्रणाली में प्रक्रियाग्रन्थों का महत्त्व निरन्तर बढ़ता ही गया। इसे देखकर आपाततः तो ऐसा ही लगता था कि संस्कृत का प्रसार बढ़ता जा रहा है। कदाचित् यह भी, कि संस्कृत व्याकरण भी लोकप्रिय होता जा रहा है। किन्तु, दूसरी ओर, संस्कृत व्याकरण का अर्थ और रूप घटकर केवल रूपसिद्धि का एक उपादान मात्र रह गया, जिससे उसका वास्तविक रूप छिप गया।

व्याकरण : कठिन

और, इन सब का परिणाम यह हुआ कि नए-नए व्याकरणों का निर्माण और प्रचलन भी पाणिनीय व्याकरण को जिस अविचलित पद से हिला न सका था, इन 'प्रक्रियाग्रन्थों' की लोकप्रियता ने उस स्थान से उसे गिरा दिया। मूलतः पाणिनीय **अष्टाध्यायी** का निर्माण भी विषय और प्रसंगानुसार ही हुआ था, यह बात हम कह ही चुके हैं। बल्कि इतने निश्चित क्रम में उसका निर्माण हुआ था कि निश्चित प्रसंग की बात तब तक वहां से नहीं छूटी है, जब तक उसे पीछे ले जाने में पाणिनि का कोई विशिष्ट उद्देश्य ही सिद्ध न होता हो। तब फिर इन **'प्रक्रियाग्रन्थों'** ने क्या अन्तर ला दिया ?

अन्तर

'प्रक्रियाग्रन्थों' ने सबसे पहला अन्तर यह उपस्थित किया, जिसका कि मनोवैज्ञानिक प्रभाव बहुत ही बुरा हुआ, कि पाठक को ऐसा आभास दिया कि पाणिनीय चिन्तन-क्रम सरल नहीं है, और इसीलिए वह ग्राह्य नहीं है।

उस क्रम को तोड़ते ही नई समस्याएं उत्पन्न हुईं। एक-एक प्रयोग की साधुता-असाधुता दर्शाने के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों से सूत्र उठाकर उस स्थान-विशेष पर, सद्यः रूपसिद्धि की भावना से, बिठाये जाने लगे। पाठक तो इसी भावना से बढ़ता है कि कोई बात किसी एक निश्चित क्रम में कही जा रही है। वह सूत्रों को अनियमित न मान कर, नियमित और व्यवस्थित मानता है। परन्तु, रूपसिद्धि की सरलता के नाम पर जब उसे इधर-उधर से संचित सूत्र एक ऐसे क्रम में दे दिए जाते हैं कि जिससे रूपसिद्धि का काम तो उसे सरल लगता है, किन्तु सूत्रार्थ को जानने की समस्या उसके लिए सर्वथा नई बनकर खड़ी हो जाती है, तब वह जान पाता है कि वह सरलता के व्यामोह के एक ऐसे जाल में जा फंसा है, जिसमें से निकलने के लिए फिर से पाणिनीय क्रम की शरण में गए बिना उसका निस्तार नहीं। तब वह पछताता भी है।

लाभ और हानि

'प्रक्रिया-पद्धति' का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इससे शब्दों की तात्कालिक रूपसिद्धि की समस्या सुलझती दीखती है, जबकि इस पद्धति की सबसे बड़ी हानि यह है कि जिन नियमों या सूत्रों के द्वारा रूपसिद्धि की यह समस्या

सुलझती है, वे सूत्र स्वतः ही प्रकरण-वाह्य और अग्राह्य-से प्रतीत होने लगते हैं। अवतक विद्यार्थी उन्हें एक निश्चित क्रम में पढ़ते हुए रूप-साधना में उनके विनियोग को भी यथाक्रम जान लेता था। उसे कम से कम वृत्तियां रटने की जरूरत इसलिए नहीं रहती थी कि वह उस सारे क्रम को जानता था, जिसमें होकर वह नियमविशेष आ रहा था। अतः प्रसंगानुसार वह सूत्रों या नियमों से परिचित था। किन्तु, अव नियमों के परिचय के लिए तो उसे पुस्तकोक्त वृत्ति पर आधारित होना पड़ गया, जब कि रूपसिद्धि की प्रक्रिया उसे देखने में सरल सी लगने लगी। क्योंकि अब वह 'रूपसिद्धि' के ही क्रम से पढ़ने लगा था।

सरलता : छलावा

हम इस सरलता का रहस्य भी जरा देखलें। किसी भी आरम्भिक प्रकरण में पाठक को आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे सिद्धि की प्रक्रिया सरल वन गई हो। किन्तु, थोड़ा आगे बढ़ते ही जव उसे फिर-फिर उन्हीं सूत्रों की आवश्यकता पड़ती है, तव उसके लिए एक समस्या खड़ी हो जाती है। उसने उन सूत्रों को अपने क्रम में तो पढ़ा नहीं था। उसने पढ़ा था सन्धि, समास, तिङन्त या सुबन्त के प्रसंग में। एक विशेष प्रसंग में पढ़े सूत्र को अब दूसरे प्रसंग में लाना उसे सहज अथवा स्वाभाविक नहीं लगता। या तो 'प्रक्रिया' की रचना करने वाले ऐसे सब सूत्रों को वार-वार दोहराने से न घवराएं, जो कि विस्तार के भय से असम्भव है, या फिर वे यह स्वीकार करें कि हर दशा में एक स्थान पर पढ़े सूत्र को दूसरे स्थान पर प्रयोग करते समय स्मरण रखने की समस्या बनी रहेगी।

यदि अभिप्राय केवल पढ़ने वालें के सौकर्य का है, तव उसे काशिकादि के क्रम में भी सिद्धि-प्रक्रिया समझा कर सरल बनाया जा सकता है। किन्तु उस क्रम को विगाड़ते ही हम सूत्रों के अर्थों को उनके प्रसंग से वियुक्त करके सर्वथा एक नए परिपार्श्व में ला देते हैं, और इस प्रकार उन्हें स्मरण रखने का उत्तरदायित्व विद्यार्थी का और बढ़ा देते हैं। वास्तव में जिसे हम 'सारल्य' समझ बैठे थे, वह विद्यार्थी के लिए काठिन्य का छलावा मात्र सिद्ध होता है। अधिक उचित यही प्रतीत होता है, कि विद्यार्थी को पहले क्रम में केवल सारे नियममात्र समझाएं जाएं, और वाद में उसे रूपसिद्धि की प्रक्रिया में डाला जाए। तब उसे किसी भी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ेगा।

यदि इसी प्रक्रिया-पद्धति को अपनाना है, तब नए सिरे से इस ढंग से सूत्रों का निर्माण क्यों न किया जाए, जिससे सूत्रों से ही प्रक्रिया के सन्दर्भ में उचित अर्थ की अभिव्यक्ति हो ? भले ही वे सूत्र हर प्रकरण में नए ढंग से क्यों न तनाने पड़ें ! कम से कम यह कठिनाई दूर होनी चाहिए कि **प्रथमाध्याय** के बाद एकदम **अष्टमाध्याय** का सूत्र आ जाए, और तव **तृतीय** या **द्वितीय** अध्याय का; ताकि विद्यार्थी का सारा समय **काशिका** और **कौमुदी** का, अथवा 'कौमुदी' की सूत्रसूची देखकर उसके ही अन्तर्वर्ती सूत्रों का, मिलान करने में न निकल जाए । इससे तो उद्देश्य सिद्ध होने की अपेक्षा परास्त ही होगा ।

निष्कर्ष

अतः यदि पाणिनीय सूत्रों को अविकृत रखकर ही व्याकरण को सरल बनाना है, तो अधिक अच्छा हो कि हम वर्तमान सूत्र-क्रम के यथावत् रहते हुए ही **संज्ञा, परिभाषा, सन्धि, कृत्, तद्धित, समास,** आदि प्रकरणों को उसमें से लेकर उसी अविकृत क्रम में पढ़ाएं । इससे विद्यार्थी के ज्ञान में किन्हीं ऐसे सूत्रों की कमी तात्कालिक रूप में अवश्य अखर सकती है, जो उसी प्रसंगविशेष के साथ उन्हें पढ़ देने से प्रतीत न होती । किन्तु यह कमी उतना बड़ा दोष नहीं है, जितना विद्यार्थी की जिज्ञासा को प्रतिपद बाधित करना । हमारी दृष्टि में, जैसे हम पहले ही कह चुके हैं, **पाणिनीय क्रम** से एक बार सम्पूर्ण सूत्रों का आशय समझ लेने के बाद **प्रक्रिया-क्रम** के माध्यम से व्याकरण पढ़ना सार्थक हो सकता है । अन्यथा, सीधे केवल **प्रक्रिया-क्रम** पर पड़ने से तो लाभ के बदले हानि ही होगी ।

प्रक्रियाग्रन्थ

परम्परा की व्यापकता

प्रक्रियाग्रन्थों की रचना—प्रक्रिया केवल पाणिनीय व्याकरण तक ही सीमित नहीं रही । बल्कि, व्याकरण के अन्य भेदों में भी यह पर्याप्त व्याप्त हो गई । **चान्द्र, कातन्त्र, शाकटायन, सारस्वत,** और **हैम** आदि प्रायः सभी व्याकरणों पर इस प्रकार के ग्रन्थ लिखे गए । सबका उद्देश्य **'बालावबोध'** या **'सुखबोध'** को ही बताया गया । **बोपदेव** का 'मुग्धबोध' तो रचा ही इसी उद्देश्य से गया था ।

सूत्रों का चयन

पाणिनीय व्याकरण में, कहा जा चुका है, 'रूपावतार' सबसे पहला ऐसा प्रक्रिया ग्रन्थ मिलता है। इसमें धर्मकीर्त्ति का प्रयत्न यही रहा है कि सरल से सरलतर विधि अपनाई जाए। किन्तु, साथ ही उसका, या बाद में प्रक्रिया-कौमुदीकार रामचन्द्र का भी, यह आग्रह न था कि इस पद्धति में पाणिनि का प्रत्येक सूत्र समाविष्ट हो ही जाना चाहिए। उनका मुख्य उद्देश्य था पाणिनीय व्याकरण की नए क्रम से पुनर्व्यवस्था। अतः उसमें सारे सूत्रों के अनिवार्यतः आने की शर्त आवश्यक न थी।

तात्कालिक दृष्टि

अनेकत्र ऐसा भी हुआ है कि सामान्य प्रक्रिया में जिन सूत्रों का प्रयोग केवल परम्परानिर्वाह के लिए करना अनिवार्य माना जाता है, उन्हें भी इन प्रक्रियाकारों ने अछूता छोड़ दिया है। कारण यह कि उनकी दृष्टि नियमों की सार्वत्रिकता और वैज्ञानिक उपयोगिता या अनिवार्यता की ओर उतनी न रही, जितनी कि तात्कालिक अनिवार्यता या आवश्यकता की ओर। इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि एक ही सूत्र के उपयोग और निश्चित स्थान के विषय में प्रक्रियाकारों में आपस में भिन्न मत पाए जाते हैं। हम यहां दो सूत्रों का उदाहरण देकर सूत्रक्रम की ओर ध्यान आकृष्ट करेंगे। इस विषमता का एकमात्र कारण यह है कि प्रक्रियाकार केवल तात्कालिक आवश्यकता के प्रति सजग रहा है, उसके लिए नियम-विधान की अनिवार्यता का कोई महत्त्व नहीं रहा है।

(१) सुट् तिथोः (पा० ३.४.१०७)—यह सूत्र केवल भट्टोजिदीक्षित ने ही, सम्भवतः प्रक्रियाकौमुदी के अनुकरण पर, ठीक स्थान पर अपनाया है। 'रूपावतार' में इसे 'एध' के आशीर्लिङ् में 'एधिषीष्ट' प्रयोग के सम्बन्ध में ही सर्वप्रथम अनुकरणयोग्य समझा गया है। उससे पूर्व विधिलिङ् में इसकी उपयोगिता कुछ भी नहीं समझी गई। सत्य यह है कि इसकी वृत्ति में किसी ने भी 'कित् लिङ्' का पाठ तक नहीं किया है। फिर यदि यह हो भी, तब भी 'भूयास्ताम्' की सिद्धि बिना इस सूत्र के कैसे सम्भव हो सकी?

सम्भवतः 'रूपावतार' से ही 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' के प्रणेता वरदराज ने भी एतद्विषयक संकेत लिया है। अतः उन्होंने भी 'सिद्धान्तकौमुदी' के क्रम का व्यतिक्रमण करके 'सुट्' की आवश्यकता बाद में ही स्वीकार की है।

सिद्धान्तकौमुदी में इसे 'भवेत्' की सिद्धि से पहले उचित स्थान पर ही पढ़ा गया है ।

(२) ङ्याप्प्रातिपदिकात् (पा० ४.१.१)—इसके विषय में स्थिति भिन्न है । 'प्रक्रियासर्वस्व'क्रम में अधिकांशतः पाणिनि का अनुवर्त्ती होने से, 'तद्धित' का प्रकरण इसमें 'सुबन्त' से पहले आया है । इसलिए उसमें स्वभावतः इस सूत्र को, प्रातिपदिक का विषय होने कारण, तद्धितप्रकरण के आदि में पढ़ा गया है। यह उचित ही है। किन्तु प्रक्रियाकौमुदी, सिद्धान्तकौमुदी, और लघुसिद्धान्तकौमुदी में इसे 'सुबन्त' के अजन्तपुंलिंग प्रकरण में पढ़ा गया है । इनमें से भी 'प्रक्रियाकौमुदी' और 'सिद्धान्तकौमुदी' के रचयिता इस सूत्र को 'प्रत्ययः'[1] और 'परश्च'[2] के बाद पढ़ते हैं, जबकि वरदराज उसे इन दोनों से पहले पढ़ना आवश्यक समझते हैं । उनकी दृष्टि में इन दोनों सूत्रों को बिना इस सूत्र की सहायता के पढ़ने से कुछ कमी रह जाएगी । पर, सत्य यह है कि पाणिनीय क्रम में इस सूत्र को उन दोनों के बाद में पढ़ने से और विशेषकर 'स्वौजस्मौट्'[3] से पहले पढ़ने से ही उद्देश्य की अधिक सिद्धि होती है ।

उद्देश्य-भिन्नता और सीमित दृष्टि

हमने देखा कि दोनों ही उदाहरणों में जो भेद है, वह जहां उद्देश्य की व्यग्रता या भिन्नता की सूचना देता है; वहां वह दृष्टि को सीमित करने का भी संकेत देता है । अब यदि पाणिनीय क्रम की बात इसकी तुलना में ली जाए, तब हम देखेंगे कि ये दोनों सूत्र उस क्रम में जहां पढ़े गए हैं, उससे पहले इनकी आवश्यकता किसी भी रूप में नहीं पड़ती । क्योंकि कोई प्रसंग ही ऐसा नहीं आता कि इसका प्रयोग अनिवार्य हो जाए ।

क्या यहीं से यह भी सिद्ध नहीं हो जाता कि पाणिनीय व्याकरण में रूपसिद्धि करना चरम लक्ष्य स्वीकार नहीं किया गया था । बल्कि, वहां भाषा की सामान्य रचना-प्रक्रिया के समान नियमों को समान ही प्रसंग में स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है ।

प्रमुख ग्रन्थ

कहा जा चुका है कि इन ग्रन्थों की परम्परा धर्मकीर्त्ति के 'रूपावतार'

---

१. पा० ३.१.१ ।
२. पा० ३.१.२ ।
३. पा० ४.१.२ ।

से आरम्भ होती है। उसके बाद जो प्रधान ग्रन्थ सामने आता है, वह है 'प्रक्रियाकौमुदी'। इसके रचयिता रामचन्द्र हैं। एक अन्य ग्रन्थ, इस प्रक्रिया का, नारायण भट्ट का 'प्रक्रियासर्वस्व' है। और, इस प्रक्रिया का सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ 'सिद्धान्तकौमुदी' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके अनुकरण पर ही 'मध्यकौमुदी' और 'लघुकौमुदी' का निर्माण हुआ। उनमें प्रकरण और आवश्यकता के अनुसार सूत्रक्रम में कुछ हेर-फेर भी किया गया है। परन्तु, इस विषय में वे मौलिक उतने नहीं रहे हैं। उन्होंने ऐसा किसी न किसी प्राचीन प्रक्रियाग्रन्थ की नकल पर ही ऐसा किया है। यह बात ऊपर के उदाहरणों में हम सिद्ध कर चुके हैं।

इन उपरिगणित प्रक्रियाग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ अन्य भी प्रक्रियाग्रन्थ बने। उनका उल्लेख तो मिलता है, किन्तु सम्पूर्ण रूप में उनमें से कुछ ही उपलब्ध होते हैं। जो हैं, वे भी एक या दूसरे रूप में कुछ त्रुटित या अपूर्ण रूप में उपलब्ध हैं।

इस अध्याय में हम इनमें से केवल पाँच ग्रन्थों का ही पर्यालोचन अत्यन्त संक्षेप के साथ करेंगे। इनके नाम हैं क्रमशः : रूपावतार, प्रक्रियाकौमुदी, सिद्धान्तकौमुदी, प्रक्रियासर्वस्व और लघुकौमुदी।

धर्मकीर्त्ति : रूपावतार

परिचय

इनका समय लगभग १०९० ई० बैठता है। यह हम कैयट की चर्चा में भी कह आए हैं। ये उस प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्त्ति से भिन्न प्रतीत होते हैं, जिसने 'न्यायबिन्दु' आदि की रचना की थी। इन्होंने ही सर्वप्रथम प्रक्रिया-क्रम के आधार पर पाणिनीय व्याकरण में अपने ग्रन्थ 'रूपावतार' की रचना की थी। प्रक्रियाग्रन्थों की विकासप्रक्रिया को समझने के लिए इस ग्रन्थ का परिज्ञान अत्यन्त उपयोगी है तथा कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण भी है।

पाणिनीय मत का अनुगमन

आरम्भिक चर्चा में हम कह आए हैं कि इस नवीन पथ का उद्घाटन करने की दृष्टि से रूपावतार का अपना ही महत्त्व है। यद्यपि इसकी चर्चा

'प्रक्रियाकौमुदी' के रचयिता रामचन्द्र ने नहीं की है, न ही टीकाकार विट्ठल ने इसकी चर्चा की है, तब भी यह मानने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए कि उनकी 'प्रक्रियाकौमुदी' का प्रेरणास्रोत भी यही ग्रन्थ रहा होगा। दोनों की आयोजना इस बात में आपाततः एक सी ही लगती है कि **नामरूपों** के साथ **तद्धितस्त्रीप्रत्ययादि** को पढ़ा गया है, जबकि धातु या **क्रियारूपों** के साथ **कृत्-कृत्यादि** को पढ़ा गया है। इस दृष्टि से भी 'रूपावतार' का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

एक और बात में दोनों समान हैं : दोनों में ही पाणिनिकृत व्याकरण के समस्त सूत्रों को खपाने की कोशिश नहीं की गई है। दोनों ने ही प्रधान प्रक्रियाओं के पूरे व्याख्यानमात्र तक ही अपने कृतित्व को व्याप्त रखा है? पूर्ण पाणिनीय व्याकरण को समझना-समझाना उनका लक्ष्य था। स्पष्ट तो यह भी है कि **प्रक्रियाकौमुदीकार** के शब्द इस दृष्टि से सार्थक ही हैं, जब वह **पाणिनीयमत** को स्पष्ट करने का उद्घोष अपनी आरम्भिक कारिका में ही करता है। यही बात **धर्मकीर्त्ति** का भी लक्ष्य रही है। अतः पाणिनीयमत को प्रक्रियाक्रम से दर्शाना, या प्रक्रियाओं को पाणिनीयमत के अनुसार दर्शाना ही उनका लक्ष्य रहा।

व्यक्तिगत वैशिष्ट्य : एक दृष्टि

किन्तु जैसा कि ऊपर संक्षेप में कह आए हैं कि कुछ बातों में 'रूपावतार' अनूठा है। उदाहरणार्थ हम **'धातुप्रत्ययपंचिका'** को ले सकते हैं। इनमें लकारादिक्रम को प्रधान रखा गया है, गणक्रम को उसके अधीन लाया गया है। इस प्रकार हर लकार की चर्चा में हर बार उसी धातु को दुबारा पढ़ना पड़ता है। यह प्रक्रिया इस दृष्टि से सरल लगती है कि इसमें लकारक्रम से सभी धातुओं की समस्या साथ-साथ निबट जाती है।

किन्तु इससे बार-बार दोहराने के अतिरिक्त एक हानि भी हुई है। वह यह कि पाठक का किसी एक धातु पर भी अधिकार पूरा का पूरा प्रकरण समाप्त किए बिना नहीं हो पाता। इस दृष्टि से विद्यार्थी के लिए पाणिनीय व्याकरण को आकर्षक और सरल बनाने का जो उद्देश्य था, वह अपूर्ण रह जाता है। विद्यार्थी का मन अपनी उपलब्धियों को गिन-गिनकर बढ़ने की प्रवृत्ति वाला होता है। किन्तु, यहां विद्यार्थी सम्पूर्ण प्रकरण के अन्त तक एक भी धातु को अपने अधिकार में आया नहीं समझ पाता।

लकारों का क्रम

किन्तु, इस क्रम में एक आकर्षण और लाभ भी है; भले ही वह गौण हो। इन लकारों का क्रम इसमें सामान्यतः मान्य क्रम के अनुसार नहीं रखा गया है। प्रक्रिया की सरलता के लिहाज़ से पहले 'सार्वधातुक' लकारों को एक साथ लिया गया है, और बाद में 'आर्धधातुक' लकारों को। इससे यह लाभ रहता है कि चारों सार्वधातुक लकारों को पूरा करते ही विद्यार्थी यह समझ सकता है कि अब वह काम-चलाऊ रूप में संस्कृत का प्रयोग कर सकता है। क्योंकि सामान्यतः इन चारों लकारों में अधिकांश जनकार्य के प्रयोग आ जाते हैं। आर्धधातुक प्रकरण थोड़ा लम्बा भी है।

इन दोनों प्रकरणों के बाद ही सन्नन्त, यङ्, यङ्लुक्, आदि विविध प्रकरण लिए गए हैं। इसके लेखक की यह भी विशेषता रही है कि वह प्रक्रिया के लिए टीका रूप में साथ-साथ ही संकेत देता रहा है। अन्ततः कहा जा सकता है कि प्रथम प्रयास के रूप में इसका अपना महत्त्व अक्षुण्ण है।

'कातन्त्र' का अनुगमन

परन्तु, इसे केवल पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से ही प्रथम प्रयास कहा जा सकता है। अन्यथा इससे कम से कम एक सहस्र वर्ष पूर्व ही 'कातन्त्र' का वर्त्तमान रूप सामने आ चुका था। वह प्रक्रियाक्रम में ही लिखा गया ऐन्द्र या प्राच्य परम्परा का प्राचीन व्याकरण है। हम यह बात 'कातन्त्र' के प्रकरण में ही कहेंगे कि उसका वर्त्तमान रूप मूल नहीं है। किसी अन्य मूलरूप से ही उसे शर्ववर्मा ने प्रक्रिया-पद्धति में ढाला है। यह बात अन्तःसाक्ष्य से भी सिद्ध होती है। उसके अनेक सूत्र प्रसंग के बाहर से आए दीखते हैं। स्पष्ट ही पहले उनका क्रम भिन्न रहा होगा।

इस प्रकार यद्यपि 'रूपावतार' पाणिनीय क्रम में सर्वप्रथम प्रक्रियाग्रन्थ है, तथापि उससे बहुत पहले प्रक्रियाग्रन्थों की यह प्रक्रिया आरम्भ हो चुकी थी।

प्रक्रिया का स्वरूप और गुण

'रूपावतार' की प्रक्रिया की कुछ और बातों की ओर ध्यान खींचना भी आवश्यक है। उदाहरणार्थ, 'धातुप्रत्ययपंचिका' के आरम्भ में विद्यार्थी को सरलता से एक ही दृष्टि में टित् और ङित् लकारों का परिचय देने के साथ-साथ उनके विविध भेदों के नामकरण की—लट्, लिट्, लुट्, आदि की—

उपयोगिता भी स्पष्ट कर दी गई है। यह एक दृष्टि से बहुत अच्छा रहा है। इससे पाणिनीय मूल भावना की रक्षा हो सकी है। उसके अनुसार विद्यार्थी को किसी भी विषय का ज्ञान एक ही प्रकरण में पूर्णता से करा देना ही उचित ठहरता है।

दूसरी बात स्वयं प्रक्रिया के स्वरूप के बारे में है। 'रूपावतार' में धातु और लकार को मुख्यता प्राप्त है। वृत्ति आदि ग्रन्थों में, और परवर्त्ती प्रक्रिया-ग्रन्थों में भी, सूत्र, उसकी वृत्ति, उदाहरण और प्रत्युदाहरण की प्रधानता रहती थी। नाम और आख्यात के रूपों की सिद्धि वहाँ गौण थी। यहाँ 'लकार' की प्रधानता का परिणाम यह हुआ है कि सूत्र और उसकी वृत्ति गौण स्थान ग्रहण कर गए हैं। किसी भी रूप की सिद्धि में आने वाले सूत्र की मात्र स्थानीय उपयोगिता ही दिखाई देती है। इसमें रूपसिद्धि को इतनी प्रमुखता मिली है कि अनेक सिद्धियों में वही सूत्र अनेक जगह लेखक स्वयं ही दोहरा देता है, जब कि उसकी वृत्ति केवल एक ही जगह दी जाती है। इस प्रकार एक-एक सिद्धि को पूरी तरह दिखाने का उपक्रम प्रधान रहा है।

अन्ततः कहा जा सकता है कि पाणिनीय व्याकरण में प्रक्रिया-पद्धति के आदिग्रन्थ की दृष्टि से 'रूपावतार' का अपना ही महत्त्व है।

इसी नाम के अन्य ग्रन्थ

जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय के हस्तलेखों का एक सूचीपत्र स्टाइन ने सम्पादित किया था। इसमें दो भिन्न 'रूपावतारों' की चर्चा की गई है। इनमें से एक का कर्त्ता 'कृष्ण दीक्षित' को बताया गया है। इन दोनों की परीक्षा होनी चाहिए। तभी सत्य सामने आ सकेगा।

इस ग्रन्थ के टीकाकार

इसकी एक व्याख्या शंकरराम नाम के विद्वान् ने लिखी है। व्याख्या का नाम है—नीवि। इसकी तीन हस्तलिखित प्रतियाँ त्रिवेन्द्रम (तिरु अनन्त-पुरम्) के पुस्तकालय में विद्यमान हैं।

मद्रास के राजकीय पुस्तकालय में इसका एक अन्य व्याख्याग्रन्थ विद्यमान है। इसका भी अधिक अध्ययन नहीं हुआ है। इसके भी लेखकादि का अधिक परिचय उपलब्ध नहीं है।

रामचन्द्र : प्रक्रियाकौमुदी

पीठिका

भट्टोजिदीक्षित से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व ही उस 'सिद्धान्तकौमुदी' की आधारशिला रखी जा चुकी थी, एवं उसका आकार-प्रकार भी निश्चित हो चुका था, जिसने वाद में चलकर घर-घर में प्रचार पाया, और संस्कृत के प्रचार और पाणिनीय 'अष्टाध्यायी' के अध्ययन के ह्रास के लिए जिसका योगदान अभूतपूर्व रहा। यह नींव और प्रायोजना जिस प्रारूप के माध्यम से की गई थी, उसका ही नाम था 'प्रक्रियाकौमुदी'! और, इसके कर्ता का नाम था आचार्य रामचन्द्र। काल की गति से आगे चलकर ये दोनों ही नाम धीरे-धीरे धुंधले पड़ते गए! और, इनके स्थान पर इनके ही द्वारा प्रसूत और परिवृंहित 'सिद्धान्तकौमुदी' ने वटवृक्ष की भांति बढ़कर अपना नित्य परिवर्त्तनशील स्थान वना लिया।

यही वह आदिग्रन्थ है, जिसने यद्यपि प्रेरणा अन्यत्र से—धर्मकीर्त्ति के 'रूपावतार' से—ली, किन्तु जिसने प्रथमवार एक स्वतन्त्र सरणि को विधिवत् स्थापित किया। इसकी आरम्भ की हुई प्रक्रिया आजतक अनाहत और अप्रतिहत चल रही है। भले ही, स्वयं इसका अपना प्रचार कम से कम होता गया है।

परिचय

व्याकरण के क्षेत्र में अत्यधिक प्रसिद्ध शेषवंश में उत्पन्न सुविख्यात अनन्ताचार्य के पौत्र श्री कृष्णाचार्य के पुत्र रामचन्द्र भी अपने पिता की भांति अत्यन्त प्रसिद्ध पण्डित हुए। श्रीकृष्णाचार्य को हर शास्त्र-शाखा में निष्णात कहा गया है। रामचन्द्र भी उन्हीं की तरह निष्णात थे। व्याकरण तो उनका एक क्षेत्रमात्र था। इसके अतिरिक्त भी उन्होंने 'कालनिर्णयदीपिका' आदि ग्रन्थ लिखे हैं। उन ग्रन्थ से उनके ज्ञान विस्तार का परिचय मिलता है।

काल

कालिदास के विख्यात टीकाकार मल्लिनाथ का काल चौदहवीं शती ईस्वी माना गया है। 'रघुवंश' के एक अन्य टीकाकार हेमाद्रि उनसे भी पहले हुए हैं। उनका समय उतना निश्चित नहीं कहा जा सकता। उन्होंने

'प्रक्रियाकौमुदी'[1] और उसकी टीका 'प्रक्रियाप्रसाद'[2] की चर्चा अपनी रघुवंशीय टीका में निश्चय ही की है। मल्लिनाथ को ही 'न्यासोद्योत' का भी कर्त्ता माना गया है। इस 'न्यासोद्योत' की चर्चा सायरण अपनी 'माधवीया धातुवृत्ति' में करते हैं।[3]

सायरण काल भी चौदहवीं शती माना गया है। यदि हम इसे १३५० ई० भी मानलें, तो इसका अर्थ हुआ कि मल्लिनाथ को हम बहुत सरलता से १३२५ ई० के आसपास 'न्यासोद्योत' की रचना करते मान सकते हैं। इसी प्रकार हेमाद्रि का काल तब कम से कम १३०० ई० के पहले ही ठहरता है। उसके द्वारा 'प्रक्रियाप्रसाद' का उल्लेख उसके लेखक विट्ठल को उनसे पूर्ववर्त्ती ठहराता है। इस दृष्टि से यदि विट्ठल को उनसे न्यूनतम दस पन्द्रह वर्ष पूर्व भी माना जाए, जो कि कालगणनाप्रक्रिया के सिद्धान्तों के विरुद्ध है, तब भी उस का समय १२८५ ई० के आसपास ठहरता है।

अपने क्रम में विट्ठल रामचन्द्र के पौत्र हैं। रामचन्द्र का काल इस गणनाक्रम में १२३० से इधर किसी दशा में नहीं बैठता; यद्यपि विट्ठल के अनुसार उसके समय तक प्रक्रियाकौमुदी' में पर्याप्त प्रक्षेप हो चुके थे, जिससे इसकी और भी प्राचीनता सिद्ध होती है।

कठिनता

परन्तु, यह तिथि मानते ही तिथिक्रमविनिश्चय की एक बड़ी दुरूह समस्या खड़ी हो जाती है। अब तक के कालसम्बन्धी बहुत से निष्कर्ष गड़बड़ में पड़ जाते हैं। कुछ अवधेय तथ्य इस प्रकार हैं:

(१) उपर्युक्त सारे युक्तिक्रम को प्रस्तुत करके भी 'प्रक्रियाकौमुदी' के सम्पादक श्री कमलाशंकर प्राणशंकर त्रिवेदी मल्लिनाथ का काल भी चौदहवीं शताब्दी ही रखते हैं, और उससे कम से कम तीन पीढ़ी पहले के रामचन्द्राचार्य का काल भी उसी शताब्दी में स्वीकार करते हैं।

(२) महामहोपाध्याय काशिनाथ वासुदेव अभयंकर इस उलझन से अनभिज्ञ रहकर मल्लिनाथ का समय तो चौदहवीं शताब्दी ही में रखते हैं, जबकि विट्ठलेश या विट्ठल को वे सोलहवीं शती के आरम्भ में मानते हैं। रामचन्द्र का समय उन्होंने पन्द्रहवीं शती का उत्तरार्ध माना है। हेमाद्रि के प्रमाण को छोड़ देने पर यह गणना ठीक बैठती है।

१. प्रक्रियाकौमुदी, भाग—१, भूमिका पृष्ठ ४४-४५।
२. वही।
३. पृ० ३१, २१९, काशी संस्करण।

(३) तिथिनिर्णय में अत्यन्त सावधान रहने वाले मीमांसक जी ने सारे प्रमाण तो कमलाशंकर त्रिवेदी की भूमिका से ले लिए, किन्तु कालनिर्णय के मामले में उनसे भी अधिक त्रुटि कर गए। वे विट्ठल का काल १४६५ ई० के आसपास मानते हैं। स्वभावतः रामचन्द्र का काल उनकी दृष्टि में १४१५ के आस पास होना चाहिए। इस प्रकार रामचन्द्र का काल उनके द्वारा १४२३ ई० माना जाना बुरा भी नहीं है।

किन्तु, मल्लिनाथ से सम्बद्ध प्रमाण को वे बिल्कुल ही भूल गए हैं। उनकी सतर्क दृष्टि से यह चूक कैसे हो गई ? मल्लिनाथ के 'न्यासोद्योत' का काल वे १३१५ ई० से कुछ वर्ष—१५ या २० वर्ष—पहले ही मानते हैं। स्वभावतः रामचन्द्र का काल उनके हिसाब से भी १२६० ई० से पहले ही माना जाना चाहिए; यदि मल्लिनाथ से पहले के हेमाद्रि की बात को स्वीकार कर लिया जाए।

पर यदि ऐसा मान लें, तब भट्टोजि के कालनिर्णय के प्रसंग में दिया मीमांसक जी का सारा युक्तिक्रम एकदम गिर जाएगा। क्योंकि उस युक्तिक्रम में मूल आधार नागेश से आरम्भ होता है। नागेश के शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्ड के पुत्र और स्वयं नागेश के शिष्य बालशर्मा का कोलब्रुक का समकालीन होना नागेश के समय को सन् १७८३ से पहले निश्चित कर देते हैं। नागेश के गुरु भट्टोजि के पौत्र थे। इस दृष्टि से १२५ वर्ष तक पहले खींचने पर भी भट्टोजि का काल १६५० ई० के आसपास ही बैठता है।

(४) इसका हल कीथ अनजाने ही सुझाते हैं। उन्होंने मल्लिनाथ का ही काल १५३२ ई० माना है। प्रक्रियाकौमुदीकार रामचन्द्र का समय १४०० ई० मानते हैं। भट्टोजि का काल उनकी दृष्टि में १६०० ई० के बाद ही ठहरता है। ये निर्णय उन्होंने कैसे किये, यह स्पष्ट नहीं है। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि यदि इस क्रम को मानें, तो हम स्वयं को कुछ निरापद मान सकते हैं। किन्तु, यहां एक ही कठिनाई आती है : क्या मल्लिनाथ का यह समय कोई नई गड़बड़ तो नहीं खड़ी करेगा ?

हम कह चुके हैं कि तब सायण और उनकी 'माधवीया धातुवृत्ति' का काल नये सिरे से निर्णय करना होगा। परन्तु, सायण का काल कीथ भी चौदहवीं शती का मध्य(लगभग १३५०ई०)मानते हैं। उसके आधार पर भी राम-

चन्द्र का समय कम से कम ७० वर्ष पूर्व (लगभग १२८० ई०) बैठना चाहिए। कीथ के सामने सायण की 'माधवीया धातुवृत्ति' का यह प्रमाण नहीं था। पर, एक बात उन्होंने अवश्य बुद्धिमत्तापूर्ण की है, जिसकी उचित जांच होनी चाहिएँ। वे 'माधवीया धातुवृत्ति' को सायण की कृति ही स्वीकार नहीं करते। वे उसे किसी परवर्त्ती लेखक की उस नाम से लिखी गई कृति मानते हैं। अतः उन्होंने समस्या का ठीक प्रतीत होने वाला हल खोज लिया लगता है। यद्यपि समस्या उनके सामने उतनी उग्र और उस रूप में विद्यमान नहीं थी।

(५) फिर 'माधवीया धातुवृत्ति' की अन्य द्वारा रचना की उनकी यह बात सर्वथा निराधार और काल्पनिक नहीं है। मीमांसक जी ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि इसका कर्त्ता सम्भवतः यज्ञनारायण नाम का कोई विद्वान् था, जिसने सम्भवतः इसे रचकर सायण के नाम से, उसके ही आदेश से, प्रचारित किया। पर इसमें कम्पराज के पुत्र संगम के राज्यकाल में इसके रचे जाने की उद्घोषणा आरम्भ और अन्त में की गई है। उसका काल ही सायण का काल माना गया है, क्योंकि सायण उसका ही मन्त्री था। अतः वास्तव में 'माधवीया धातुवृत्ति' को सायण की रचना न मानने पर भी, उक्त कालगणना में कोई विशेष अन्तर उपस्थित नहीं होता। क्योंकि हर दशा में रामचन्द्राचार्य का काल १२७० ई० के आसपास ही ठहरता है।

(६) परन्तु हम कह चुके हैं कि यदि भट्टोजि को १६०० ई० के आस-पास न स्वीकार किया जाए, तब अनेक गड़बड़ें उपस्थित हो जाएंगी, और उस दशा में रामचन्द्राचार्य का काल १४०० ई० से कुछ ही पहले रखा जा सकेगा। यद्यपि कुछ न कुछ अन्तर्विरोध तब भी रहेंगे ही। या फिर, कीथ के मतों को ही स्वीकार कर लिया जाए, और 'धातुवृत्ति' के आदि और अन्त में कथित श्लोकों को भी बाद का रचित ही स्वीकार किया जाए। तब कीथ द्वारा मान्य भट्टोजि का कालनिर्णय गलत ठहरेगा। उसे कम से कम ५० वर्ष पूर्व ले जाना होगा। पीछे हमने उसे १६०० ई० के आसपास ही माना है।

परन्तु, क्या तब मल्लिनाथ के काल पर तो कोई आपत्ति न खड़ी होगी? रघुवंश के उससे पूर्व के व्याख्याकार 'हेमाद्रि' की बात को कैसे टाला जा सकेगा?

रचनाएं

रामचन्द्र की तीन कृतियों का उल्लेख त्रिवेदी जी ने किया है: प्रक्रिया-

कौमुदी, कालनिर्णयदीपिका, और वैष्णवसिद्धान्तदीपिका। इसमें से कालनिर्णयदीपिका को वे माधव के 'कालनिर्णय' की व्याख्या मानते हैं।

इनमें से प्रस्तुत प्रसंग में हमें 'प्रक्रियाकौमुदी' से ही अभिप्राय है।

प्रक्रियाकौमुदी : महत्त्व

हम पहले कह चुके हैं कि 'सिद्धान्तकौमुदी' को हर स्थिति में मूल आधार प्रदान करने वाली रचना 'प्रक्रियाकौमुदी' ही है। इसके विपरीत 'रूपावतार' को हमने केवल 'प्रेरणास्रोत' ही कहा है, 'आधारग्रन्थ' नहीं। कारण है: उनकी शैलियों की समता और विषमता। पहले दोनों ग्रन्थों की शैलियों की समता हमें एक परिणाम पर ले जाती है, जबकि बाद के दोनों ग्रन्थों की शैली की भिन्नता हमें भिन्न परिणाम पर ले जाती है।

रूपावतार से अन्तर

सर्वप्रथम हम 'रूपावतार' के साथ इसके अन्तर और वैशिष्ट्य की चर्चा करेंगे। 'रूपावतार' के नाम से ही स्पष्ट है कि वहां शब्दरूपों की रचना मुख्य उद्देश्य है, प्रक्रिया का विभाजन या उसकी पूर्णता नहीं! देखने में 'रूपसिद्धि' और 'प्रक्रिया' एक दूसरे से अभिन्न लगते हैं। किन्तु तनिक विस्तार में जाते ही पता चलता है कि उनकी उद्देश्य-भिन्नता के कारण दोनों की शैली और वस्तूपन्यासपद्धति में आकाश-पाताल का अन्तर है।

उदाहरण के लिए, हम फिर से 'रूपावतार' के 'धातु-प्रत्यय-पंचिका' के प्रकरण को लेंगे। इसमें आरम्भ में ही 'लकारार्थप्रक्रिया' को स्पष्ट किया गया है। अर्थात्, लकार कितने हैं और उनके अनुबन्ध कितने और क्यों हैं?, इस बात को स्पष्ट किया गया है। स्पष्ट ही यह 'लकारार्थप्रक्रिया' जैसे, परवर्त्ती ग्रन्थों में दिए गए, वस्तु और विषय से सर्वथा भिन्न है। इसका अपना ही महत्त्व है, जिसे परवर्त्ती प्रक्रियाकार नहीं समझ पाए। यह पद्धति पाणिनीय व्याकरण की भावना और उसके क्रम को भी पर्याप्त दूर तक बचा लेती है। इसके बाद भी लकारक्रम से ही विषय को लिया गया है। उसमें भी सार्वधातुक-आर्धधातुक प्रत्ययों के विभाग-क्रम को अपनाया गया है। इस पर भी वहाँ 'रूपसिद्धि' को प्रधानता प्राप्त है। प्रधान सूत्र आते रहते हैं। उचित समझने पर उनकी वृत्ति आदि भी दी जाती है। किन्तु, साथ-साथ सभी पूर्वोक्त सूत्रों को भी प्रक्रिया-प्रदर्शन के लिए उद्धृत कर दिया जाता है।

'प्रक्रियाकौमुदी' इससे एक-दम भिन्न पथ अपनाती है। वहां धातु या शब्द की प्रधानता न होकर सूत्र और उसकी वृत्ति की सापेक्ष प्रधानता है। साथ ही वहां क्रम भी गण की दृष्टि से है, न कि लकारों की दृष्टि से ! वहां एक धातु को एक ही स्थान पर निवटा दिया गया है। लकारों के साथ-साथ उसका पाठ दस जगह नहीं किया गया। यह अकेली बात ही उन दोनों में मौलिक अन्तर को स्पष्ट कर देती है।

दूसरे शब्दों में, सूत्रप्रधानता होने पर जो उसी सूत्र के प्रयोग से अन्यान्य उदाहरणों के दिखाने की सम्भावना रहती है, उसे 'रूपावतार' में बहुत अंशों-तक कम कर दिया गया है। और, उनका प्रयोगक्षेत्र अत्यन्त सीमित-सा कर दिया गया है, जबकि 'प्रक्रियाकौमुदी' में सूत्रप्रयोग की इस व्यापक सम्भावना को बचाने का पूरा-पूरा प्रयास किया गया है।

परवर्त्ती ग्रन्थों से अन्तर

दूसरी ओर, 'सिद्धान्तकौमुदी' तथा अन्य प्रक्रियाग्रन्थों के लिए 'प्रक्रिया-कौमुदी' आदर्श और प्रेरणाप्रद कृति सिद्ध हुई है। 'प्रक्रियासर्वस्व' का कर्त्ता नारायण इस रचना का और इसके कर्त्ता का स्मरण अनेकत्र सम्मत्यर्थ और आदरार्थ करता है। किन्तु 'सिद्धान्तकौमुदी' के रचयिता भट्टोजि दीक्षित प्रथम तो उसका स्मरण प्रेरणादाताओं में करते ही नहीं। फिर, वे उनकी निर्दिष्ट प्रक्रियाओं और वृत्तियों को स्थान-स्थान पर खण्डित भी करते हैं। और यह सब तब, जबकि वे उनके क्रम, वृत्ति और उदाहरणों को अधिकांशतः बिना परि-वर्त्तन के स्वीकार कर लेते हैं। इसे सभ्यतम भाषा में भी कृतघ्नता ही कहा जाएगा। किसी भी सूत्र और उसके उदाहरणों को उठा लीजिए, निष्कर्ष यही रहेगा। जहां 'प्रक्रियासर्वस्व' और 'प्रक्रियाकौमुदी' में क्रमादि का अन्तर है, वहां पर भट्टोजि ने कौमुदीकार का ही अनुसरण किया है। विषयों का क्रम रत्ती-रत्ती वही है। एक भी प्रकरण स्थानान्तरित नहीं हुआ है। 'तद्धित' में तो प्रायः सूत्रक्रम भी वही है।

अतः इस दृष्टि से प्रक्रियाकौमुदी इन सब की अपेक्षा अपना विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

विशेषताएं

संक्षेप में उसकी विशेषताएं निम्न हैं :

(१) उसमें मात्र उपयोगी सूत्रों का ही समावेश किया गया है।

(२) उसमें प्रक्रिया और सूत्रवृत्ति आदि को समान प्रधानता दी गई है।

(३) अपने निश्चित क्रम में ही सूत्रों को स्वीकार किया गया है।

(४) 'रूपावतार' की अपेक्षा एक नई पद्धति की आधारशिला रखी गई है।

(५) सूत्रों की वृत्ति में संक्षेप और उदाहरण-प्रत्युदाहरणादि की पूर्णता के विषय में काशिका का मार्गदर्शन स्वीकार किया गया है।

(६) वार्त्तिकों आदि में से आवश्यकतानुसार चुनाव किया गया है। अनावश्यक परिभाषाओं और फक्किकादि को भी छोड़ दिया गया है।

(७) रूपावतार की भांति प्रक्रिया को हर जगह पूरा घटाकर नहीं दिखाया गया है।

टीकाकार और व्याख्याता

श्रीकृष्ण—रामचन्द्राचार्य के ज्येष्ठभ्राता नृसिंह के पुत्र श्रीकृष्ण ने, जिन्हें शेष वंश के होने के कारण कई विद्वान् भ्रान्ति से शेषकृष्ण भी कहते हैं, और जो अपने चाचा रामचन्द्राचार्य्य के शिष्य माने जाते हैं, 'प्रक्रिया-कौमुदी' पर एक टीका 'प्रक्रियाप्रकाश' नाम से लिखी। पर विट्ठल ने इस टीका की उपस्थिति का कोई सीधा संकेत नहीं दिया। बल्कि उनकी टीका से तो यही संकेत मिलता है कि ३०-४० वर्ष के व्यवधान के भीतर ही 'कौमुदी' के पाठों में गड़बड़ होने लगी थी। श्रीकृष्ण की टीका का एक हस्त-लेख संवत् १५१४ वि०, अर्थात् १४५७ ई०, का पूना के एक पुस्तकालय में सुरक्षित है। इसका लिपिकार इसके मूल लेखक से भिन्न व्यक्ति है। अतः यह टीका उस तिथि से पहले ही रची गई होगी।

विट्ठल—दूसरी टीका रामचन्द्र के पौत्र विट्ठल की है, जो मुद्रित होने से सुलभ है। यही सर्वाधिक प्रामाणिक टीका भी मानी जाती है। शैली और भाषा अत्यधिक सरल हैं। लेखक ने अपने चाचा कृष्णाचार्य के उपसर्गार्थ सम्बन्धी मतों का भी उद्धरण दिया है। उसने अन्य अनेक आचार्यों के प्रति भी आदर प्रदर्शित किया है। इसके आरम्भिक श्लोक ही हमें विट्ठल के दादा रामचन्द्र और पिता नृसिंह के बारे में पर्याप्त सूचना देते हैं।

अन्य : इनके अतिरिक्त कम से कम आठ और टीकाओं का अस्तित्व पता

चलता है। चक्रपाणिदत्त का नाम संस्कृत में टीका के लिए प्रसिद्ध है। इनकी एक टीका इस 'प्रक्रियाकौमुदी' पर भी है। इस टीका का नाम 'प्रक्रिया-प्रदीप' है। ये भट्टोजि के कुछ ही कालान्तर से हुए, और इन्होंने उनकी 'प्रौढमनोरमा' के खण्डनार्थ भी एक ग्रन्थ लिखा।

दूसरे टीकाकार हैं वारणवनेश, जिन्होंने 'अमृतसृति' नाम से एक व्याख्या लिखी। इसकी एक हस्तलिखित प्रति तंजौर के पुस्तकालय में विद्यमान है।

एक अन्य टीकाकार हैं—विश्वकर्मा शास्त्री। इनकी टीका का नाम है 'प्रक्रियाव्याकृति'। तंजौर के पुस्तकालय में इस व्याख्या का जो हस्तलेख है, उसका नाम 'प्रक्रियाप्रदीप' दिया है।

इनके अतिरिक्त नृसिंह की "व्याख्यान' नाम की, एक अज्ञात लेखक की 'निर्मल दर्पण' नाम की, जयन्त की 'तत्त्वचन्द्र' नाम की, विश्वनाथ दीक्षित की 'प्रक्रियारंजन' नाम की, एवं वरदराज की 'विवरण' नाम की व्याख्याओं के हस्तलेख भी उपलब्ध हैं।

इनमें से अन्तिम के सम्बन्ध में हम इतना ही कहना चाहेंगे कि वरदराज की 'विवरण' टीका को जानने के बाद उनके सम्बन्ध में हमारा यह अनुमान निराधार नहीं रह जाता है कि उन्होंने 'प्रक्रियाकौमुदी' को अपनी 'लघु-कौमुदी' का आधार अधिक बनाया है, 'सिद्धान्तकौमुदी' की अपेक्षा। यह हम पहले भी दो-तीन प्रमाण देकर कह चुके हैं, और आगे भी उचित प्रसंग में कहेंगे। आश्चर्य की बात यही है कि फिर उन्होंने अपने ग्रन्थ को 'लघुकौमुदी' न कहकर 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' क्यों कहा ?

पर नाम का महत्त्व भी एक सीमा तक ही होता है, अधिक नहीं। उसमें त्रुटि भी सम्भव है।

सिद्धान्तकौमुदी : भट्टोजि

पीठिका

इन दोनों के सम्बन्ध में हम पिछले अध्याय में पूरी तरह कह आए हैं।

यहाँ केवल प्रकरणानुसार 'सिद्धान्तकौमुदी' और भट्टोजि की 'शैली' के बारे में कुछ कहना है।

कौमुदी : तुलनात्मक अध्ययन

'प्रक्रियाकौमुदी' के 'सिद्धान्तकौमुदी' पर पड़े प्रभाव की चर्चा हम पहले कर आए हैं। यहां हम संक्षेप से सिद्धान्तकौमुदी, प्रक्रियाकौमुदी और प्रक्रिया-सर्वस्व की तुलना करेंगे।

प्रथम बात यह कि 'प्रक्रियाकौमुदी' की वृत्तियाँ 'काशिका' और 'रूपा-वतार' से भी छोटी एवं 'भाषावृत्ति' से भिन्न हैं। किन्तु 'सिद्धान्तकौमुदी' में उन्हींका प्रधानतया आश्रय लिया गया है। जहां अन्तर किया भी गया है, वहाँ मूल शब्दों को ही आगे-पीछे कर दिया है। कई जगह इससे स्पष्टता हुई है, परन्तु अनेकत्र इससे अस्पष्टता भी हुई है।

द्वितीय बात यह कि उदाहरणों के मामले में भी 'प्रक्रियाकौमुदी' का ही अनुकरण भट्टोजि ने किया है। इसके उदाहरण सरल और स्वयं स्पष्ट होने वाले हैं। उदाहरण की सारी प्रक्रिया को भी मूल वृत्ति का अंग बनाकर स्पष्ट करने का प्रयास, 'रूपावतार'के अनुकरण पर, यहां नहीं किया गया है।

तृतीय : यह कि सूत्रक्रम भी अन्य प्रक्रियाग्रन्थों की अपेक्षा इसमें 'प्रक्रिया-कौमुदी' के अनुकरण पर ही रखा गया है। बहुत ही कम स्थलों पर अन्तर है। ऊपर हम 'सुट् तिथोः' (पा० ३.४.१०७) और 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' (पा० ४.१.१) सूत्रों के उदाहरण दे आए हैं। इसी तरह के अन्य भी कई उदाहरण दिए जा सकते हैं।

चतुर्थ : प्रक्रिया-क्रम की बात कही ही जाचुकी है। लगता है, इस विषय में 'सुप्' या 'सुबन्त' को आरम्भ में और 'तिङ्' या 'तिङन्त' को बाद में रखने की मूल प्रेरणा 'रूपावतार' से ही मिली है। किन्तु, 'प्रक्रियाकौमुदी' में राम-चन्द्राचार्य ने जो क्रम तय किया, उसमें नाममात्र का भी अन्तर भट्टोजि ने नहीं किया है। इस क्रम से 'प्रक्रियासर्वस्व' का क्रम सर्वथा भिन्न और भिन्न-युक्तिपरक है।

पंचम : प्रधान और एकमात्र अन्तर, जिसके कारण कहीं-कहीं अन्यत्र भी अन्तर अनिवार्य होगए हैं, यह है कि इसमें 'प्रक्रियाकौमुदी' के समान किसी भी सूत्र को छोड़ने की बात सह्य नहीं रही है। इसीलिए कई अनावश्यक से

प्रतीत होने वाले सूत्रों को भी अनिवार्य क्रम का अंग बनाकर 'सिद्धान्त-कौमुदी' में ले ही लिया गया है। 'प्रक्रियासर्वस्व' में भी यही भावना रही है।

षष्ठ : 'प्रक्रियासर्वस्व' से एक अन्तर 'सिद्धान्तकौमुदी' में यह है कि इसमें प्रायः सारे वार्त्तिकों, परिभाषाओं और फक्किकाओं आदि को अन्तर्गृहीत करने का यत्न किया गया है। उन दोनों 'प्रक्रियाग्रन्थों' में आवश्यकता और अनिवार्यता की शर्त मुख्य रही है। साथ ही, 'प्रक्रियासर्वस्व' में सूत्रों के पाठभेद देने की परम्परा का 'सिद्धान्तकौमुदी' में अनुगमन नहीं हुआ है।

सप्तम : इसमें वार्त्तिकों आदि का सन्निवेश 'काशिका' के क्रम से किया गया है। 'प्रक्रियासर्वस्व' में यह क्रम अक्षुण्ण नहीं रहा है।

निष्कर्ष

इन सब आधारों पर यह कहा जासकता है कि कुछ बातों में 'सिद्धान्त-कौमुदी' अन्य दोनों या तीनों प्रमुख प्रक्रियाग्रन्थों से भिन्न है। हां, 'प्रक्रिया-रत्न' आदि उन ग्रन्थों की बात नहीं कही जा सकती, जिनका आज उल्लेख तो मिलता है, किन्तु जिनकी अपनी उपलब्धि सरल नहीं। फिर, उनका काल-निर्णय भी हो तो नहीं हो पाया।

महत्त्व

पर इस पर यह भी सत्य है कि परवर्त्ती समय में इसका प्रचार और प्रभाव किसी भी अन्य प्रक्रियाग्रन्थ की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक रहा। इस पर टीकाएं भी पच्चीस से अधिक रची गईं। और, पाठन-पाठन में भी इस को ही सर्वाधिक मान्यता मिली है।

नवीनता

कुछ बातों की दृष्टि से इसके मुद्रित संस्करणों में नयापन भी है, भले ही वह सम्पादकों की अपनी सूझ हो। हो भी सकता है कि भट्टोजि ने ही ऐसा किया हो, पर इसके प्रमाण नहीं हैं। वह नयापन यह है कि भाषावृत्ति, काशिका और चान्द्र आदि व्याकरणों की नकल पर, जो गणपाठ, धातुपाठ, उणादि-पाठ, और लिंगानुशासन देने की बात चली थी, उसे इसके मुद्रित संस्करणों में निभाया गया है। अन्य प्रक्रियाग्रन्थों की प्रकृति के यह बात अनुकूल नहीं है। सम्भव है, यह बात भट्टोजि की ही सूझ हो। साथ ही इसके प्रथम कलकत्ता संस्करण के समय से ही 'पाणिनीय शिक्षा' को भी इसके अन्त में मुद्रित किया

जाता है। यह शिक्षा कारिकानिबद्ध है, सूत्रनिबद्ध नहीं। इसका विचार 'शिक्षा' के प्रसंग में हम पहले ही कर चुके हैं।

प्रधान टीकाओं आदि के सम्बन्ध में हम पहले ही लिख चुके हैं।

नारायण भट्ट : प्रक्रियासर्वस्व

पीठिका

केरल के सोलहवीं-सत्रहवीं शती के सबसे अधिक प्रसिद्ध सरस्वती के वरदपुत्रों में से नारायण भट्टातिरी, या नारायण भट्ट, केवल व्याकरण के ही क्षेत्र तक सीमित नहीं रहे। उनका सृजन इतने भिन्न-भिन्न क्षेत्रों और इतने वड़े आकार में हुआ है कि सहसा विश्वास नहीं होता कि इस युग में इतना अधिक सृजन भी लोग करते थे। काशी के कुछ ही विद्वान् उन दिनों उस सृजन का मुकाबला कर सके थे। व्याकरण के विषय में काशी से बाहर रहकर भी इतनी मौलिकता के साथ यह लेखक लिख सका, यह उसकी अध्ययनशीलता और अध्यवसाय की सूचना देता है। चम्पूकाव्य अकेले जितने इस पण्डितकवि ने रचे हैं, उतने इस परवर्ती युग में कुल मिलाकर भी नहीं रचे गए। परन्तु, इस प्रसंग में हमें उसके व्याकरणसम्बन्धी कृतित्व से ही मतलब है।

काल

लेखक द्वारा अपने सम्बन्ध में प्रामाणिकतम सूचनाएं देने पर भी यह आश्चर्य की बात नहीं है कि उसका कालनिर्णय विवाद से रहित नहीं रहा। कारण यह है कि उसने कतिपय राजाओं का काल देखा था। साथ ही उसने कुछ ऐतिहासिक घटनाओं का भी उल्लेख किया है। इन सब के निर्णय के लिए जिस कालगणना पर निर्भर किया जाता है, वह दक्षिण की अपनी ही विशेष शैली है। श्री सी. कुन्हन राजा ने इस सब पर विस्तार से विचार किया है। उधर श्री कुंजुन्नी राजा ने भी अनेक प्रमाणों से इनके काल में थोड़ा अन्तर सुझाया है। क्योंकि इस सब गणना से कोई बड़ा अन्तर उपस्थित नहीं होता, इसलिए हम यहां उनके कालनिर्णय का सारमात्र दे रहे हैं। त्रिवेन्द्रम के श्री रामस्वामी शास्त्री उनका काल, उसी गणना के आधार पर,

१५६० ई० और १६६६ ई० के बीच रखते हैं। इसमें श्री कुंजुन्नी राजा का सुझाव केवल इतना ही संशोधन करने का है कि उनका अस्तित्व १६५५ ई० से पहले ही स्वीकार किया जाए। श्री कुन्हन राजा 'प्रक्रियासर्वस्व' का काल, उसी गणनापद्धति के आधार पर, १६०७ ई० निश्चित करते हैं। इसमें भी कोई आपत्ति की बात नहीं है।

विवाद का विषय एक और गणना बन गई है। जिस श्लोक की एक पंक्ति के आधार पर उक्त तिथि का निर्णय कुन्हनराजा ने किया है, उसी श्लोक की अन्तिम पंक्ति के अनुसार गणना करने पर उनकी गणना की अपेक्षा साठ दिन का अन्तर आता है। इन्हीं 'साठ दिनों' के विषय में विवाद है। इन्हें ग्रन्थ के निर्माण का काल माना जाए, या इनकी कुछ और व्याख्या की जाए? सामान्य विद्वानों ने इसे ग्रन्थरचना का कालान्तर मानकर सन्तोष कर लिया है। किन्तु, श्री कुन्हन राजा इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि इनमें से प्रथम काल राजा देवनारायण से रचना का आदेश प्राप्त होने का है, और दूसरा ग्रन्थारम्भ करने का। इन दोनों तिथियों के बीच ही साठ दिन का अन्तर सम्भव दीखता है। हमारी सम्मति में यह मत उचित प्रतीत होता है।

कालनिर्णय का महत्त्व

हमने कहा है कि ऐसे व्यक्ति का काल-निर्णय दस-पांच बरस इधर-उधर होने से विशेष अन्तर नहीं पड़ता। किन्तु, इसपर भी हमने यह सब चर्चा की है। कारण यह है कि इससे उनका भट्टोजि और उनकी 'सिद्धान्तकौमुदी' से पौर्वापर्य बिठाने की बात सरल हो जाती है। लगता है, दोनों का काल लगभग समान ही है। भट्टोजि से भट्ट कुछ बाद में हुए हैं। किन्तु दोनों के आलोच्य ग्रन्थों—'प्रक्रियासर्वस्व' और 'सिद्धान्तकौमुदी'—की रचना एक दूसरे से अप्रभावित एवं असूचित रहकर ही हुई दीखती है। भट्टोजि ने तो 'प्रक्रिया-कौमुदीकार' के प्रति ही आदर प्रदर्शित नहीं किया; अतः यदि नारायण भट्ट ने अपनी रचना उनसे पहले की होती, और उन्हें उसका ज्ञान भी होता, तो भी वे उसका आभार न मानते। पर खण्डन की दृष्टि से तो उन्होंने जब 'प्रक्रिया-कौमुदी' तक को नहीं छोड़ा, तब वे 'सर्वस्व' का खण्डन तो अवश्य ही करते। किन्तु ऐसा भी उन्होंने नहीं किया है। इससे स्पष्ट है कि उन्हें इसकी रचना का पता न था।

उधर नारायण भट्ट अत्यन्त नम्र स्वभाव के हैं। उन्होंने बार-बार सुधी-

जनों से सम्भावित स्खलन के लिए उदारता की अपेक्षा की है। वे 'प्रक्रिया-कौमुदी' का आभार प्रत्यक्षतः मानते हैं। पाणिनि आदि के अतिरिक्त वे अपाणिनीय व्याकरणों का भी सम्मान करते हैं। 'अपाणिनीयप्रमाणता' लिखकर उन्होंने पाणिनि के प्रति अनादर व्यक्त नहीं किया। बल्कि महान् प्रयोगकारों के प्रति वे सर्वदा श्रद्धानत रहे हैं। अतः जब ऐसा लेखक भी भट्टोजि और उनकी कृति का उल्लेख नहीं करता, तब उसका एकमात्र कारण यह हो सकता है कि भट्टोजि अपने परवर्ती काल में, और नारायण अपने प्रौढ़ वय में लगभग समकाल ही, काशी और अमलपुरम् के दो सुदूर स्थानों में एक दूसरे के सम्पर्क से सर्वथा विहीन होकर, लिख रहे थे। दोनों को ही एक-दूसरे के इन दोनों महान् प्रयत्नों का आभास तक नहीं था। हम कह ही आए हैं, कि हमारे अनुसार भट्टोजि का काल १६०० ई० के आस पास ही बैठता है।

व्याकरणसम्बन्धी रचनाएं

नारायण भट्ट की तीन रचनाएं व्याकरण से सम्बद्ध हैं। 'प्रक्रिया-सर्वस्व' प्रथम हैं : तत्त्व में भी और क्रम में भी। 'धातुपाठ' पर आश्रित धातु-प्रयोगों के प्रदर्शन के लिए 'धातुकाव्य' नाम की रचना उनकी इस सम्बन्ध में दूसरी कृति है। उनकी तीसरी व्याकरण-कृति है—'अपाणिनीयप्रमाणता'। इसमें उनका भाषा की प्रायोगिक मान्यता के प्रति उदार दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। वे सच्चे अर्थों में पाणिनि के भक्त थे। अतः केवल पाणिनि के लिए अज्ञात होने मात्र से किन्हीं प्रयोगों को वे अमान्य कैसे मान लेते। उनका युक्ति-क्रम सर्वथा स्पृहणीय है : 'पाणिनि ने भी अपने पूर्व के सभी ज्ञात प्रयोगों को मान्य ठहराया ही था।' अतः उत्तरोत्तर विकास को अवरुद्ध कैसे किया जा सकता है?

अपाणिनीय क्या है?

इस शीर्षक से हमारा अभिप्राय उनके 'अपाणिनीयप्रमाणता' की विवेचना करने से नहीं है। वह तो उनके अभिप्रेत को स्पष्ट कर ही रहा है। हमारा अभिप्राय उनके द्वारा चन्द्राचार्य्य, भोजराज, आदि के व्याकरणों को मान्यता देने से है। कई बार तो 'प्रक्रियासर्वस्व' के पाणिनीय सूत्रों की व्याख्या पढ़ते-पढ़ते ऐसा लगने लगता है, जैसे 'सरस्वतीकण्ठाभरण' की भी व्याख्या चल रही हो।

कदाचित् इस प्रक्रिया को पाणिनिबाह्य, और इसीलिए प्रक्षिप्त, समझ

कर श्री कुन्हन राजा ने इसे मूल 'तद्धित प्रकरण' का अंग नहीं माना। परन्तु इससे सारे ग्रन्थ से उस प्रवृत्ति का लोप नहीं हो जाता। लेखक को व्याकरण के उन शास्त्रों पर भी पूरा अधिकार है। अतः उसकी दृष्टि में पाणिनि से अवशिष्ट किसी तथ्य को यदि उन वैयाकरणों ने कहा है, तब उसे वहां से लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

प्रक्रियासर्वस्व : विषय-विभाजन

सारा ग्रन्थ कुल **बीस** **काण्डों** में विभाजित किया गया है। क्रम यथा-सम्भव पाणिनि के सूत्र **'सुप्तिङन्तम् पदम्'**[1] पर आधारित रखा गया है। सुबन्त प्रकरण मे भी पहले **संज्ञा, परिभाषा** और **सन्धिप्रकरण** को पूरा कर दिया गया है। इसके बाद **'सुबन्त'** से सम्बद्ध विषय आरम्भ होते हैं।

ये विषय हैं क्रमशः **कृदन्त, तद्धित, समास** और **स्त्रीप्रत्यय**। सुबन्त का प्रसंग आने पर **सुबर्थ** और **नामविभक्ति** का प्रकरण आना स्वाभाविक होता है। तभी 'सुवन्त' पूरा होता है।

तिङन्तप्रकरण का आरम्भ **आत्मनेपदादि प्रक्रिया** से होता है। तब **तिङ्, लकारार्थ, सन्नन्त, यङन्त, यङलुक्** के प्रकरण बारी-बारी से आते हैं।

इस प्रकार **तीन** आरम्भिक प्रकरण, **छह** सुवन्त-सम्बद्ध, और **छह** तिङन्त प्रकरण—कुल मिलाकर **'सुप्तिङन्तं पदम्'** की परिभाषा में **पन्द्रह** प्रकरण हुए। सुप्-तिङ् से अतिरिक्त शेष **पाँच** प्रकरण क्रमशः हैं : **नामधातु, न्याय** या **परिभाषा, धातुपाठ, उणादि,** और **छान्दस** प्रकरण। इस प्रकार कुल **बीस** **प्रकरण** होते हैं। 'प्रक्रियाकौमुदी' की अपेक्षा इसमें यह विशेषता है कि **आख्यातप्रकरण** के बाद **कृदन्त, विभक्त्यर्थ,** आदि को रखना निस्सार प्रतीत होता है। क्योंकि उनका सम्बन्ध **सुबन्त** से है। यहां उस दोष का हटाने का यत्न किया गया है।

विशेषताएं

हम इसकी प्रमुख विशेषताओं को निम्न क्रम में देख सकते हैं :

१—प्रत्येक खण्ड में सूत्रों का क्रम यथासम्भव **पाणिनीय** अष्टाध्यायी के **क्रम** में ही रखा गया है।

२—इसमें पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' के एक सूत्र को **छोड़ा नहीं** गया है।

३—इसमें सूत्रों का सामान्यार्थ या **प्रयोजनमात्र समझाकर उदाहरण**

---

१. पा० १.४.१४।

दिए गए हैं। सूत्र में या उसकी अनुवृत्ति में आने वाले हर शब्द में मीनमेष नहीं निकाली गई।

४—अधिकांश वार्त्तिकों को भी समझाया गया है; किन्तु बहुधा महाभाष्य के प्रसंग से भिन्न प्रसंग में !

५—टीका का अधिकांश भाग पद्यबद्ध है। इनमें से अनेक पद्यों में सूत्र की व्याख्यामात्र है, कुछ में उदाहरणमात्र हैं, और कुछ में दोनों है। अन्य कुछ में अन्य वैयाकरणों के मतादि दिये हैं।

६—कुछ सूत्रों का पाठ 'काशिका' और 'भाष्य' की अपेक्षा भिन्न है। यद्यपि पाठान्तर भी बहुधा निर्देश करदिया गया है।

७—उदाहरणों की दृष्टि से अपनी श्रेणी के ग्रन्थों में यह सर्वाधिक सम्पन्न माना जा सकता है।

८—चन्द्र और भोजराज के व्याकरणों से प्रभूत मात्रा में उद्धरण और उदाहरण लिये गये हैं।

इस प्रकार स्थूल रूप में कहा जासकता है कि 'प्रक्रियासर्वस्व' स्वतः सरल और स्पष्ट व्याख्या होने के साथ-साथ एक सुनियोजित क्रम को भी स्पष्ट करता है। यह ग्रन्थ पाणिनि की व्याख्या होते हुए भी अन्य वैयाकरणों के दृष्टिकोणों का आदर करते हुए बढ़ा है। इसकी पद्धति तर्कसंगत और न्यायोचित है। इसमें अपाणिनीय मतों को भी पाणिनीय मतों के समान आदर देने के कारण इसका महत्त्व 'प्रक्रियाकौमुदी' और 'सिद्धान्तकौमुदी' आदि से भी बहुत बढ़ जाता है।

'सिद्धान्तकौमुदी' से अन्तर

और अन्ततः यह भी कहा जासकता है कि 'सिद्धान्तकौमुदी' और 'प्रक्रियासर्वस्व' दो विविध धाराओं में बढ़े हैं। सिद्धान्तकौमुदी 'प्रक्रियाकौमुदी' के प्रति साभार न होकर भी उसी की नकल पर बढ़ी है, जब कि 'प्रक्रियासर्वस्व' 'प्रक्रियाकौमुदी' के प्रति साभार होकर भी अपना प्रथ आप ही बनाने में सफल हुआ है। इसलिए उसके 'सिद्धान्तकौमुदी' से पहले या पीछे बनने से उसमें कोई अन्तर नहीं आता है। पर यदि यह भट्टोजि के सामने होती, तब वे इस रचना से कुछ तो लाभ उठाते ही ! लगता है, दोनों की रचना एक ही भावना से—पाणिनि के सभी सूत्रों को प्रक्रियाबद्ध करने की इच्छा से—प्रेरित होकर हुई। किन्तु, यह रचना समानान्तर ही हुई, आगे-पीछे नहीं।

टीकाएं

इस पर तीन टीकाएं उपलब्ध होती हैं, जिनमें से एक केरलकालिदास केरलवर्मदेव की लिखी है। इनका काल १८४० ई० से १९१४ ई० तक माना जाता है। अन्य टीकाकारों के नाम अज्ञात हैं।

लघुसिद्धान्तकौमुदी : वरदराज

पीठिका : संक्षेप या सान्तर

'लघुसिद्धान्तकौमुदी' के रचयिता **वरदराज** ने 'प्रक्रियाकौमुदी' की भी एक व्याख्या लिखी थी। यदि इस सत्य के साथ-साथ इस सत्य को भी सामने रखा जाए कि उनके भट्टोजि के शिष्य होने विषय में प्रमाण 'मध्यकौमुदी' में आने वाले एक श्लोकमात्र से ही मिलता है, तब इस बात का बहुत कुछ रहस्य समझ में आजाएगा कि उन पर 'मध्य' और 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' की रचना करते हुए भट्टोजि की कृति का उतना प्रभाव नहीं पड़ा, जितना **'प्रक्रियाकौमुदी'** का। यह बात हम **'प्रक्रियाकौमुदी'** के प्रकरण में भी इसी अध्याय में कह आए हैं। 'सिद्धान्तकौमुदी' में भट्टोजि ने जो हेर-फेर किया है, वह बहुत सोच समझकर ही किया है। यह हेर-फेर सूत्रों के क्रम में है। किन्तु, इनमें से अनेक सूत्रों का क्रम 'लघुकौमुदी' में फिर से पलट गया है। दोनों में यही बड़ा अन्तर है। **वृत्तियों** के प्रसंग में भी कुछ हेर-फेर हुआ है। ऐसा अधिकांशतः **'प्रक्रिया-कौमुदी'** के अनुकरण के कारण ही हुआ है। **स्त्रीप्रत्ययों** का स्थान एवं **कृत्, तद्धित** और **समास** का स्थान भी इसमें पलट दिया गया है। यह बात 'प्रक्रियाकौमुदी' और 'सिद्धान्तकौमुदी' दोनों की परम्परा के विरुद्ध है।

मौलिकता

इन्हीं बातों को लेकर कुछ विद्वान् 'लघुकौमुदी' को **मौलिक** रचना ठहराते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस क्रम को भी सामान्य विद्यार्थी के सौकर्य के लिए, विशेषकर प्रवेशार्थी के लिए, पलटा गया है। इससे नया प्रवेशार्थी आरम्भ में ही सुबन्त और तिङन्त का परिचय पा लेता है। किन्तु, इस प्रकरण की समाप्ति पर, **सन्, यङ्, यङ्लुगादि** की प्रक्रिया में से गुजरने के बाद, विद्यार्थी को फिर से सुबन्त से सम्बद्ध **कृदन्त, तद्धित, स्त्रीप्रत्यय,** आदि के प्रकरण पर लौटना पड़ता है। क्या यह स्वयं में एक कठिनाई नहीं है?

कुछ भी हो, यह बात इस ग्रन्थ की अपनी मौलिकता गिनी गई है। वास्तव में इसकी मौलिकता इस बात में और भी अधिक है कि कुल १२७२ सूत्रों के घेरे में ही व्याकरण के सम्पूर्ण क्षेत्र से एक बार परिचय हो जाता है। इसके बाद 'सिद्धान्तकौमुदी' बिना पढ़े भी विद्यार्थी 'अष्टाध्यायी' आदि को समझने में समर्थ हो जाता है। इस दृष्टि से इसका अपना महत्त्व है।

प्रायः देशी और विदेशी छात्र सौकर्य की दृष्टि से इसका अध्ययन करना ही अधिक उचित समझते हैं। प्रसिद्ध आंग्ल विद्वान् वैलेण्टाईन ने इसका आंग्लभाषा में अनुवाद भी किया है। देशी भाषाओं में तो इसकी अनेक टीकाएं और व्याख्याएं हो चुकी हैं।

स्वामी दयानन्द : वेदाङ्गप्रकाश

पीठिका

महाभाष्य के व्याख्याकारों की चर्चा में हम स्वामी जी और उनके कार्य के विषय में लिख आए हैं। फिर भी, यहां परम्परा में परिगणन की दृष्टि से कुछ कह देना अधिक उचित ही होगा।

यहां यह बात दोहरा देनी अप्रासंगिक न होगी कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'सिद्धान्तकौमुदी' को अपाणिनीय और अनार्ष कहा था। यह बात किंचित् भिन्न ढंग से पण्डितराज जगन्नाथ और उनके गुरुपुत्र, एवं पण्डितराज के निकट सम्बन्धी, वीरेश्वरपुत्र ने भी कही थी। किन्तु उन्होंने वैयाकरण की दृष्टि से दोषदर्शन किया था, जब कि स्वामी दयानन्द ने व्याकरण और आर्ष-परम्परा के व्यत्यय की दृष्टि से दोषारोपण किया है।

परन्तु शंका का अवसर तब आता है, जब हम स्वामी दयानन्द को स्वयं उसी पद्धति पर 'सन्धिनियम', 'नामिक', 'आख्यातिक', आदि से लेकर 'गण-पाठ' तक चौदह भाग वाले 'वेदाङ्गप्रकाश' की रचना करते पाते हैं। प्रश्न उठता है, क्या उनकी अपनी रचना अनार्ष नहीं है?

वास्तविकता

अपाणिनीयता और अनार्षता की यह बात उन्हें स्वामी विरजानन्द से शिक्षा प्राप्त करने के बाद स्फुरित हुई थी। इसका कारण यह नहीं था कि पाणिनीय-क्रम को क्यों तोड़ा गया है? उसके बिना तो कोई भी रूपसिद्धि की बात सम्भव ही नहीं थी। उसके लिए आवश्यक प्रकरणों को अलग करके

दिखाने में, और सिखाने में भी, आपत्ति नहीं प्रतीत होती। इस प्रक्रियासे विद्यार्थी को एक-एक प्रकरण समझ में आ सकता है। किन्तु, स्वामीजी को उस प्रक्रिया पर आपत्ति थी, जिसमें अपाणिनीय या अनार्ष ढंग से पाणिनि की भावना के विरुद्ध बातों को भी पाणिनि के नाम से सही सिद्ध किया जाता था।

दूसरी बात उदाहरणों के सम्बन्ध में है। विद्यार्थियों की अपरिपक्व बुद्धि पर पड़ने वाले प्रभाव की परवाह किये बिना कुछ अनार्ष-पद्धति के उदाहरण दिए जा रहे थे। तीसरी बात यह कि महाभाष्य और काशिकादि में कथित अभिप्रायों को कई जगह भ्रामक ढंग से प्रस्तुत किया गया था।

यही आधार पण्डितराज आदि के भी आक्रमण का था। और यही सबसे बड़ा आरोप इस पद्धति के विरुद्ध है भी। सच तो यह है कि इन प्रक्रिया-ग्रन्थों में से गुज़रने के बाद कोई भी व्यक्ति पाणिनीय व्याकरण की समग्र दृष्टि और सूत्रों के प्रति 'सामान्य नियम' की भावना के स्थान पर उन्हें शब्द-विशेष या रूपविशेष के निर्माण में सहायक 'विशेष नियम' या 'फार्मूले' मात्र समझ लेता है।

उदाहरणार्थ, 'महाभाष्य' आदि की पद्धति में से गुज़रने के बाद विद्यार्थी 'इको गुणवृद्धी'[1] तक पहुँचते-पहुँचते यण्, सम्प्रसारण और गुण-वृद्धि आदि की सापेक्ष समस्याओं के साथ-साथ ह्रस्वादेश और अर्धंकारौकारादि की समस्याओं से सुपरिचित हो जाता है। पर, सिद्धान्तकौमुदी या प्रक्रियाकौमुदी के क्रम से पढ़ने वाला व्यक्ति इस सूत्र से केवल इतना ही जान पाता है कि 'गुण और वृद्धि इक् के ही स्थान पर होते हैं।' विस्तार और संकोच का कितना महान् विरोध है, दोनों की ज्ञानसीमाओं में।

संकोच : अनुचित

स्वामीजी को इसी 'संकोच' पर आपत्ति थी। इस पद्धति में सूत्रविशेष के व्यापकतर रूप को क्यों नहीं स्पष्ट किया जाता ? और, स्वामी जी ने आख्यातिक, नामिक, आदि के साथ-साथ 'अष्टाध्यायीभाष्य' की रचना करते हुए इसी दृष्टिकोण को सामने रखा। इसीलिये 'सिद्धान्तकौमुदी' का जो विरोध उन्होंने किया था, वह प्रक्रिया-पद्धति के विरोध में उतना नहीं था जितना कि उसकी अनार्ष और संकुचित व्याख्यापद्धति के विरोध में।

१. पा० १.१.३।

चरम सत्य

और, यह सत्य है। जब भी कोई व्यक्ति महाभाष्य की पद्धति पर पाणिनि की अष्टाध्यायी को पढ़ता है, या वृत्तिकारों की ही पद्धति पर सही, उसके सामने संस्कृत व्याकरण के नियम दार्शनिकता और वैज्ञानिकता की चरम उपलब्धि के रूप में आते हैं। किन्तु, इन प्रक्रियाग्रन्थों ने—और इसमें रूपावतार, प्रक्रियाकौमुदी, आदि सभी सम्मिलित हैं—उन्हीं सूत्रों का एक ऐसा रूप मन पर जमा दिया है, मानों वे किसी शोध का परिणाम न होकर मात्र एक सिद्धि-विशेष के लिए घड़े गए हों। विद्यार्थी के दृष्टिकोण का यह संकोच ही संस्कृत व्याकरण को 'रटने की विद्या' के रूप में प्रख्यात करने का एक बड़ा कारण रहा है।

उपाय

इसे दूर करने का एक ही उपाय है: व्याकरण के आर्ष और समग्र चिन्तनात्मक रूप को फिर से प्रचलित करना। पश्चिम के विद्वान् इसी ओर बढ़ रहे हैं। भारतीय प्रतिभा भी इसी दिशा में सजग होने लगी है। स्वामी दयानन्द ने इसी दिशा की ओर बढ़ने के लिये आह्वान किया था। उनके 'वेदाङ्गप्रकाश' ने इसी दिशा का द्वार अनावृत दिया था।

उत्तरपाणिनि युग : पाणिनीयेतर व्याकरण

पीठिका

पाणिनि के उत्तरवर्त्ती युग में भी व्याकरण का निर्माणकार्य चलता रहा। यह बात ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो ही चुकी है। किन्तु अब तक जिस निर्माण कार्य का वर्णन हुआ है, वह पाणिनीय व्याकरण का ही विवेचनात्मक कार्य था। उससे यह तो सिद्ध होता है कि उस युग में व्याकरण की दिशा में नया चिन्तन होता रहा, किन्तु यह सिद्ध नहीं होता कि जैसे पाणिनिपूर्व युग में विविध वैयाकरणों द्वारा नए व्याकरणों का निर्माण होता रहा था, उसी तरह उसके बाद के युग में भी हुआ या नहीं ? इसलिए इस अध्याय में हमने इसी विषय पर विचार को अपना ध्येय बनाया है।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रश्न हो सकता है, और कदाचित् उचित रूप में ही, कि जब पाणिनीय व्याकरण का वर्णन इतने विस्तार से हुआ है, तब इस परवर्त्ती व्याकरण-निकाय का वर्णन एक ही अध्याय में क्यों समाप्त कर दिया जाए ? उत्तर में हमें यही कहना है कि पाणिनिपूर्व युग में इससे भी अधिक व्याकरण-निकाय बना था, किन्तु उसका वर्णन हमने इससे भी कम पृष्ठों में किया है। जो अधिक पृष्ठराशि बीच में लगी भी है, वह स्वयं पाणिनि पर नहीं, उसके परवर्त्ती व्याख्याकारों आदि पर लगी है। और यह सत्य है कि अकेले पाणिनि ने संस्कृत और विश्व के व्याकरण के अद्यावधि चिन्तन को जितना प्रभावित किया है, उतना कुल मिलाकर भी अन्य सबने नहीं किया; परवर्त्ती वैयाकरणों में से किसी एकाध के वैयक्तिक प्रयत्न की बात तो छोड़ ही देनी चाहिए। इसलिये पाणिनीय व्याकरण की तुलना में इन सबके विस्तृत मूल्यांकन का प्रश्न ही नहीं उठता। इसमें सन्देह नहीं कि इन सबका भी इतना ही विस्तृत अध्ययन किया जा सकता है। किन्तु उसका 'इतिहास' जैसे ग्रन्थ में, और इतिहास के विद्यार्थी की दृष्टि में, कोई विशेष महत्त्व न होगा।

इसलिए इन व्याकरणों के सम्बन्ध में हम **संक्षिप्त विचार** ही करेंगे। उनके विस्तृत अध्ययन को कभी बाद के लिए छोड़ देना उचित होगा।

दो प्रवृत्तियाँ

पाणिनि के उत्तरवर्त्ती युग में व्याकरण के विकास में **दो प्रवृत्तियाँ** अत्यधिक स्पष्ट रूप में, अलग-अलग धारा के रूप में, प्रवर्त्तित दिखाई देती हैं। इनमें से **प्रथम** का सम्बन्ध पाणिनिपूर्व युग से है, जबकि **दूसरी** का सम्बन्ध पाणिनि के उत्तरवर्त्ती युग से है। प्रथम धारा के **कातन्त्र, सारस्वत** और **जैनेन्द्र** आदि व्याकरण उस परम्परा से सम्बन्ध रखते हैं, जिसके मूल सूत्र **पाणिनिपूर्व** के व्याकरणों में खोजे जा सकते हैं। दूसरी धारा में **चान्द्र, सरस्वतीकण्ठाभरण,** और **हेमचन्द्रव्याकरण** आदि आते हैं, जिनका सम्बन्ध **पाणिनि** के व्याकरण से है। इन दो प्रवृत्तियों की पृथकता को पूरी तरह समझ लेना आवश्यक है।

पाणिनिपूर्व : दो धाराएं

पाणिनिपूर्व के व्याकरण में भी **दो धाराएं** स्पष्ट हैं। **एक प्रातिशाख्यों** की परम्परा पर और उसी शब्दावली में बढ़ी थी। **दूसरी** में व्याकरण का वैसा ही अनुकरण हुआ था, जैसा पाणिनि ने स्वयं बाद में किया था। इनमें से पाणिनि से पूर्व के व्याकरण की **प्रथम** धारा **संज्ञा, प्रत्याहार, वर्णोच्चारण,** आदि की एक सर्वथा भिन्न प्रक्रिया अपनाकर ऐन्द्र और **प्रातिशाख्य** परम्परा में चल रही थी। इसका अनुकरण पाणिनि ने कम ही किया। फिर भी, इसका प्रभाव उसके व्याकरण पर किसी न किसी रूप में पड़ा ही है। किन्तु, **दूसरी परम्परा शाकटायन, आपिशलि** आदि द्वारा समृद्ध प्रतीत होती है, जो पाणिनीय अष्टाध्यायी के विकास का प्रत्यक्ष कारण रही दीखती है। इसमें प्रत्याहार और प्रत्ययादि का पाणिनि जैसा ही विधान था।

परवर्त्ती युग

पाणिनि के बाद के युग के व्याकरण में जो **दो धाराएँ** स्पष्ट दिखाई देती हैं, उनका मूल कारण इन परम्पराओं का अविच्छिन्न विकास नहीं है। बल्कि लगता है कि पाणिनि के बाद के युग में भी प्राच्यदेशादि में कुछ वैयाकरण उन प्राचीन व्याकरणप्रणालियों को बचाते चले आ रहे थे। पाणिनि के बाद आने वाले वैयाकरणों में से कुछ ने पाणिनीय व्याकरण की समग्र उपलब्धियों

का लाभ उठाते हुए भी इन प्राचीन परम्पराओं को बचाने का यत्न किया। 'कातन्त्र' व्याकरण इसी परम्परा का प्रथम प्रामाणिक प्रयास है।

किन्तु, दूसरी ओर, 'पाणिनीय अष्टाध्यायी' पर भी वृत्ति, वार्त्तिक, भाष्य, महाभाष्यादि की रचना के द्वारा उसकी एक या दूसरे प्रकार की कमियां सामने आने लगी थीं। परवर्त्ती वैयाकरणों में से महाभाष्य के प्रतिसंस्कर्त्ता चन्द्राचार्य्य को प्रथम बार यह कमी अनुभव हुई। उन्होंने स्वयं पाणिनीय व्याकरण के, महाभाष्यीय आधार पर, प्रतिसंस्कार का कार्य हाथ में लिया। 'चान्द्रव्याकरण' इसी प्रकार का प्रयास था। हेमचन्द्र और उसके बाद भी यही परम्परा चलती रही। भोजराज का 'सरस्वतीकण्ठाभरण' इस परम्परा में सर्वोत्तम सृजन समझा जाता है।

अगले पृष्ठों में हम इन्हीं कुछ प्रमुख व्याकरणों के विषय में संक्षिप्त अध्ययन करेंगे।

कातन्त्र व्याकरण

पीठिका

हम पहले के पृष्ठों में कह आए हैं कि 'कातन्त्र' व्याकरण का महत्त्व दोहरा है। एक ओर यह पाणिनिपूर्व व्याकरण की ऐन्द्र या पूर्वीय शाखा का प्रतिनिधित्व करता है, और दूसरी ओर वह 'प्रक्रिया-पद्धति' का सूत्रपात करने वाला दीखता है। यह भी हम पहले कह चुके हैं कि पाणिनि के व्याकरण का निर्माण भी प्रकरणों में बंटकर ही हुआ है। किन्तु, फिर भी, नाम और आख्यात के विविध प्रकरण उसमें यत्र-तत्र विकीर्ण से दिखाई देते हैं। विशेषकर 'पूर्वत्रासिद्धम्'[1] से आरम्भ होने वाली त्रिपादी उसमें उलझन डाल देती है। अन्यत्र भी वहुत सारी समस्याएँ आपाततः खण्डित या विभाजित हो गई दीखती हैं।

किन्तु कातन्त्र व्याकरण अपने वर्तमान रूप में परवर्ती रचना होने के कारण उन बहुत सी बातों का उत्तर अपने भीतर लिए हुए है। यह चान्द्र, जैनेन्द्र, आदि व्याकरणों से इस बात में भिन्न है कि जहाँ उनका आधार मूलतः पाणिनीय व्याकरण पर रहा है, वहाँ इसका उससे कोई भी सम्बन्ध नहीं रहा है। उनकी सूत्ररचना पाणिनीय सूत्रों के आधार पर, उनमें

१. पा० ८.२.१।

संशोधनादि करते हुए, बढ़ी है। किन्तु 'कातन्त्र' की सूत्ररचना किसी पुरानी पद्धति पर बढ़ी है।

हम 'प्रातिशाख्यों' के प्रकरण में भी कह आए हैं कि इस विषय में 'कातन्त्र' का सम्बन्ध प्रातिशाख्य परम्परा से है। आरम्भिक वर्णसमाम्नाय और सन्धि-प्रकरण ही नहीं, बल्कि मध्य में भी बहुत से स्थल ठीक उसी परम्परा से आए प्रतीत होते हैं। वाजसनेय और अथर्वप्रातिशाख्यों की चर्चा में हम बता आए हैं कि प्रातिशाख्यों के समय तक उनके समानान्तर लौकिक भाषा के व्याकरण भी पूरी तरह रचे जाने आरम्भ हो गए थे। प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध केवल छान्दस भाषा से था। किन्तु इन लौकिक व्याकरणों में शब्दरचना की प्रक्रिया को समझने के प्रयास में लौकिक और वैदिक का यह भेद भुला दिया गया था। उन दोनों शब्दों को एक ही स्तर पर रखकर उनमें एक ही प्रक्रिया को ढूंढने का प्रयास किया जा रहा था।

दो प्रवृत्तियाँ

इन व्याकरणों में भी दो प्रवृत्तियाँ स्पष्ट थीं। प्रथम 'प्राच्य', जिसमें शब्दावली और रचना-पद्धति कुछ भिन्न थी, और प्रातिशाख्य परम्परा पर आधारित थी। द्वितीय थी 'औदीच्य', जिसमें पाणिनि से पहले ही उसकी परम्परा का सूत्रपात हो चुका था। उणादि, गणपाठ, माहेश्वरसूत्र, आदि का सम्बन्ध औदीच्य परम्परा से था।' प्राच्य परम्परा में, माहेश्वरसूत्रों के वर्णानुक्रम को न अपनाकर, वर्ग-पद्धति पर पठित वर्णों के समाम्नाय की पद्धति को अपनाया गया था। उनमें प्रत्याहार-पद्धति को भी नहीं अपनाया गया था।

कातन्त्र : प्रमुख विशेषताएँ

इसीलिए जब हम 'कातन्त्र' को उस प्राच्य परम्परा का प्रतिनिधि कहते हैं, और उसे पाणिनि से भिन्न परम्परा का प्रतिनिधि मानते हैं, तब हमारा कार्य हो जाता है कि हम उस पद्धति की विशिष्ट बातों की परीक्षा उसमें भी करें। आरम्भ में इतना कह देना अनुचित न होगा कि हम परीक्षा करने के बाद इसी परिणाम पर पहुँचेंगे कि 'कातन्त्र' इन कसौटियों पर पाणिनि-भिन्न परम्परा का ही प्रतिनिधि उतरता है।

वर्णगणना : समाम्नाय

हमने कहा है कि वर्णक्रम के सम्बन्ध में इसकी परम्परा प्रातिशाख्य

परम्परा का अनुकरण करती है। यह बात इसके 'सन्धि' नामक प्रथम अध्याय के प्रथम पाद से पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि प्रत्याहारों की रचना और प्रयोग इनमें नहीं हुआ है।

सबसे पहले हम वर्णसमाम्नाय की बात को लेंगे। इसके लिए हमें निम्न सूत्रों को देख लेना होगा :

"सिद्धो वर्णसमाम्नायः ।।
तत्र चतुर्दशादौ स्वराः ।।
दश समानाः ।।
तेषां द्वौ द्वावन्योन्यस्य सवर्णौ ।।
पूर्वो ह्रस्वः, परो दीर्घः ।।
एकारादीनि सन्ध्यक्षराणि ।।
कादीनि व्यंजनानि ।।
ते वर्गाः पंच पंच ।।
अनुनासिका ङ ञ ण न माः ।।"

हमने प्रथम पाद के केवल कुछ ही सूत्र चुने हैं, ताकि अपनी बात को स्पष्ट कर सकें। इन सूत्रों से स्पष्ट है कि इनमें वर्णक्रम उसी बारहखड़ी का अपनाया गया है, जिसे हम आज भी पाठशालाओं में, अर्थात् जनप्रयोग में, प्रयुक्त होता पाते हैं। किस प्रकार मूल पांच स्वरों को उनके दीर्घ रूपों के साथ पढ़ कर फिर ए, ऐ, ओ, औ, आदि सन्धिस्वरों का पाठ किया जाता है, यह सर्वविदित है। यह परम्परा अतिप्राचीन लगती है। इनमें से प्रथम पांच मूल स्वरों के सदीर्घ रूपों को 'समान' संज्ञा दी गई है, बाकी चार को 'सन्ध्यक्षर'। दोनों को मिलाकर 'स्वर' कहा गया है। 'समानों' में पहला स्वर ह्रस्व और दूसरा दीर्घ कहा गया है। कवर्गादि को व्यंजनक्रम में वर्गानुसार पढ़ा गया है। घोष आदि के समान अनुनासिकों को अलग गिना दिया गया है। उनका क्रम वर्गक्रम के अनुसार ही रखा गया है।

स्पष्ट है कि पाणिनीय दृष्टि से यह वर्गीकरण व्याकरणात्मक उपयोगिता से रहित है। क्योंकि उस सूत्ररचना में स्वर, समानाक्षर, सन्ध्यक्षर, व्यंजन, घोष, आदि संज्ञाओं की 'पारिभाषिक संज्ञा' के रूप में आवश्यकता नहीं पड़ती। अनुनासिक के लिए वह पृथक् विधान कर ही देता है।

प्रत्याहार : अभाव

वर्णों को 'माहेश्वर क्रम' में न पढ़ने का परिणाम यह है कि पाणिनि या पूर्वाचार्यों द्वारा प्रोक्त प्रत्याहारों का प्रयोग इस व्याकरण में नहीं किया गया। इससे कई जगह कार्य विस्तृत हो गया है। इसके लिए 'वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय,' आदि जैसे संक्षिप्त प्रयोग किये गये हैं। उनसे भी अभीष्ट संक्षेप सिद्ध नहीं हो सका है। पाणिनि के समान उद्देश्य वाले सूत्रों की तुलना में इसके सूत्रों का रूप ही पलट गया है :

पा० सू०	कातन्त्र
१. अकः सवर्णे दीर्घः। (पा० ६.१.१०१)	=समानः सवर्णे दीर्घीभवति परश्च लोपम् ॥१.२.१॥
२. आद् गुणः। (पा० ६.१.८७)	=अवर्ण इवर्णे ए। उवर्णे ओ। ऋवर्णे अर्। लृवर्णे अल्॥ १.२.२ से ५॥
३. वृद्धिरेचि। (पा० ६.१.८८)	=एकारे ऐ ऐकारे च। ओकारे औ औकारे च॥ १.२.६, ७॥

इत्यादि, इत्यादि !

पारिभाषिक संज्ञाएँ

इन सूत्रों में ही 'सवर्ण' और 'दीर्घ' दो पारिभाषिक संज्ञाएँ हैं, जिनका प्रथम पाद में ही व्याख्यासहित उल्लेख है। किन्तु 'लोपम्' का प्रयोग उसकी बिना परिभाषा बताए ही कर दिया गया है। यह बात पाणिनीय परम्परा के विरुद्ध है। इस तरह की बात अन्यत्र भी खोजी जा सकती है।

'कातन्त्र' में अधिकांश संज्ञाएँ पाणिनि की संज्ञाओं की अपेक्षा भिन्न हैं। किन्तु, कुछ संज्ञाएँ वही अनुकृत होती भी पाई जाती हैं। इतने मात्र से ही इसे पाणिनि का अनुकारी न मान लेना चाहिए। बात उसी ज़ोर के साथ इससे उलटी भी कही जा सकती है। संज्ञा या नामकरण के द्वितीय अध्याय में इनमें से कुछ संज्ञाएँ पाणिनि की संज्ञाओं की तुलना में दी जा सकती हैं। प्रथम पाणिनीय हैं, और समानान्तर कातन्त्रीय :

सर्वनामस्थान=घुट्,	प्रातिपदिक=लिंग,
घि=अग्नि,	आवन्त=श्रद्धा,
नदी=नदी,	उपधा=उपधा,

व्यंजनोपध नकार=अनुषंग, अनन्तानुनासिक व्यंजन=धुट्, इत्यादि।

इनमें हम प्रत्यक्ष ही देख सकते हैं कि जहाँ अधिकांश परिभाषाएँ, समान या असमान रूप में, पाणिनीय परिभाषाओं के समानान्तर और उसी प्रयोजन से प्रयुक्त हुई हैं, वहाँ यह भी स्पष्ट है कि कुछ परिभाषाएं ऐसी हैं कि जिन्हें पाणिनि ने किसी भी कारण से अपनाना उपयुक्त नहीं समझा। इनमें अनुषंग और धुट् के अतिरिक्त और कितनी ही ऐसी संज्ञाएं सम्मिलित की जा सकती हैं।

इन कुछ बातों से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यह व्याकरण पाणिनि से भिन्न किसी अन्य परम्परा का अनुसरण करता है। प्रातिशाख्यों से इसके वर्ण-सूत्रों एवं सन्धिनियमों के सादृश्य के आधार पर यह कहा जासकता है, कि इसमें प्रातिशाख्यकालीन व्याकरण की प्रवृत्ति अपनाई गई है। फिर भले ही इसकी रचना पाणिनि से पूर्व हुई हो, या वाद में ! इस भिन्न परम्परा को ही हमने प्राच्य-परम्परा कहा है; क्योंकि वर्ण-समाम्नाय, परिभाषादि, की समानता उससे ही सिद्ध होती है।

वर्त्तमान रूप

'कातन्त्र' जिस रूप में विद्यमान और उपलब्ध है, क्या उसी रूप में मूलतः वह रचा भी गया था, या नहीं ?, यह प्रश्न एक प्रमुख जिज्ञासा के रूप में उठ सकता है। क्योंकि, सर्वप्रथम इस वात का श्रेय कातन्त्र को ही दिया जा सकता है कि इसमें प्रक्रियानुसार विषयों को चुना गया है। सच तो यह है कि यदि इसका वर्त्तमान रूप, भले ही वह पाणिनि से अर्वाचीन हो, मौलिक है, तब निश्चय ही 'प्रक्रिया-ग्रन्थों' का उद्भव रूपावतार से वहुत पहले के कातन्त्र से मानना चाहिए।

सच यह भी है कि इस परम्परा के वीज भी प्रातिशाख्यों की परम्परा में ही स्पष्ट खोजे जासकते हैं। स्वर, व्यंजन और सन्धि आदि का क्रम वहीं से आरम्भ होता है। किन्तु उनमें मात्र इन्हीं तत्त्वों की प्रधानता है; व्याकरण के लोप, आगम, उपजन, विकारादि का महत्त्व प्रतिशाख्यों में कुछ उतना है भी नहीं। कदाचित् वहां उद्देश्यभिन्नता के कारण ऐसा करना उपयोगी भी नहीं था। अतः उनसे आगे वढ़कर व्याकरण के पूरे वृत्त में उस प्रक्रिया को ले जाने का श्रेय 'कातन्त्र' को ही सर्वप्रथम वैठता है। हमें तो ऐसा लगा, जैसे 'तन्त्र' का यहां अभिप्राय 'प्रक्रिया' से ही हो !

विषय-विभाजन : आकार—

इसका विषय-विभाजन इतन सरल और सीधे ढंग से हुआ है कि कई बार पाणिनीय परम्परा के प्रक्रिया-ग्रन्थ इसके सामने हेय प्रतीत होते हैं। उनमें पाणिनीय क्रम बार-बार टूटता प्रतीत होता है, जबकि यहां सूत्रकार उसी क्रम में बढ़ता प्रतीत होता है। स्थूलतः इसे किन्हीं निश्चित अध्यायों में अथवा निश्चित पादक्रम में नहीं बांटा गया है। अध्याय हैं अवश्य, लेकिन विषय-क्रम के अनुसार। कोई विषय कितना व्यापक है, अथवा वह कितने खण्डों में विभाजित किया जा सकता है, इस आधार पर ही उसके पादों की संख्या निश्चित होती है। विषय छोटा होने पर 'पाद' का आकार बहुत छोटा भी रह सकता है, पर विषय के विस्तृत होने पर उसका आकार दीर्घ भी हो सकता है।

विविध विषयों को एक ही 'पाद' में भरने का यत्न नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ, सन्धि प्रकरण का तृतीय पाद कुल चार सूत्रों का ही है। इसका विषय है—प्रगृह्य। इसकी तुलना में नामप्रकरण का प्रथम पाद ७७ सूत्रों का है। कारकपाद में ५२ सूत्र हैं, जबकि समासपाद में २९ सूत्र ही है। तद्धित जैसे विस्तृत प्रकरण में सूत्रों की संख्या १४७ सूत्र तक पहुंच जाती है।

किन्तु इस पर भी अवलोकनीय है कि यह सारा का सारा प्रकरण उतने में ही समाप्त हो गया है। 'नामप्रकरण' के साथ ही 'कारक' और 'तद्धित' के पादों को रखा गया है। उत्तरार्ध में 'आख्यात' या 'धातुप्रकरण' आता है। कहते हैं, मूलतः 'कातन्त्र' यहीं तक था। 'कृदन्त' का भाग बाद में कात्यायन के नाम से रचित प्रसिद्ध है।

इस प्रकार स्थूल रूप में कह सकते हैं कि 'रूपावतार' को अपने लिए विषय-विभाजन की प्रेरणा सम्भवतः 'कातन्त्र' से ही मिली होगी। दोनों का विषय-विभाजन-क्रम लगभग एक सा है। सन्धिप्रकरण, नामप्रकरण (कारक, समास और तद्धितसहित), एवं आख्यात प्रकरण (कृदन्त सहित) : मोटे रूप में यही विभाग उभयत्र अनुकृत हुआ है। मुख्य अन्तर यही है कि 'कातन्त्र' के वर्त्तमान रूप की रचना इसी रूप में हुई प्रतीत होती है, जब कि पाणिनीय व्याकरण के प्रक्रिया-ग्रन्थों में पाणिनि के क्रम को तोड़ना पड़ा है, जो कि स्पष्टतः अपनी कमियां स्पष्ट कर देता है।

तुलना : संक्षेप

ऊपर कही बातों से इतना तो स्पष्ट हो ही गया है कि अनेक विषयों में बड़ी अद्भुतता के साथ इसमें पाणिनीय व्याकरण की अपेक्षा संक्षेप से काम लिया गया है। 'चान्द्र व्याकरण' से तुलनात्मक अध्ययन करने पर पता चलेगा कि कई जगह उसमें भी इससे ही संक्षेप वृत्ति और क्रम परिवर्तन में सहायता ली गई है। कह सकते हैं कि ऐसा उभयत्र पड़े किसी समान पूर्वप्रभाव के कारण हुआ है। किन्तु यह तो स्पष्ट है कि पाणिनि की अपेक्षा संक्षेप दोनों जगह है। 'कातन्त्र' का यह संक्षेप कुछ जगह अत्यन्त आश्चर्यजनक है। वैदिक प्रकरण के अभाव के कारण वैसे ही इसका क्षेत्र पर्याप्त कम रह गया था। तद्धित, समास, आदि प्रकरणों के संक्षेप की चर्चा हम कर आए हैं। इस विषय में भी 'चान्द्र' व्याकरण ने, पाणिनि की पद्धति पर चलते हुए भी, इसी का अनुकरण किया दीखता है। पर कुछ विषमताएं भी हैं, जिन्हें असंगतियों के रूप में कहा जा सकता है। यहां हम इस प्रकार के कुछ उदाहरण देखेंगे, जिनसे कुछ नवीनता और कुछ विसंगति के साथ-साथ संक्षेपवृत्ति का भी परिचय मिल सकेगा।

कारक पाद

पाणिनि 'कारक प्रकरण' का आरम्भ अपादान की परिभाषा से करते हैं। 'कातन्त्र' में भी आरम्भ इसी से किया गया है। किन्तु इस इस पाद के आरम्भ में विभक्ति-चिन्हों सम्बन्धी चार-पांच सूत्र 'अव्यय' और 'तद्धित' प्रकरण के दिये गए हैं। इनमें से आरम्भिक दो सूत्रों का सम्वन्ध 'अव्ययीभाव समास' और 'अव्यय' के बाद आने वाले विभक्तिरूपों से है, जबकि दो का सम्बन्ध अपत्यप्रत्ययों के 'लुक्' से है। विषय-नियोजन की यह युक्ति हमें समझ में नहीं आई।

'अव्यय' संज्ञा का प्रयोग कातन्त्र की दृष्टि से स्वतः विहित नहीं बैठता, क्योंकि उसने 'असंख्य' संज्ञा को स्वीकार किया है। फिर, अव्ययीभाव नाम भी असंगत बैठना चाहिए। अस्तु, इन्हें मानने के बाद भी अपत्यप्रत्ययों के 'लुक्' की चर्चा का यहां क्या प्रयोजन है? यह समझ में नहीं आया।

कह चुके हैं कि यहां कारक-प्रकरण 'अपादान' से ही आरम्भ हुआ है, और उसके बाद सम्प्रदान, अधिकरण, कर्म, कर्त्ता और हेतु के क्रम से आगे बढ़ाया गया है। पाणिनि ने यह प्रकरण ३१ सूत्रों में समाप्त किया है, जबकि

'कातन्त्र' का यह प्रकरण कुल ९ सूत्रों में समाप्त हो गया है। कदाचित् इन नौ सूत्रों पर दृष्टिपात करने से हमें कुछ लाभ रहेगा।

१—यतोऽपैति भयमादत्ते वा तदपादानम्।
२—ईप्सितं च रक्षार्थानाम्।
३—यस्मै दित्सा रोचते धारयते वा तत् सम्प्रदानम्।
४—य आधारस्तदधिकरणम्।
५—येन क्रियते तत्करणम्।
६—यत् क्रियते तत्कर्म्म।
७—यः करोति स कर्त्ता।
८—कारयति यः स हेतुश्च।
९—तेषां परमुभयप्राप्तौ।

परिभाषाएं कितनी संक्षिप्त और सीधी हैं! विभक्तियों के सम्बन्ध में द्वितीयाध्याय के तृतीयपाद में पाणिनि ७३ सूत्रों में अपना वक्तव्य देते हैं, जबकि कातन्त्र कुल २१ सूत्रों में इसे समाप्त करता है। यह संख्या भी स्वयं उसकी अपनी परम्परा की दृष्टि से पर्याप्त विस्तृत मानी जासकती है। कारण यह कि विभक्त्यर्थ या विभक्ति-प्रयोग का वास्तविक प्रकरण केवल प्रथम तीन सूत्रों में ही समाप्त हो जाता है। ये सूत्र हैं:

१—प्रथमा विभक्तिर्लिंगार्थवचने (२.३.१)।
२—आमन्त्रिते च (२.३.२.)।
३—शेषाः कर्म्मकरणसंप्रदानापादानस्वाम्याद्यधिकरणेषु (२.३.३)।

इन सातों विभक्तियों का प्रकरण समाप्त करने के बाद शेष अट्ठारह सूत्रों में पाणिनीय क्रम से ही विभक्तियों के अनियमित प्रयोगों को नियमित सिद्ध किया गया है। पाणिनि द्वारा उठाई गई अधिकांश बातें उनमें आ गई हैं।

तद्धित-पाद

पाणिनीय व्याकरण में तद्धित का प्रकरण सर्वाधिक लम्बा है। फिर भी, इस सारे को 'कातन्त्र' में कुल १४७ सूत्रों में बन्द कर दिया गया है। दुर्गसिंह इनकी व्याख्या पाणिनीय सूत्रों के आधार पर ही करते दीखते हैं। उदाहरणार्थ, पहला सूत्र है 'वाऽणपत्ये' (वा अण् अपत्ये)! इसकी वृत्ति में दुर्गसिंह लिखते

हैं : 'षष्ठयन्तान्नाम्नोऽपत्याभिधेयेऽण प्रत्ययो भवति वा।'[1] इसमें 'षष्ठयन्त नाम' का प्रकरण कहां से आ गया, इसका कोई भी सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिल सकता, जब तक कि पाणिनि के या उससे भी पूर्ववर्त्ती सूत्र 'तस्यापत्यम्' (पा० ४.१.९२) को ध्यान में न रखा जाए !

अन्यत्र की भांति यहां भी कातन्त्रकर्त्ता ने एक विशेषता बनाए रखी है। 'फ', 'ढ', 'घ', आदि प्रत्यय करके बाद में उन्हें 'आयन' आदि में रूपान्तरित करने की आवश्यकता उसने नहीं रखी है। न ही आदिवृद्धि आदि के नियमों के लिए वैसी दीर्घ व्यवस्था करनी चाही है। उदाहरणार्थ, सूत्र है : 'कुञ्जादेरा-यनण्स्मृतः'। इसमें प्रत्यय ही 'आयन' किया गया है, और उसे 'णित्' कर दिया गया है। परन्तु इसकी वृत्ति में भी दुर्गसिंह वही बात लाते हैं : 'पौत्रा-दावेवाऽपत्येऽभिधेये'। यह बात सूत्र में कहीं भी इंगित नहीं की गई है। इसी तरह 'ढ' के स्थान पर 'एयण्' प्रत्यय ही किया गया है : 'स्त्र्यत्र्यादेरेयण्' ! इसमें 'स्त्री' और 'अत्रि' के विविध वर्गों को एक ही में सम्मिलित कर दिया गया है।

पर, इस संक्षेप के साथ ही तद्धितों के तथाकथित वर्ग भी समाप्त हो गए हैं। यह प्रवृत्ति अन्य प्रकरणों में भी पाई गई है।

पूर्ववर्त्ती या परवर्त्ती

ऊपर जितने भी प्रमाण दिये गए हैं, उनसे जहां यह स्पष्ट है कि 'कातन्त्र' की रचना मूलतः 'तन्त्र' या 'प्रक्रिया-ग्रन्थ' के रूप में हुई थी और उसमें पाणिनि-भिन्न परम्परा का अनुगमन किया गया था, वहां उनसे यह शंका भी उठ खड़ी होती है कि पाणिनि ने उसका अनुकरण किया या उसने पाणिनि का ? इस प्रसंग में यह बात स्मर्त्तव्य है कि मीमांसकजी से पूर्व से ही यह सुझाव दिया जाता रहा है कि पातंजल महाभाष्य में 'कलापक' या 'कालापक' नाम से जिस 'ग्रन्थ' की चर्चा मिलती है, वह यही 'कातन्त्र' है।

हेमचन्द्र और अन्य विद्वानों ने 'कलापक' की व्याख्या 'किसी बृहत् तन्त्र से कला पीने वाला लघुतन्त्र' के रूप में की है। प्रकरण, संक्षेप और विन्यास को देखते हुए यह बात असंभव भी नहीं लगती। लगता है कि कभी कोई 'बृहत् तन्त्र', सम्भवतः ऐन्द्र व्याकरण की परम्परा में, रहा होगा। उसी का लघु या संक्षिप्त रूप 'कु (कत् + तन्त्र) = कातन्त्र' यह व्याकरण बना !

इसका एक अन्य नाम 'कौमार' भी है। कहते हैं कि 'कुमार' या 'स्कन्द' को उपदेश के रूप में इसका प्रवचन किया गया था। इसी से इसे 'कौमार'

नाम से स्मरण किया गया। किन्तु, एक अन्य परम्परा के अनुसार उन्हीं कुमार कार्त्तिकेय या स्कन्द के कहने पर शर्ववर्मा ने इसकी रचना की।

इस परवर्त्ती किंवदन्ती का एक अन्य अभिप्राय भी हो सकता है। पाणिनीय व्याकरण की रचना के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उसका निर्माण शिव (महेश्वर) के डमरू-निनाद (या महेश्वर के आदेश) से हुआ था। उसी की तुलना में 'कातन्त्र' के सम्बन्ध में यह कथा चली दीखती है कि इसका निर्माण 'कुमार कार्त्तिकेय के आदेश' पर हुआ। आदेश की यह बात मूल दुर्गसिंह की वृत्ति पर रचित एक अन्य दुर्गसिंह की टीका में कही गई है। इसका संकेत स्पष्ट है : जिस प्रकार पाणिनि ने अपने से पूर्ववर्त्ती किसी परम्परा को एक चरम सीमा तक पहुंचाया, उसी प्रकार शर्ववर्मा ने भी अपने से पूर्ववर्त्ती किसी परम्परा को पूर्णता और संक्षेप तक पहुंचाया।

एक और भी व्याख्या मीमांसक जी ने सुझाई है : कुमाराणामिदम्= कौमारम्।[1] इसका आधार इस व्याकरण की अत्यन्त सरलता है। बंगाल में तो इस व्याकरण का आत्यन्तिक प्रचार है ही, मारवाड़ की पाठशालाओं तक में इसके देशज या विकृत रूप के प्रचलन की बात सप्रमाण मीमांसक जी ने कही है।[2] 'कालापक व्याकरण' के रूप में तो हर सम्पादक ने इसे माना ही है।

इन सब बातों से निम्न कुछ बातें सिद्ध होती हैं :

१—यह व्याकरण किसी बृहत् तन्त्र का संक्षेप है।

२—इसकी सत्ता किसी न किसी रूप में पाणिनि से पूर्व भी विद्यमान थी।

३—इसका वर्त्तमान रूप पाणिनि के बाद का रचित है और इसका संक्षेप पाणिनीय व्याकरण के विस्तार को ध्यान में रखकर ही अधिक सतर्कता के साथ हुआ है।

४—शर्ववर्मा इसका आदिकर्त्ता नहीं। वह इसका संक्षेपकार या 'प्रक्रियाकार' हो सकता है।

५—सरलता इसका मुख्य लक्ष्य था।

शर्ववर्मा : कर्तृत्व और काल

इस सबसे शर्ववर्मा के विषय में दो प्रमुख बातें जिज्ञासा के रूप में उठ

---

१. मी०, प्र० भा० (द्वि० सं०), पृ० ५०२। २. वही, पृ० ५०३।

खड़ी होती हैं : प्रथम यह कि क्या वह वर्त्तमान 'कातन्त्र' का कर्त्ता था ?, और द्वितीय यह कि उसका काल क्या था ?

कर्तृत्व

जहां तक उसके कर्तृत्व का प्रश्न है, हमें दुर्गसिंह की वृत्ति की आरम्भिक कारिका पर ध्यान देना अभीष्ट होगा :

> देवदेवं प्रणम्यादौ सर्वज्ञं सर्व्वदर्शिनम् ।
> कातन्त्रस्य प्रवक्ष्यामि व्याख्यानं शार्व्ववर्म्मिकम् ।।

'कातन्त्र' पर दुर्गसिंह की वृत्ति ही सबसे प्राचीन है, और वह इस कारिका में शर्व्ववर्म्मा का कातन्त्रकार के रूप मे स्मरण नहीं करते । 'शर्व्ववर्म्मा' शब्द का यहां प्रयोग व्याख्यान का विशेषण बनकर हुआ है । अर्थात्, उसने सर्वप्रथम 'कातन्त्र' के वर्त्तमान रूप की 'वृत्ति' या 'व्याख्या' रची थी, या कदाचित् उसने 'कातन्त्र' का वर्त्तमान रूप में 'व्याख्यान' या 'प्रवचन' किया था । दुर्गसिंह ने उसी वृत्ति को नए रूप से, अपने ढंग से, सरल रूप में रच दिया । यह बात 'कथासरित्सागर' की उस उक्ति से भी मेल खाती है, जिसके अनुसार शर्व्ववर्म्मा ने सातवाहन नृपति को व्याकरण का बोध कराने के लिए 'कातन्त्र' व्याकरण पढ़ाया था[1] । भले ही उसने 'कातन्त्र' को यह संक्षिप्त रूप भी दिया होगा । किन्तु इससे वह मूल रचयिता सिद्ध नहीं होता । लगता है कि मूल 'कातन्त्र' का प्रवचन कई आचार्यों ने भिन्न-भिन्न ढंग से किया होगा ।

काल

जहां तक 'काल' का प्रश्न है, दो बातों से इसके निर्णय में सहायता मिलती है । प्रथम तो सातवाहन नृपति को पढ़ाने वाली बात है । यह बात ऐतिहासिक है, क्योंकि इसका सम्बन्ध गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' से भी जुड़ा हुआ है । सबसे पहले यह दायित्व गुणाढ्य ने ही लिया था : छह मास में राजा को व्याकरण-ज्ञान कराने का ! उसके असफल होने पर ही शर्ववर्मा ने यह बीड़ा उठाया था । यह सातवाहन नृपति विक्रम संवत् से दो शती पूर्व तक हुआ माना जाता है ।

दूसरी बात है शूद्रक द्वारा अपने 'पद्मप्राभृतक भाण' में 'कातन्त्र' का उल्लेख करना ! शूद्रक का काल ईसा से डेढ़ सदी पूर्व से लेकर विक्रम संवत् के आरम्भ होने तक माना जाता है ।

---

१. कथास०, लम्बक १, तरंग ६-७ ।

इस प्रकार 'कातन्त्र' का शर्वशर्मा के साथ सम्बन्ध १५० ई० पू० से पहले ही बैठता है। दूसरे शब्दों में, 'कातन्त्र' का वर्त्तमान प्रक्रियात्मक रूप १५० ई० पू० अवश्य ही विद्यमान था। इससे कितना पहले उसका पूर्ण रूप बना था, निश्चय के साथ नहीं कह सकते। फिर भी, इसका वर्त्तमान संक्षिप्त रूप कई बातों में पाणिनि से परवर्त्ती प्रतीत होता है, जबकि अधिकांशतः वह पाणिनि से पूर्व की किसी परम्परा का ही अनुसरण करता दीखता है।

टीकाकार

इसके टीकाकार अनेक हुए हैं। पाणिनि से परवर्त्ती व्याकरणों की एक धारा इससे पूर्णतः प्रभावित रही है। सबसे प्रथम वृत्तिकार दुर्गसिंह का नाम आता है। उसकी वृत्ति ही सर्वाधिक प्रामाणिक मानी जाती है। उसकी वृत्ति में कुछ प्रयोग ऐसे हैं, जिन्हें एक अन्य टीकाकार दुर्गसिंह ने भारवि और मयूर कवियों की कृतियों में से उद्धृत माना है। स्पष्ट है कि वृत्तिकार दुर्गसिंह भारवि और मयूर से परवर्त्ती ठहरते हैं। भारवि का काल पांचवी शती ईसवी के अन्त के आस-पास माना जा सकता है। मयूर कवि हर्षवर्धन का सभापण्डित था। उसका काल सातवीं शती ईसवी का पूर्वार्ध बैठता है। अतः दुर्गसिंह भी सातवीं शती के आसपास ही हुए। उनके समय तक शर्ववर्मा की 'कातन्त्र वृत्ति' विलुप्त या विकृत हो चुकी होगी, या दुरूह समझी जाने लगी होगी! 'काशिका' में दुर्गसिंह की इस वृत्ति के मतों का खण्डन होने से इसकी रचना उससे पूर्व ही हुई होगी।

इसके अतिरिक्त इसी 'दौर्गसिंही वृत्ति' पर नवम शताब्दी के आसपास के एक अन्य दुर्गसिंह या दुर्गगुप्तसिंह की एक टीका मिलती है। इसके सम्पादक गुरुनाथ विद्यनिधि ने इसे 'टीका' नाम से सम्पादित किया है। त्रिलोचनदास नामक एक विद्वान् ने 'पञ्जी' नाम की वृहत् व्याख्या इसी वृत्ति पर लिखी है। विद्याभूषण सुषेण ने 'कलापचन्द्र' या 'कविराज' नाम से एक टीका, त्रिलोचनदास की टीका के स्पष्टीकरण में, लिखी है। इसे ही मीमांसक जी ने 'काशिराज' कह दिया है। बंगला लिपि में यह स्पष्टतः 'कविराज' नाम से है। आचार्य जिनप्रभ सूरि ने भी 'कातन्त्रविभ्रम' नाम की एक टीका लिखी। जगद्धर भट्ट ने अपने पुत्र के लिए 'बालबोधिनी' नाम की इसकी एक टीका लिखी। 'सन्धिचन्द्रिका' नाम से एक 'व्याख्यासार' हरिराम शर्मा ने लिखा था। यह सार-टीका हर पाद के क्रम से लिखी गई है। एक टीका 'कातन्त्रप्रदीप' या

'विद्यासागर' के नाम से मिलती है। यह केवल कारक-प्रकरण पर ही उपलब्ध है। 'धातुसूत्रों' पर कुलचन्द्र नाम की व्याख्या मिलती है। धातुसूत्रों पर ही 'पंजीपत्रिका' नाम की एक अन्य टीका मिलती है। 'व्याख्यासार' नामक टीका अन्य प्रकरणों पर भी पूर्ववत् मिलती है।

कृदन्त और परिशिष्ट

लोकभाषा का व्याकरण होने के कारण वैदिक और स्वरप्रकरण तो इसमें पहले ही नहीं थे। किन्तु दुर्गसिंह अपनी दुर्गवृत्ति में 'कृदन्त भाग' की रचना कात्यायन द्वारा सम्पन्न बताते हैं। उनका कहना है: 'कात्यायनेन ते सृष्टा विबुधप्रतिपत्तये'! किन्तु, यह कात्यायन कौन था? इस विषय के विवाद-प्रसंग में मीमांसक जी यह अनुमान करते हैं कि सम्भवतः यह विक्रम का सभापण्डित और पुरोहित 'वररुचि' ही था[1]!

किन्तु हम उन्हीं द्वारा 'गंगानाथ झा रिसर्च जर्नल' से उद्धृत निम्न वक्तव्य को प्रस्तुत करके एक निष्कर्ष पर पहुंचने का प्रयास करेंगे। उसके लेखक एक तिब्बती परम्परा के आधार पर कहते हैं: "सातवाहन के चाचा भाववर्मा ने 'शंकु' से संक्षिप्त किया ऐन्द्र व्याकरण प्राप्त किया। जिसका प्रथम सूत्र 'सिद्धो वर्णसमाम्नायः' था। यह पन्द्रह पादों में था। इसका संक्षेप वररुचि शर्ववर्मा ने किया। तब इसका नाम 'कलापसूत्र' हुआ। क्योंकि अनेक स्रोतों से इसका संकलन हुआ था, उन सूत्रों के मोर की पूंछ के समान विस्तीर्ण होने के कारण ही यह (कलापक) नाम पड़ा। इसमें २५ अध्याय और ४०० श्लोक थे[2]।"

इससे निम्न कुछ बातें स्पष्ट होती हैं:

(१) आरम्भिक कृति में कुल पन्द्रह पाद थे। कदाचित् उसमें या तो 'आख्यात' के चार पाद नहीं थे, या कोई और पाद कम थे। सन्धिप्रकरण सारा एक ही पाद में रहा हो यह भी सम्भव है।

(२) कृदन्त भाग समेत इसमें २५ पाद बैठते हैं। इसकी पूर्णता विविध स्रोतों से शर्ववर्मा द्वारा ही की गई, जिसका अपर नाम वररुचि भी था। यह भाववर्मा का सम्बन्धी, और कदाचित् सातवाहन नृपति का बन्धु, रहा होगा। इसने ही उसे पूर्णता प्रदान की।

(३) इन विविध स्रोतों में पाणिनि और कात्यायनादि के भी प्रयास शामिल

---

१. मी०, प्र० भा० (द्वि० सं०), पृ० ५११। २. वही, पृ० ५१० पर उद्धृत।

थे। हो सकता है कि 'ऐन्द्र व्याकरण' के कुछ प्रकरण विलुप्त हो चुके होंगे।

अतः स्पष्ट है कि शर्ववर्मा ने सम्पूर्ण कातन्त्र का संक्षेप किया और इसे पूर्ण भी किया। स्वयं वही 'वररुचि' था, जिसे बाद में 'कात्यायन' नाम से भी कह दिया गया।

कातन्त्रपरिशिष्ट

ऊपर के विवेचन में हम यह स्पष्ट कर आए हैं कि 'कातन्त्र' में कुछ कमियां भी रह गई थीं। इन कमियों को पूरा करने के लिए श्रीपतिदत्त नामक विद्वान् ने 'कातन्त्रपरिशिष्ट' नाम से इसका एक परिशिष्ट लिखा। इसके बाद भी विजयानन्द ने इसमें कुछ और कमी अनुभव की, जिसे उसने 'कातन्त्रोत्तर' नामक ग्रन्थ लिखकर पूरा किया। डा० वेल्वेलकर इसका कर्त्ता त्रिलोचनदास को मानते हैं, जो किसी भ्रम का परिणाम दीखता है।

एक अन्य भ्रम

वृत्तिकारों के गणना-प्रसंग में हम पहले कह आए हैं कि सर्वप्रथम वृत्ति या व्याख्यान शर्ववर्मा ने ही इसपर लिखा था। किन्तु उसी का नाम वररुचि भी था, यह बात तिब्बती परम्परा से प्रमाणित है। किन्तु इस बात से अनजान रह कर ही श्री गुरुपद हलदार ने इन दोनों को दो पृथक् वृत्तिकारों के रूप में गिना है।

उपसंहार

इस प्रकार पाणिनि की समानान्तर परम्परा का प्रतिनिधि 'कातन्त्र व्याकरण' स्वतः अत्यन्त संक्षिप्त होकर भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। निश्चय ही छह मास में व्याकरणज्ञान कराने की दृष्टि से इसकी उपयोगिता अब भी मानी जा सकती है।

चान्द्र व्याकरण

पीठिका

भर्तृहरि के प्रमाण के आधार पर हम पहले कह चुके हैं कि पतंजलि के शिष्यों से महाभाष्य के भ्रष्ट हो जाने, और बैजि, सौभव एवं हर्य्यक्ष, आदि द्वारा उसे शुष्क तर्कमयी व्याख्याओं के द्वारा दुरूह बना देने, के बाद चन्द्राचार्य आदि विद्वानों द्वारा ही उसका पुनरुद्धार किया गया और उसको अनेक शाखाओं में प्रसृत किया गया[1]। चन्द्राचार्य ने यह आगम पर्वत से प्राप्त किया था, और तभी वे पुनरुद्धार के कार्य में प्रवृत्त हुए थे।[2] भर्तृहरि के इस

१. वा० २.४८१-३। २. वा० २.४८३।

'पर्वत से आगम प्राप्त करने' का अर्थ कदाचित् पुण्यराजादि भी न जान सके थे। इसका वास्तविक अर्थ कल्हण की 'राजतरंगिणी' से स्पष्ट होता है, जिसके अनुसार कश्मीर (=पर्व्वत) के अधिराज अभिमन्यु ने चन्द्राचार्य को पतंजलि के महाभाष्य के पुनरुद्धार का कार्य सौंपा।[1] इसके बाद ही चन्द्राचार्य ने उस कार्य को पूरा किया। कदाचित् अभिमन्यु ने चन्द्राचार्य्य को 'महाभाष्य' कोई सुरक्षित प्राचीन प्रति (=आगम) भी दी होगी।

किन्तु, यह सब बात इसलिये कहनी पड़ी कि जहाँ चन्द्राचार्य्य द्वारा इस महान् कार्य के सम्पादन का सत्य स्पष्ट हो सके, वहाँ यह भी स्पष्ट हो सके कि उनके द्वारा रचे गये व्याकरण—चान्द्र व्याकरण—की अपनी पृष्ठभूमि क्या है! क्योंकि कदाचित् महाभाष्य-सम्पादन के इस कार्य के बीच ही उन्हें यह प्रेरणा मिली थी कि महाभाष्य और तत्सदृश ग्रन्थ भाष्यादि के आधार पर पाणिनीय व्याकरण का पुनःसम्पादित रूप क्यों न प्रस्तुत किया जाए! और उन्होंने पतंजलि, कात्यायन, एवं प्रचलित प्राच्य व्याकरणादि की सहायता से एक ऐसा संस्करण तैयार भी किया। यही चान्द्र व्याकरण है। उन्होंने स्वयं ही स्पष्टीकरण के लिये इसकी एक वृत्ति भी लिखी। इसमें मूलतः आठ अध्याय थे, तथा वैदिक और स्वरप्रक्रिया का समावेश अन्तिम दो अध्यायों में था। किन्तु हर महान् प्रयत्न की भाँति इसके साथ भी वही हुआ: इसके अन्तिम दोनों अध्याय भी समय के साथ-साथ नष्ट हो गये।

प्रदेश और लौकिकता

इस विनाश या भ्रंश का भी एक कारण है। बंगाल में बहुत पहले से ही व्याकरण की लौकिकता पर बल दिया जाता रहा है। 'कातन्त्र' की लौकिकता का भी यही कारण है। 'भाषावृत्ति' के रचयिता पुरुषोत्तमदेव इस लौकिकता पर बल देने वाले प्रथम व्यक्ति न थे। सम्भवतः इस प्रवृत्ति का बीज प्राच्य वैयाकरणों की वेदविरुद्ध या बौद्धमतावलम्बिनी प्रवृत्ति में खोजा जा सकता है। इससे पूर्व भी तन्त्रसाधना का प्रदेश वही रहा है। ये विचारधाराएँ वैदिक विचारधारा के समानान्तर चलती रही हैं।

संयोग से चन्द्रगोमी थे भी बौद्ध आचार्य्य! परवर्त्ती प्रतिसंस्कर्त्ताओं में बौद्ध वैयाकरण पर्याप्त संख्या में रहे। इस व्याकरण का प्रचार भी प्राच्य-प्रदेश में ही अधिक रहा। इसीलिए इसके अन्तिम दो अध्यायों का विलोप हो

---

१. राजत० १.१७६।

जाना असंभव बात न थी। और इनके बिना भी लौकिक भाषा की दृष्टि से तो यह पूर्ण व्याकरण था ही। अतः पुरुषोत्तमदेव जैसे वैयाकरण के लिये यह कहना उचित ही था कि चन्द्राचार्य 'भाषा' के ही वैयाकरण थे।

परन्तु, चन्द्र स्वयं भी तो बंगवासी ही थे। इनके दो प्रमाण दिये जा सकते हैं :

(१) प्रत्याहारों में 'बश्' प्रत्याहार पढ़ते हुये वे उसे 'पुनर्वश्' कहते हैं। यह इस कारण कि बंगला लिपि में व और ब के लिपिसंकेत एक ही हैं। यह उच्चारण की तज्जन्य अभिन्नता के कारण है।

(२) दूसरा यह कि 'बकारान्त' और 'वकारान्त' धातुओं को धातुपाठ में ऐकसाथ ही पढ़ा गया है।

कहा जा सकता है कि ऐसा किसी बंगवासी संशोधक के कारण हुआ है। किन्तु इसे लेखक का भी कृतित्व माना जा सकता है। बल्कि ऐसा ही माना जाना चाहिए भी।

यहाँ हम यह बात कहना अनिवार्य समझते हैं कि मीमांसक जी ने अपने 'इतिहास' में चान्द्र व्याकरण के 'अष्टाध्याय' होने को अनेक प्रमाणों से प्रमाणित किया है। विस्तार वहीं से देखना चाहिये।[1] यहाँ हम संक्षेप में ही कहेंगे कि—

(१) चान्द्र वृत्ति में स्थान-स्थान पर 'स्वरों की चर्चा' का संकेत है।[2] तथा, (२) चान्द्र १.१.१४५ की वृत्ति में स्वयं कहते हैं : **'स्वरविशेषमष्टमे वक्ष्यामः।'**

इन दोनों बातों से व्याकरण का **'अष्टाध्याय'** और स्वरप्रकरण का **'अष्टम'** होना सिद्ध है। स्वभावतः **सप्तम** अध्याय 'वैदिक प्रकरण' का रहा होगा। पर उपलब्ध व्याकरण छठे अध्याय पर ही अपने को 'समाप्त' घोषित करता है। ऐसा परिवर्त्तन किसी शोधक लिपिकार ने बहुत पहले ही कर दिया होगा।

असंज्ञक व्याकरण

चान्द्र व्याकरण को अनेक जगह अनेक रूप से 'असंज्ञक' कहा गया है। इसमें सन्देह नहीं कि पाणिनि के प्रथम अध्याय का प्रथम पाद इसमें पूर्णतः अनुकृत नहीं हुआ है। किन्तु क्या चन्द्राचार्य संज्ञाओं को सर्वथा निराकृत

---

१. पृ० ५२४-६ (द्वि० सं०)। २. चा० १.१.२३, १०५, १०८, १३४, की वृत्ति में।

कर सके हैं ? नहीं ! कदाचित् एक त्रुटि वे आरम्भ में ही कर गए हैं। पहले सूत्र में ही वे 'आदिरिता समध्यः' (चा० १.१.४) के मध्य में 'इता' का पाठ करते हैं, किन्तु 'इत्' संज्ञा का विधान वे पांचवें सूत्र में करते हैं : 'अनंशचिह्न-म्त्‌' (चा० १.१.५)। यही बात दूसरे और तीसरे सूत्र में है। दूसरे में वे कहते हैं : 'उता सवर्गः' (१.१.२)। किन्तु 'उत्' का अर्थ वे, 'तपर' के रूप में, बाद में बताते हैं : ता तत्कालः (चा० १.१.३)। और, फिर पाणिनि के 'दाधाघ्वदाप्' (१.१.२०) की जगह 'दोऽपः' (चा० १.१.~) कहते हुए वे 'घु' संज्ञा को निराकृत करके भी क्या 'दा' को संज्ञा की भांति ही प्रयोग नहीं कर रहे ?

इसके अतिरिक्त ङित्, शित्, टित्, कित्, मित्, आदि के साथ-साथ उपान्त (उपधा), ससंख्य (सुवन्त), असंख्य (अव्यय), लुक्, लोप, आदि संज्ञाओं का प्रयोग भी उन्होंने किया ही है। अन्तर यही है कि पाणिनि की शैली में जब तक किसी संज्ञा की परिभाषा न कर दी जाये, तब तक उसका प्रयोग नहीं किया जाता, यदि वह संज्ञा परम्परा से ही बहुमान्य नहीं है; जबकि चान्द्र व्याकरण में या तो उन्हें बिना व्याख्या के ही अपना लिया गया है, या फिर वे पाणिनि से न गृहीत होकर 'कातन्त्र' आदि से ली गई हैं। 'असंख्य' ऐसी ही संज्ञा है।

किन्तु 'उपान्त' का व्यवहार तो कातन्त्र ने भी नहीं किया है। फिर उसे बिना पूर्वपरिभाषित किये उसका प्रयोग कैसे किया गया ? और यदि उसकी व्याख्या न करके भी किसी संज्ञा का प्रयोग चन्द्राचार्य ने किया है, तब उनके व्याकरण को किसी भी प्रकार 'असंज्ञक' तो कहा ही नहीं जा सकता। क्या 'सुप्' स्वयं में संज्ञा नहीं है ?

विषमता

अतः अपने व्याकरण को 'असंज्ञक' रखने की धुन में चन्द्राचार्य पाणिनि की अपेक्षा सरलता का आधान न करके एक विषमता में ही फँस गये हैं। उनके व्याकरण की बहुत सी संज्ञाओं का अर्थ अपने आप लगाना होगा। पाणिनि जब वा, विभाषा, अन्यतरस्याम्, आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं, तब उससे दो उद्देश्य सिद्ध होते हैं : एक तो उससे उन सूत्रों के विविध स्रोतों से आने का आभास हो जाता है और दूसरा उनसे 'विकल्प' की विविध स्थितियों का ज्ञान हो जाता है।

'वा' केवल एक विशिष्ट स्थिति है, जिसे हम हिन्दी के 'या' के समकक्ष कह सकते हैं। उसमें दोनों प्रयोग बराबर मूल्य रखते हैं। किन्तु 'विभाषा' को अपनातें हुए पाणिनि उसे एक सर्वथा नया अर्थ देते हैं : 'न वेति विभाषा' (पा० १.१.४५)। अब इसमें 'वा' के अतिरिक्त 'न' की एक और भी स्थिति सम्वेत हो गई है। 'न' का संकेत उस स्थिति से है, जिसमें प्राप्त नियम भी नहीं लगपाता ! और 'वा' उस स्थिति को द्योतित करता है, जिसमें नियम प्राप्त न होने पर भी कार्य हो जाए ! परन्तु चन्द्राचार्य ने इस सब कार्य को 'वा' के द्वारा एक ही सिद्ध कर दिया है। पाणिनि की विस्तृत दृष्टि को अपनाना उन्हें उचित नहीं लगा !

फिर, 'व्याप्य' जैसी परिभाषा को चन्द्र पुनः-पुनः प्रयोग करते हैं। ऐसा वे 'कातन्त्र' की परिभाषा 'आप्य' के अनुकरण पर करते हैं। किन्तु इसका अर्थ वे स्वयं कहीं भी स्पष्ट नहीं करते। बाद में चा० १.४.७५ में वे 'आप्यात्' का ही प्रयोग कर देते हैं। ऐसा करने से पाणिनीय व्याकरण सरल न होकर जटिल ही बना है।

व्यवस्था

पहले हम कह ही चुके हैं कि 'कातन्त्र' के वर्तमान रूप में 'प्रक्रिया' की स्थिति पाणिनि के बाद होने वाली उसकी रचना के समय से ही विद्यमान थी। 'चान्द्र' में भी इसी प्रक्रिया को अपनाने का यत्न किया गया है। उसके प्रत्येक अध्याय का विषय 'प्रक्रिया' के आधार पर ही रहा लगता है। यथा, प्रथम अध्याय में 'क्रिया या धातु-प्रक्रिया' का अन्तर्भाव है। द्वितीय और तृतीय अध्याय स्थूलतः 'नाम' से सम्बद्ध हैं, किन्तु उसमें भी विभाग हैं। द्वितीय का प्रथम पाद 'सुप्-विभक्ति-कारक-प्रकरण' का है। द्वितीय पाद में समास का विषय है। तृतीय अध्याय के अन्त तक सारी प्रक्रिया 'तद्धिताश्रित' है। य सभी विषय 'कातन्त्र' में भी नामप्रकरण के ही अंग बनकर आए हैं।

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि इसका स्थूल स्वरूप 'कातन्त्र' के अनुकरण पर ही आधारित हुआ है। यही कारण है, पाणिनि के क्रम से इसके क्रम में अन्तर आने का !

तीन विशेषताएँ

अपने व्याकरण की रचना का उद्देश्य बताते हुए चन्द्राचार्य कहते हैं :

सिद्धं प्रणम्य सर्वज्ञं सर्वीयं जगतो गुरुम् ।
लघुविस्पष्टसम्पूर्णमुच्यते शब्दलक्षणम् ॥

इसमें उन्होंने तीन विशेषताओं के हेतु अपने व्याकरण की रचना करने की प्रतिज्ञा की है : लघुता, स्पष्टता और पूर्णता । आलोचक विद्वानों ने इसका अर्थ विविध रूप में करना चाहा है । वे कहते हैं 'लघुता' के द्वारा वे पाणिनीय से भी लघु, तथा 'विस्पष्टता' के द्वारा उससे भी अधिक स्पष्टाशय से युक्त, एवं 'सम्पूर्ण' के द्वारा 'कातन्त्र' से भी अधिक पूर्ण व्याकरण की रचना को उद्देश्य मानकर बढ़े हैं । 'सम्पूर्ण' शब्द के प्रयोग के आधार पर ही श्री मीमांसक का यह कहना है कि 'चान्द्र व्याकरण' में मूलतः अवश्य ही वैदिक और स्वरप्रक्रिया का समावेश रहा होगा ।

महाभाष्य का अनुसरण

जहां तक 'लघुता' का प्रश्न है, 'चान्द्र' में पाणिनीय 'लघुता' को ही और अधिक पूर्ण बनानेमात्र का प्रयास नहीं है । उसमें महाभाष्यं में प्रोक्त वार्त्तिकादि का भी पूरा-पूरा उपयोग किया गया है । इसके अतिरिक्त कुछ अन्य स्रोतों पर आधारित परिवर्तन-परिवर्धन भी उसमें किए गए हैं । परिणाम यह है कि जहां पाणिनीय वक्तव्य अनेकत्र संक्षिप्त बनकर आया है, वहां इस अतिरिक्त वक्तव्य के कारण चान्द्र व्याकरण में कुछ विस्तार भी आ गया है । फिर, कुछ जगह उस विस्तार का एक और भी कारण है । पाणिनीय पद्धति का परित्याग भी कुछ जगह इस विस्तार का हेतु बना है । पाणिनि की लम्बी और महती संज्ञाओं का अनुकरण न करने पर उनके स्थान पर लम्बे प्रयोगों का आना स्वाभाविक ही था । किन्तु सूत्रविन्यास में कुछ अन्तर आजाने से अनेक जगह बातें दोहरानी भी पड़ी हैं ।

दूसरी ओर, 'पूर्वत्रासिद्धम्' के परिशिष्ट जैसे प्रकरण को मुख्य व्याकरण-निकाय का अंग बनाकर खपा लिया गया है । वार्त्तिकों की आवश्यकता प्रायः नहीं ही रह गई है । कदाचित्, इस विषय में भी प्रेरणा का स्रोत 'कातन्त्र' को किसी अंश तक ठहराया जा सकता है ।

स्पष्टता का प्रश्न

'विस्पष्टता' के विषय में हम अपना मत कह आए हैं । निश्चय ही सामान्य

विद्यार्थी के लिए वा, विभाषा, अन्यतरस्याम्, बहुलम्, आदि का भेद मिटजाने, एवं लोप-लुक्-श्लु-लुप् आदि का अन्तर कम होजाने, से पर्याप्त सरलता आ जाती है। इसे 'स्पष्टता' भी कहा जासकता है। परिभाषाओं और संज्ञाओं की कमी भी विद्यार्थी के लिए आपाततः सरल प्रतीत हो सकती है। किन्तु, दूसरी ओर, इन्हीं बातों का महत्त्व पूरा समझ आने पर यह भी प्रतीत होता है कि बार-बार की पुनरावृत्ति से बचाने के लिए इन संज्ञाओं का प्रयोग अधिक सुविधाजनक रहता।

तथाकथित विकल्प की 'विविध' स्थितियों में वास्तविक अन्तर बताने के लिए विभाषादि अनेक शब्दों की उपस्थिति, भ्रमावह न होकर, स्पष्टीकारक है। तथा 'लोप' की जो चार स्थितियां मानी गई हैं, उनका महत्त्व वैज्ञानिक दृष्टि से विविध स्थितियों की पूर्ण व्याख्या करना है। यदि ये बातें एक बार समझ में आजाएं, तब यह भी समझने में देर न लगेगी कि 'महाभाष्य' पर ही आधारित होकर बढ़ने वाले और 'चान्द्र व्याकरण' की सूचना देने वाले महा-वैयाकरण भर्तृहरि ने, 'चान्द्र व्याकरण' की कोई व्याख्या न करके, 'महाभाष्य' और पाणिनीय सूत्रों की दार्शनिक और वैज्ञानिक उपलब्धियों पर और उसी दिशा में विचार करना अधिक उपयुक्त क्यों समझा? या यह कि उनके बाद भी भारत के अधिकांश वैयाकरण 'चान्द्र व्याकरण' को एक मत से पाणिनीय व्याकरण का प्रतिनिधि क्यों न स्वीकार कर सके? इसका प्रचलन और इसकी सुरक्षा केवल बंगाल या प्राच्यदेश का ही अधिकार बनकर क्यों रह गए? कदाचित् वह भूमि गए आन्दोलनों को प्रश्रय देने वाली बन चुकी थी; किन्तु अन्य आचार्य हर बात की पूरी परीक्षा के बाद ही उसे स्वीकार करने को उद्यत होते थे। कदाचित् 'कातन्त्र' और 'चान्द्र व्याकरण' भी अन्य अनेक व्याकरणों की भांति इसीलिए, सरल और संक्षिप्त होने पर भी, लोकप्रिय और प्रचलित न होसके!

डा० क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय के सम्पादित 'चान्द्र व्याकरण' की यह विशेषता है कि उसमें 'महाभाष्य' के माध्यम से आए परिवर्त्तनों को पूरी तरह स्पष्ट कर दिया गया है।

चान्द्रवृत्ति

डा० लीबिख ने इस व्याकरण को दो संस्करणों में सम्पादित किया। प्रथम में केवल मूल सूत्रपाठमात्र था, और द्वितीय में वृत्तिसहित सूत्रपाठ

था। यह वृत्ति चन्द्राचार्य्य द्वारा रचित ही मानी जाती हैं। डा० क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने इसे ही अधिक शुद्धता के साथ पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि और भोजराज (सरस्वतीकण्ठाभरण) के पाठों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करते हुए सम्पादित किया है। उनका यह प्रयास चान्द्र व्याकरण और चान्द्र-वृत्ति दोनों के महत्त्व को बहुत अधिक बढ़ा देता है। इससे अनुसन्धित्सुओं को अत्यधिक सहायता मिली है। मीमांसकजी ने अनेक प्रमाणों के आधार पर इस वृत्ति को चान्द्रकृत वृत्ति ही सिद्ध किया है।

सम्पूर्ण

अपनी ओर से चन्द्राचार्य्य ने एक और भी कार्य किया है, जिसके आधार पर उनके व्याकरण का सम्पूर्णता का दावा सही सिद्ध किया जासकता है। वह यह कि उन्होंने भी अपने संशोधनों के साथ चान्द्रशिक्षा, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र और लिंगानुशासन को भी प्रस्तुत किया है।

इसके अतिरिक्त तिब्बती भाषा में 'उपसर्गविवृति' के नाम से उनके द्वारा रचित होने की प्रसिद्धि वाला एक अन्य ग्रन्थ मिलता है, जिसमें बीस उपसर्गों के अर्थोदाहरणों को पूरी तरह स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार के उपसर्ग-सम्बधी ग्रन्थ अन्य भी कई वैयाकरणों ने बाद में लिखे थे।

कालनिर्णय

मध्यकालीन व्याकरण में, प्रायः व्याकरणों की गणना के प्रसंग में, ऐन्द्र और चान्द्र व्याकरणों का साथ-साथ उल्लेख हुआ है। कई बार तो यह उल्लेख आपिशल और काशकृत्स्न व्याकरणों के उल्लेख से भी पहले हुआ है। किन्तु निश्चित प्रमाणों के आधार पर यह कहा जासकता है कि ऐसा केवल छन्दःसम्बन्धी सुविधा के दृष्टिकोण से ही हुआ हैं। 'चन्द्र' के सम्बन्ध में दो प्रामाणिक उल्लेखों की चर्चा हम पहले कर आए हैं; इनमें से एक उल्लेख भर्तृहरि का है और दूसरा कल्हण का।

भर्तृहरि के उल्लेख के ढंग से लगता है कि उसमें और चन्द्राचार्य्य में कुछ शताब्दी का अन्तर है। उधर, उससे ही यह भी पता चलता है कि पतंजलि के बाद कुछ शताब्दी के अन्तर से ही चन्द्राचार्य हुए। उन दोनों के बीच अनेक भाष्यकार, टीकाकार या व्याख्याकार हो चुके थे। अतः स्थूल रूप में

चन्द्र का समय पतंजलि के दो शती बाद से लेकर भर्तृहरि के दो शती पूर्व तक रखा जा सकता है। यह समय ५० ई० से लेकर ३५० ई० के बीच बैठता है।

यही बात कल्हण के अनुसार भी ठीक बैठती है। कल्हण चन्द्राचार्य को कनिष्क के बाद होने वाले कश्मीर के महाराज अभिमन्यु का समकालीन मानते हैं। कनिष्क का समय उनके अनुसार बुद्धनिर्वाण के १५० वर्ष बाद बैठता है। परन्तु ऐतिहासिक सत्यों के अनुसार विद्वान् कनिष्क का समय ७८ ई० पू० से लेकर ७८ ई० उ० तक रखते हैं। कारण यह है कि य्वान च्वांग के अनुसार कनिष्क बुद्ध से ४०० वर्ष बाद हुआ। पता नहीं कैसे कीथ ने चन्द्र का समय ३०० ई० माना है। अतः ऐतिहासिक सत्य को स्वीकार करने के बाद कल्हण के वक्तव्य का इतना अंश ही महत्त्वपूर्ण रह जाता है कि चन्द्राचार्य कनिष्क के बाद हुए थे। वह कितने उत्तरवर्ती थे, यह बात स्पष्ट नहीं होती।

अभिमन्यु के कालनिर्णय में कल्हण की ही एक उक्ति सहायता देती है। इनके अनुसार विक्रमादित्य ने मातृगुप्त को कश्मीर का अधिपति बनाया था। मातृगुप्त अभिमन्यु से ३१ पीढ़ी बाद हुआ। पर इन्हें पीढ़ी कहना ठीक नहीं। ऐतिहासिक दृष्टि से इन्हें 'राजा' कहना अधिक ठीक है। इन ३१ राजाओं का काल ५०० से ६०० वर्ष के बीच बैठता है। यद्यपि कल्हण इसे १३०० वर्ष मानते हैं। यह 'विक्रमादित्य', या तो चन्द्रगुप्त द्वितीय हो सकता है, या स्कन्दगुप्त। स्कन्दगुप्त ने हूणविजय के बाद अनेक नए शासक नियुक्त किए थे, यह बात जूनागढ़ से शिलालेख में पर्णदत्त की नियुक्ति के प्रसंग में पता चलती है। स्कन्दगुप्त का समय ५०० ई० से पहले माना जाता है। इस दृष्टि से अभिमन्यु का समय ईस्वी सन् के आरम्भ में ही निश्चित होता है। इसके आसपास ही चन्द्राचार्य का समय तय होना चाहिए।

यह बात वैसे भी सत्य बैठती है। पुष्यमित्र शुंग का समय १८५ ई० पू० बैठता है। पतंजलि उसके समय विद्यमान अवश्य थे। अतः चन्द्राचार्य्य ने यदि उनके दो शती बाद अपने व्याकरण की रचना की हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। अतः चान्द्र व्याकरण की रचना कनिष्क के काल (८० ई० पू० के आसपास) से अभिमन्यु के काल (विक्रम संवत् के आरम्भ के आसपास) के बीच में कहीं भी रखी जा सकती है। इसे हम ५० ई० पू० भी रख सकते हैं।

स्वभावतः 'कातन्त्र' की रचना इससे भी १००वर्ष पूर्व हुई होगी : अर्थात् १५०, ई० पू० में।

पूर्ववर्त्ती वृत्तियों से सहायता

'चान्द्र व्याकरण' से हमें अनेक नई सूचनाएँ मिलती हैं। इनमें से अनेक निश्चय ही पतंजलि को भी ज्ञात रही होंगी; यद्यपि वे उन्हें उल्लिखित नहीं करते। इनमें से एक सूचना का ही उल्लेख हम यहाँ पर्याप्त समझते हैं। यही एक सूचना ऐसी है कि जिससे एक सर्वथा नए सत्य पर प्रकाश पड़ता है। यह है 'ऐऔच्' सूत्र के अधीन यह सूचना कि पाणिनि के पूर्ववर्त्ती आचार्य 'ऐ औष्' के रूप में इस सूत्र को पढ़ते थे। इस प्रकार वे 'अच्' के स्थान पर 'अष्' प्रत्याहार पढ़ते थे।

इससे जो महान् उपलब्धि हमें हुई वह यह कि हम जान पाए कि पाणिनि से पहले भी 'वर्णसमाम्नाय' की वह सूत्रपद्धति प्रचलित थी, जिसको वाद में 'माहेश्वर सूत्र' कहा गया और जिसका सम्बन्ध केवल पाणिनि से ही जोड़ दिया गया। इसका अर्थ है कि इस प्रकार के 'वर्णसमाम्नाय' और 'प्रत्याहारों' की पद्धति वहुत पहले से चली आई है। इससे काशकृत्स्न के व्याकरण में 'अष् प्रत्याहार' की उपस्थिति की वात भी उचित और सत्य सिद्ध होती है।

जैनेन्द्र व्याकरण

पीठिका

पाणिनि के परवर्त्ती वैयाकरणों में निश्चय ही जैन और वौद्ध वैयाकरणों की प्रमुखता रही है। किन्तु धर्म की प्रधानता कम ही व्याकरणों के वाह्य आकार-प्रकार पर प्रभाव डाल पाई है। 'कातन्त्र' व्याकरण धर्मनिरपेक्ष था ही। 'चान्द्र' भी स्थूलतः धर्मनिरपेक्ष ही रहा। उसमें किसी सिद्धान्त-वादिता या पूर्वाग्रह पर ज़ोर नहीं दिया गया है। अगर है ही, तो इस पर कि पारिभाषिक संज्ञाओं का प्रयोग कम से कम किया जाए। और यह वात किसी धार्मिक पूर्वाग्रह को सूचित नहीं करती। इतना ही नहीं, उसके उदाहरणों में किसी प्रकार की धार्मिक अभिरुचि को वात कम है।

इसी प्रकार जिनेन्द्रबुद्धि भी वौद्ध थे। उनके 'न्यास' में भी इस प्रकार के

पूर्वाग्रह की बात लक्षित नहीं होती; यद्यपि वे पर्याप्त परवर्त्ती थे। किन्तु उनसे कम से कम दो शती पूर्व होने वाले आचार्य देवनन्दी या पूज्यपाद ने अपने व्याकरण का केवल प्रथम सूत्र 'सिद्धिरनेकान्तात्' ही धार्मिक मत से प्रेरित होकर नहीं लिखा था, बल्कि उदाहरणादि में भी उन्होंने अपने पूर्वाग्रह कों प्रदर्शित किया था। यह ठीक है कि परवर्त्ती वैयाकरणों में से अनेक ने अपनी रचना हर माध्यम से धर्म की शिक्षा देने के उद्देश्य से लिखी थी।

कातन्त्र और चान्द्र से अन्तर

इस पर भी यह सत्य है कि 'जैनेन्द्र व्याकरण' की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। इसके रचयिता देवनन्दी निश्चय ही पाणिनीय व्याकरण के आचार्य थे। एक ओर, आलोचक उनके व्याकरण में पाणिनि की अपेक्षा बहुत अधिक प्रगति की झलक पाते हैं, दूसरी ओर वे यह भूल जाते हैं कि जहाँ 'कातन्त्र' और 'चान्द्र' में, चाहे परम्परा या महाभाष्यादि के प्रभाव के कारण, पाणिनीय व्याकरण से क्रम और वस्तु में पर्याप्त भिन्नता और विस्तार आया है, वहां 'जैनेन्द्र व्याकरण' में, संज्ञाओं को अत्यधिक संक्षिप्त और जटिल कर देने पर भी, पाणिनि व्याकरण को ही पूर्ण आदर्श मानकर, उसके क्रम और तत्त्व को स्वीकार करते हुए ही, उसमें सुधार का यत्न किया गया है। यह बात उसे उक्त दोनों व्याकरणों से भिन्न सिद्ध कर देती है। इसीलिए उसका अध्ययन इस दृष्टि से अधिक आवश्यक हो उठता है।

कालनिर्णय

डा० बेलवेल्कर और डा० काशीनाथ बापूजी पाठक आचार्य देवनन्दी का समय छठी शती ईस्वी के आरम्भ में (५२५ ई० के लगभग) मानते हैं। किन्तु अभयंकर और मीमांसक ने उनका समय पांचवीं शती के मध्योत्तर में (४७० ई० के लगभग) माना है। अनेक प्रमाणों के आधार पर यही समय ठीक भी बैठता है। ऐसा माना जाता है कि महाराज दुर्विनीत आचार्य पूज्यपाद के शिष्य थे। उनका समय भी यही बैठता है। इसी आधार पर यह कालनिर्णय उचित बैठता है।

अन्य परिचय

इनका एक अन्य नाम सिद्धनन्दी के रूप में भी मिलता है। कहा जा चुका है कि ये महाराज दुर्विनीत के गुरु थे। चन्द्रय्य नामक कन्नड़ कवि ने

इनका चरित लिखा है। उसके अनुसार इनके पिता का नाम माधव भट्ट और माता का नाम श्रीदेवी था। ये दोनों वैदिक मतानुयायी थे। इनका जन्म कर्नाटक देशों में 'काले' नाम के ग्राम में हुआ था। इनके पिता ने इनकी माता के आग्रह पर 'जैन' धर्म स्वीकार कर लिया था। आचार्य को भी बचपन में ही वैराग्य हो गया था।

'गणरत्नमहोदधि' में इन्हें 'दिग्वस्त्र' के नाम से स्मरण किया गया है। एक अन्य सूचना के अनुसार इनके एक शिष्य वज्रनन्दी ने मदुराई नगर में 'द्राविडसंघ' की स्थापना की थी।

व्याकरण का परिचय : अन्तर

ऊपर हम सापेक्ष रूप में जैनेन्द्र व्याकरण का 'चान्द्र' और 'कातन्त्र' व्याकरणों से अन्तर बता आए हैं। उन दोनों में भी चान्द्र व्याकरण 'पाणिनीय' होने का दावा करता है। उसमें केवल महाभाष्यानुकूल परिवर्त्तन-परिवर्धन किये जाने का दावा है। उसके द्वारा 'संज्ञाप्रकरण' को छोड़ना भी उसकी विशेषता बताया जाता है। परन्तु इस पर भी उसमें पाणिनीय क्रम को तोड़ा गया है। पादों और अध्यायों का क्रम भी पलट दिया गया है। इस विषय में उसमें 'कातन्त्र' का अनुकरण अधिक किया गया है।

'जैनेन्द्र' व्याकरण की स्थिति इससे विपरीत है। यहां 'संज्ञाएं' पाणिनि की संज्ञाओं से कतई भिन्न हैं। इसमें अधिकांश सूत्रों को बाह्यरूप में भी तोड़ा-मोड़ा गया है। फिर भी, यह आश्चर्य की ही बात है कि इसका एक-एक सूत्र पाणिनि के तत्सदृश सूत्र का समानान्तर है। उसकी एक-एक संज्ञा पाणिनि की संज्ञा की समानान्तर है। पाणिनि के सूत्रों को किंचित् परिवर्त्तन के साथ इसमें यथावत् खोजा जा सकता है। इसका उद्देश्य पाणिनि के व्याकरण को संक्षिप्त करना भी है और अपने धर्मसम्बन्धी तत्त्वों को इस के माध्यम से स्पष्ट करना भी है। किन्तु इस प्रक्रिया में कुछ सूत्र दीर्घतर भी हो गए हैं। ऐसा वार्त्तिकादि के समावेश के कारण हुआ है।

संस्करण

वर्त्तमान में इसके दो संस्करण उपलब्ध होते हैं : औदीच्य और दाक्षिणात्य। औदीच्य में सूत्रसंख्या ३००० है, जबकि दाक्षिणात्य में इससे ७०० सूत्र अधिक हैं। इन दोनों में सूत्रों की रचना में भी अन्तर है। औदीच्य संस्करण की अभयनन्दीकृत जो महावृत्ति मिलती है, उसके अनुसार इस

संस्करण में अनेक 'वार्त्तिक' मिलते हैं, जबकि 'दाक्षिणात्य' में ये सभी वार्त्तिक सूत्रों के अंग बनकर समागए हैं। फिर, देवनन्दी के 'जैनेन्द्र व्याकरण' की यह विशेषता विख्यात है कि इसमें 'एकशेष (द्वन्द्व) प्रकरण' समाविष्ट नहीं किया गया है। इससे पूर्व यह विशेषता 'चान्द्र व्याकरण' में भी विद्यमान थी! किन्तु दाक्षिणात्य संस्करण की 'शब्दार्णवचन्द्रिका' टीका में एक ओर 'देवोपज्ञमनेकशेषव्याकरणम्' के रूप में 'एकशेषरहित' व्याकरण की प्रतिज्ञा मिलती है,[1] जबकि दूसरी ओर उसमें बारह सूत्रों में 'एकशेष-प्रकरण' भी उपलब्ध होता है। औदीच्य संस्करण में यह प्रतिज्ञा और इसका निर्वाह दोनों ही पूरी तरह अनुकृत हुए हैं। अतः प्रमुख विद्वानों की सम्मति में औदीच्य संस्करण ही प्रामाणिक है।

इस पर श्री मीमांसक का सुझाव है कि दाक्षिणात्य संस्करण वास्तव में 'जैनेन्द्र व्याकरण' का दसवीं शती में गुणनन्दी द्वारा प्रतिसंस्कृत 'शब्दार्णव' नामक व्याकरण-ग्रंथ है। इसमें प्रमाण वे यह देते हैं कि सोमदेव सूरि ने दाक्षिणात्य संस्करण पर जो तथाकथित 'शब्दार्णवचन्द्रिका' टीका लिखी है, उसके अन्त में वह उस टीका को "गुणनन्दी के 'शब्दार्णव' में प्रवेश के लिए नौका के समान" बताते हैं[2]। बिल्कुल यही बात 'जैनेन्द्रप्रक्रिया' के कर्त्ता ने अन्तिम श्लोक में कही है[3]।

इन सब बातों से औदीच्य संस्करण ही 'जैनेन्द्र व्याकरण' का प्रामाणिक संस्करण ठहरता है।

संक्षेप

'संक्षेप' की बात इतने से समझी जासकती है कि इसमें पाणिनि के प्रथम अध्याय के प्रथम दोनों पादों को केवल प्रथम पाद में ही समाप्त कर दिया है। द्वितीय पाद के ५३ सूत्र से लेकर अन्त तक के पाणिनीय सूत्र इसमें 'अशिष्य' होने के कारण अपनाए नहीं गए। यद्यपि अभयनन्दी ने उन्हें अपनी टीका में तत्त्व की दृष्टि से सम्मिलित कर लिया है, पर सूत्ररूप में उनकी सत्ता उसने भी स्वीकार नहीं की है। बढ़ते-बढ़ते यह संक्षेप यहां तक पहुंचा है कि पाणिनि के चतुर्थ अध्याय का द्वितीय पाद इसके तृतीय अध्याय का द्वितीय

---

१. दा० सं० १.४.११४ का उदाहरण।
२. श्रीसोमदेवयतिनिर्मितमादधाति या नौः प्रतीतगुणनन्दितशब्दवार्धौ।
३. नावस्याश्रयतां विविक्षुमनसां साक्षात्स्वयं प्रक्रिया।

पाद बन गया है। स्पष्ट है कि इसके प्रथम तीन अध्यायों में पाणिनि के चार अध्यायों की कथ्य वस्तु का समावेश हो गया है।

इसके साथ ही वैदिक और स्वर-प्रक्रिया का इसमें समावेश है ही नहीं। इसलिए भी सूत्रसंख्या में कमी होना अनिवार्य था। इसीलिए इसके अध्यायों की संख्या कुल पाँच रह गई है।

संज्ञा-प्रकरण : जटिलता

हमें इस व्याकरण का सबसे जटिल प्रकरण 'संज्ञाप्रकरण' लगा। इसमें जिन संज्ञाओं को अपनाया गया है, वे एकदम नई प्रतीत होती हैं। इनमें दो विशेषताएं भी हैं : प्रथम यह कि ये एकाक्षर (मोनोसिल्लेबिक) हैं, दूसरी यह कि ये सभी 'लघु' संज्ञाएं हैं। अर्थात्, महाभाष्य में वर्णित 'महती संज्ञा' की भांति ये सार्थक या अन्वर्थक नहीं हैं। निस्संदेह इनमें से अधिकांश संज्ञाएं पाणिनि-भिन्न प्राचीन व्याकरणों, प्रातिशाख्यों या फिट्सूत्रादि से ली गई हैं। सामान्य अध्येता के लिए ये दुरूह ही कही जाएंगी।

तुलना

यहां हम उदाहरणार्थ कुछ संज्ञाओं को उनके पाणिनीय समान्तरों के साथ दिखाना चाहेंगे। तब हम उनके आधार पर बने सूत्रों का भी तुलनात्मक अध्ययन करेंगे। जिससे ज्ञात हो सके कि केवल लघु ही व्याकरण का उचित लक्षण नहीं है, बल्कि चन्द्राचार्य की प्रतिज्ञा की भांति विस्पष्ट और पूर्ण भी उसके लक्षण होने चाहिएं!

संज्ञाएं इस प्रकार हैं! उनके पाणिनीय रूपान्तर उनके समानान्तर ही दिए गए हैं :

जै० पा०	जै० पा०	जै० पा०	जै० पा०
स्व=सवर्ण	प्र=अव्यय	एप्=गुण	प्रदीप=ह्रस्वदीर्घप्लुत
स्फ=संयोग	गु=अंग	खु=संज्ञा	भास=तृतीयासमास
ता=षष्ठी	घु=धातु	स=समास	ज़ि=सम्प्रसारण
ईप्=सप्तमी	ख=लोप	व=बहुव्रीहि	ङ=अनुनासिक
क=पंचमी	हृत्=तद्धित	भु=घु	मृत्=प्रातिपदिक
उप्=लुक्	ऐप्=वृद्धि	त=निष्ठा	नप्=नपुंसकलिंग
त्य=प्रत्यय	अलुग्=उपधा	दु=वृद्ध	प्रादेश=अव्ययीभाव

इनके अतिरिक्त कुछ संज्ञाएं पाणिनि की भी अनुकृत हुई हैं। यथा आदेश, कृत्, आदि ! प्रत्याहार पाणिनीय परम्परा के ही अपनाए गए हैं।

सूत्ररचना : अस्पष्ट

सूत्ररचना में इससे कितनी दुरूहता आई है, इसे समझने के लिए हमें कुछ सूत्रों पर तुलनात्मक दृष्टि डालनी होगी :

पा०	जै०
विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ (पा० १.१.२८)	=वा दिक्सवे (जै० १.१.३६)
न बहुव्रीहौ (पा० १.१.२९)	=न वे (जै० १.१.३७)
षष्ठी स्थानेयोगा (पा० १.१.४९)	=ता स्थाने (१.१.४६)
उरण् रपरः (१.१.५१)	=रक्तो ण उः (१.१.४८)
तस्मिन्निति०, तस्मादित्यु०, (पा० १.१.६६,६७)	=ईप्केत्यव्यवाये पूर्वपरयोः (१.१.६०)
प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (पा० १.१.६१)	=उबुजुस् (१.१.६२)

यह कितने आश्चर्य की बात है कि पाणिनीय व्याकरण के महान् अनुयायी ने एक ऐसे व्याकरण की सृष्टि की, जो प्रथम दृष्टि में एकदम अपाणिनीय और अज्ञेय लगता है; किन्तु इस पर भी जो सर्वथा 'पाणिनीय' ही है।

यह सच है; क्योंकि उसके टीकाकार पाणिनीय शब्दावली के प्रयोग से न बच सके ! उन्हें उसी रूप में पाठकों को समझाना पड़ा !

टीकाकार

स्वयं : मध्यप्रदेश के शिमोगा शिलालेख में पूज्यपाद देवनन्दी की प्रशस्ति में जो श्लोक लिखा है, उसके आरम्भिक शब्द हैं : 'न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनतम्'। इसमें 'न्यास' से सामान्य अर्थ मीमांसक जी ने 'जैनेन्द्रसंज्ञक न्यास' लिया है, और कहा है कि यह न्यास देवनन्दी ने अपने 'जैनेन्द्र व्याकरण' पर ही लिखा था। परन्तु इस न्यास की सूचना वृत्तिकार अभयनन्दी, शब्दार्णवकार गुणनन्दी और गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान में से कोई भी हमें नहीं देता। 'जैनेन्द्रसंज्ञक' कहने से हमें तो यही प्रतीत हुआ कि यहां सम्भवतः 'न्यास' का अभिप्राय 'शब्दानुशासन' या 'व्याकरण' से ही है। किन्तु यह भी सम्भव है कि उन्होंने कोई विस्तृत वृत्ति लिखी हो। पर यह अब संकेत रूप में भी उपलब्ध नहीं है।

अभयनन्दी : महावृत्ति के लेखक अभयनन्दी की चर्चा ऊपर आ ही चुकी है। इनका समय डा० वेल्वेल्कर ७५० ई० मानते हैं। 'जैनेन्द्र व्याकरण' के ३.२.५५ का उदाहरण 'तत्त्वार्थवार्त्तिकमधीते' देते हुए अभयनन्दी 'तत्त्वार्थ-वार्त्तिक' की चर्चा करते हैं। इसकी रचना भट्ट अकलंक ने ७५० ई० से कुछ पहले की थी। अतः अभयनन्दी का समय भी इसके आसपास ही मानने में आपत्ति नहीं हो सकती! पर, उधर 'चन्द्रप्रभचरित' महाकाव्य के रचयिता वीरनन्दी के गुरु का नाम भी अभयनन्दी मिलता है। यदि यही वैयाकरण भी रहे हों, तो उनका समय ९५० ई० के आसपास बैठता है। अभयंकर इन्हें आठवीं शती का ही मानते हैं।

कहा जाचुका है कि अभयनन्दी की 'महावृत्ति' सर्वाधिक प्रामाणिक है। इसमें जैनेन्द्र व्याकरण द्वारा पाणिनीय व्याकरण के अपाकृत सूत्रों के वक्तव्य विषय की भी चर्चा करके उन पर विचार किया गया है। हम 'एकशेष-प्रकरण' के सूत्रों के वक्तव्य-विषय की इस सम्बन्ध में चर्चा कर आए हैं।

गुणनन्दी : इनकी चर्चा भी ऊपर आई है। इन्होंने 'शब्दार्णव' नाम से एक ग्रंथ लिखा था, जो मूलतः 'जैनेन्द्र व्याकरण' के भाष्य के रूप में लिखा गया था, किन्तु जिसमें भाष्यकार द्वारा अभिमत कुछ अधिक सूत्र भी जोड़े गए थे, तथा कुछ सूत्रों में वार्तिक भी मिला दिये गए थे। कह सकते हैं कि यह 'शब्दार्णव' देवनन्दी के 'जैनेन्द्र व्याकरण' का 'चान्द्र संस्करण' था। इसमें सात सौ सूत्र अधिक हैं। इसे ही दाक्षिणात्य लोग 'जैनेन्द्र-व्याकरण' के नाम से जानते हैं। वास्तव में यह सव्याख्यान संशोधित जैनेन्द्र व्याकरण है। इसके रचयिता का काल ८५० ई० के लगभग है।

अन्य : इनके अतिरिक्त प्रभाचन्द्राचार्य और महाचन्द्र आदि ने भी वृत्तियां अथवा टीकाएं लिखीं। आर्य श्रुतकीर्त्ति और वंशीधर ने इस व्याकरण के 'प्रक्रिया-ग्रंथ' लिखे। श्रुतकीर्त्ति का बारहवीं शती का 'पंचवस्तु' नामक प्रक्रिया-ग्रन्थ प्रसिद्ध है।

पाल्यकीर्त्ति या शाकटायन (जैन)

व्यक्ति-परिचय

आज संस्कृत व्याकरण के निकाय में 'शाकटायन-व्याकरण' के नाम से जो एकमात्र मुद्रित ग्रन्थ मिलता है, वह उस शाकटायन व्याकरण से सर्वथा

भिन्न है, जिसे 'ऋक्प्रातिशाख्य' और यास्क से भी पूर्ववर्त्ती प्रसिद्ध लौकिक वैयाकरण शाकटायन मुनि ने लिखा था। यह व्याकरण जिस 'शाकटायन' का लिखा है, वह 'महाश्रमणसंघाधिपति' था। अतः नाम-साम्य से भ्रम में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है।

श्री मीमांसक ने अपने 'इतिहास' में यह बात सप्रमाण कही है कि 'शाकटायन' और 'पाल्यकीर्त्ति' नाम एक ही व्यक्ति के हैं। इन प्रमाणों को क्रमवार रखकर हम इस प्रकार देख सकते हैं:

(१) 'शाकटायन व्याकरण' का आरम्भिक श्लोक 'नमः श्रीवर्द्धमानाय' आदि है, जबकि उसकी शाकटायन द्वारा स्वरचित 'अमोघा' वृत्ति का आरम्भिक श्लोक 'श्रीवीरममृतम्' आदि है।

(२) 'पार्श्वनाथचरित' में लेखक वादिराज सूरि कहते हैं:

कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्त्तेर्महौजसः।
श्रीपदश्रवणं यस्य शाब्दिकान् कुरुते जनान्॥'

इसके अनुसार पाल्यकीर्त्ति महान् 'शाब्दिक' या 'शब्दकार' (वैयाकरण) थे, और उनके ग्रन्थ का आरम्भ 'श्री' शब्द से होता था।

(३) पार्श्वनाथचरित की पंजिका टीका के रचयिता शुभचन्द्र इस श्लोक की टीका में 'श्रीपदश्रवणम्' का अर्थ करते हैं: 'श्रिया उपलक्षितानि पदानि शाकटायनसूत्राणि, तेषां श्रवणमाकर्णनम्'। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि पाल्यकीर्त्ति और शाकटायन एक ही थे।

(४) 'शाकटायनप्रक्रिया' के मंगलाचरण में भी 'पाल्यकीर्त्ति' को ही नमस्कार किया गया है।

विवेचना

इस विषय में हमारा सुझाव यही है कि 'श्रीपदश्रवणम्' की व्याख्या मे मीमांसक जी ने 'अमोघा वृत्ति' के आरम्भिक श्लोक 'श्रीवीरममृतम्' की चर्चा लाकर उचित नहीं किया। कारण यह कि इससे पहले यह सिद्ध करना आवश्यक हो जाता है कि 'अमोघा वृत्ति' का रचयिता भी मूल व्याकरण का लेखक ही था। किन्तु यह प्रश्न मूल व्याकरण के लेखक का विनिश्चय हो जाने के बाद ही तय हो सकता है। फिर, यदि एक ही व्यक्ति मूल और टीका का लेखक है भी, तब भी लोगों को 'शाब्दिक' बनाने का श्रेय उसके मूल व्याकरण को न देकर उस व्याकरण की टीका को देने का अर्थ

हमें तो मूल व्याकरण का अपमान करना ही प्रतीत होता है। कारण यह है कि उस 'अमोघा' को संक्षिप्त करके अपनी 'चिन्तामणि' वृत्ति की रचना करने वाले 'यक्षवर्मा' ठीक यही श्रेय मूल व्याकरण को देते हैं, न कि वृत्ति को। और वे उस मूल व्याकरण की विशेषता बताते हैं, उसके अत्यन्त संक्षेप को। उनके शब्दों में :

महाश्रमणसंघाधिपतिर्यः शाकटायनः ॥३॥
सयशश्चि समुद्दध्रे विश्वं व्याकरणामृतम् ॥४॥
स्वल्पग्रन्थं सुखोपायं सम्पूर्णं यदुपक्रमम् ।
शब्दानुशासनं सार्वमर्हच्छासनवत्परम् ॥५॥
इष्टिर्नेष्टा···यस्य शब्दानुशासने ॥६॥
तस्यातिमहतीं वृत्तिं संहृत्येयं लघीयसी ।
सम्पूर्णलक्षणा वृत्तिर्वक्ष्यते यक्षवर्मणा ॥७॥

इनमें क्रमशः इन तथ्यों को प्रकट किया गया है : "शाकटायन महाश्रमण-संघाधिपति था। उसी ने सम्पूर्ण व्याकरण का समुद्धार किया। यह व्याकरण अत्यन्त संक्षिप्ताकार, सरल और सम्पूर्ण था। उसके व्याकरण में पृथक् से इष्टि, वक्तव्य, गणपाठ आदि को कहने की आवश्यकता और अवकाश नहीं है। उस (?) की अतिमहती वृत्ति को संक्षिप्त करके ही यह संक्षिप्ततर किन्तु सम्पूर्णता से युक्त वृत्ति यक्षवर्मा ने रची है।"

विचारणीय प्रश्न यहाँ यह है कि 'तस्यातिमहतीम्' में 'तस्य' का अर्थ 'लेखक' से लिया जाए या उसके 'व्याकरण' से। पहली स्थिति में 'अमोघा वृत्ति' भी शाकटायनकृत ही सिद्ध होगी। दूसरी स्थिति में 'वृत्ति' किसी की भी रचित हो सकती है : उसको सम्पूर्ण रखते हुए भी संक्षिप्तमात्र करने का श्रेय यक्षवर्मा स्वयं पर ले रहे हैं। दोनों ही दशाओं में व्याकरण की पूर्णता और लघुता पूर्णतः स्पष्ट है। अर्थात्, यदि 'अमोघा' को विचारक्षेत्र में न भी लिया जाए, तब भी शाकटायन का व्याकरण 'लघु सम्पूर्ण और सुखोपाय या सरल' है।

तब प्रश्न उठता है 'श्रीपदश्रवणम्' की व्याख्या का, जिसका अर्थ मीमांसक जी अमोघा वृत्ति के आरम्भिक पद 'श्रीवीरममृतम्' के आरम्भिक अंश को ध्यान में रखकर करते हैं। यहां हमारा निवेदन यह है कि 'श्री-पद-श्रवणं' का अभिप्राय 'नमः श्रीवर्धमानाय' में स्थित 'श्री' से ही है; क्योंकि

'नमः' पद उपस्थित होते हुए भी आरम्भिक पद के रूप में महत्त्व नहीं रखता। वास्तव में 'नमः' का प्रयोग हुआ ही 'श्रीवर्धमान' के लिए है। अतः यहां 'श्रीवर्धमान' के आदिपद 'श्री' की ओर ही संकेत है। इस सब खींचतान का मूल हेतु यह है कि 'श्री' का सम्बन्ध अमोघा से मानते ही यह शंका उपस्थित होती है कि क्या मूल व्याकरण पाल्यकीर्त्ति का नहीं था ? यदि था, तब 'अमोघा' को यह श्रेय क्यों ? क्या वह व्याकरण स्वतः महत्त्वहीन और असफल था ? पर यक्षवर्मा स्वयं 'अमोघा' का संक्षेप तैयार करते हुए भी उस व्याकरण और उसके लेखक शाकटायन की अत्यधिक प्रशंसा करते हैं। अतः मूल व्याकरण का अपना महत्त्व स्पष्ट है। यही कारण है कि शुभचन्द्र ने 'श्रीपद' से 'अमोघा वृत्ति' को उपलक्षित न मानकर 'शाकटायनसूत्रों' को ही उपलक्षित माना है। अतः शाकटायन और पाल्यकीर्त्ति को उक्त प्रमाणों के आधार पर एक ही व्यक्ति कहा जा सकता है। मीमांसक ने अपने इतिहास के द्वितीय भाग में पृ० १०७ पर पाल्यकीर्त्ति के शाकटायन नामकरण का कारण उनका तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध होना बताया है। ऐसा उन्होंने इस आधार पर कहा है कि पाणिनि जहां (पा० ५.२.६२ में) 'गोषद' का पाठ करते हैं, उसकी जगह शाकटायन व्याकरण में 'घोषद' पाठ (शा०३.३.१७८) मिलता है। मीमांसक जी का अनुमान है कि सम्भवतः ऐसा पाल्यकीर्त्ति के तैत्तिरीयशाखानुयायी होने के कारण हुआ होगा। कदाचित् 'जैन' बनने से पहले वे ब्राह्मण रहे होंगे। उनके छान्दस ज्ञान की बात सायण के 'धातुवृत्ति' में दिए एक वचन से भी सिद्ध होती है : 'शाकटायनः पुनस्तत्र (स्वादौ) छान्दसमेवाह (क्षिणुधातुम्)' (पृ० ३५६, धातुवृत्ति)। अतः मीमांसक जी के अनुमान के आधार पर पाल्यकीर्त्ति का यह 'शाकटायन' नाम उनके विशिष्ट वेदशाखानुयायी होने से पड़ा, और वही लोकप्रिय भी हुआ।

कालनिर्णय

इस विषय में दो बातें अवधेय हैं। प्रथम यह कि शाकटायन स्वयं अपने से पूर्व के प्रसिद्ध आचार्य सिद्धनन्दी का उल्लेख (शा० २.१.२२९ में) करते हैं। हमने कहा है कि 'जैनेन्द्र' व्याकरण के प्रणेता 'देवनन्दी' पूज्यपाद का ही अपर नाम 'सिद्धनन्दी' था। अतः यह तो निश्चित है कि शाकटायन देवनन्दी से परवर्त्ती हैं। द्वितीय बात यह कि 'अमोघा वृत्ति' का नामकरण और उसमें आए एक उदाहरण—'अदहदमोघवर्षोरातीन् ('ख्याते दृश्ये', शा०

४.३.२०७ का निदर्शन)—के आधार पर यह अनुमान होता है कि उस वृत्ति की रचना राजा अमोघवर्ष के समकाल या बाद में हुई थी। वृत्ति किसी ने भी रची हो, किन्तु शाकटायन व्याकरण की रचना निस्सन्देह उससे पूर्व हो चुकी थी।

ऊपर 'ख्याते दृश्ये' का दिया हुआ उदाहरण इतिहासप्रसिद्ध अमोघवर्ष से ही सम्बद्ध है, यह बात इससे भी पुष्ट होती है कि राष्ट्रकूट के एक शिलालेख में भी इसी घटना का उल्लेख इस रूप में है : 'भूपालान् कण्टकाभान् वेष्टयित्वा ददाह'। अतः यह तो स्पष्ट ही है कि यह घटना महाराज अमोघवर्ष से सम्बन्ध रखती है।

इन महाराज अमोघवर्ष का समय लगभग निश्चित ही है। और इस विषय में मीमांसक जी का यह अनुमान सही है कि उनका शासन-काल ८१४ और ८६७ ई० के बीच तो रहा ही था। इनमें से परवर्त्ती काल उस दानपत्र के आधार पर है, जो उनके नाम से उस वर्ष का मिला है।

अतः यह निश्चय है कि कम से कम 'अमोघा' की रचना इन वर्षों में हो चुकी थी। निश्चय ही वह इससे पूर्व नहीं रची गई थी। परन्तु पं० नाथूराम प्रेमी और मीमांसक जी इसे सप्रमाण सिद्ध मानते हैं कि 'अमोघा' की रचना स्वयं पाल्यकीर्त्ति ने ही की थी। 'गणरत्नमहोदधि' के कर्त्ता वर्धमान सूरि आदि भी इससे सहमत दिखाई देते हैं। यदि ऐसा मान लिया जाए, तब यह निश्चय से कहा जासकता है कि शाकटायन व्याकरण की रचना ८१४ ईस्वी के बाद ही हुई थी; क्योंकि उस वर्ष ही अमोघवर्ष सिंहासनारूढ़ हुए थे।

व्याकरण का आकार :

हम कह चुके हैं कि इस व्याकरण की रचना का एक हेतु 'लघुता' भी है, जिसे इसका प्रमुख गुण माना गया है। यह बात इससे भी सिद्ध होती है कि यह सम्पूर्ण व्याकरण चार ही अध्यायों में समाप्त हो गया है। यह स्मर्त्तव्य है कि इसके पादों की संख्या पाणिनि आदि के अनुकरण पर प्रत्येक अध्याय में 'चार' ही है। इस प्रकार इसमें कुल पाद सोलह और कुल अध्याय चार हैं। परन्तु पादों और अध्यायों की संख्या कम होने पर भी इसमें सूत्र-संख्या पाणिनि की अष्टाध्यायी की अपेक्षा केवल ५४९ ही कम है : इसमें कुल सूत्र ३२३० हैं, अष्टाध्यायी में ३७७९ हैं। यह अन्तर भी पाणिनीय सूत्रों के संक्षेप और संयोग के कारण हैं : अनेकत्र दो या अधिक सूत्रों को एक ही सूत्र का आकार दे दिया गया है।

इस प्रकार आकार-संक्षेप का यह अर्थ नहीं कि वास्तव में पाणिनि के व्याकरण की अपेक्षा यह अधिक संक्षिप्त है। वस्तुतः इसका लाघव किसी अन्य दृष्टि से है, जिसे आगे चल कर हम स्पष्ट करेंगे।

अनुकरण और प्रभाव

हमने कहा कि इस व्याकरण में आचार्य सिद्धनन्दी को स्मरण किया गया है। और यह भी कि ये सिद्धनन्दी 'जैनेन्द्र व्याकरण' के प्रणेता आचार्य पूज्यपाद देवनन्दी ही हैं। यह बात हम सप्रमाण भी कह सकते हैं।

'जैनेन्द्र' व्याकरण पर लिखते हुए अभी हमने कहा है कि उसकी संज्ञाएं पाणिनि से नितान्त भिन्न और अत्यधिक ह्रस्व हैं। उनमें से अनेक संज्ञाओं का पूर्णतः अनुकरण शाकटायन व्याकरण में हुआ है। यही बात उसके प्रभाव को स्पष्ट कर रही है। किन्तु इस अनुकरण को अतिरंजित सीमा तक भी न ले जाना चाहिए। जैनेन्द्र व्याकरण की भांति यह भी पाणिनि-व्याकरण के ही सुधरे और संक्षिप्त रूप को प्रस्तुत करने की दृष्टि से बना है। जिस प्रकार जैनेन्द्र व्याकरण में इस संक्षेप का आधार दो बातें बनीं : संज्ञाओं का अत्यधिक संक्षिप्त रूप और वैदिक एवं स्वर प्रकरण का बहिष्कार; उसी प्रकार इसमें भी इन दोनों बातों का अनुकरण हुआ। किन्तु इसकी विशेषता यह है कि जहां 'जैनेन्द्र' में प्रायः सभी मुख्य संज्ञाओं को बदल कर भिन्न ढंग से अपनाया है, वहां इसमें आधी से भी कम पाणिनीय संज्ञाओं में हेर-फेर किया गया है। वास्तव में तो ये संज्ञाएं 'प्राच्य-परम्परा' से लीगई हैं; क्योंकि इन में से कुछ का प्रचलन फिट्सूत्रादि में भी पाया जाता है, जिन्हें प्राच्य परम्परा का माना गया है। अतः इन्हें आचार्य देवनन्दी की कल्पना से प्रसूतमात्र नहीं कहा जासकता। पर शाकटायन व्याकरण में लक्ष्य केवल 'संक्षेप' ही रहा नहीं दीखता, बल्कि उसमें सरलता और सम्पूर्णता का भी ध्यान रखा गया है।

तुलनात्मक अध्ययन

यह बात हम नीचे की दो तालिकाओं से देखेंगे। एक में 'संज्ञाओं' का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है : पाणिनि, देवनन्दी और शाकटायन द्वारा अपनाई संज्ञाओं का। दूसरी में पाणिनि और शाकटायन के सूत्रों का तुलनात्मक अध्ययन दिया गया है, जिससे यह स्पष्ट होसके कि शाकटायन ने पाणिनि के व्याकरण में ही सुधार करना चाहा था।

तालिका १ : संज्ञाओं की तुलना

पाणिनि	देवनन्दी	पाल्यकीर्त्ति
सवर्ण	स्व	स्व
संयोग	स्फ	संयोग
अनुनासिक	ङ	अनुनासिक
प्रातिपदिक	मृत्	दु
नपुंसकलिंग	नप्	नप्
लुक् (श्लु, लुप्)	उप्	लुक्, श्लुक्
प्रत्यय	त्य	प्रत्यय
अव्यय	प्र	अव्यय
अव्ययीभाव	प्रादेश	अव्ययीभाव
धातु	धु	धातु
तद्धित	हृत्	तद्धित
वृद्धि	ऐप्	ऐच्
आदेश	आदेश	आदेश
गुण	एप्	एङ्
संज्ञा	खु	दु
समास	स	समास
बहुव्रीहि	ब	बहुव्रीहि
घु	भु	घु
वृद्ध	दु	दुः
ह्रस्वदीर्घप्लुत	प्रदीप	ह्रस्वदीर्घप्लुत
तृतीयासमास	भास	तृतीयासमास
पंचमी	क	पंचमी
सप्तमी	ईप्	सप्तमी
षष्ठी	ता	षष्ठी
कृत्	कृत्	कृत्

इस तालिका पर एक भी नज़र डालते ही यह स्पष्ट हो जाएगा कि इन संज्ञाओं को तीन वर्गों में बाँटा जासकता है। प्रथम वर्ग में वे संज्ञाएं आती

हैं, जिन्हें पाणिनि से भिन्न रूप में और जैनेन्द्र व्याकरण के अनुकरण पर शाकटायन में अपनाया गया है। द्वितीय वर्ग में वे संज्ञाएं आती हैं, जिन्हें पाणिनि के अनुकरण पर, किन्तु जैनेन्द्र के प्रतिकार रूप में, अपनाया गया है। तीसरा वर्ग उन संज्ञाओं का है, जिन्हें जैनेन्द्र और शाकटायन व्याकरण में समान रूप से पाणिनि के अनुकरण पर अपनाया गया है। ये सभी संज्ञाएं भले ही पाणिनि से भी पहले से चली आ रही हों, तब भी इन सबको दोनों ने न तो आँख मूंद कर अपनाया है, न त्यागा है। हम कह चुके हैं कि फिट्-सूत्रों में इस प्रकार की संज्ञाओं का प्रचलन इस बात का संकेतक है कि इनका प्रचलन पूर्वदेश में और कदाचित् पाणिनीय संज्ञाओं के समानान्तर ही अधिक रहा होगा। परन्तु, शाकटायन द्वारा अन्यत्र जैनेन्द्र व्याकरण का ढांचा अपनाने पर भी संज्ञाओं के विषय में पाणिनि द्वारा अपनाए पथ को फिर से अपनाना उनकी स्वतन्त्रता को द्योतित करता है। एङ्, यव्, ऐच्, ष्यत्, आदि प्रत्याहारों को ही संज्ञाओं के स्थान पर अपनाकर उन्होंने चन्द्राचार्य्य की भांति अपने व्याकरण को भी यथासम्भव संज्ञाओं के बोझ से मुक्त रखने का प्रयास किया है। (यहां शा० १. ३. २ में आए 'ष्यङ्' से लेकर १.३.७६ में आए 'तिव्' तक के प्रत्ययों का समाहार 'ष्यत्' प्रत्याहार के रूप में किया गया है : दे० सूत्र १.१.५९।)

सूत्र-रचना और व्यवस्था

दूसरी तालिका हम यहां कुछ सूत्रों की दे रहे हैं, ताकि पाणिनि और शाकटायन के सूत्रों का तुलनात्मक अध्ययन किया जासके।

तालिका २ : सूत्र

अष्टाध्यायी	शाकटायन
आदिरन्त्येन सहेता (१.१.७१)	सात्मेतेत् (१.१.१)
अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः (१.१.६९)	उता स्वः (१.१.२)
तपरस्तत्कालस्य (१.१.५३)	तेयान् (१.१.३)
तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् (१.१.९)	स्वः स्थानस्यैक्ये (१.१.६)
बहुगणवतुडति संख्या (१.१.२३)	घडुति संख्या,बहुगणं भेदे(१.१.९,१३)
एङ् प्राचां देशे (१.१.७५)	प्राग्देशे (१.१.२१)
कणेमनसी श्रद्धाप्रतीघाते (१.४.६६)	कणेमंनः श्रद्धोच्छेदे(१.१.२८)
स्वरादिनिपातमव्ययम् (१.१.३६)	तस्वन्नामधण्...स्वरादीन्यव्ययम् (१.१,३९)

परश्च (३.१.२)	परः (१.१.४४)
मिदचोऽन्त्यात् परः (१.१.४७)	मिदचोऽन्त्यात् (१.१.४५)
अलोन्त्यस्य, षष्ठी स्थानेयोगा (१.१.५२,४९)	षष्ठ्याः स्थानेऽन्ते लः (१.१.४७)
तस्मादित्युत्तरस्य (१.१.६७)	तस्मादादेः (१.१.४८)
अनेकाल्शित्सर्वस्य (१.१.५५)	शिदङ्दिल (१.१.४९)
स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (१.१.५६)	स्थानीवानलाश्रये (१.१.५४)
एचोऽयवायावः (६.१.७८)	एचोऽच्ययवायाव् (१.१.७१)
ऋत्यकः (६.१.१२८)	ऋत्यकः (१.१.७५)
सहिवहोरोदवर्णस्य (६.३.११२)	सहिवहोऽस्यौः (१.१.८१)
त्रेस्त्रयः (७.१.५३)	त्रेस्त्रयः (१.२.४५)
ओमाङोश्च (६.१.८५)	ओमाङि परः (१.१.८६)
ऋदृशोऽङि गुणः (७.४.१६)	ऋदृशोऽर् (४.२.९)
ऋद्धनोः स्येः (७.२.७०)	ऋद्धनस्स्ये (४.२.१६६)
आद्यन्तौ टकितौ (१.१.४६)	टिदादिः, किदन्तः (१.१.५३,५४)
तसौ मत्वर्थे (१.४.१९)	स्तं मत्वर्थे (१.१.६६)

इत्यादि ।

इस सूची से दो-तीन बातें अत्यन्त स्पष्ट होती हैं : प्रथम यह कि पाल्य-कीर्ति शाकटायन का व्याकरण पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्रों में सुधार की उसी भावना से प्रेरित होकर बढ़ा था, जिस भावना को लेकर चान्द्र और जैनेन्द्र व्याकरण बढ़े थे। उसकी यदि कोई विशिष्ट भावना थी ही, तो वह थी संक्षेप, सरलता, स्पष्टता एवं पूर्णता पाने की। सन्देह नहीं कि इस प्रयत्न में वह सफल भी कहा जा सकता है। संक्षेप की बात तो ऊपर के सूत्रों का मिलान करने से स्पष्ट ही है। किन्तु संक्षेप की व्यग्रता में शाकटायन ने हर जगह तोड़-फोड़ नहीं की है। इस सूची में ही तीन-चार सूत्र पूर्णतः अनुकृत दिखाए गए हैं। वास्तव में ऐसे सूत्र अनेक हैं। स्पष्टता और संक्षेप में उनसे अधिक न बढ़ पाने के कारण शाकटायन ने उन्हें ही यथावत् अपना लिया है। किन्तु स्पष्टता की भावना के कारण उन्होंने कहीं-कहीं एक ही सूत्र को दो खण्डों या सूत्रों में बाँटकर भी पढ़ा है। उक्त तालिका में एक-दो उदाहरण ऐसे भी दिए गए हैं; जबकि पाणिनि के दो या अधिक सूत्रों के मिलने से बनने वाले एकाकी सूत्रों के उदाहरण भी इसमें कम नहीं हैं। इस प्रकार कहा जा सकता

है कि पाल्यकीर्त्ति का उद्देश्य पाणिनीय व्याकरण में ही पूर्णता का आधान करना था; यद्यपि संज्ञादि के व्यामोह को कम करके तथा महाभाष्यादि द्वारा संकेतित तथा अपने मत में 'अनावश्यक' अशों को त्याग कर उसमें सरलता का आधान भी उनका लक्ष्य था ही। पर ऐसा करते हुए भी व्याकरण की 'पूर्णता' का लक्ष्य उनसे छूटा नहीं है। यही कारण है कि उन्होंने पाणिनीय प्रत्याहार-सूत्रों को महाभाष्यानुसार यथावत् अपना लिया है: केवल इतना ही अन्तर है कि (१) 'ऋक्' के पाठ द्वारा 'लृ' को अन्तर्गूढ़ स्वीकार किया है, (२) 'हयवरलञ्' के रूप में दो सूत्रों को एक करके अनुवन्ध बदला है, और (३) 'शषस अं अ ⌣ क ✕ पर्' के रूप में 'शषसर्' को सुधार कर इस प्रकार पढ़ा है, जिससे उसमें अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का भी समावेश हो जाए। इससे प्रत्याहारों की संख्यादि में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा है। ऐसे अन्तर चान्द्र आदि व्याकरणों में भी पतंजलि और कात्यायन के सुझाव पर किए गए थे।

जैनेन्द्र का प्रभाव

इस विषय में सर्वाधिक महत्त्व का प्रश्न है इस दिशा में जैनेन्द्र व्याकरण के प्रभाव का। यहाँ हम तीनों व्याकरणों के कुछ सूत्रों का मिलान करके यह दिखाएँगे कि वास्तव में इस वात में भी जैनेन्द्र का प्रभाव शाकटायन व्याकरण पर 'संक्षेपवृत्ति' के अनुकरण तक ही सीमित है। इससे अधिक इस प्रभाव को मानना उचित नहीं। इसके विपरीत इसकी मूल वृत्ति पाणिनि के मूल सूत्रों को यथासम्भव सुधारने की ही रही है।

तालिका—३ : तीनों के तुलनीय सूत्र

पाणिनीय	जैनेन्द्रीय	शाकटायनीय
१. विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ (१.१.२८)	वा दिक्सवे (१.१.३६)	विदिक् च (१.२.१७४)
२. षष्ठी स्थानेयोगा (१.१.४९)	ता स्थाने (१.१.४६)	षष्ठ्याः स्थाने... (१.१.४७)
३. उरण् रपरः (१.१.५१)	रन्तो ण उः (१.१.४८)	इक्येङर् (१.१.८२)
४. तस्मादित्युत्तरस्य (१.१.६७)	ईप्केत्यव्याये पूर्वपरयोः (१.१.६०)	तस्मादादेः (१.१.४८)
५. तस्मिन्निति० (१.१.६६)	,, ,,	तस्यादिः (१.१.५८)

इसमें हम स्पष्ट ही देख सकते हैं कि विस्तार की चिन्ता किये बिना कई स्थलों पर पाल्यकीर्त्ति फिर से पाणिनि के पाठ को मानते हैं। तीसरे सूत्र में जहाँ उन्होंने पाणिनि और देवनन्दी के दो-दो सूत्रों को एक ही सूत्र में पिरोया है, वहाँ चतुर्थ में पाणिनि के दो सूत्रों को देवनन्दी द्वारा एक कर देने पर भी पाल्यकीर्त्ति उसे फिर से दो सूत्रों के द्वारा व्यक्त करते हैं। अतः न तो उन्होंने अन्धानुकरण किया है, न ही व्यर्थ का संक्षेप किया है।

व्यवस्था

अगला प्रश्न सूत्रों की व्यवस्था का है। इस विषय में सबसे पहली बात तो यह अवधेय है कि शाकटायन व्याकरण में अध्यायों की कुल संख्या चार और पादों की संख्या सोलह रखी गई है। प्रत्येक पाद में सूत्रों की संख्या अवश्य बढ़ गई है। अनेक पादों में पाणिनि के दो-दो पादों से भी अधिक की सामग्री आ गई है। किन्तु इस पर भी इसकी व्यवस्था न तो मूल पाणिनीय व्याकरण के क्रम में बढ़ी है, और न ही वह जैनेन्द्रीय क्रम में ही बढ़ी है। सच तो यह है कि जैनेन्द्र ने पाणिनीय क्रम को ही अक्षुण्ण रखा है। लगता है, इस विषय में शाकटायन व्याकरण पर चान्द्र व्याकरण का प्रभाव पर्याप्त पड़ा है। विषयों का वर्गीकरण भले ही बिलकुल उसके अनुकरण पर नहीं है, तब भी उससे दिशा-संकेत इसके रचयिता ने अवश्य लिया है। अलग-अलग पादों में अलग-अलग विषय को अपनाने की व्यवस्था इस बात की साक्षी है। यही कारण है कि यहाँ पाणिनीय क्रम का 'संज्ञा प्रकरण' उस रूप में नहीं है। न ही बहुत सी संज्ञाओं की परिभाषा की गई है। लुक्, श्लुक् आदि ऐसी ही संज्ञाएं हैं। सर्वादि, त्यदादि आदि को संज्ञारूप में यथावत् अपना लिया गया है। सुबन्त, तिङन्त, समास, तद्धित, कृदन्त आदि को प्रकरणक्रम से ही लिया गया है। उनके सभी आवश्यक सूत्रों को एक ही स्थल पर लाने का भी प्रयास किया गया है।

अतः पूर्ण अनुकरण किसी का भी न करके, लेखक ने अपना पथ आप ही बनाया है।

पंचांग व्याकरण

'चिन्तामणि' वृत्ति के रचयिता यक्षवर्मा ने आरम्भ में इस व्याकरण को 'सम्पूर्ण' कहा है। तब ग्यारहवें आरम्भिक श्लोक में स्पष्ट किया है कि

पाणिनीय व्याकरण के अनुकरण पर यह व्याकरण भी 'पंचांगलक्षण' ही रचा गया था। यह बात चान्द्र आदि वैयाकरणों की प्रवृत्ति से भी मेल खाती है। यक्षवर्मा ने इसके गणपाठ, धातुपाठ, लिंगानुशासन और उणादिसूत्रों को मूल व्याकरण का अविभक्त अंग मानकर ही उन पर भी वृत्ति रची।

अतः 'सम्पूर्णलक्षण' की प्रसिद्ध परिभाषा इस व्याकरण पर भी घटती है। हेमचन्द्र ने भी इसी परम्परा का निर्वाह किया। भोजराज ने अवश्य ही भिन्न पथ अपनाया।

प्रभाव

शाकटायन के व्याकरण का प्रभाव परवर्त्ती काल में अवश्य पड़ा। केवल सूत्रों के ही अनुकरण की दृष्टि से भी इसका अधिकतम अनुकरण आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' में किया है। आचार्य हेम पर पड़े प्रभाव की मात्रा इस बात से सिद्ध है कि उनके व्याकरण के प्रथम पाद में ही २२ सूत्र इस शाकटायन व्याकरण से अविकल उद्धृत हुए हैं। पाणिनीय सूत्रों में सुधार की हेमचन्द्र की इच्छा भी इससे प्रभावित ही दिखाई देती है।

आश्चर्य है तो केवल इस बात का कि इतना प्रभावकारी और सक्षम होने पर भी यह व्याकरण अधिक प्रचलन क्यों न पा सका! यद्यपि टीकादि इस पर भी पर्याप्त हुईं और 'प्रक्रियाएँ' इस पर भी बनीं।

टीकाएँ और प्रक्रियाएँ

१. अमोघा वृत्ति

शाकटायन व्याकरण के काशी से मुद्रित प्राचीन संस्करण में यक्षवर्मा की 'चिन्तामणि वृत्ति' दी गई है। वह अपने एक श्लोक में 'तस्यातिमहतीं वृत्तिम्' के द्वारा इस व्याकरण की एक 'अतिमहती' वृत्ति की ओर इंगित करते हैं, जिसका संक्षेप उन्होंने स्वयं किया है। वह न तो इस वृत्ति का नाम ही देते हैं, न ही वह 'तस्य' के अतिरिक्त कोई अन्य इंगित करते हैं। हम कह ही चुके हैं कि 'तस्य' से व्याकरण और लेखक दोनों ही अभिप्रेत कहे जा सकते हैं। इसीलिए अब तक हमने इस बात को अनिर्णीत ही रहने दिया है कि इस वृत्ति का लेखक पाल्यकीर्त्ति शाकटायन है या कोई अन्य। यही कारण है कि हमने उसका काल भी निर्णीत नहीं किया है।

इस सम्बन्ध में कुछ बातों से हमें अप्रत्यक्ष सहायता मिल सकती है। इनमें से सर्वप्रथम बात यह है कि प्रसिद्धतम और संक्षिप्ततम वृत्ति का रचयिता

मूल व्याकरण के रचयिता का नाम और पद तो स्पष्टतः उल्लेख करता है, किन्तु वह उसकी उस 'अतिमहती' वृत्ति के रचयिता का प्रत्यक्षतः नामोल्लेख नहीं करता, जिसे उसने अक्षरशः संक्षिप्त करके अपनी वृत्ति का आधार बनाया है। वह वृत्ति उसकी अपनी रची नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा होने पर वह ऐसा संकेत अवश्य ही देता। किन्तु उसका कथन अपनी 'चिन्तामणि वृत्ति' के स्रोत तक ही सीमित रहा है। इसके विपरीत उसने यदि किसी व्यक्ति का नाम किसी भी प्रसंग में उन आरम्भिक श्लोकों में गिनाया ही है, तो वह है मूल व्याकरण के रचयिता शाकटायन का। उसके व्याकरण की विशेषता बताने के तत्काल बाद ही वे 'तस्यातिमहतीं वृत्तिम्' का उल्लेख करते हैं, जिसका अर्थ ठीक उसी रूप में लिया भी जा सकता है, जिसमें मीमांसक जी ने लिया है: अर्थात् यहां 'तस्य' का अर्थ 'शाकटायन' ही है। किन्तु ऐसा हम अभावात्मक स्थिति में ही कह सकते हैं, क्योंकि अन्यथा इससे संकेत 'व्याकरण' का ही होना चाहिए था। इसके पक्ष में सबसे बड़ा प्रमाण यही दिया जा सकता है कि 'वृत्ति' को 'अतिमहती' कहने के बाद भी उसके कर्त्ता के रूप में किसी अन्य व्यक्ति का उल्लेख नहीं किया गया। अतः अभावात्मक रूप से यह कहा जा सकता है कि वृत्ति की रचना भी शाकटायन ने ही की होगी।

इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि 'चान्द्र व्याकरण' और 'वाक्यपदीय' की रचना के समय से ही प्रायः यह प्रवृत्ति सुपुष्ट मिलती है कि मूल ग्रन्थ का रचयिता ही स्वयं उसकी वृत्ति भी लिखने लगा था। मीमांसक जी ने तो पाणिनि के भी सम्बन्ध में यही बात कही है। बाद में हेमचन्द्राचार्य्य तक में यही बात पाई जाती है। अतः लेखक द्वारा स्वयं ही इस 'महावृत्ति' का लिखा जाना असम्भव नहीं है। बल्कि कदाचित् ऐसा परम्परानुकूल भी माना जा सकता है।

तीसरा प्रमाण हम बहिःसाक्ष्यों के रूप में ले सकते हैं। मीमांसक जी ने इन्हें इस प्रकार गिनाया है[1]:

(क) गणरत्नमहोदधि के कर्त्ता वर्धमान सूरि ने शाकटायन के नाम से अनेक ऐसे उद्धरण दिए हैं, जो 'अमोघा वृत्ति' के ही हैं, व्याकरण के नहीं।

(ख) सर्वानन्द ने 'अमरटीकासर्वस्व' में 'अमोघा वृत्ति' का पाठ पाल्यकीर्त्ति के नाम से उद्धृत किया है।

(ग) आचार्य प्रभाचन्द्र ने 'जैनेन्द्र व्याकरण' और 'अमोघा वृत्ति' पर

१. मी०, प्रथम भाग, द्वि० सं०, पृ० ५५०-१।

'न्यासों' की रचना की थी। इस न्यास के सम्प्रति दो अध्याय ही उपलब्ध हैं; वह भी हस्तलिखित प्रति के रूप में ही।

(घ) सायण और लीलाशुकमुनि के वक्तव्यों से मीमांसक जी इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि शाकटायन ने अपने 'धातुपाठ' पर भी वृत्ति रची थी। अतः 'अमोघा' के भी रचयिता वे ही रहे होंगे।

अतः इन सब बातों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'अमोघा' की रचना सम्भवतः स्वयं लेखक ने ही की होगी। अन्यथा 'मांगलिक श्लोकों' में ही टीकाकार अपना या अपने वंश का नामोल्लेख उस युग की परम्परा के अनुरूप अवश्य ही करता। इसके विपरीत हम पाते यह हैं कि मूल व्याकरण की भाँति टीका के आरम्भ में भी जिन-महावीर की स्तुति में ही केवलमात्र एक श्लोक पढ़ा गया है, जो दोनों के एक ही लेखकत्व की सम्भावना का सांकेतिक माना जा सकता है।

वृत्ति का स्वरूप

इस वृत्ति को 'चिन्तामणि वृत्ति' के रचयिता यक्षवर्मा ने 'अतिमहती' सार्थक रूप में ही कहा है। भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित 'अमोघा वृत्ति' के आधार पर कहा जा सकता है कि यक्षवर्मा का यह कथन सार्थक ही है। इस वृत्ति के केवल आरम्भिक अंशों को ही देखकर यह कहा जा सकता है कि यह वृत्ति सम्भवतः स्वयं व्याकरणकार द्वारा रची गई है। सूत्रों के पीछे, या उनके सुघरे रूप के पीछे, जो भावना वैयाकरण की रही है, उसे इस वृत्ति में ही पूरी तरह समझाया गया है। स्वयं मंगलाचरण की व्याख्या में "शब्दो वाचकः, अर्थो वाच्यः, तयोः सम्बन्धो योग्यता···" आदि कहने से प्रतीत होता है कि वैयाकरण अपनी दार्शनिक अनुभूति को भी स्पष्ट करना चाहता है। इसी प्रकार प्रत्याहारसूत्रों में अपने किए सुधार की भी वह कैफ़ियत देता है। यथा 'ऋलृक्' के स्थान पर 'ऋक्' का पाठ करते हुए वह कहता है: 'ऋ इत्येव लृवर्णस्य ग्रहणम्'···इत्यादि। प्रथम सूत्र 'अतमेतेत्' की व्याख्या में वह कहता है: 'आत्मना सह आत्मनश्चेत्यर्थः।' इसी की व्याख्या में वह यह भी स्पष्ट करता है कि इन प्रत्याहारसूत्रों के कथित 'प्रत्याहारों' की भांति प्रत्ययादि में भी 'प्रत्याहार' बन सकते हैं। 'ञ्यत्' प्रत्याहार का उदाहरण हम मूल व्याकरण की चर्चा में दे आए हैं। यहाँ टीकाकार कहता है: 'अण्, अक्, इक्, सुप्, सुङ्, तिङ्, क्तण्।' इनमें से अन्तिम चारों प्रत्यया-

श्रित प्रत्याहार हैं। ऐसी अनेक अन्तर्निगूढ़ बातें लेखक स्वयं ही स्पष्ट कर सकता है। इन्हें ही यक्षवर्मा ने अपनी वृत्ति में अत्यन्त संक्षेप के साथ अपना लिया है।

इस वृत्ति की एक विशेष्ता यह भी है कि प्रत्येक कथन के पक्ष में अनेकानेक सूत्रों द्वारा प्रमाण दिए गए हैं। यक्षवर्मा ने इनमें से ही कुछ को चुनकर अपनी वृत्ति का अंग बनाया है। अन्यथा यह वृत्ति अत्यन्त सुस्पष्ट और प्रांजल है।

२. चिन्तामणि वृत्ति

यह वृत्ति यक्षवर्मा की लिखी हुई है। इसके विषय में निम्न कुछ बातें टीकाकार ने स्वयं कही हैं:

(क) यह वृत्ति 'शाकटायन व्याकरण' की 'अतिमहती वृत्ति' का ही लघुतर रूप है। इस पर भी यह 'सम्पूर्णलक्षणा' है (श्लोक-७)।

(ख) इस की रचना सुकुमारधी उन छात्रों के लिए की गई है, जो ग्रन्थ-विस्तार को देखकर घबरा जाते हैं (श्लोक-८)।

(ग) यह चिन्तामणि वृत्ति इस शब्दानुशासन की अन्वर्था टीका है, तथा इसका परिमाण छह सहस्र ग्रन्थ है (श्लोक-९)।

(घ) इन्द्र, चान्द्र, आदि ने जो कुछ भी व्याकरण के विषय में कहा है, वह सब यहां समाहित है, और जो इसमें समाहित नहीं है, वह कहीं भी नहीं है (श्लोक-१०)।

(ङ) यह वृत्ति व्याकरण से समवेत गणपाठ, लिंगानुशासन और उणादि-पाठ पर भी रची गई है (श्लोक-११)।

(च) इस वृत्ति का अभ्यास करके बालक और अबलाजन भी एक वर्ष में ही समस्त वाङ्मय को जान लेते हैं (श्लोक-१२)।

इनमें से चतुर्थ (घ) कथन व्याकरण के सम्बन्ध में है। इसकी सत्यता की बात हम पहले ही कह चुके हैं। इसमें पाणिनि-व्यतिरिक्त आचार्यों का ही नाम लिया गया है, क्योंकि मूल आधार तो पाणिनीय व्याकरण का है ही। पांचवीं उक्ति मूल व्याकरण के 'पंचांग' होने का स्पष्ट उल्लेख कर रही है।

इस वृत्ति के उपसंहार पर अन्तिम श्लोक में 'श्री चारुकीर्त्ति' को आर्य-मुनि कह कर उसकी जय की कामना की गई है। इस प्रशंसा को देखकर

लगता है कि यह वचन 'पाल्यकीर्त्ति' के लिए ही होगा। कम से कम यह नाम मूल वैयाकरण से ही सम्बद्ध है और 'शाकटायन' नाम से भिन्न है। आरम्भ में 'शाकटायन' कहकर अन्त में 'चारुकीर्त्ति' की प्रशंसा दोनों को एक ही सिद्ध करती है। जिस तरह इस 'चारुकीर्त्ति' की प्रशंसा की गई है, वह भी 'शाकटायन' की प्रशंसा से उसे अभिन्न ही सिद्ध करती है; क्योंकि जैन अनुयायियों में उनका स्थान महान् गौरव से युक्त बताया गया है।

आश्चर्य की ही बात है कि ऐसे विद्वान् और सुधी लेखक का अधिक परिचय उपलभ्य नहीं है।

अन्यों की चर्चा आवश्यक प्रतीत नहीं होती।

सरस्वतीकण्ठाभरण : भोजदेव

पीठिका

ग्यारहवीं शती में संस्कृत में विविध क्षेत्रों में एक साथ कार्य करने वाली एक ऐसी बड़ी हस्ती भी हुई, जो राजनीति के साथ-साथ सरस्वती-विलास को भी पूरे अधिकार के साथ निभाती रही। संस्कृत को ऐसे सेवक समय-समय पर मिलते रहे हैं। गुप्तों के समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त के बाद भोजराज ऐसे ही सेवक थे, जिन्होंने देशभाषाओं के बढ़ते हुए प्रचार के बीच भी अपने राज्य में संस्कृत को फिर से प्राचीन गौरव और प्रश्रय दिया। परन्तु यह सब कार्य राज्यादेशों के द्वारा नहीं हुआ। इसके लिए उन्होंने स्वयं सृजनात्मक नेतृत्व किया। साहित्य, आलोचना, व्याकरण, कोश-निघण्टु, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, योग, आयुर्वेद, वास्तुशिल्प, शैवदर्शन, धनुर्वेद एवं संगीतशास्त्र के इतने विविध क्षेत्रों में एक साथ सृजन करने-कराने वाले भोजराज अपने राजकीय कर्त्तव्यों से व्यतिरिक्त समय में ही यह सब सृजन करते थे। ऐसा लगता है कि भगवान् वेदव्यास के समान उनके सामने भी यह समस्या थी कि भारत की डूबती सांस्कृतिक थाती को जनप्रिय बनाकर बचा लिया जाए! और, निश्चय ही वह इसमें पर्याप्त दूर तक सफल भी हुए।

किन्तु, आज से लगभग नौ सौ पचीस वर्ष पूर्व होने वाले इस महामनीषी के सृजन में से भी हम कितना बचा पाए? आज जो कुछ बचा भी है, वह भी मूल से बहुत कम है!

काल और रचनाएं

भोज के पिता महाराज सिन्धुल या सिन्धुराज की मृत्यु ९९७ ई० में हुई। इन्हीं सिन्धुराज और इनकी पत्नी शशिप्रभा के पुत्र थे महाराज भोज। इनके चाचा का नाम मुंज विख्यात ही है। उनका अपर नाम वाक्पति भी था। इन भोजराज की अन्तिम तिथि १०५० ई० के आसपास मानी जाती है। इनके पुत्र जयसिंह का एक दानपत्र १०५५ ई० का मिलता है। इन दोनों तिथियों के बीच ही कहीं इनकी निधनतिथि ठहरती है।

इनकी रचनाओं का निम्न वर्गीकरण डा० चिन्तामणि ने दिया है :

काव्य-साहित्य—शालिकथा, शृंगारमंजरी, विश्रान्तविद्याविनोद ।
काव्यशास्त्र—सरस्वतीकण्ठाभरण (अलंकार), शृंगारप्रकाश !
व्याकरण—सरस्वतीकण्ठाभरण ।
कोश-निघण्टु—अमरव्याख्या, संयमिनाममालिका ।
धर्मशास्त्र—राजमार्त्तण्ड, युक्तिकल्पतरु, व्यवहारसमुच्चय, रत्नमाला ।
ज्योतिष—राजमृगांक, विद्वज्जनवल्लभ, भुजवलनिबन्ध, प्रश्नचिन्तामणि ।
योग—योगसूत्रवृत्ति ।
आयुर्वेद—राजमृगांक, चारुचर्या, आयुर्वेदसर्वस्व !
विज्ञान—समरांगणसूत्रधार (वास्तु), शालिहोत्रन्याय ।
धनुर्वेद—कोदण्डमण्डन (भोज द्वारा लिखवाया गया) ।
संगीत—गीतप्रकाश (अनुमानित नाम) ।

इनमें से प्रस्तुत प्रसंग में हमें व्याकरण के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' की ही विवेचना अभीष्ट है।

महत्त्व

महाराज भोजदेव के व्याकरण-ग्रन्थ 'कण्ठाभरण' से पहले संस्कृत में अनेक व्याकरण ग्रंथ प्रकाश में आचुके थे। इनमें से शाकटायन, काशकृत्स्न और आपिशलि के व्याकरणों को छोड़कर सर्वप्रधान थे—पाणिनीय, चान्द्र, जैनेन्द्र, जैन शाकटायन, वामन, कातन्त्र, और सारस्वत आदि। इसके अतिरिक्त उनके सामने आदर्श था व्याडि, कात्यायन, पतंजलि, जयादित्य-वामन और भर्तृहरि आदि का! अतः यह आश्चर्य की बात नहीं कि उनके व्याकरण पर इन सभी व्याकरणों का प्रभाव यत्र-तत्र दिखाई पड़ता है।

पृष्ठभूमि

कातन्त्र व्याकरण पाणिनि से भिन्न परम्परा का था, यद्यपि उसमें भी पाणिनि की पद्धति से लाभ उठाकर सुधार किया गया था। चान्द्र व्याकरण वह सर्वप्रथम महाप्रयत्न था, जिसमें महाभाष्य, वार्त्तिक, संग्रह, और संभवतः कातन्त्र, आदि में वर्णित और चर्चित तथ्यों के सहारे पाणिनीय व्याकरण की पुनः-रचना का विधान किया गया था। किन्तु ऐसा करते हुए उसमें पाणिनीय क्रम तक को पलट दिया गया था। फिर भी, वह पाणिनिकृत व्याकरण का प्रतिसंस्कार ही कहलाया। उसकी यह विशेषता मानी गई है कि उसमें पारिभाषिक 'संज्ञाओं' का प्रयोग नहीं किया गया। किन्तु हम दिखा आए हैं कि उसमें भी संज्ञाओं के बिना काम नहीं चल पाया है, भले ही उनकी परिभाषा न दी गई हो। फिर, पाणिनि से लेकर जो गणपाठ, उणादिपाठ, धातुपाठ, लिंगानुशासन, आदि के पृथक् परिगणन की परम्परा चली, वह प्रत्येक परवर्त्ती वैयाकरण द्वारा अनुकृत होती रही। 'जैनेन्द्र' व्याकरण ऐसी कोई नई प्रतिज्ञा या दावा लेकर नहीं चला। परन्तु उसमें भी सुधार की भावना काम कर रही थी। इसमें पाणिनि की अपेक्षा संज्ञाओं को लघु और एकरूप करने का प्रयास किया गया था। इस पर भी इसमें पाणिनीय क्रम को नहीं पलटा गया था।

भिन्न किन्तु महत्त्वपूर्ण

'सरस्वतीकण्ठाभरण' इस दृष्टि से अपने पूर्ववर्त्ती सभी प्रयासों से भिन्न है कि न तो उसमें 'संज्ञाओं' को अपाकृत करने या त्यागने का ही प्रयास किया गया है, और न ही इसमें पाणिनीय क्रम को तोड़ने का यत्न किया गया है। बल्कि, इसमें धातुपाठ और गणपाठ[१] की पृथक् आवश्यकता को दूर कर दिया गया है। 'उणादिपाठ' तक की पृथक् आवश्यकता को भी इसमें समाप्त कर दिया गया है। इसमें उन सबका समावेश व्याकरण की मूलकाया में ही कर लिया गया है।

'चान्द्र' व्याकरण से परवर्त्ती होने पर भी इसमें बहुत सी बातों में उसका अनुकरण न करके, पाणिनि के ही मत को फिर से प्रतिष्ठित किया गया है। इसकी सबसे बड़ी और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें पाणिनि व्याकरण का कोई भी अंश छोड़ा नहीं गया है। किन्तु इस पर भी इसका आकार पाणिनीय व्याकरण से अधिक बढ़ नहीं पाया है। यह भी 'अष्टाध्याय

व्याकरण' है। इसकी सर्वप्रमुख विशेषता अन्य किसी भी व्याकरण की अपेक्षा यह है कि इसमें अलग से किसी भी 'पाठ' या 'अनुशासन' को पढ़ने की आवश्यकता नहीं रही है। सबको समेट कर भी इतने आकार में सब कुछ इस ढंग से आया है कि अध्येता की पाणिनीय क्रम में उठने वाली अनेक शंकाएं स्वतः शान्त हो जाती हैं।

इसे हम बाद में सोदाहरण समझाएंगे। यहाँ तो इतना कहना ही अभीष्ट है कि उणादि, गण, लिंग और धातु के अलग परिगणन की आवश्यकता तक को भोजराज ने इस तरह दूर किया है कि वे स्वतः सूत्ररूप में पढ़े जाते हुए पाणिनीय क्रम से बाहर के नहीं लगते। पाणिनीय क्रम भी स्वभावतः अनेकत्र बदला गया है। किन्तु उसे पुनर्व्यवस्थामात्र कहा जासकता है, क्रम-परिवर्त्तन नहीं !

इस प्रकार के महान् वैयाकरण के सुबद्ध व्याकरण का भी अधिक प्रचार और सुरक्षण न हुआ, तो वह कृतित्व के दोष के कारण नहीं; अपितु ग्रहीता की अभिरुचि की कमी के कारण ही !

प्रभाव

हम कह ही आए हैं कि इसकी रचना में अनेक प्रभाव काम करते रहे हैं। पाणिनि का स्थान इनमें सर्वोपरि है। 'महाभाष्य' और 'वार्त्तिक' का भी अपना महत्त्व है। उनकी सभी बातों को बारीकी के साथ इसमें अपनाया गया है। यह बारीकी कहां तक पहुंची है, यह इस बात से सिद्ध होता है कि चन्द्राचार्य्य ने जिन अनेक सूत्रों में परिवर्त्तन-परिवर्धन किया था, उन्हें यद्यपि अनेकत्र भोजराज ने अपना लिया है, फिर भी उनमें से बहुतों को निराकृत करके पुराने पाणिनीय सूत्रों को उन्होंने पुनः प्रतिष्ठित भी किया है।

बहुत दिन तक यह मान्यता रही, और अब भी स्थिर है, कि भोज ने चान्द्र व्याकरण का ही प्रधान रूप में अनुकरण किया है। इसका कारण यह है कि दोनों ने एक ही उद्देश्य को लेकर, पाणिनीय व्याकरण की पूर्णता के लिए, महाभाष्य और वार्त्तिकादि के सहारे से कार्य किया है।

मौलिकता

किन्तु भोजराज की मौलिकता पदे-पदे स्पष्ट है। स्पष्ट है कि उन्होंने कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, आदि सभी पूर्ववर्त्ती व्याकरणों का पूरा-पूरा अध्ययन किया था। इन सब प्रभावों को ग्रहण करते हुए वे इतने निरभिमान रहे हैं

कि उन्होंने जिस भी सूत्र को उसी रूप में लेना उचित समझा है, उसमें एक भी मात्रा का हेरफेर किये बिना उसे अक्षरशः स्वीकार कर लिया है। परन्तु जहां परिवर्त्तन अनिवार्यतः आवश्यक समझा है, उसे निस्संकोच उतने ही अंश-मात्र में किया है, जितने में वह आवश्यक था; शेष अंश को यथापूर्व रहने दिया है। उन्होंने सर्वथा पाणिनि के सूत्रों की ही, आधारवस्तु के रूप में, प्रधानता स्वीकार की है।

यह सतर्क दृष्टि ही उनकी मौलिकता है। इसी के कारण उनका व्याकरण अनूठा बन पाया है। इस विषय में हम कुछ उदाहरणों के साथ स्पष्टीकरण देना चाहेंगे।

आरम्भिक सूत्र

मौलिक चिन्तन के प्रसंग में हम यहां 'कण्ठाभरण' के प्रथम सूत्र की ओर इंगित करना चाहेंगे : यह सूत्र है 'सिद्धिः क्रियादेः लोकात्।' यह पाणिनि और चान्द्र व्याकरण में किसी भी रूप में विद्यमान नहीं है। कात्यायन और व्याडि के माध्यम से हमें 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' या 'सिद्धाः शब्दार्थसम्बन्धाः' जैसे आरम्भिक सूत्र की प्रतीति होती है। भर्तृहरि भी इसकी संभावना सूचित करते हैं। किन्तु इसे चन्द्राचार्य ने नहीं अपनाया। जैनेन्द्रकार ने इसके महत्त्व को समझ लिया था। उसका प्रथम सूत्र था : 'सिद्धिरनेकान्तात्'।

यदि प्रथम वार्त्तिक को महाभाष्य के आधार पर एकसाथ लिया जाए, तब वह बनता है : 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे लोकतोऽर्थप्रयुक्ते'...इत्यादि। किन्तु भोजराज इसे ही सूत्ररूप में बदल देते हैं : 'सिद्धिः क्रियादेः लोकात्'। इसमें लोक, प्रयोग और सिद्ध तीनों ही बातों को ले लिया गया है। इस प्रकार वार्त्तिक और जैनेन्द्रसूत्र के बीच की सही राह भोज द्वारा खोज ली गई।

दूसरा सूत्र और भी आकर्षक है : 'भूवादिः क्रियावचनो धातुः'। पाणिनि का सूत्र था : 'भूवादयो धातवः।' परन्तु महाभाष्यप्रोक्त वक्तव्य में 'भाववचनो धातुः' और 'क्रियावचनो धातुः' की बात को समवेत करके भोज ने उनका समाहार एक सूत्र में किया है।

उनका तीसरा सूत्र बोपदेव के 'मुग्धबोध' और काशिकाप्रोक्त 'वार्त्तिक' से लिया गया है।

संज्ञाप्रकरण

पाणिनि के संज्ञाप्रकरण की भांति भोज ने भी प्रथमाध्यायी के प्रथम पाद

में संज्ञाप्रकरण को ही लिया है। किन्तु वे पाणिनि के इस पाद में कहे प्रथम ३९ सूत्रों को ही लेपाए हैं। शेष सूत्र दूसरे पादों से लिए गए हैं। किन्तु अन्ततः वे सब सूत्र भी इन ३९ सूत्रों से ही सम्बद्ध हैं। 'धातु' के सम्बन्ध में तीन सूत्र कहे गए हैं। पाणिनि के अनुकरण पर प्रातिपादिक के प्रकरण को दो की जगह तीन सूत्रों में फैलाया गया है। इन दोनों को अन्य किसी भी संज्ञा की अपेक्षा पहले लेने का कारण आठवें और नवम सूत्र में स्पष्ट होता है। व्याकरण का विषय यदि शब्दाकृति-विश्लेषण है, तब भोज की दृष्टि में विवेचन 'प्रकृति' और 'प्रत्यय' से आरम्भ होना चाहिए। 'प्रकृति' की दृष्टि से प्रातिपदिक और धातु का पहले परिभाषित होना आवश्यक है। इनमें से भी सर्वथा अप्रत्यय होने के कारण 'धातु' पूर्वतर आती है। शब्द की नित्यता का हेतु ही वह है : अर्थवत्ता का आधार होने से !

इसके नैरन्तर्य में ही 'प्रत्यय' के विविध रूप अगले सात सूत्रों में बताए गए हैं। इसके बाद 'प्रातिपदिक' से सम्बद्ध सारी परिभाषाएं ली गई हैं। फिर समास, कारक, आदि प्रकरण लिये गए हैं। तब धातुओं से सम्बद्ध अभ्यस्त आदि के कुछ प्रसंग लिए गए हैं।

सूत्रसंख्या ८० से पाणिनि की आरम्भिक संज्ञाओं का क्रम आरम्भ होता है। इनका क्रम भी सम्प्रसारण, गुण, वृद्धि, संयोग, उपधा, टि, आदि के क्रम से रखा गया है। इसमें भी विशेषता यह है 'वृद्धि' के प्रसंग में वह 'वृद्ध' की भी परिभाषा करते हैं। इसके अतिरिक्त 'आगम' जैसी संज्ञाओं को भी वे अपरिभाषित नहीं छोड़ते। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत की परिभाषाएं भी उनकी अधिक सार्थक हैं। स्वर के सभी रूपों की परिभाषा देने के बाद ही वे लघु और गुरु की परिभाषा करते हैं।

यहां भोज की संकलनात्मक और गणनात्मक प्रवृत्ति को देखना आवश्यक है। 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' (१.१.११९) के बाद वे विविध वर्गीकरणों के आधार पर आठ सूत्रों में समस्त निपातों और अव्ययों को गिना देते हैं। इससे इनके पृथक् वर्गीकरण और परिगणन की आवश्यकता नहीं रही। सर्वनाम के विषय में भी यही बात है। पांच सूत्रों में इन्हें गिनाया गया है। ये वास्तव में पांच वर्ग हैं। उपसर्ग आदि की भी यही स्थिति है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पाणिनि जहां मूल परिभाषा करके आगे बढ़ जाते हैं, वहां भोज परिभाषा की सभी स्थितियों और गणों आदि का परिगणन एकत्र करना अत्यधिक आवश्यक समझते हैं।

संक्षेप

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि चन्द्र और भोज के व्याकरण में, पाणिनि की अष्टाध्यायी की अपेक्षा, सर्वत्र ही संक्षेप है। विस्तार जहां-जहां भी आया है, वहां ऐसा भाष्यादि के वक्तव्य को ग्रहण करने अथवा अन्यान्य परिस्थितियों को एकत्र गिनवाने के कारण हुआ है। इसके अतिरिक्त संक्षेप का ह्रास वहाँ हुआ है, जहाँ भोज ने गणपाठ, धातुपाठ आदि को सूत्रों में ही पठित किया है। इस संक्षेप में वे निश्चय ही चान्द्र व्याकरण से प्रभावित रहे हैं।

प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद में उन्होंने वे परिभाषाएँ ली हैं, जिन्हें इसी रूप में चान्द्र में भी अपनाया गया है, या फिर उनमें से अनेक कातन्त्र में व्यवहृत हुई हैं। पाणिनि के 'दाधाघ्वदाप्' सूत्र के स्थान पर चन्द्र ने 'दोऽपः' सूत्र बनाया है। भोज भी इसे इसी रूप में लेते हैं। किन्तु चन्द्र यहाँ इसे 'संज्ञा' के रूप में नहीं मानते, जबकि भोज इसे संज्ञाप्रकरण का ही अंग मानकर चलते हैं।

प्रथम अध्याय के प्रथम दोनों पादों की तुलना करने पर यह भी कहा जा सकता है कि भोजराज प्रथम पाद में संज्ञाएँ और द्वितीय पाद में परिभाषाएँ ले रहे हैं। उनका यह विभाजन भी संक्षेप के आधार पर ही हुआ है, ताकि पुनरावृत्ति से बचा जा सके। किन्तु, दूसरी ओर, 'धातोः' जैसे किसी पाणिनीय अधिकारसूत्र के अधिकारक्षेत्र में न आने के कारण कई सूत्रों में 'धातु' शब्द की पुनरावृत्ति भी हुई है। उदाहरणार्थ, १.१.२०९ में 'धातोस्तिङ्शित्सार्वधातुकम्' कहकर वे पाणिनि के 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' को पूर्ण नहीं कर रहे, बल्कि 'शित्' से सम्भाव्य तद्धितादिजन्य भ्रम को निराकृत करने का प्रयास कर रहे हैं। पाणिनि की परम्परा की दृष्टि से यहाँ भी उनका कार्य 'धातोः' को बिना ग्रहण किए ही चल सकता है। 'तिङ्' के साहचर्य के अतिरिक्त पूर्वप्रकरण भी धातु से सम्बद्ध है। अतः पाणिनीय संक्षेप की दृष्टि से जो बात स्वयं प्रकरणादि से समझी जा सकती है, उसके लिए विशिष्ट शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। यहां इस दृष्टि से 'धातु' का पाठ अनीप्सित है। किन्तु भोज द्वारा उसका पाठ, उनके द्वारा संक्षेप के व्यामोह की अपेक्षा, स्पष्टता के रूप में, अपनाए गए उद्देश्य को अधिक स्पष्ट करता है।

संक्षेप की ही प्रवृत्ति का प्रमाण वह दीर्घता भी है, जो भोज ने उणादि, गणपाठ, आदि प्रसंगों की पृथक् सत्ता को मिटाकर, अपने व्याकरण के अन्दर ही समावेश के रूप में अपनाई है। द्वितीय अध्याय के प्रथम तीन पादों में ही उणादि का प्रकरण समाप्त हो गया है। किन्तु मुख्य व्याकरण-शरीर में इसको अपनाने के लिए उन्हें अन्यत्र भी इसका संकेत देना पड़ा है। भो० १.२.१७ आदि की रचना इसी आधार पर हुई है।

क्रम और नैरन्तय

हमने ऊपर कहा है कि भोज ने चान्द्र व्याकरण की तुलना में पाणिनीय क्रम को अक्षुण्ण रखने का प्रयास किया है। यह बात स्पष्ट करनी भी हमें उचित प्रतीत होती है। प्रथमाध्याय के **प्रथम पाद** में आधा पाणिनीय प्रथम पाद और अधिकांश पाणिनीय चतुर्थ पाद समवेत हैं। कारण यह है कि **प्रातिपदिक** के प्रसंग में **कारक** के प्रकरण को अन्तर्गृहीत करना अभीष्ट था। साथ ही, **'परिभाषाओं'** को **'संज्ञाओं'** से पृथक् करना भी अभीष्ट था। **द्वितीय पाद** में प्रथम पाद के शेष वक्तव्य को कुछ संलग्न प्रसंगों के साथ लिया गया है। पाणिनि के तृतीय अध्याय का प्रथम पाद भोज के व्याकरण में प्रथम अध्याय का **तृतीय पाद** बनकर आया है। इसी नैरन्तर्य में **चतुर्थ पाद** पाणिनि के तृतीयाध्याय के द्वितीय पाद का पुनर्गठित रूप है। **द्वितीय अध्याय** के प्रथम तीन पादों के विषय में कहा ही जा चुका है कि उनमें पाणिनि के उणादिसूत्र पुनर्गठित हैं। इनके क्रम में हेर-फेर अवश्य हुआ है, परन्तु मूलक्रम प्रथमपाद से यथावत् ही आरम्भ होता है।

इस सम्पूर्ण प्रकरण के, चान्द्र के अनुकरण पर, 'धातु' से सम्बद्ध होने के कारण कृत् और अन्य धातुप्रत्ययों की चर्चा भी एकसाथ करनी अभीष्ट थी। अतः द्वितीय अध्याय के **चतुर्थ पाद** में फिर से इसी क्रम को आगे बढ़ाया गया है। निश्चय ही उणादि को भोज ने धातुप्रत्ययों में, कृत् प्रत्ययों से भी पहले, स्थान दिया है। इसी पाद में पाणिनि के तृतीयाध्याय का तृतीय पाद एवं चतुर्थ पाद का आधा भाग समवेत हो जाता है।

'कण्ठाभरण' के **तृतीयाध्याय** का आरम्भ पाणिनि के तृतीयाध्याय के शेष सूत्रों से होता है। यह धातुसम्बद्ध प्रकरण है। इसके समाप्त होते ही, **परस्मैपद-आत्मनेपद-सम्बन्धी** शेष प्रकरण लेने के लिए फिर से भोज पाणिनि के प्रथमाध्याय के तीसरे पाद से चलना आरम्भ करते हैं। इसी प्रसंग में

पाणिनि के द्वितीयाध्याय का तृतीय पाद भी यहीं अनुकृत होता है। हम कह चुके हैं कि पाणिनीय प्रथमाध्याय के चतुर्थ पाद को भोज ने अपने प्रथमाध्याय के प्रथम पाद में ही अन्तर्हित कर लिया है। अतः पाणिनीय क्रम में भोज के तृतीय अध्याय के प्रथम पाद पर आकर पाणिनि के प्रथमाध्याय का पूरा प्रकरण समाप्त होता है, जिसमें अन्य बातों के अतिरिक्त संज्ञा, उणादि, धातु, उपग्रह, पुरुष और कृदन्त का समावेश भी हो जाता है, जिन्हें सामान्यतः धातु या आख्यात का सहवर्त्ती माना गया है।

पाणिनि के द्वितीय अध्याय का आरम्भ समास प्रकरण से होता है। भोज इसे तृतीयाध्याय के द्वितीय पाद से आरम्भ करते हैं। दो पादों में यही विषय आया है, जिसमें पाणिनि के दो पादों के अतिरिक्त प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद के कुछ अवशिष्ट सूत्र भी यथावसर प्रयुक्त होते हैं।

तृतीयाध्याय के चतुर्थ पाद से भोज पाणिनि के सुबन्त प्रकरण को आरम्भ करते हैं। इसमें सर्वप्रथम लिंगप्रकरण है। पाणिनि चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद के ७५वें सूत्र से तद्धित प्रकरण आरम्भ करते हैं, जबकि भोज इन्हें बिना 'तद्धित' नाम दिए ही उनमें स्त्र्यधिकार के प्रत्ययों को एक ही नैरन्तर्य में पढ़ते हैं। किन्तु तद्धितों का पृथक् प्रकरण वे अगले ही अध्याय से आरम्भ करते हैं। यहाँ से आगे, स्वरसम्बद्ध षष्ठाध्याय के अधिकांश प्रथम पाद और सम्पूर्ण द्वितीय पाद को छोड़कर, पादक्रमानुसार भोज अपने सप्तमाध्याय के द्वितीय पाद तक पाणिनीय सप्तमाध्याय तक के सम्पूर्ण प्रसंग को समाप्त कर देते हैं। बीच-बीच में पहले के शेष प्रसंग भी यथावसर आते गए हैं। सप्तमाध्याय के शेष दोनों पादों में वे पाणिनिक्रम से अष्टमाध्याय तक का सारा विषय पूर्ण कर देते हैं। उनका अष्टमाध्याय छान्दस और स्वर प्रकरण का है। उन्होंने इसी में स्वरसम्बद्ध फिट्-सूत्रों का भी समाहार कर लिया है।

इस प्रकार स्थूल रूप में कहा जा सकता है कि पाणिनि के क्रम को केवल आवश्यकता होने पर, वह भी सोद्देश्य रूप में ही, तोड़ा गया है। अन्यथा, उसके स्थूल विभाजन को स्वीकार किया गया है। इस विषय में चन्द्राचार्य्य की अपेक्षा भोज कुछ अधिक उदार रहे हैं।

अनूठा प्रयास

व्याकरण की तत्त्वात्मक और अन्य कई वैज्ञानिक कमियों को खोज निका-

लना दुष्कर नहीं है। उनके उत्तर भी ढूंढने उतने ही सरल हैं। यथा, भोज ने 'आत्मनेपद' के साथ 'आत्मनेभाष' संज्ञा का भी व्यवहार किया है। हम कह ही चुके हैं कि ऐसा भूल के कारण नहीं हुआ, प्रत्युत 'कातन्त्र' और 'अथर्व-प्रातिशाख्य' के प्रभाव के कारण हुआ है। इसी प्रकार की कई अन्य बातें हैं।

किन्तु, यहाँ हम इतना ही कहना चाहते हैं कि भोजराज ने जहाँ अपने से पूर्व के समस्त व्याकरण-विधान में से अच्छे से अच्छा चुनकर इस 'कण्ठा-भरण' के रूप में प्रस्तुत किया है, वहां उन्होंने धातुपाठ, गणपाठ, उणादि, फिट्, लिंग और परिभाषापाठों के अलग-अलग अस्तित्व को इस एक मे मिलाकर जो एकाकार कर दिया है, वह उनके प्रयत्न को अन्य महान् प्रयासों के रहते भी अनूठा बना देता है।

और, यहाँ पर वे अन्यों से विशिष्ट व्यक्तित्व के अधिकारी हो उठते हैं।

सारस्वत व्याकरण : सारस्वत प्रक्रिया

पीठिका : प्राच्य परम्परा

हम अनेकत्र पहले कह आए हैं कि पाणिनीय व्याकरण के समानान्तर अन्य जो प्रमुख व्याकरणधारा चल रही थी, उसमें 'ऐन्द्र' व्याकरण का नाम प्रधान रूप में लिया जा सकता है। इस 'ऐन्द्र' की ही प्रमुख अभिव्यक्ति 'कातन्त्र' के रूप में हुई थी, यह हम कह आए हैं। 'कातन्त्र' की मूल प्रवृत्ति किस 'वृहत् तन्त्र' से चली, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। किन्तु वह किसी पूर्व प्रवृत्ति का संक्षेप है, यह बात उसकी जन्मकथा, रचनापद्धति और प्रक्रियारूपिता से स्पष्ट है। इसी सम्बन्ध में हम 'ऐन्द्र' व्याकरण के, अथवा उस पर आधारित किसी अन्य परवर्त्ती व्याकरण के, 'कातन्त्र' व्याकरण का आधार होने की सम्भावना पर विचार कर आए हैं। ऐसा आधारभूत व्याकरण चाहे जो भी रहा हो, वह मूलतः प्रातिशाख्य-परम्परा का रहा होगा। यह बात भी हम पहले कह आए हैं।

वहीं हमें यह बात भी स्पष्ट करनी पड़ी कि 'प्रातिशाख्य' सम्भवतः प्राच्य परम्परा के रहे होंगे। यह सब इस आधार पर कहा गया कि तथा-कथित माहेश्वर सूत्रों और प्रत्याहारों की जो परम्परा आपिशल और पाणिनीय व्याकरण का मूलाधार है, और कदाचित् कुछ परिवर्तन के साथ 'काश-

कृत्स्न व्याकरण' में भी जिसका अनुकरण हुआ है, उसका संकेत उक्त व्याकरण-परम्परा में नहीं मिलता। इसके विपरीत ऐसी अनेक समानताएँ हैं—जिनमें वर्णसमाम्नाय, सन्धिप्रकरण और लोपादि की परम्पराएँ भी समवेत हैं, जो कातन्त्रादि को प्रातिशाख्य-परम्परा अथवा प्राच्य-परम्परा का अंग सिद्ध करती हैं।

सारस्वत : प्रवृत्ति

'सारस्वत व्याकरण' मूलतः इसी परम्परा का रहा है। उसके भी वर्ण-समाम्नाय, वर्णविभाग, सन्धिप्रकरण, आदि मूलतः इसी परम्परा के रहे हैं। किन्तु एक बात में उसकी पाणिनि से परवर्त्तिता स्पष्ट है। नहीं कह सकते कि यह बात मूल सारस्वत व्याकरण में थी या नहीं। पर आज क्योंकि यह व्याकरण केवल 'सारस्वतप्रक्रिया' के रूप में ही उपलब्ध है, अतः उसके आधार पर पाणिनि-प्रभाव की यह बात अधिकार के साथ कही जा सकती है। कारण यह है कि इसमें पाणिनीय प्रत्याहार-पद्धति का समावेश करने का प्रयास किया गया है। इसमें कुछ परिभाषाएँ पाणिनि के अनुकरण पर आई हैं। किन्तु दूसरी ओर, इसमें समान, नामिनः, आदि परिभाषाएँ एवं सन्धिनियम प्रातिशाख्यों के अनुकरण पर ही प्रयुक्त हुए हैं। यह मानना, कि पाणिनि से पहले ही यह सम्मिश्रण हो चुका था, उचित नहीं लगता। सम्भवतः 'कातन्त्र' में भी इस प्रकार के कुछ प्रभाव शर्व्ववर्म्मा द्वारा पाणिनि के उत्तरकाल में ही समाविष्ट किए गए। परन्तु वहाँ मूल प्रवृत्ति प्रत्याहार आदि के विरुद्ध ही रही। परिभाषाएँ भी वहाँ भिन्न ही अपनाई गईं। पर 'सारस्वत' में पाणिनीय पद्धति का प्रभाव स्पष्ट है।

अतः यह स्पष्ट है कि 'सारस्वत व्याकरण' न तो शुद्ध रूप से पाणिनीय परम्परा का है और न शुद्ध ऐन्द्र परम्परा का। इसे दोनों का मध्यवर्त्ती कहा जा सकता है, यद्यपि इसका मुख्याधार ऐन्द्र पर ही रहा दीखता है। पर पाणिनि से इसकी परवर्त्तिता के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रहना चाहिए।

लेखक और मूल स्वरूप

वर्त्तमान समय में इस व्याकरण का प्रचलन जिस रूप में है, उसे 'सारस्वतप्रक्रिया' नाम प्राप्त है। इस प्रक्रिया के कर्त्ता अनुभूतिस्वरूपाचार्य नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। उनका यह ग्रन्थ वर्त्तमान में जिस रूप में उपलब्ध

होता है, उसमें वृत्ति और कारिकादि का समावेश मूल व्याकरण के अन्तर्गत, सूत्रों के साथ ही, दिखाई देता है। परन्तु 'प्रक्रियाग्रन्थ' होने के कारण स्वरूपतः यह विशिष्ट प्रकरणों में बँटा हुआ है। अतः विवेच्य प्रश्न यह उठता है कि इसका मूल स्वरूप ऐसा ही था या भिन्न? इसी प्रश्न के साथ इसके मूल रूप के लेखक का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है।

परीक्षा

इस सम्बन्ध में हम 'प्रक्रिया' के पाँचवें सूत्र को लेना चाहेंगे। सूत्र है : **'आद्यन्ताभ्याम्'**। इसमें प्रत्याहारों के निर्माण का नियम बताया गया है। किन्तु इससे पहले के सूत्रों में स्वरों के प्रत्येक रूप को गिना दिया गया है, जब कि **'व्यंजन'** की परिभाषा और **'इत्संज्ञा'** का विधान परवर्ती सूत्रों में किया गया है। इनके बाद जाकर कहीं गुण और वृद्धि की परिभाषा आती है। स्पष्ट है कि पांचवें और सातवें सूत्रों का सम्बन्ध प्रत्याहारों से होने के कारण उनका स्थान या तो व्यंजन-सूत्रों के बाद होना चाहिए, या फिर माहेश्वर सूत्रों के जिस प्रतिसंस्कृत रूप को मूल वैयाकरण ने अपनाया है उसके बाद होना चाहिए। यह बात मूल व्याकरण की भिन्नता को जताती है।

इससे भी बड़ा प्रमाण यह है कि स्वरसन्धि के प्रकरण में दूसरे और चौथे सूत्र का स्थान मूल व्याकरण से स्पष्ट पलटा हुआ है। **'राद्यपो द्विः'** (स्वर—४) पहले होना चाहिए और **'हसेऽर्हं हसः'** (स्वर—२) बाद में, यह बात **'द्विः'** की दूसरे सूत्र में होने वाली अनुवृत्ति से स्पष्ट है। पाणिनि का **'अचो रहाभ्यां द्वे'** (८.४.४६) आदि का प्रकरण इसका साक्षी है।

लिंगप्रकरण के **'अजन्त पुंल्लिङ्ग'** के पांचवें सूत्र **'अम्शसोरस्य'** में अ के लोप का विधान है, पर इसमें लोप की अनुवृत्ति कहीं से भी नहीं आई है। ऐसे उदाहरण प्रत्येक प्रकरण में अनेकशः ढूंढे जा सकते हैं। स्पष्ट है कि अनुभूतिस्वरूपाचार्य किसी मूल व्याकरण-ग्रन्थ को सामने रखकर ही इस प्रक्रियाग्रन्थ की रचना में प्रवृत्त हुए थे। उनकी प्रतिज्ञा **'सारस्वतीमृजुं कुर्वे प्रक्रियां नातिविस्तराम्'** भी इसी का संकेत देती है। यद्यपि दूसरे मंगलश्लोक में तथा प्रथम प्रकरण के उपोद्घातवाक्य—**'अत्र तावत् संज्ञा संव्यवहाराय संगृह्यते'**—में यह संकेत भी पाया जाता है कि वे यह संक्षेप किसी एक व्याकरण से न करके सभी प्राप्य व्याकरणों को सामने रखकर सरल और संक्षिप्त रूप में कर रहे हैं।

यही कारण है कि उनका मूल स्रोत भले ही 'सारस्वत व्याकरण' रहा हो या 'अनेक व्याकरण', उन्होने सूत्र-रचना या सूत्र-विन्यास इस प्रकार से किया है जिससे उनके प्रक्रियाग्रन्थ की पराश्रितता सिद्ध होती है; फिर भले ही इसका मूलरूप उन्होंने स्वयं ही बनाया हो। अतः वे 'सारस्वत-प्रक्रिया' के निर्माता या नियोजक अवश्य हैं, किन्तु उनका मूलस्रोत इस प्रक्रियाग्रन्थ से अवश्य भिन्न है।

मूल लेखक

इस सम्बन्ध में हमें अधिक सूचना क्षेमेन्द्र द्वारा इसी व्याकरण पर रचित 'क्षेमेन्द्र टिप्पण' से और 'प्रक्रियाकौमुदी' के टीकाकार विट्ठल से मिलती है। वे 'सारस्वत व्याकरण' के मूल लेखक का नाम 'नरेन्द्र' या 'नरेन्द्राचार्य' बताते हैं, जिसे अभयंकर ने विख्यात नरेन्द्रसूरि से अभिन्न माना है।

कुछ भी हो अनुभूतिस्वरूपाचार्य का समय १३-१४वीं शती के मध्य माना जाता है। नरेन्द्र का समय कब रहा होगा, यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता। फिर भी, 'कातन्त्र' के बहुत बाद ही इसकी रचना हुई है। 'चान्द्र' से भी यह पर्याप्त परवर्त्ती है। यह बात इसके पाणिनि के अनुकारी 'वर्णसमाम्नाय' और परिष्कृत 'प्रत्याहार पद्धति' से स्पष्ट है। मीमांसक जी इसे दसवीं शती के आसपास रखते हैं। हमारी दृष्टि में यह उससे कुछ पहले का भी माना जाए तो विशेष अन्तर न आएगा।

संक्षिप्त परिचय

कहा जाचुका है कि यह एक प्रक्रियाग्रन्थ है। सम्भवतः कातन्त्र के बाद यही सर्वप्रथम प्रक्रियाग्रन्थ रहा होगा। इसमें 'कातन्त्र' का ही क्रम प्रायः अपनाया गया है। इसके पूर्वार्ध में संज्ञा, संधि, षड्लिंग, अव्यय के प्रकरणों तक तो वही क्रम है, जो बाद में प्रायः सभी प्रक्रियाग्रन्थों में अपनाया गया। किन्तु इसके बाद इसका क्रम कुछ भिन्न है। स्त्रीप्रत्यय, कारक, समास और तद्धितादि के क्रम से इनके बाद के प्रकरण आते हैं। फिर भी यह कहा जासकता है कि परवर्त्ती प्रक्रियाग्रन्थों के पाणिनीय व्याकरण में भी प्रचलन और प्रसार का मूल आधार कातन्त्र और सारस्वत जैसे प्रक्रियात्मक व्याकरणों में ही खोजा जासकता है।

पर 'सारस्वत व्याकरण' मूलतः पाणिनीय परम्परा से भिन्न प्रकृति

का था, यह बात एक अन्य बहुत छोटे प्रमाण से भी सिद्ध होजाती है। 'प्रगृह्य' प्रकरण मूलतः सन्धि का विषय होते हुए भी पाणिनीय प्रक्रियाग्रन्थों में 'स्वरसन्धि' का अंग बनकर नहीं आया है। किन्तु दूसरी ओर प्रातिशाख्यों के समय से ही सन्धि-प्रकरण में इस विषय को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता रहा है। अतः इस 'प्रगृह्य-विषय' को 'कातन्त्र' और 'सारस्वत' में 'सन्धि-प्रकरण' के अन्तर्गत प्रमुखता पाते देखकर, स्वभावतः इनकी मूल परम्परा पाणिनि-भिन्न और पूर्ववर्त्ती माननी पड़ती है। यह उचित भी है।

टीकाग्रन्थ

मीमांसक जी ने इसके अठारह टीकाकारों के नाम गिनाए हैं। इनमें से क्षेमेन्द्र और धनेश्वर को उन्होंने अनुभूतिस्वरूपाचार्य से भी पहले रखा है। यहां यह शंका उत्पन्न होनी स्वाभाविक है कि यदि यह सत्य है, तब उस मूल व्याकरण का स्वरूप भी उपलभ्य माना जाना चाहिए। मीमांसक जी ने 'क्षेमेन्द्र टिप्पण' के सम्बन्ध में अधिक परिचय नहीं दिया है, किन्तु साथ ही उसे भी 'सारस्वत प्रक्रिया' के रूप में ही स्वीकार किया है। यह अभी अवलोकनीय है कि क्षेमेन्द्र और अनुभूतिस्वरूपाचार्य की प्रक्रिया में मूलभूत अन्तर क्या है। पर इस विवेचन से यह तो स्पष्ट ही है कि क्षेमेन्द्र का 'टिप्पण' भी मूलानुकारी नहीं है। प्रक्रियाग्रन्थ होने से वह भी किसी 'मूलानुवर्त्तिनी प्रक्रिया' का 'टिप्पण' मात्र ही है। सम्भव है 'क्षेमेन्द्रटिप्पण' का लेखक क्षेमेन्द्र कोई परवर्त्ती वैयाकरण रहा हो। परवर्त्ती सभी टीकाएं अनुभूतिस्वरूपाचार्य के प्रक्रियाग्रन्थ की टीकामात्र ही हैं। इनमें भी रामचन्द्राश्रम की 'सिद्धान्त-चन्द्रिका' अन्ततः बहुमानित और प्रचलित हुई। इसपर भी अन्य अनेक टिप्पणियां लिखी गईं।

हैम व्याकरण . सिद्धहेमशब्दानुशासन

पीठिका

जैन विद्वानों द्वारा रचित व्याकरणों में आचार्य हेमचन्द्र सूरि कृत व्याकरण का स्थान सर्वोपरि है। आचार्य हेमचन्द्र को जैन परम्परा में प्रायः 'कलिकालसर्वज्ञ' कहा गया है। वास्तव में धर्मदर्शनादि के अनेक क्षेत्रों में उन्होंने साधिकार प्रामाणिक रचनाएं रच कर ही अपने लिए ऐसी उपाधि पाई।

किन्तु पाणिनि के उत्तरकालीन व्याकरणों में निश्चय ही उनके व्याकरण का स्थान, कम से कम पश्चिमीय भारत में, अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। जैन सम्प्रदाय और विद्वद्वर्ग में तो इसका आत्यन्तिक महत्त्व स्वीकृत है ही।

परिचय : जीवन और काल

हेमचन्द्र सूरि के पिता का नाम चाचिग या 'चाच' था। माता का नाम पाहिनी था। ये मोढ-वणिक् जाति के थे। इनका जन्म अहमदाबाद जिले के धंधुका नामक स्थान पर १०८९ ई० में हुआ। इनका गृहनाम 'चंगदेव' था। इनकी दीक्षा नौ वर्ष की आयु में ही हो गई। ये अत्यन्त प्रतिभासम्पन्न थे। दीक्षागुरु श्री देवचन्द्र सूरि ने प्रथम मुलाकात में ही इन्हें इनकी माता से माँग लिया। खम्भात में उन्होंने इन्हें दीक्षा दी। इनकी माता पहले से ही जैनधर्म की अनुयायिनी थीं, यद्यपि पिता वैदिकमतानुयायी थे। दीक्षा के समय इनका नाम मुनि श्री सोमचन्द्र रखा गया। किन्तु बारह वर्ष के विद्याध्ययन के उपरान्त ११०९ ई० में इन्हें 'आचार्य' पद की उपलब्धि हुई। इस समय इन्होंने 'हेमचन्द्र सूरि' नाम धारण किया।

चौरासी वर्ष की आयु पूरी कर सन् ११७३ ई० में इन्होंने स्वर्गारोहण किया।

राज्याश्रय

जीवन में इन्हें दो राजाओं का राज्याश्रय प्राप्त हुआ। पहले थे सिद्धराज जयसिंह, जिनका शासनकाल १०९४ से ११४२ ई० तक माना जाता है। इतिहासप्रसिद्ध इन्हीं सिद्धराज के पुत्र कुमारपाल हुए, जिनकी शिक्षा-दीक्षा में हेमचन्द्र सूरि का पूरा-पूरा हाथ था। इनका शासनकाल ११४२ ई० से ११७४ ई० तक माना गया है। ११७३ ई० में श्री सूरि हेमचन्द्र का स्वर्गारोहण हुआ, और अगले ही वर्ष श्री भूपाल कुमारपाल स्वर्गस्थ हुए। जन्मना कुमारपाल हेमचन्द्र से चार वर्ष छोटे थे। इन्हीं के चरित का आश्रय लेकर हेमचन्द्र ने 'कुमारपालचरित' या 'द्वयाश्रयकाव्य' की रचना की थी। वैसे इनके ग्रंथ व्याकरण, न्याय, छन्द, काव्य और धर्म आदि प्रायः सभी विषयों पर मिलते हैं।

रचनाएं

व्याकरण की दृष्टि से इनकी सर्वप्रसिद्ध रचना 'हैम शब्दानुशासन' है।

इसे ही 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' के नाम से भी कहा जाता है। इसकी व्याख्या और अंगों के रूप में उन्होंने छह अन्य ग्रन्थ लिखे : (१)'हैम शब्दानुशासन' की स्वोपज्ञा लघु वृत्ति, (२) उसी की स्वोपज्ञा वृहत् वृत्ति, (३) उस पर ही वृहत् न्यास, (४) धातुपाठ और उसकी धातुपारायण व्याख्या, (५) सवृत्ति उणादि-सूत्र एवं (६) लिंगानुशासन और उसकी वृत्ति !

इनमें से 'हैम शब्दानुशासन' की रचना ११३६-११३७ ई० में हुई मानी जाती है। इसकी 'लघु वृत्ति' का परिमाण लगभग छह हजार श्लोक माना गया है, जब कि 'वृहद् वृत्ति' का परिमाण २१ हजार २ सौ श्लोक कहा गया है। 'वृहत् न्यास' के केवल सात पाद ही उपलब्ध हैं, यद्यपि उसका पूरा परिमाण चौरासी (८४) हज़ार श्लोक का माना गया है।

स्वरूप और महत्त्व

उक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट ही है कि आचार्य हेमचन्द्र ने पंचांग व्याकरण की रचना की थी। इतना ही नहीं; उनके व्याकरण की यह भी विशेषता है कि इसके प्रथम सात अध्यायों में जहां वे संस्कृत के सांगोपांग व्याकरण को आबद्ध करते हैं, वहां आठवें अध्याय में उन्होंने सभी प्राकृतों और अपभ्रंश के व्याकरण को भी आबद्ध किया है। इसप्रकार उनका व्याकरण जैन और बौद्ध साहित्य के प्राकृत और अपभ्रंश में रचित अंश की दृष्टि से भी उपयोगी हो उठता है। संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित होने के साथ-साथ उन्होंने प्राकृत और अपभ्रंश का भी पूरा विश्लेषण किया था। और वह भी सरलतम रूप में ! अतः पाणिनि के परवर्त्ती वैयाकरणों में उनके व्याकरण का अपना महत्त्व है।

विशेषताएं

उनके व्याकरण का अन्य महत्त्व इस बात में है कि वह सतर्कता के साथ आरम्भ से ही प्रक्रिया-शैली पर लिखा गया है। इसी कारण उसमें अन्य 'प्रक्रियाग्रन्थों' की सी अपूर्णता नहीं है। परिणाम यह कि पूर्ववर्त्ती सूत्रों के लिए परवर्त्ती सूत्रों पर आश्रित नहीं रहना पड़ता ! हम पहले कह चुके हैं कि इस दृष्टि से 'कातन्त्र' में भी अपूर्णता है। इसी कारण हमें उसके मूल व्याकरण की किसी भिन्न रूप में रहे होने की संभावना स्वीकार करनी पड़ी है। 'सारस्वत व्याकरण' का प्रक्रिया रूप तो नितान्त अपूर्ण है ही !

क्रम

इसमें जिस क्रम से विषयों को लिया गया है, उस पर एक दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा। यह क्रम है : संज्ञा, स्वरसन्धि, व्यंजनसन्धि, नाम, कारक, षत्व-णत्व-प्रकरण, स्त्रीप्रत्यय, समास, आख्यात, कृदन्त और तद्धित-प्रकरण ! यह क्रम बाद के प्रक्रिया-ग्रंथों में किंचित् भिन्न क्रम से अनुकृत हुआ है। उदाहरणार्थ, 'सिद्धान्तकौमुदी' में इस क्रम से विशेष अन्तर यह है कि 'नामप्रकरण' के बाद वहां 'कारक' के स्थान पर 'स्त्रीप्रत्यय' आया है, तथा 'तद्धित' को वहां 'तिङन्त' से पहले और 'समास' के बाद स्थान मिला है। इस क्रम-वैविध्य के सम्बन्ध में हम पहले प्रक्रिया-ग्रन्थों के प्रसंग में भी चर्चा कर आए हैं; विशेषकर 'प्रक्रियाकौमुदी' और 'सिद्धान्तकौमुदी' के तुलना-प्रसंग में। 'हैम व्याकरण' उनसे पर्याप्त पहले की रचना है।

प्रभाव और परिचय

'हैम व्याकरण' और उसकी 'हैम वृत्तियों' में जिन अन्य आचार्यों के नाम उल्लिखित हुए हैं, वे हैं : आपिशलि, शाकटायन, गार्ग्य, वेदमित्र, शाकल्य, इन्द्र, यास्क, शेष भट्टारक, पाणिनि, पतंजलि, वार्त्तिककार, देवनन्दी, जयादित्य, वामन, विश्रान्तिविद्याधरकार वामन, मल्लवादि सूरि, जैन शाकटायन, दुर्गसिंह, श्रुतपाल, भर्तृहरि, क्षीरस्वामी, भोज, नारायणकण्ठी, सारसंग्रहकार, द्रमिल, शिक्षाकार, उत्पल, उपाध्याय, क्षीरस्वामी, जयन्तीकार, न्यासकार और पारायणकार !

इसमें सन्देह नहीं कि हेमचन्द्र ने प्रतिसंस्कार और पूर्णता की दृष्टि से अपने व्याकरण का मूल आधार पाणिनि के व्याकरण को ही बनाया है। इस पर भी उन्होंने अन्यत्र से बहुत कुछ प्रभाव ग्रहण किया है। उदाहरणार्थ, संज्ञाओं में संक्षेप की दृष्टि से उन्होंने आचार्य देवनन्दी के 'जैनेन्द्र व्याकरण' का अनुकरण किया है। क्रम की दृष्टि से उन्होंने 'कातन्त्र' से प्रेरणा ली है। थोड़े-बहुत हेर-फेर से विशेष अन्तर नहीं पड़ता। महाभाष्य में उठाई गई शंकाओं और उनके समाधानों का भी उन्होंने ध्यान रखा है। 'चान्द्र व्याकरण' इस दिशा में उनका दिशा-निर्देश करता रहा है।

किन्तु इन सबके साथ ही उन पर जैन शाकटायन पाल्यकीर्त्ति का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है।[1] जैन शाकटायन व्याकरण, जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रधानतः पाणिनि का ही अनुवर्त्ती है। किन्तु पाल्यकीर्त्ति ने भी पाणिनि के

व्याकरण में सुधार करने का बीड़ा, चान्द्र व्याकरण की ही भांति उठाया था। परन्तु, प्रत्याहारों के निराकरण की बात उसने न सोची थी। संज्ञाओं को भी उस रूप में निराकृत उसने न किया था। इस विषय में चान्द्र का मत प्रथमतः दर्शाया ही जा चुका है। श्री चन्द्रसागर सूरि ने इस शाकटायन व्याकरण के बीस सूत्रों का उल्लेख करके कहा है कि ये बीसों सूत्र हैम व्याकरण के प्रथम-तम पाद में ही अक्षरशः उल्लिखित हैं। इतना ही नहीं; उन्होंने तीन सूत्रों की शाकटायनकृत 'अमोघा वृत्ति' और हैमकृत 'तत्त्वप्रकाशिकावृत्ति' की तुलना करके भी सिद्ध किया है कि हेमचन्द्र किस मात्रा में 'अमोघा' से प्रभावित रहे हैं। अन्य अनेक सूत्र उन्होंने ऐसे भी उद्धृत किये हैं, जिनमें मात्रादि के हेर-फेर के अतिरिक्त भावनात्मक परिवर्त्तन रत्तीभर भी नहीं है। दोनों सम्पूर्ण व्याकरणों का मिलान करने पर ऐसे उभयात्मक सूत्रों की संख्या सैंकड़ों तक पहुंच जाएगी!

पर इस पर भी यह सत्य है कि अन्ततः हेमचन्द्र का उद्देश्य महाभाष्य की भावना का अनुवर्त्तन रहा है। और इसमें वे पर्याप्त दूर तक सफल रहे हैं।

उणादिगण

हेम ने भी भोज की भांति 'उणादि सूत्रों' को 'कृदन्त' के साथ ही पढ़ा है, यद्यपि वे दोनों के पृथक् अस्तित्व को भी स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। है० ५.२.९३ में 'उणादयः' से आरम्भ करके वे १००६ सूत्रों में इस प्रकरण को समाप्त करते हैं। कह नहीं सकते कि यह प्रभाव भोज के 'सरस्वतीकण्ठा-भरण' के कारण है, या किसी अन्य कारण! फिर भी, इस विषय में दोनों में अद्भुत साम्य है। अन्ततः हेमचन्द्र सूरि ने भी भोज की भाँति 'उणादि' को 'कृदन्त' का भाग ही माना है।

अष्टम अध्याय

हम कह आए हैं कि संस्कृत का व्याकरण आचार्य हेमचन्द्र ने प्रथम सात अध्यायों में ही समाप्त कर दिया है। उनका अष्टमाध्याय प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के व्याकरण पर आधारित है। इसप्रकार 'अपभ्रंश' को भी व्या-करणबद्ध करने का प्रयास उन्होंने प्रथम बार किया। लक्ष्मीधर की 'षड्भाषा-चन्द्रिका' इसी अष्टमाध्याय के अनुकरण पर रची गई दीखती है।

इस अध्यीय में 'प्राकृत' पर ९३० सूत्र प्रथम तीन पादों में वर्णित हैं।

इनमें 'प्राकृत' के सामान्य स्वरूप पर बल दिया गया है। उसकी इस विस्तृत चर्चा के बाद चौथे पाद में तथाकथित शेष पांच भाषाओं को लिया गया है। ये पांच भाषाएं हैं : शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची, और अपभ्रंश ! अपभ्रंश का वर्णन कुल १२० सूत्रों में किया गया है। इसपर भी इस विषय में आचार्य हेमचन्द्र को पूरा-पूरा श्रेय दिया ही जाना चाहिए।

इस प्रकार उनका व्याकरण कुल सात भाषाओं का व्याकरण बन जाता है। यह उनके पाण्डित्य का ही संकेतक है।

द्व्याश्रय महाकाव्य

इसे ही 'कुमारपालचरित' नाम के रूप में ख्याति प्राप्त है। संस्कृत और प्राकृत में लिखे जाने के कारण यह 'द्व्याश्रय महाकाव्य' कहा गया है। वास्तव में इसे दूसरे रूप में भी 'द्व्याश्रय' कहा जासकता है। वह यह कि इसमें एक ओर जहां अपने आश्रयदाता राजा जयसिंहसूनु कुमारपाल का चरित वर्णन किया गया है, वहां दूसरी ओर इसमें 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' के आठों अध्यायों को भी यथाक्रम प्रायोगिक रूप में अनुकृत किया गया है। इस प्रकार न केवल संस्कृत और प्राकृत में ही यह लिखा गया है, बल्कि इसमें हेम के स्वरचित व्याकरण का भी निदर्शनार्थ पूर्ण अनुकरण हुआ है। इस प्रकार यह ग्रन्थ 'चरितमहाकाव्य' और 'व्याकरणकाव्य' के रूप में भी द्व्याश्रय बन जाता है। इसका आठवां खंड केवल प्राकृत में है, और उसमें कुमारपाल का निजी चरित ही वर्णित है। इससे पहले पट्टन और अनयकुमारों की चर्चा हो चुकी है। पहले सात भाग उसे ही लेकर संस्कृत में लिखे गए हैं।

अतः व्याकरण की दृष्टि से भी इस महाकाव्य की अपनी विशेषता है।

उपसंहार

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हेमचन्द्राचार्य्य न केवल महावैयाकरण और काव्यकार के ही रूप में यशस्वी बने, बल्कि उन्होंने संस्कृत और प्राकृत के साथ-साथ 'अपभ्रंश' को भी एक ही 'बृहत् परिवार' का अंग माना, और इसप्रकार चिंतन की एक नई धारा को जन्म दिया। और यह उस विचार-धारा के अनुकूल भी था, जिसके आधार पर हेमचन्द्र बढ़ रहे थे। जैन वैयाकरणों और विद्वानों को यह श्रेय मिलना ही चाहिए कि उन्होंने 'लोक और विद्वत्ता' के बीच एक पुल बनाने का प्रयत्न सदा ही किया। आचार्य्य हेम का व्याकरण भी इसी तथ्य का साक्षी है।

हैमप्रकाश महाव्याकरण : परिचय

उक्त 'हैम शब्दानुशासन' यद्यपि मूलतः प्रक्रिया-ग्रंथ है, तब भी उसको फिर से एक शुद्ध 'प्रक्रियाग्रन्थ' के रूप में परिणत करने का प्रयास किया गया। इस प्रक्रियाग्रन्थ के रचनाकार हैं श्री उपाध्याय विनयविजयगणी। उन्होंने अपने ग्रन्थ को हैमप्रकाश महाव्याकरण नाम दिया है। उनका रचनाकाल १७वीं शती ईस्वी बैठता है।

रचना और शैली

पाणिनीय परम्परा के 'प्रक्रियाग्रन्थों' की भांति इस 'प्रक्रियाग्रन्थ' में भी हेमचन्द्र के सूत्रों के क्रम को उलट-पलट दिया गया है। कुछ जगह तो इसका कारण भी समझ में नहीं आता। उदाहरणार्थ, सर्वप्रथम मंगलाचरण के नाम पर 'अर्हम्' और 'सिद्धः स्याद्वादात्' सूत्र तो अपना लिए गए हैं, किन्तु तीसरा सूत्र 'लोकात्' वहां से हटाकर 'संज्ञाधिकार' की समाप्ति पर डाल दिया गया है। सत्य तो यह है कि द्वितीय और तृतीय सूत्र अविच्छेद्य रूप से एक ही प्रयोजन वाले हैं। वहां शब्दादि की नित्यता के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त बताए गए हैं। पर विजयगणी ने प्रथम सिद्धान्त को यहां लिया है, जबकि द्वितीय सिद्धान्त का संबन्ध उन्होंने 'न्यायप्रयोग' के 'लोकप्रामाण्य' की उपयोगिता बताने से कर दिया है। लगता है कि वे लेखक की भावना का अनुकरण न कर अपनी ही ओर से एक नई भावना सूत्रों में खोजना चाहते हैं। इतना स्वातन्त्र्य तो पाणिनीय प्रक्रियाकारों में से भी किसी ने नहीं लिया।

विशेषता

पर इतने मात्र से ही हमें इसको दोषपूर्ण मानने की शीघ्रता भी नहीं करनी चाहिए। इसकी अपनी कुछ विशेषताएं इसे पाणिनि-परम्परा के प्रक्रिया-ग्रन्थों से भी अधिक विशिष्ट सिद्ध करती हैं। इसमें प्रथम बार हैम व्याकरण के समस्त न्यायों और परिभाषाओं को संज्ञा-प्रकरण के तुरन्त बाद एकत्र करके पढ़ दिया गया है। इससे पाठक को पर्याप्त सुविधा रहती है।

इसी प्रकार के कई अन्य अन्तर विद्यमान हैं। एक अन्य उदाहरण यह लिया जा सकता है कि सन्धिप्रकरण की समाप्ति होते ही विभक्ति-प्रकरण को लिया गया है। अन्य प्रक्रिया-ग्रन्थों की भांति अव्यय-प्रकरण की चर्चा यहां अभीष्ट नहीं रही है। विभक्ति का प्रकरण 'प्रातिपदिक' के स्थानीय 'नाम' से आरम्भ होता है। पाणिनीय प्रक्रियाग्रन्थों की पद्धति से भिन्न पथ अपनाकर

यहां कई सूत्रों को अनावश्यक समझ कर छोड़ दिया गया है। उन्हें पहले या पीछे ले लिया गया है।

अन्तर

दूसरे शब्दों में, मूल हैम व्याकरण 'प्रकरणों' पर आधारित होकर भी 'प्रक्रिया' पर आधारित नहीं था। उसे एक निश्चित क्रम में चलना था। अन्यथा सूत्र-रचना में दोहरा श्रम पड़ता। किन्तु इस प्रक्रियाग्रन्थ में उस एक-सूत्रता या एकतानता की आवश्यकता अनिवार्य नहीं थी। यहां केवल विशिष्ट प्रक्रिया पर ही दृष्टि होने से मूल व्याकरण के सूत्रों में व्यत्यय करना अनिवार्य हो गया। अर्थात् 'पाणिनीय व्याकरण' की भांति 'हैम व्याकरण' भी एक नियमित नियम विधान में लगा हुआ था। उसका विषय शब्द-रचना नहीं था। किन्तु इस 'हैमप्रक्रिया' का सम्बन्ध केवल शब्दरूपों की सिद्धि से ही है। इसीलिए यहां नियम-विधान की वैज्ञानिकता और क्रमवत्ता की बात को प्रधानता नहीं दी गई।

इस दृष्टि से इस प्रक्रिया-ग्रन्थ का अपना ही महत्त्व है। एक अन्य बात इसको अन्य प्रक्रिया-ग्रन्थों से भिन्न सिद्ध करती है, वह यह कि इसमें पाणिनीय अथवा अन्य किन्हीं सूत्रों से तुलना न करके स्वय हैम-सूत्रों के द्वारा ही प्रयोजन को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। अपना वक्तव्य बहुत सीमित शब्दों में ही जोड़ा गया है।

निश्चय ही इसने 'हैम व्याकरण' के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

संस्कृत व्याकरण : शेष अंग

दो शब्द

अब तक हमने यद्यपि संस्कृत व्याकरण के सर्वांगीण विकास का पर्यालोचन किया है, फिर भले ही वह संक्षिप्ततम हो ! इसपर भी यह सत्य है कि अब तक का विवेचन मूलतः 'शब्दानुशासन' या 'सूत्रात्मक व्याकरण' से ही सम्बद्ध रहा है। संस्कृत व्याकरण की पंचांगपूर्णता की बात हम पहले अनेकत्र स्पष्ट कर आए हैं। पाणिनि से बहुत पूर्व ही उणादि, धातुपाठ और प्रातिपदिकपाठ (या नामपारायण) और लिंगानुशासन आदि का अस्तित्व चला आ रहा था। इस बात के संकेत हमने शाकटायन, आपिशलि, काशकृत्स्न और व्याडि आदि पर विमर्श के प्रसंग में दिए हैं।

संस्कृत व्याकरण के विकास के अध्येता की दृष्टि से यह समुचित ही होगा कि हम इन सम्बद्ध पाठों के विकास का संक्षिप्ततम अवलोकन पृथक् से कर लें। इससे हमारे अध्ययन को पूर्णता पाने में सहायता मिलेगी।

(क) धातुपाठ

पीठिका

शाकटायन और उणादि सूत्रों की चर्चा के प्रसंग में यह तो हम कह ही चुके हैं कि शाकटायन का 'नामान्याख्यातजानि' वाला मत व्याकरण के विकास की दृष्टि से सर्वाधिक क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ। 'वेद', 'ब्राह्मण' और 'प्रातिशाख्यों' के साक्ष्य के आधार पर यह तो कहा ही जा सकता है कि 'आख्यात' और 'धातु' के अस्तित्व को बहुत पहले ही स्वीकार कर लिया गया था। किन्तु 'धातु सभी सार्थक शब्दराशि का मूल है'—इस मत की उपस्थापना स्वतः क्रान्तिकारी सिद्ध हुई।' इससे कम से कम एक सार्वभौम सिद्धान्त की स्थापना हुई कि 'किसी भी अर्थवान् शब्द के मूल में कोई न कोई 'मूलार्थ' या 'अर्थमूल' अवश्य विद्यमान रहता है'। 'निरुक्त' का भावी विकास तो समग्रतः इसी धारणा पर आधारित रहा।

प्रभाव

इस मत का त्रिविध प्रभाव हुआ : प्रथम-निरुक्ति-प्रक्रिया के विकास की

एक सुनिश्चित दिशा मिली; द्वितीय—सविभाग व्याकरण के विकास के साथ-साथ उसकी प्रत्यक्ष पकड़ से बचने वाली शब्दराशि के लिए 'उणादि-कल्पना' को समृद्धि मिली; और तृतीय—धातु की खोज का एक सर्वव्यापी चरम प्रयास आरम्भ हुआ। इनमें से प्रस्तुत प्रसंग में हमें तृतीय प्रभाव से ही प्रयोजन है।

धातु और मूलार्थ

निरुक्तों ने 'धातु' की खोज के कार्य को अत्यधिक समृद्धि दी—इस बात को समझने के साथ ही यह समझ लेना भी अत्यावश्यक है कि यह सब शब्द के प्रचलित अर्थ के मूल को खोजने के प्रयास में ही हुआ। अतः भिन्न-भिन्न शब्दों के अर्थमूल या 'धातु' खोजते हुए, उन्हें विविध मूलार्थों से सम्बद्ध करने के भी प्रयास आरम्भ हुए। वास्तव में 'धातु' और 'मूलार्थ' की खोज का प्रश्न अविभक्त रहकर ही बढ़ सकता था।

'धातुपाठ' के स्वरूप, उद्भव और विकास के पीछे स्थित इस पृष्ठभूमि को समझ लेना बहुत आवश्यक है।

एक विवाद

यह सब इसलिए कहना पड़ा कि परवर्त्ती धातुपाठ-प्रक्रिया के सम्बन्ध में एक विवाद चल पड़ा था कि 'धातुपाठ' से अभिप्राय धातुओं के पाठमात्र से ही है या उनके अर्थसहित पाठ से! पाणिनीय धातुपाठ भी इस विवाद की लपेट में आने से बच न सका।

किन्तु ऊपर कही बातों पर ध्यान देने से यह स्वतः स्पष्ट हो जाएगा कि प्राचीन भारतीय वैयाकरणों ने जब 'धातु' को अलग पहचानना आरम्भ किया था, तब वह किसी 'रूपात्मक इकाई' को निश्चित करना नहीं चाह रहे थे। उनके प्रयास के मूल में थी 'अर्थमूल' खोजने की भावना। इसलिए कहा जा सकता है कि 'धातु' को पहचानने का उनका प्रयास 'अर्थ-विनिश्चय' के बिना निरर्थक या निरुद्देश्य ही रहता।

अतः ऐसी कल्पना भी व्यर्थ है कि किसी भी आचार्य ने 'धातुपाठ' को अर्थरहित रूप में संकलित किया होगा।

पाणिनि का धातुपाठ

हम इस अध्याय के आरम्भ में ही कह आए हैं कि पाणिनीय अष्टाध्यायी

के सूत्रों की रचना से स्पष्ट है कि पाणिनि ने किसी न किसी 'धातुपाठ' या 'धातुकोष' की रचना अवश्य की होगी। 'अदिप्रभृति', 'जुहोत्यादि', 'चुरादि', 'दिवादि', आदि गणों का उनके द्वारा परिगणन इस अनिवार्यता को स्पष्ट कर देता है। हो सकता है कि उन्होंने धातुओं का यह विभाजन किसी पूर्ववर्त्ती परम्परा से अपनाया हो। किन्तु इतना निश्चित है कि अपनें व्याकरण में उन्होंने इन वर्गों में किन-किन धातुओं का ग्रहण किया—इस बात की स्पष्टता वे स्वयं ही कर सकते थे। अतः भले ही उन्होंने किसी पूर्ववर्त्ती परम्परा का अनुगमन किया हो, किन्तु अपनी निष्पत्ति को उन्होंने अपनी मान्यता के प्रदर्शन के हेतु पृथक् से पढ़ा अवश्य था।

पाणिनिपूर्व युग

पूर्ववर्त्ती परम्परा

पाणिनि से पहले भी ऐसे धातुपाठ विद्यमान थे—यह बात अनेक प्रमाणों से सिद्ध होती है। **शाकटायन** द्वारा 'धातु' के पृथक्करण पर बल दिए जाने की बात हम पहले कह आए हैं। **यास्क** हमें **शाकपूणि, गार्ग्य,** आदि आचार्यों के भी धातु-सम्बद्ध मतों से परिचित कराते हैं। उधर संस्कृत व्याकरण की **सविभाग-प्रक्रिया** का जन्मदाता इन्द्र को स्वीकार ही इसलिए किया जाता है कि 'उसने वाणी को मध्य से व्याकृत या विभक्त किया था'। भरद्वाज को तो 'आख्यात का द्रष्टा' ही कहा गया है।

भरद्वाज

यह कहना अतिशयोक्ति ही होगी कि इन सभी आचार्यों ने अवश्य ही पृथक् से 'धातुपाठों' की रचना की होगी। भरद्वाज ने व्याकरण की समृद्धि इन्द्र से पाई थी। अतः उसे **'आख्यात या द्रष्टा'** कहने से यही सिद्ध होता है कि उससे पूर्व 'धातु' की पृथक् पहचान उस रूप में उपस्थित न रही होगी। किन्तु इससे स्वतः ही यह भी सिद्ध नहीं हो जाता कि भरद्वाज ने किसी 'धातुपाठ' की भी रचना की होगी। इससे इतना ही सिद्ध होता है कि क्रिया-रूपों में धातु और प्रत्ययादि के विभाग को भरद्वाज ने ही सर्वप्रथम पहचाना था। यह भी सम्भव है कि उन्होंने किसी 'धातुपाठ' की रचना की हो। किन्तु ऐसा प्रयास आरम्भिकमात्र ही रहा होगा, व्यापक और प्रभावी नहीं। क्योंकि उनके मतों का उल्लेख परवर्त्ती व्याकरण-साहित्य में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता।

शाकटायन

शाकटायन के विषय में यह तो स्पष्ट ही कहा जासकता है कि उन्होंने धातु की पृथक् पहचान को, उसके मूलार्थ की खोजसहित, अत्यधिक वेग के साथ आगे बढ़ाया। किन्तु इस विषय में हमें निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि उन्होंने किसी 'धातुपाठ' की रचना की ही होगी। यदि ऐसा हुआ भी, तो उसका परवर्त्ती अनुगमन नगण्य ही रहा। इस पर भी ऐसे किसी धातुपाठ को व्यापकतम बनाने में उनके सिद्धान्तों ने सर्वाधिक योगदान दिया है—यह तो सत्य ही है।

तीन आचार्य

किन्तु तीन आचार्य अवश्य ऐसे हैं, जिनके धातुपाठ एवं धात्वर्थ-सम्बन्धी मतों की चर्चा संस्कृत व्याकरण में अनेकत्र विकीर्ण रूप में मिलती है। ये तीन आचार्य हैं : भागुरि, आपिशलि और काशकृत्स्न। मीमांसक जी ने इन के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रमाणों के साथ प्रकाश डाला है। यहां हम संक्षेप में इनके प्रयासों का परिचय देंगे।

भागुरि

मीमांसक जी ने भाषावृत्ति, शब्दशक्तिप्रकाशिका एवं भाषाव्याख्याप्रपंच आदि में से भागुरि के नाम से जो अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं, उनमें से केवल चार का सम्बन्ध ही प्रस्तुत प्रसंग में उचित बैठता है। इन चारों कारिकाओं से यह ज्ञात होता है कि भागुरि ने सम्भवतः कोई 'धातुपाठ' अवश्य रचा होगा। कुछ अन्य कारिकाओं में भी नामधातु आदि के निर्माण की चर्चा अवश्य है, किन्तु वे विशेष रूप से उल्लेख्य नहीं है। इन चारों को संक्षिप्त रूप में इस प्रकार गिनाया जा सकता है :

१. गुपूधूपविच्छिपणिपनेरायः...नित्यं स्वार्थे परत्र वा।[1]

२. गुपो वधेश्च निन्दायां...स्वार्थे सनो विधिः।[2]

३. हन्तेः कर्मण्युपष्टम्भात्...चूर्णिभागुरिवाग्भटाः।[3]

४. ष्ठिवुसिव्योर्ल्युट्...सौनागाः प्रचक्षते।[4]

---

१. श० श० प्र०, ४४७ पृ.।

२. श० श० प्र०, ४४७ पृ०।

३. श० श०.प्र०, पृ० ३३९।

४. मल्ल०, सिंह०, बड़ोदा संस्करण, भाग १, पृ० ४१।

यह भी सम्भव हैं कि ये वचन 'भागुरिस्मृति' नामक किसी व्याकरण-ग्रंथ से लिए गए हों। इन वचनों को स्वतः 'धातुपाठ' की कारिकाएं नहीं कहा जा सकता। बल्कि इनमें आख्यातों की रूप-रचना-प्रक्रिया को बताया गया है। फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि भागुरि के सामने कोई न कोई 'धातुपाठ' अवश्य ही विद्यमान रहा होगा। किन्तु उनके 'व्याकरण' की भाँति आज वह 'धातुपाठ' भी उपलभ्य नहीं है, जिसको भागुरि ने मान्यता दी या जिसकी रचना उन्होंने की।

काशकृत्स्न : धातुव्याख्यान

हमें इस विषय में मीमांसक जी का चिरकृतज्ञ रहना चाहिए कि उन्होंने अत्यन्त श्रम से 'काशकृत्स्न धातुव्याख्यान' का कन्नड भाषा से संस्कृत में रूपान्तर प्रस्तुत किया है। इससे दो महान् उपकार हुए : प्रथम यह कि काशकृत्स्न का 'व्याकरण', अपने विकीर्ण और खण्डित रूप में ही सही, प्रकाश में आपाया; और द्वितीय यह कि उनका 'धातुपाठ' भी अपने मूल रूप में सामने आया। यहां हमें उनके 'धातुपाठ' से ही प्रयोजन है।

इसके मूल श्लोक धात्वर्थ एवं सूत्र संस्कृत में ही हैं, जबकि श्री चन्नवीर कविकृत उनका व्याख्यान कर्नाटकी भाषा में है। इसका प्रथम सम्पादन कर्नाटकी भाषा एवं लिपि में ही हुआ था।

विशेषताएं

मीमांसक जी ने इसकी निम्न विशेषताएं गिनाई हैं :

(१) इसमें 'जुहोत्यादिगण' को 'अदादिगण' के अन्तर्गत ही पढ़ने के कारण इसके गणों की संख्या नौ रह गई है।

(२) पाठक्रम में सभी गणों में सर्वप्रथम परस्मैपदी, बाद में आत्मनेपदी और अन्त में उभयपदी धातुओं को रखा गया है।

(३) पाणिनीय धातुपाठ की अपेक्षा इसमें समाहित सर्वथा नई धातुओं की संख्या ८०० है। 'अथर्ववेद' नाम की मूलभूता 'थर्व हिंसायाम्' ऐसी ही धातु है। 'मरति' आदि प्रयोग भी द्रष्टव्य हैं। इनमें से ४५० धातुएं तो केवल स्वादिगण में ही अधिक हैं। उधर पाणिनीय धातुपाठ की लगभग ३५० धातुएं इसमें अनुपलब्ध भी हैं।

(४) एक ही पाणिनीय धातु को इसमें दो रूपों में भी पढ़ा गया है : 'ईड ईल स्तुतौ' आदि। इसी प्रकार 'बृहि' और 'ब्रह' को 'वृद्धि' के अर्थ में पढ़ा गया है। 'पृथु' और 'प्रथ' को भी 'व्याप्ति' के अर्थ में इसी प्रकार पृथक् पढ़ा गया है। इससे सम्प्रसारणादि के विधान की आवश्यकता समाप्त हो गई है।

(५) पाणिनि द्वारा परस्मैपदी या आत्मनेपदी के रूप में पढ़ी गई एकपदी धातुओं में से अनेक को काशकृत्स्न ने उभयपदी के रूप में पढ़ा है। वद, वस, टुओश्वि, आदि धातुएं ऐसी ही हैं।

(५) पाणिनि की बहुत सी उणादि निष्पत्तियों की अपेक्षा यहां कुछ स्वतन्त्र धातुएं पढ़ी गई हैं : णौ, क्ष्मै, आदि धातुएं ऐसी ही हैं।

गण-परिचय

इसमें आए नौ गणों को उनके विकरणों के आधार पर निम्न रूप में स्मरण किया है :

भ्वादिगणः=अन्-विकरणः	तुदादिगणः=अक्-विकरणः
अदादिजुहोत्यादिः=लुग्विकरणः	रुधादिगणः=नम्-विकरणः
दिवादिगणः=यद्-विकरणः	तनादिगणः=उ-विकरणः
स्वादिगणः=नु-विकरणः	क्र्यादिगणः=ना-विकरणः

चुरादिगणः=इन्-विकरणः

प्रभाव और निष्कर्ष

इस धातुपाठ के प्रकाश में आने के बाद से पाणिनि के परवर्ती व्याकरणों में पाई जाने वाली उनसे भिन्न प्रवृत्तियों में से अनेक के स्रोत का पता चल गया है। हम पहले भी कह आए हैं कि एक ओर जहां शाकटायन आपिशलि और पाणिनि एक परम्परा के प्रतीत होते हैं, वहां काशकृत्स्न ऐन्द्र या प्राच्य परम्परा के महान् प्रवर्त्तकों में से रहे प्रतीत होते हैं। यह बात 'कातन्त्र' पर पड़े उनके प्रभाव से स्पष्ट हो जाती है। उनके धातुपाठ का एक नाम 'शब्द-कलाप' भी है। मीमांसक जी ने इसी आधार पर कल्पना की है कि 'संक्षिप्त कालापक' या 'कातन्त्र' को इसी शब्दकलापाश्रित व्याकरण से संक्षिप्त करके रचा गया है। इन विकरणों और धातुपाठों के 'कातन्त्र' के साथ तुलनात्मक अध्ययन से भी यही बात पुष्ट होती है।

यह बात 'कातन्त्र' तक ही सीमित नहीं है। हम पहले कह आए हैं कि बहुत अंशों तक संज्ञा और सूत्रादि के रूप में 'कातन्त्र' ने चन्द्राचार्य के 'चान्द्र व्याकरण' को प्रभावित किया है। किन्तु इन तीनों के धातुपाठों की परस्पर और पाणिनीय धातुपाठ के साथ तुलना करने पर यह ज्ञात होता है कि धातु-पाठ के स्वरूप और विस्तार के विषय में भी 'चान्द्र' पर 'काशकृत्स्न' और 'कातन्त्र' का प्रभाव पड़ा है। इसमें भी धातुओं का वर्गीकरण परस्मैपदी, आत्मनेपदी और उभयपदी के क्रम से किया गया है। इसमें भी अनेक धातुएं पाणिनिभिन्न एवं काशकृत्स्नीय परम्परा में पढ़ी गई हैं।

चन्नवीरकविकृत व्याख्या

इस व्याख्या की प्रमुखतम विशेषताओं को मीमांसक जी ने निम्न रूप में गिनाया है :

(१) इस टीका में काशकृत्स्न के १३० सूत्र उद्धृत मिलते हैं।

(२) इस व्याख्या में 'कृदन्तों' के अन्तर्गत 'चौर्यम्' आदि कुछ ऐसे शब्द भी गिने गए हैं, जिन्हें पाणिनि 'तद्धितान्त' मानते हैं।

(३) बहुत से ऐसे कृदन्त प्रत्यय जिन्हें पाणिनि कुछ विशिष्ट धातुओं से विहित मानते हैं, इस व्याख्या के अनुसार 'सामान्य' रूप में सभी धातुओं से विहित होते हैं।

(३) इसमें दर्शाई गई अर्थों की व्याख्या अन्य धातुवृत्तियों में उपलब्ध नहीं होती।

आपिशलि

पाणिनि द्वारा स्मृत आचार्यों में आपिशलि का नाम प्रमुख है। उणादि सूत्रों के प्रसंग में शाकटायन, आपिशलि और पाणिनि के ही नाम महत्त्वपूर्ण बैठते हैं। 'शिक्षा' और 'उणादि' की दृष्टि से हम आपिशलि को पाणिनि का ही अग्रज कह सकते हैं। कुछ दृष्टियों से उसमें पूर्वी परम्परा के लक्षण उपलब्ध होते हैं, जबकि दूसरी दृष्टियों से उसमें पाणिनि के पूर्वसूत्र खोजे जा सकते हैं।

इन सबसे बढ़कर उनका वैशिष्ट्य यह है कि कदाचित् उन्होंने ही 'पंचांग

व्याकरण' की नींव सर्वप्रथम रखी थी। कम से कम उनके सूत्रपाठ और उणादिपाठ के साथ-साथ धातुपाठ के अस्तित्व के विषय में अकाट्य प्रमाण उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

(१) 'अस्' और 'आस्' धातु को सकारमात्र पढ़ने की बात महाभाष्य और त्रिपदी टीका में भी कही गई है। परन्तु वहां इसे 'कई आचार्यों के मत' के रूप में व्यक्त किया गया है। जिनेन्द्रबुद्धि ने इस बात को स्पष्टत: आपिशलि से सम्बद्ध किया है : 'सकारमात्रमस्तिधातुमापिशलिराचार्यः प्रतिजानीते। तथाहि न तस्य पाणिनेरिव 'अस भुवि' इति गणपाठः...इत्यादि।"

(२) स्कन्दस्वामी निरुक्त व्याख्या २.२ में लिखते हैं : 'उषिजिघर्तौ छान्दसौ धातू ..आपिशलादौ स्मरणात्'।

(३) काशिका ७. १. १० में अनिट्-कारिका की व्याख्या में वामन और न्यासकार लिखते हैं : "(वा०)इतरौ (रिहिलिही)तु धातुषु न पठ्यते, कैश्चिदभ्युपगम्येते। (न्यास) कैश्चिदिति आपिशलिप्रभृतिभिरिति"...इत्यादि। इसी प्रसंग में दो जगह 'तन्त्रान्तर' की बात को भी न्यासकार ने 'आपिशलेर्व्याकरणम्' के रूप में कहा है।

(४) 'तु' धातु के विषय में अपने 'धातुप्रदीप' में मैत्रेयरक्षित लिखते हैं : 'छान्दसोऽमित्यापिशलि:' (पृ० ८०)।

वैशिष्ट्य : निष्कर्ष

इस प्रकार के विस्तृत अध्ययन के आधार पर श्री मीमांसक के निम्न निष्कर्ष हमें प्रामाणिक प्रतीत हुए :

(१) आपिशलि ने कोई धातुपाठ अवश्य रचा था।

(२) इसमें कई धातुओं का स्वरूप पाणिनीय धातुपाठ से भिन्न था।

(३) धातुरूप की भिन्नता के कारण, काशकृत्स्न की भांति, व्याकरणात्मक प्रक्रिया में अन्तर आना भी स्वाभाविक था।

(४) काशकृत्स्न की परम्परा से भिन्न, किन्तु पाणिनि के पाठ की भांति, इसमें 'छान्दस' धातुओं का पाठ समाहित था।

(५) अनेक धातुएं पाणिनि के पाठ से अधिक भी थीं।

पाणिनि युग : पाणिनि

पीठिका

पाणिनि पर लिखते हुए हम कह आए हैं कि पाणिनि ने अवश्य ही

गणपाठ, धातुपाठ, आदि की रचना की थी। उनके व्याकरण की पूर्णता के लिए उसके पांचों अंगों का सृजन अपरिहार्य ही था। अतः यहां उस विस्तार में न जाकर हम उनके धातुपाठ से सम्बद्ध प्रमुख समस्याओं का संक्षिप्त पुनरनुशीलन करेंगे। इन समस्याओं को हम निम्न रूप में गिना सकते हैं :

(१) क्या पाणिनि ने धातुपाठ किया था ?

(२) वह धातुपाठमात्र था या धात्वर्थपाठ ?

(३) उसके पाठ का स्वरूप क्या था ?

और (४) क्या सम्प्रति उपलब्ध स्वरूप पाणिनि का एवं आपत्तिरहित है ?

इन समस्याओं का उत्तर हम एक-एक करके देखेगें।

धातुपाठ पाणिनि ने ही किया था

हमने पाणिनि के प्रसंग में जो बात देखी वह यह कि पाणिनि के व्याकरण के वर्तमान स्वरूप से यह अनिवार्यतः सिद्ध होता है कि उसे उणादि, गणपाठ एवं धातुपाठ का पृथक् गणन अभीष्ट था। यदि ये पाठ उसने प्रस्तुत न किये होते, तब उसका व्याकरण अपूर्ण और अधूरा रहता।

हमने यह भी देखा है कि शाकटायन, भागुरि, काशकृत्स्न, आपिशलि, आदि आचार्य किसी न किसी धातुपाठ के आश्रय पर ही बढ़ रहे थे, फिर भले ही वह उनका स्वयं प्रोक्त रहा हो या आगम के रूप में प्राप्त ! हर आचार्य अपने-अपने विश्लेषण के आधार पर उन धातुओं के स्वरूप और गणना में घटा-बढ़ी करके एवं उनके प्रयोग-वैविध्य के औचित्यानौचित्य को स्वयं स्थिर करके एक विशिष्ट रूप में उसे अपने व्याकरण का आधार बनाता रहा है। अतः पाणिनि के लिए भी ऐसा करना अनिवार्य ही था। यह भी अनिवार्य था कि उनका पाठ उनके अपने विश्लेषण (=व्याकरण) के आधार पर आश्रित एवं विशिष्ट प्रकृति का हो।

इसपर भी जिनेन्द्रबुद्धि, भट्टोजि और नागेशभट्ट जैसे परवर्ती वैयाकरणों ने पाणिनि को किसी ऐसे गणपाठ या धातुपाठ के प्रवक्ता के रूप में स्वीकार करने में आनाकानी की है। किन्तु दूसरी ओर ये ही विद्वान् पाणिनि को गणपाठ का प्रवक्ता भी कुछ स्थलों पर कह जाते हैं[१]।

इसके विपरीत महाभाष्यकार, त्रिपदीकार एवं वार्त्तिककार आदि के विविध

१. मी,० द्वि० भा०, पृ०३९-४५ पर अधिक देखें।

प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि पाणिनि किसी एक निश्चित धातुपाठ की छाया में ही अपनी सूत्र-रचना कर रहे थे। यह बात अलग है कि ऐसा उन्होंने किसी पूर्वप्रचलित पाठ को संशोधित करके किया, या उसका पुनर्गठन करके।

धातुपाठ या धात्वर्थपाठ

इससे सम्बद्ध समस्या यह खड़ी होती है कि पाणिनि ने केवल धातुओं का ही गणपाठ किया था, या उनके अर्थों को भी साथ-साथ निर्दिष्ट किया था?

इस शंका के उद्भव के कुछ कारण हैं। स्वयं महाभाष्यकार कुछ स्थानों पर 'भू' और 'भ्वेध' आदि की पाठ-स्वीकृति पर विचार करते हुए ऐसा आभास देते हैं, जैसे पाणिनि ने केवल धातुपाठ ही किया था अर्थपाठ नहीं[1]! किन्तु, दूसरी ओर, उन्हीं के प्रमाण के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि पाणिनि ने धातुओं का अर्थनिर्देशसहित पाठ किया था : (१) वपिः प्रकिरणे दृष्टः, छेदने चापि वर्त्तते (१.३.१.१), (२) उबुन्दिर् निशमिने, स्कन्दिर् गतिशोषणयोरिति (१.३.१.७), आदि में।

दूसरी ओर कैयट, नागेश, भट्टोजिदीक्षित, मैत्रेयरक्षित एवं सिद्धसेन गणि आदि के मत में पाणिनि ने अपने धातुपाठ में अर्थ-निर्देश नहीं किया था। उनके अनुसार तथाकथित धातुपाठ में अर्थनिर्देश किन्हीं भीमसेन नाम के आचार्य ने किया था[2]। किन्तु इन सबके पक्षापक्ष पर विचार करने के बाद मीमांसक जी इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि भीमसेन ने पाणिनीय धातुपाठ की व्याख्या या वृत्ति लिखी होगी।[3] सम्भव है, उसकी व्यापक स्वीकृति के कारण उसे ही धात्वर्थ-निर्देशक या धातुपाठ का कर्त्ता मान लिया गया हो।

मीमांसक जी मूल समस्या पर विचार के उपरान्त इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि सम्भवतः पाणिनि ने दोनों प्रकार से पाठ किया होगा : अर्थ-निर्देश से रहित रूप में भी, और उससे सहित रूप में भी। पहले को वे लघुपाठ कहते हैं, और दूसरे को वृद्धपाठ।[4]

---

१. म० १.३.१.१।
२. प्रमाण के लिए देखें, मी०, द्वि० भा०, पृ० ४५-५४।
३. वही, पृ० ५५, ७३-६।
४. वही, पृ० ५५।

पाठ का स्वरूप

उक्त समस्या के अतिरिक्त दो अन्य समस्याएँ भी पाणिनि के धातुपाठ से सम्बद्ध हैं। इन दोनों का सम्बन्ध भी उसके स्वरूप से है। इनमें से पहली समस्या यह है कि यह पाठ संहितारूप में किया गया था या परिच्छिन्न रूप में। 'भूवादयो धातवः' (पा०१.३.१) पर विचार करते हुए पतंजलि ने 'भ्वेर्धं०' आदि के पाठ द्वारा ऐसे संकेत दिए हैं, जिनसे यह पता चलता है कि पाणिनि ने कदाचित् केवल धातुओं का ही पाठ किया होगा; और वह भी संहितापाठ के रूप में। उधर मैत्रेय और सायणादि विद्वान् इस मत के हैं कि यद्यपि मूलपाठ है तो संहितापाठ के रूप में, इस पर भी यह पाठ धात्वर्थयुक्त है। उदाहरण के लिए हम मीमांसक जी द्वारा बहुचर्चित इन दो उदाहरणों को लेंगे :

(क) तपऐश्वर्येवावृतुवरणे।
(ख) पतगतावापशानुपसर्गात्।

क्षीरस्वामी का अनुकरण करके सायण यहाँ 'वा' को उत्तरधातु के साथ सम्बद्ध मानते हैं : 'अत्र स्वामी संहितायां धातुपाठाद् वाशब्दमुत्तरधातुशेषं पठति (धा० वृ०, पृ० ३६०)। इसका सम्बन्ध पूर्वांश के साथ मानते ही अर्थ नितान्त भिन्न हो जाता है, जबकि उत्तरांश के साथ इसका सम्बन्ध मानने पर अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है : 'वा' को विकल्पार्थक मानकर, या उसे 'वावृतु' और 'वापश' के रूप में धातु का अवयव मानकर। इस प्रकार संहितापाठ मानने वालों में भी मतभिन्नता पाई जाती है।

इनके विपरीत दूसरा मत प्रत्येक धातु को अर्थसहित 'भू सत्तायाम्' आदि के रूप में विच्छिन्न रूप में पढ़ने का है। पर यह प्रामाणिक नहीं है। 'भूवादयो धातवः' (पा० १.३.१) स्वयं इस तथ्य का साक्ष्य है। इसी संहितामय प्रवृत्ति के कारण ही धातुपाठ के विश्लेषण और उसकी व्याख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है।

धातुपाठ के सम्बन्ध में यह भी एक समस्या है कि सम्प्रति यह पाठ तीन रूप में पाया जाता है। मीमांसक जी ने इन्हें प्राच्य, उदीच्य और दाक्षिणात्य पाठों के रूप में स्वीकार किया है। ये तीनों पाठ धात्वर्थसहित अथवा वृद्धपाठ हैं। लघुपाठ के विषय में ऐसा कोई मतभेद नहीं है।

इस विषय में 'दैवम्' की 'पुरुषकार' व्याख्या के कर्त्ता लीलाशुकमुनि का एक मत भी विचार्य है। वे धातुपाठ को 'श्लोकधातुपाठ' के रूप में

कारिकानिबद्ध स्वीकार करते हैं।[1] यह भी संभव है कि यह मत पाणिनिपूर्व किसी आचार्य का हो।

व्याख्याकार

इस धातुपाठ ने जहां सर्वाधिक प्रचार पाया, वहां इसके सम्बन्ध में मत-भेद भी सर्वाधिक उठ खड़े हुए। इन मतों में से दो की सूचना हमें विविध व्याख्याकारों के माध्यम से मिलती है। इन व्याख्याकारों में चार नाम सर्व-प्रमुख कहे जा सकते हैं: भीमसेन, क्षीरस्वामी, मैत्रेयरक्षित और सायण (या यज्ञनारायण)। यूँ तो इनके अतिरिक्त सुनाग, भारद्वाज, नन्दिस्वामी, हरियोगी, देव और कृष्णलीलाशुकमुनि, आदि के नाम भी गिनाए जा सकते हैं; किन्तु महत्त्व की दृष्टि से यहां उक्त चार के सम्बन्ध में ही संक्षिप्ततम रूप में विचार प्रासंगिक होगा।

भीमसेन : पाणिनि के धात्वर्थपाठ के सम्बन्ध में इन्हीं भीमसेन का नाम वार-वार सुनने में आता है। सम्भव है, ये सर्वप्रथम व्याख्याता रहे हों। यह भी सम्भव है कि इन्होंने 'पाणिनीय धातुपाठ' का प्रथम वार सम्पादन और संशोधन किया हो। किसी भी रूप में इनका महत्त्व अक्षुण्ण है। क्षीरस्वामी से वहुत पूर्व इन्हें मान्यता मिल चुकी थी।

क्षीरस्वामी : मीमांसक जी ने इनका समय १०५८-११०८ ई० रखा है। इनकी रची 'क्षीरतरंगिणी' पाणिनीय धातुपाठ से सम्बद्ध सर्वप्रसिद्ध रचना है। सायण ने इनके मतों को सर्वाधिक महत्त्व दिया। इनके पिता का नाम ईश्वरस्वामी भट्ट था।

मैत्रेयरक्षित : इनका समय १०८३ से ११३३ ई० वीच माना जाता है। इनका 'धातुप्रदीप' पाणिनीय धातुपाठ के सम्बन्ध में द्वितीय आधिकारिक रचना कही जा सकती है। सायण ने अपनी 'धातुवृत्ति' में इनके मतों का उल्लेख भी अत्यन्त आदर के साथ किया है।

सायण (या यज्ञनारायण) :—सायण का अपना समय १३१५-१३८७ ई० के बीच माना गया है। इनकी रचना 'माधवीया धातुवृत्तिः' इस विषय की सर्वाधिक प्रसिद्ध और सम्प्रति उपलभ्य पाणिनीय धातुपाठ की दृष्टि से सर्वाधिक प्रामाणिक मानी गई है। इसके द्वारा ही हमें अन्यान्य आचार्यों के मतों के विषय में भी बहुत सी प्रामाणिक सूचना उपलब्ध होती है। किन्तु

१. 'देवम्', पृ० ४४,७६,८३ इत्यादि।

हम प्रमाणों के आधार पर यह बात पहले स्पष्ट कर आए हैं कि इस 'धातुवृत्ति' का लेखक 'यज्ञनारायण' नामक विद्वान् को मानना अधिक उचित है, जिसने कदाचित् सायण के आदेश पर इस ग्रन्थ की रचना की थी[1]। मीमांसक जी भी इसी मत को मानते हैं।

उत्तरपाणिनियुग : पाणिनीयेतर पाठ

पीठिका

पाणिनि के बाद हुई व्याकरण-क्षेत्र की प्रगति की चर्चा हम विगत अध्याय में कर आए हैं। उसमें दो प्रकार की प्रवृत्तियां स्पष्ट थीं : पाणिनि की अनुसारिणी और उसके समानान्तर। प्रस्तुत प्रसंग में इन दोनों में से उल्लेख्य कुछ प्रमुख व्याकरणों के नाम इस प्रकार गिनाए जा सकते हैं : कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, सरस्वतीकण्ठाभरण, और सिद्धहेमशब्दानुशासन। यहां इन सबके धातुपाठों का विहंगावलोकन कर लेना उचित एवं प्रासंगिक होगा।

कातन्त्र

पीठिका : हम पहले ही कह चुके हैं कि पाणिनि के परवर्त्ती व्याकरणों में प्रायः ही 'पंचांगपूर्णता' की भावना बल पकड़ गई थी। पाणिनीय परम्परा में ऐसा प्रथम व्याकरण 'चान्द्र' है। किन्तु उससे भी लगभग ४०० वर्ष पूर्व 'कातन्त्र' में लिंगानुशासन के अतिरिक्त अन्य सभी पाठों को अपनाया गया था। सूत्र, संज्ञा, आदि के अतिरिक्त 'धातुपाठादि' के विषय में भी 'चान्द्र' ने अपने से पूर्ववर्त्ती इस व्याकरण से लाभ उठाया है।

धातुपाठ

'कातन्त्र' के धातुपाठ में पाणिनीय धातुपाठ से जो भिन्नताएं पाई गईं, उनके मूल में बहुत से कारणों की खोज निकालने का यत्न किया गया। किन्तु अब 'काशकृत्स्न धातुव्याख्यान' के प्रकाश में आजाने के बाद यह सिद्ध ही मान लेना चाहिए कि कातन्त्र के धातुपाठ का मूल स्रोत काशकृत्स्न का धातुपाठ है। हम कह आए हैं कि इस समानता का प्रधान कारण यह है ये दोनों ही व्याकरण ऐन्द्र या प्राच्य परम्परा के हैं। बाद में जैनेन्द्र और जैनशाकटायन में भी इनका अनुसरण बहुत अंश तक हुआ; यद्यपि 'चान्द्र' की भांति वे भी मूलतः पाणिनीय व्याकरण के संशोधन में ही प्रवृत्त हुए थे।

---

१. देखें, पृ० १६४।

निष्कर्ष

इस सम्बन्ध में मीमांसक जी के निम्न निष्कर्ष अवधेय हैं[1] :

(१) कातन्त्र धातुपाठ काशकृत्स्न धातुपाठ का ही संक्षेप है।

(२) कदाचित् इसका ही संक्षिप्त रूप वह धातुपाठ है, जिसे तिब्बती भाषा से 'शर्ववर्मधातुपाठ' के रूप में अनूदित किया गया है।

टीकाकार

मीमांसक जी ने सप्रमाण लिखा है कि 'कातन्त्र व्याकरण' की वृत्ति की भांति उसके 'धातुपाठ' की वृत्ति भी शर्ववर्मा, दुर्गसिंह और आत्रेय ने लिखी थी[2]। किन्तु इस धातुपाठ की एक मात्र उपलभ्य वृत्ति रमानाथ की है, जो 'मनोरमा' नाम से हस्तलिखित रूप में उपलभ्य है। इसकी एक प्रति 'इण्डिया आफ़िस पुस्तकालय' में है तथा दूसरी जम्मू में। कदाचित् इसी का उल्लेख सर्वानन्द ने अपने ग्रन्थ 'अमरटीकासर्वस्व' में 'नाथीय वृत्ति' के नाम से किया है।

चान्द्र धातुपाठ

चन्द्राचार्य ने अपने परिष्कृत व्याकरण के साथ-साथ धातुपाठ, गणपाठादि की भी रचना की थी। जर्मन विद्वान् लीबिख़ ने इसका संशुद्ध संस्करण प्रकाशित किया था। उसके विषय में मीमांसक जी का मत है कि उसमें पर्याप्त अशुद्धियां हैं।[3] यही धातुपाठ 'चान्द्र व्याकरण' के सम्पादित संस्करणों के अन्त में मिलता है।

प्रभाव

हम कह ही आए हैं कि इस व्याकरण की भांति इसके धातुपाठ पर भी काशकृत्स्न और कातन्त्र धातुपाठों का पर्याप्त प्रभाव है। इसमें सन्देह नहीं कि 'चान्द्र' धातुपाठ मूलतः पाणिनीय धातुपाठ के आश्रय में बढ़ा है, जब कि 'कातन्त्र' का धातुपाठ काशकृत्स्न के धातुपाठ को मूल मानकर चला है।

---

१. मी०, द्वि० भा०, पृ० ९६-७।

२. वही, पृ० ९७-८।

३. वही, पृ० १००-१०१।

वृत्तिकार

मीमांसक जी ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि स्वयं चन्द्राचार्य एवं पूर्णचन्द्र और कश्यपभिक्षु नाम के विद्वानों ने इस धातुपाठ की वृत्तियां लिखी थीं।[1] कदाचित् पूर्णचन्द्र की वृत्ति का नाम 'धातुपारायण' था।[2] पर 'क्षीरतरंगिणी' में क्षीरस्वामी ने 'पारायण' के साथ 'चन्द्र' का सम्बन्ध माना है। मीमांसक जी इसे 'पूर्णचन्द्र' से अभिन्न मानते हैं।[3] यही बात 'पुरुषकार' में कृष्णलीलाशुकमुनि के इस वचन से भी सिद्ध होती है: 'तथैव चन्द्रेण पूर्णचन्द्रेण ऋणु गतौ...इत्यादि'।[4] अतः शंका यह होती है कि मीमांसक जी ने चन्द्राचार्य को धातुपाठ का वृत्तिकार मानते हुए जो प्रमाण दिये हैं, वे इन प्रमाणों में उल्लिखित 'चन्द्र' का ही संकेत करते हैं या नहीं? यदि माना जाए कि ये दोनों प्रमाण भिन्न-२ व्यक्तियों को सिद्ध करते हैं, तब यह कहना होगा कि इन सब में से किसी भी प्रमाण को निश्चित रूप से चन्द्राचार्य का संकेतक नहीं माना जा सकता। कारण यह कि इसमें 'चान्द्र' या 'चन्द्राचार्य' का स्पष्टतः उल्लेख एक बार भी नहीं है। 'चन्द्र' को यदि 'पूर्णचन्द्र' का ही संक्षिप्त नामान्तर स्वीकार किया जाए, तब यह समस्या ही नहीं रहती। अतः इन सभी उल्लेखों से ही व्यक्ति का बोध ग्रहण अधिक उचित रहेगा।

इनमें से कोई भी वृत्ति सम्प्रति उपलभ्य नहीं है।

जैनेन्द्र धातुपाठ : व्याकरण के दो पाठ

'जैनेन्द्र व्याकरण' के प्रसंग में हम कह ही आए हैं कि उसके दो पाठ उपलब्ध होते हैं, जिनमें से दाक्षिणात्य संस्करण को 'शब्दार्णव' नाम से कहा जाता है। कहा जा चुका है कि यह 'शब्दार्णव' आचार्य गुणनन्दी की कृति है, जिसे 'जैनेन्द्र व्याकरण' का व्याख्यान कहा जा सकता है।

इनमें से 'शब्दार्णव' के साथ ही धातुपाठ दिया हुआ है, 'जैनेन्द्र व्याकरण' के साथ नहीं। मीमांसक जी का अनुमान है कि 'शब्दार्णव' के साथ संयुक्त

---

१. वही, पृ० १०१-३।
२. वही, पृ० १०२।
३. वही, पृ० १०२।
४. दैवम्, पुरु०, पृ० २४।

होने के कारण कदाचित् यह 'पाठ' भी आचार्य गुणनन्दी द्वारा संशोधित है।[1] इसमें उनका एक तर्क यह है कि 'नन्दी' नाम से अन्यत्र जितने भी प्रमाण उपलब्ध होते हैं, वे 'शब्दार्णव' में उपलभ्य नहीं है। इसी तर्क से वे एक अन्य निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह 'नन्दी' शब्द सम्भवत: स्वयं देवनन्दी का संकेतक है।[2] उन्होंने हेमचन्द्र के लिंगानुशासन में आये 'नान्दिपारायण' और 'नन्दि-पारायण' शब्दों से यह निष्कर्ष निकाला है कि कदाचित् देवनन्दी के 'धातुपाठ' का नाम 'धातुपारायण' रहा होगा।[3]

पर मीमांसक जी यह भूल गए कि आर्य श्रुतकीर्त्ति द्वारा 'पंचवस्तु' के अन्त में दिए 'धातुपाठ' को भी वे जैनेन्द्र व्याकरण का ही अंग मानते हैं। अतः उसे ही देवनन्दी कृत 'धातुपाठ' में मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

टीकाकार

प्रामाणिक रूप में केवल आर्य श्रुतकीर्त्ति ही 'जैनेन्द्र धातुपाठ' के व्याख्याता कहे जा सकते हैं। क्योंकि उन्होंने व्याकरण पर 'पञ्चवस्तु' नाम का जो प्रक्रियाग्रन्थ लिखा, उसके अन्त में एक धातुपाठ की भी व्याख्या मिलती है। किन्तु शब्दार्णव के अन्त में किए धातुपाठ की ऐसी कोई व्याख्या उपलब्ध नहीं है।

शाकटायन धातुपाठ

काशी से मुद्रित 'शाकटायन व्याकरण' के अन्त में एक धातुपाठ संयुक्त मिलता है। इसे शाकटायनकृत ही माना गया है। यह सत्य भी है। कारण यह कि लिंगानुशासन, गणपाठ, आदि की भी रचना शाकटायन ने की थी। उनका उद्देश्य 'पंचाग व्याकरण' का सृजन ही रहा होगा। यह इससे भी सिद्ध होता है कि इस पर आश्रित हेमचन्द्र के 'शब्दानुशासन' में शेष चारों पाठ साथ-साथ दिये हैं। हेमचन्द्र का 'धातुपाठ' शाकटायन के पाठ से प्रभावित है, और शाकटायन का पाठ मूलतः पाणिनि का अनुकारी है। अतः अपने व्याकरण की भांति शाकटायन धातुपाठ के विषय में भी पाणिनीय आदर्श को ही सामने रखकर बढ़े थे।

---

१. वही, पृ० १०४।
२. वही, पृ० १०५।
३. वही।

वृत्ति : सायण के कुछ वचनों से मीमांसक जी इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि शाकटायन ने निश्चय ही अपने धातुपाठ पर कोई व्याख्यानग्रन्थ लिखा होगा, क्योंकि अन्यथा धातुपाठ से उन कथनों की सत्यता प्रमाणित नहीं होती।

सरस्वतीकण्ठाभरण

भोजदेव ने अपने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में व्याकरण के अन्य सभी अंगों का तो समावेश कर लिया, किन्तु 'धातुपाठ' को उन्होंने पृथक् से ही विहित किया। उनके इस धातुपाठ के उद्धरण क्षीरस्वामी, सायण, आदि ने प्रचुर मात्रा में दिये हैं। मीमांसक जी के अनुसार इसके धातुपाठ पर अब तक कोई वृत्ति-ग्रन्थ नहीं मिला।

हैम शब्दानुशासन

'पंचांग व्याकरण' के सृजन की दृष्टि से हेमचन्द्र सूरि द्वारा 'धातुपाठ' का निर्माण स्वाभाविक ही था। हम कह आए हैं कि वे इस विषय में प्रत्यक्षतः जैन शाकटायन से और अप्रत्यक्षतः पाणिनि से प्रभावित और परिचालित रहे।

(ख) उणादि पाठ

पीठिका

इस सम्बन्ध में बहुत सी बातें हम शाकटायन[१], आपिशलि[२] और पाणिनि[३] के प्रसंग में पहले ही कह आए हैं। सर्वप्रथम उन्हें दुबारा गिन लेना उचित होगा :

(१) 'उणादयो बहुलम्[४]' कहने वाले पाणिनि की प्रकृति ही इस बात का प्रमाण है कि वह 'उणादि' नाम से किसी 'गण' को अपना

---

१. पृ० ८१ से ८४।
२. पृ० ७६-८०।
३. पृ० १६६-१६६।
४. पा० ३.३.१।

आदर्श मानकर चले हैं। शंका इसके स्वरूप और कृतित्व, आदि के विषय में हो सकती है, अस्तित्व के विषय में नहीं।

(२) सर्वप्रथम शाकटायन को ही इस बात का श्रेय जाता है कि उन्होंने उस सिद्धान्त की स्थापना की, जिसके आधार पर 'उणादि' सूत्रों और प्रत्ययों का निर्माण अनिवार्य होगया।

(३) आपिशल और पाणिनीय शिक्षा के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि आपिशलि द्वारा पढ़ा गया 'ञ म ङ ण नाः' सूत्र विशिष्ट रूप से अभिप्रेत है। इसी आधार पर मीमांसक जी का कहना है कि पाणिनि द्वारा अपनाया गया 'ञमन्ताड्डः' उणादि सूत्र मूलतः आपिशलि के उणादिपाठ से ही लिया गया होगा।

(४) उणादिपाठ के दो रूप मिलते हैं : दशपादी और पञ्चपादी। इनमें से मीमांसक जी अनेक प्रमाणों के आधार पर 'दशपादी' को ही पाणिनिकृत या पाणिनि-प्रोक्त मानते हैं, जिसका आरम्भ 'अनि' प्रत्यय से होता है। उधर 'पंचपादी' का आरम्भ 'उण्' से होता है, किन्तु उसे वे आपिशलिकृत मानते हैं।

इस सब प्रसंग को दोहराने की अपेक्षा अधिक, अच्छा होगा कि इसको सम्बद्ध स्थलों पर ही पूरी तरह पढ़ लिया जाए[1]। प्रस्तुत प्रकरण में तो हम केवल कुछ गिनी-चुनी बातों की चर्चा करेंगे।[2] इनमें मुख्य विचार्य स्थल होंगे :

(क) 'ञमन्ताड्डः' सूत्र और उससे सम्बद्ध समस्या।

(ख) 'दशपादी' और 'पंचपादी'।

(ग) 'त्रिपादी' उणादि।

(घ) वृत्तिकार।

(ङ) पाणिनि से परवर्त्ती विकास।

(क) 'ञमन्ताड्डः' सूत्र : मीमांसक का मत

हम पहले भी कह आए हैं कि श्री मीमांसक जी ने 'ञमन्ताड्डः' (उणादि १.१०७) सूत्र और इसमें उल्लिखित 'ञम्' प्रत्याहार को आधार बनाकर एक

---

१. अध्याय, 'पाणिनि युग : पाणिनि', पृ० १६६-६।

२. इसका विस्तृत अध्ययन दिल्ली विश्वविद्यालय एवं अलीगढ़ विश्वविद्यालय में प्रस्तुत 'उणादि'-सम्बद्ध शोध-प्रबन्धों में किया गया है।

बहुत बड़ा निर्णय ले डाला है : उणादि सूत्र मूलतः आपिशलि के रहे होंगे; क्योंकि यह सूत्र केवल आपिशलि का ही हो सकता है। इस निर्णय के प्रसंग में उनका युक्तिक्रम निम्न प्रकार है :

(१) पाणिनि का शिक्षासूत्र 'ङञणनमाः स्वस्थाननासिकास्थानाश्च' (पा० शि० १.२४) है, जबकि आपिशलि का सूत्र इसकी तुलना में 'ञमङणनाः स्वस्थाना नासिकास्थानाश्च' (आ० शि० १.२४) है।

(२) इसके अनुकरण पर पाणिनि द्वारा अपनाया गया प्रत्याहार-सूत्र 'ङञणनमम्' होना चाहिए, न कि 'ञमङणनम्'। कारण यह कि पाणिनि ने सामान्य व्याकरण में 'ञम्' प्रत्याहार का प्रयोग कहीं भी नहीं किया है।

(३) 'ञम्' प्रत्याहार का प्रयोग केवल उक्त 'ञमन्ताड्डः' सूत्र में ही मिलता है, जो कि पंचपादी और दशपादी में उभयत्र पाया जाता है।

(४) शिक्षासूत्रों की तुलना से यह सिद्ध होता है कि आपिशलि द्वारा 'ञमङणनाः' पाठ साभिप्राय है, जबकि पाणिनि ने वहाँ ऐसा पाठ न करके भिन्न पाठ अपनाया है।

(५) इस पर भी पाणिनि प्रत्याहारों में 'ञमङणनम्' पढ़ते हैं, 'ङञणनमम्' नहीं। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' की दृष्टि से यह पाठ निरुद्देश्य है, जबकि पाणिनि ने किसी सूत्र को निरुद्देश्य नहीं पढ़ा है। अतः स्वाभाविक है कि यहाँ वे आपिशलि से प्रभावित रहे हैं।

(५) कदाचित् यह इसलिए कि उन्होंने आपिशलि के बनाए उणादि सूत्रों को ही यथावत् अपना लिया था। इसी हेतु उन्हें प्रत्याहारसूत्रों में भी आपिशलि का ही अनुकरण करना पड़ा।

दूसरा पक्ष

परन्तु यह युक्तिक्रम कितना भयावह है और कितने भ्रमपूर्ण-निष्कर्षों पर आधारित है, इस पर मीमांसक जी का ध्यान नहीं गया। हमारे सामने इस सम्बन्ध में निम्न समस्याएँ उपस्थित होती हैं, जिन पर विचार अत्यधिक आवश्यक है :

(१) क्या सभी प्रत्याहार-सूत्र 'पाणिनीय शिक्षा' के सूत्रों के अनुवर्त्ती है ?

(२) क्या 'ञमङणनम्' सूत्र सचमुच अपाणिनीय परम्परा का है ?

(३) क्या सच ही इसके स्थान पर 'ङञणनमम्' पढ़ने से पाणिनि के मूल व्याकरण में कोई अन्तर नहीं आता ?

(४) कहीं आपिशलीय 'ञमङणनाः' ही तो आपिशलि के अन्य शिक्षासूत्रों से परम्पराबाह्य नहीं है ?

इन समस्याओं पर विचार के बाद ही हम 'ञमन्ताड्डः' सूत्र के सम्बन्ध में किसी निश्चित् निर्णय पर पहुँचेंगे ।

शिक्षा के अनुवर्त्ती नहीं

प्रथम शंका का उत्तर निषेधात्मक ही होगा । जब हम यह कहते हैं कि पाणिनि का कोई विशेष प्रत्याहार सूत्र उसके समानान्तर शिक्षासूत्रों से मेल नहीं खाता, तब हम निहितार्थतः यह भी कह रहे होते हैं कि उसके शेष सभी प्रत्याहारसूत्र उसके शिक्षासूत्रों के अनुवर्त्ती हैं ।

इसमें सन्देह नहीं कि पाणिनि द्वारा स्वीकृत 'ञमङणनम्' प्रत्याहार सूत्र उनकी शिक्षा के 'ङञणनमाः' से मेल नहीं खाता । किन्तु पाणिनि का शिक्षा-सूत्र उनके अन्य शिक्षासूत्रों से अवश्य मेल खाता है । अन्य सूत्रों में क्रमशः कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग के उच्चारण स्थानों की चर्चा है । इस क्रम को देखते हुए यह दुराशा ही होगी कि पाणिनि यहाँ आपिशलि या प्रत्याहार-सूत्रों के अनुकरण पर 'ञमङणनाः' सूत्र को अपना लेते । प्रसंगानुसार उनके लिए वहाँ 'ङञणनमाः' अपनाना ही ठीक था । वहाँ उच्चारण स्थान को यथाक्रम रखना अभिप्रेत था । वास्तविकता तो यह है कि कोई भी पाणिनीय प्रत्याहार-सूत्र बाह्य प्रयत्न या उच्चारण स्थान के क्रम से नहीं है । उसमें स्वर, व्यंजन, अनुनासिक, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण आदि का विभाग ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से अवश्य अपनाया गया है ।

अतः पाणिनीय दृष्टि से प्रत्यहार-सूत्र शिक्षासूत्रों के न तो अनुवर्त्ती हैं, न वैसा होना अनिवार्य है ।

अपाणिनीय परम्परा

अब प्रश्न उठता है 'ञमङणनम्' सूत्र के पाणिनीय परम्परा में औचित्य का । इसका उत्तर भी प्रथम प्रश्न के उत्तर में ही आ चुका है । फिर भी यहाँ यह दोहरा देना उचित ही होगा कि 'ञमङणनम्' सूत्र पाणिनीय प्रत्याहार-सूत्रों की एक अविच्छिन्न परम्परा में स्थित है । उदाहरणार्थ निम्न सूत्रों पर ध्यान दें :

ञ म ङ ण न म् ॥
झ भ ञ् ॥ घ ढ ध ष् ॥
ज ब ग ड द श् ॥

इनमें से प्रत्येक में एक ही क्रम से वर्गों का क्रम रखा गया है, जबकि निम्न सूत्रों में यह भिन्न क्रम में है :

ख फ छ ठ थ च ट त व्।। कपय् ।।

यद्यपि इनमें भी अपने ढंग का एक क्रम और औचित्य विद्यमान है ही।

अतः यह कहना कि 'ञमङणनम्' सूत्र के साथ ही कोई विचित्रता है, सर्वथा भ्रामक है।

'ञम्' प्रत्याहार

'ञम्' प्रत्याहार के पाणिनीय अष्टाध्यायी में प्रयुक्त न होने की बात वास्तव में गम्भीर है। परन्तु कदाचित् यहाँ भी मीमांसक जी दो-तीन बातों को दृष्टि में नहीं रख पाए हैं। इनमें से प्रथम यह कि अनिवार्य नहीं कि हर प्रत्याहार-सूत्र स्वतः एक प्रत्याहार का निर्माण करे। उदाहरणार्थ, 'झभञ्' और 'घ ढ ध ष्' से क्रमशः 'झञ्' और 'घष्' नाम के प्रत्याहार प्रयुक्त नहीं होते। अतः 'ञम्' प्रत्याहार का प्रयोग भी अनिवार्य नहीं। उसकी किसी उणादिसूत्र में आवश्यकता आगई और इसलिए उसका प्रयोग हो गया, तो इतने से ही 'ञ' का आदिस्थ प्रयोग सप्रयोजन सिद्ध नहीं हो जाता। और न ही उसे इस कारण किसी अन्य के अनुकरण का प्रभाव कहा जा सकता है। द्वितीय यह कि पाणिनि अपनी अष्टाध्यायी में जब 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्' (पा० ८.३.३२) सूत्र में 'ङम्' प्रत्याहार का प्रयोग करते हैं, तब वे 'ञ' और 'म' का अन्तर्ग्रहण उसमें करना अभीष्ट नहीं समझते। यदि कहीं मीमांसक जी के अनुसार पाणिनि का स्वाभिप्रेत उचित सूत्र 'ङञणनमम्' होता, तब 'शम्+अत्र' का सन्धित रूप 'शमत्र' न होकर 'शम्मत्र' होता; जैसा कि 'सन्+अन्त' का 'सन्नन्त' सन्धित रूप है। पर पाणिनि इस ओर सतर्क हैं। यही बात 'यञ्+अन्त' के विषय में भी सही है। अतः 'ङम्' की पकड़ से 'ञ' और 'म' को बचाने के लिए ही पाणिनि को उन दोनों को यथास्थित रूप में पढ़ना अभीष्ट था। तीसरी बात यह कि 'ञमन्ताड्डः' सूत्र चाहे पाणिनि का अपना बनाया हो या उधार लिया, 'ञम्' प्रत्याहार के उस प्रयोगमात्र से ही 'ञमङणनम्' सूत्र का औचित्य नहीं ठहरता। उसके बिना भी इस प्रत्याहार-सूत्र का औचित्य सिद्ध है ही। परवर्ती तीनों प्रत्याहार-सूत्रों में झ-भ, ज-ब आदि के क्रम से वर्णध्वनियों का पाठ भी इस सत्य को

सिद्ध करता है कि 'ञम्' का इस सूत्र में यथास्थित प्रयोग ही पाणिनि को अभीष्ट था।

आपिशल शिक्षा-सूत्र

अतः 'ञम्' प्रत्याहार के प्रयोग को 'अष्टाध्यायी' में न पाकर, और अचानक उणादि के एक सूत्र में उसका प्रयोग पाकर, इस निष्कर्ष पर पहुँचना उचित नहीं कहा जा सकता कि पाणिनि ने उणादि का ग्रहण आपिशलि से किया था, क्योंकि इसी आचार्य ने अपनी शिक्षा में 'ञ म ङ ण नाः' का पाठ जानबूझ कर भिन्न ढंग से किया है। सच तो यह है कि एक ओर जहां पाणिनि के दोनों सम्बद्ध प्रत्याहार-सूत्र और शिक्षासूत्र अपने-अपने क्षेत्र में भिन्न-भिन्न प्रयोजन से सूत्रित हुए हैं, वहां आपिशल शिक्षा में इस प्रकार का पाठ, आगे-पीछे के सूत्रों की परम्परा को देखते हुए असंगत और असम्बद्ध बैठता है। क्या मीमांसक जी यह कहना चाहेंगे कि आपिशलि के अन्य शिक्षासूत्र भी इसी दृष्टि से प्रत्याहार-विधान में समर्थ हैं?

अतः प्रत्याहार, उणादि और शिक्षा के इन भिन्न-भिन्न सूत्रों से किसी निष्कर्ष पर पहुंचना उचित नहीं है।

दशपादी और पंचपादी : कर्त्तृत्व का प्रश्न

'ञमन्ताड्डः' सूत्र पर आधारित धारणा के निराधार सिद्ध होने के बाद इस मान्यता में भी कोई वजन नहीं रहता कि आपिशलि ही उणादि सूत्रों के आदि कर्त्ता रहे होंगे; या फिर पाणिनि ने उनके ही उणादि सूत्रों को अपना लिया होगा। यदि आपिशलिकृत, उपलब्ध सूत्रों में ही ऐसा भी सूत्र मिल जाता, तब भी यह मान्यता स्थिर समझी जा सकती थी। अतः आपिशलि के व्याकरण की पूर्णोपलब्धि के अभाव में ऐसा कुछ निश्चय से नहीं कहा जा सकता।

परन्तु इसके साथ ही यह भी निश्चित है कि न तो पाणिनि इन उणादि-सूत्रों के आदि प्रणेता ही कहे जा सकते हैं, और न ही उन्होंनें उपलब्ध सभी उणादि सूत्र स्वयं ही रचे। हमने 'पाणिनि' के प्रसंग में उणादियों की चर्चा करते हुए पतंजलि की मीमांसक जी द्वारा उद्धृत उन कारिकाओं की भी चर्चा की है, जिनमें उणादियों के स्वरूप को समझाया गया है। सम्भवतः वे कारिकाएँ पतंजलि ने पूर्ववर्त्ती किसी परम्परा से अपनाई होंगी। वहीं हमने यह भी कहा

है कि पाणिनि का 'उणादयो बहुलम्' (पा० ३.३.१) सूत्र निश्चय ही किसी पुरानी परम्परा का संकेत करता है। भर्तृहरिकृत त्रिपदी टीका के प्रसंग में हमने देखा कि पाणिनि द्वारा स्वीकृत त्यदादि, सर्वादि, आदि गणों के साथ ही आपिशलि द्वारा मान्य किमादिगण की भी चर्चा है। इससे पता चलता है कि पाणिनिपूर्व से ही प्रातिपदिकों, धातुओं और प्रत्ययों आदि को स्वीकृत किया जा रहा था। आपिशलि द्वारा मान्य धातुगणों की चर्चा हम पहले ही कर आए हैं। अतः यह सम्भव है कि पाणिनि से पहले से ही उणादियों की परम्परा चली आरही होगी, जिसे पाणिनि ने मूल व्याकरण में समाविष्ट करके भी मुख्य धारा का अंग नहीं माना, और उसका अलग से पाठ किया। इसमें सन्देह नहीं कि पाणिनि ने पूर्ववर्त्ती परम्पराओं से अपने मूल व्याकरण में भी बहुत कुछ समाविष्ट किया है। इस पर भी यह अधिक सम्भव दीखता है कि उसने अन्यत्र की भाँति उणादियों के प्रसंग में भी बहुत कुछ परिवर्त्तन-परिवर्धन किया होगा।

उणादियों का आदि कर्त्ता पाणिनि नहीं रहा होगा, यह बात एक अन्य तर्क से भी आभासित होती है। पाणिनि ने अन्यत्र अपने व्याकरण में अध्याय और पाद का सुनिबद्ध विभाजन किया है। उणादियों के प्रसंग में यह बात सर्वथा भुला दी गई है। उन्हें हम भले ही त्रिपादी के रूप में स्वीकार करें, पंचपादी के या दशपादी के; उनका विभाजन 'अध्याय' और 'पादों' की पाणिनीय परम्परा में नहीं है। इस से स्पष्ट है कि परिष्कार के साथ पाणिनि ने इसे पूर्ववर्त्ती परम्परा से ग्रहण और स्वीकार किया है।

स्वरूप

इनका वह स्वरूप क्या रहा होगा जिसमें पाणिनि ने इन्हें स्वीकार किया, यह भी एक विवादास्पद विषय है। इस विषय में यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि उणादि के दो पाठ वर्त्तमान समय में उपलब्ध हैं: पंचपादी और दशपादी। मीमांसक जी ने दोनों पर ही पर्याप्त विस्तृत रूप से विचार किया है। किन्तु निष्कर्ष के समय उनका ध्यान हठात् चान्द्र व्याकरण के अंगभूत उणादिपाठ ने आकृष्ट किया है, जो 'त्रिपादी' है। वे इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि पाणिनि के उणादिपाठ का मूल रूप भी कदाचित् त्रिपादी के रूप में ही रहा होगा। ऐसा कहते हुए वे चान्द्र शिक्षा का त्रिपादी होना भी प्रमाण रूप में प्रस्तुत करते हैं।

इस पर भी पंचपादी और दशपादी पाठों को जो परम्परागत मान्यता और पाणिनीय व्याकरण में गौरव प्राप्त है, उसका विस्तृत विवेचन उन्होंने किया है और उनकी पाणिनीयता या अपाणिनीयता के विषय में भी एक निर्णय पर पहुँचना चाहा है। यहां हम भी अत्यन्त संक्षेप में उस सब पर विचार करेंगे।

सामान्य समस्या

कहा जा चुका है कि पाणिनीय व्याकरण से सम्बद्ध उणादिपाठ वर्तमान समय में दो रूप में मिलता है : पंचपादी और दशपादी पाठों के रूप में! इनमें से पंचपादी का आरम्भ 'उण्' प्रत्यय का विधान करने वाले सूत्र से होता है, जब कि दशपादी का आरम्भ 'अनि' प्रत्यय से होता है। इसी आधार पर अनेक विद्वान् पंचपादी को ही पाणिनि-प्रोक्त उणादि स्वीकार करते हैं, जब कि दूसरी ओर महाभाष्य, काशिका, आदि के प्रमाण पर यह कहा जासकता है कि उनके कर्त्ता दशपादी उणादि को पाणिनीय व्याकरण का अंग मानते थे।

पंचपादी का प्रवचन

विविध प्रसंगों में यह बात दोहराई गई है कि यास्क प्रोक्त 'नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च[1]' एवं पतंजलि-प्रोक्त 'नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्[2]' वचनों से यह निष्कर्ष निकाला जाना स्वाभाविक ही है कि कदाचित् शाकटायन ने ही सर्वप्रथम वह नींव रखी, जिस पर उणादि सूत्रों का प्रणयन सम्भव हो सका। किन्तु उणादिवृत्तिकार श्वेतवनवासी, महाभाष्यप्रदीपोद्योतकार नागेश भट्ट और सिद्धान्तकौमुदी के व्याख्याकार वासुदेव दीक्षित पाणिनीय सूत्र 'उणादयो बहुलम्' (पा० ३.३.१) की व्याख्या में स्पष्ट शब्दों में यह घोषित करते हैं कि उणादिसूत्रों का प्रवचन या प्रणयन शाकटायन ने ही किया था। कैयट ने भी उणादियों को, इसी प्रसंग में, शास्त्रान्तरपठित स्वीकार किया है। इन सबने ही प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में पञ्चपादी उणादि को इस प्रसंग में उद्धृत किया है, और शाकटायन को उसका प्रणेता माना है। किन्तु मीमांसक जी इस मत से असहमत हैं। वे पंचपादी को आपिशलिकृत मानने के पक्ष में हैं।[3]

१. नि० १.५.१५।
२. म० ३.३.१।
३. मी०, द्वि० भा०, पृ० १७३-४ एवं १७७।

किन्तु, दूसरी ओर, सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजि 'पञ्चपादी उणादि' को पाणिनीय व्याकरण का अभिन्न अंग मानते हैं। उन्होंने उसकी ही व्याख्या की है। प्रक्रियासर्वस्वकार नारायण भट्ट ने भी 'पंचपादी उणादि' को ही पाणिनीय व्याकरण का अभिन्न अंग मानकर उसकी व्याख्या की है। पंचपादी उणादि १.१० की व्याख्या में तो वे पाणिनि को स्पष्टतः इन सूत्रों का प्रवक्ता भी स्वीकार करते हैं। श्री मीमांसक ने माघ के शिशु० १९.७५ की ओर ध्यान खींचा है, जिसमें अन्य शब्दों के अतिरिक्त 'भ्रातृ' शब्द को भी पाणिनि द्वारा निपातित स्वीकृत बताया है, जिसे पञ्चपादी उणादि में एक सूत्र द्वारा निपातित माना गया है।[1] स्वामी दयानन्द ने भी पंचपादी को ही पाणिनिकृत मानकर उसकी व्याख्या की है।

दशपादी : दूसरा पक्ष

इसके विपरीत दूसरा पक्ष उन लोगों का है, जो दशपादी उणादि को ही पाणिनि की कृति मानते हैं। श्री मीमांसक इसी पक्ष के हैं। उन्होंने अनेक प्रमाण इस पक्ष में प्रस्तुत किये हैं।[2] इस पक्ष के प्रमुखतम प्रमाण उन्होंने महाभाष्यकार पतंजलि और निरुक्त के व्याख्याता देवराज यज्वा के दिये हैं। पतंजलि 'जीवेरदानुक्—जीरदानुः' का उल्लेख करते हैं,[3] और यज्वा 'वृक्षावयवाच्च' (दश० ३. ५६) को उद्धृत करते हैं।[4] यज्वा ने हीं एक अन्य सूत्र 'ऋहनिभ्यामुषन्' (दश० ९.१३) का भी उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त काशिकाकार वामन, पदमंजरीकार हरदत्तमिश्र, क्षीरतरंगिणीकार क्षीरस्वामी, अमरकोष के व्याख्याकार सर्वानन्द एवं भानुजिदीक्षित आदि द्वारा उल्लिखित उणादि-सूत्रों के पाठ उन्हें दशपादी से आगत ही सिद्ध करते हैं। ये सभी लेखक पाणिनीय व्याकरण के व्याख्याता हैं, अथवा उसका आश्रय लेने वाले हैं।

इसके अतिरिक्त दोनों सूत्र-पाठों और पाणिनीय अष्टाध्यायी की मूल प्रवृत्ति की तुलना करने पर भी मीमांसक इसी निर्णय पर पहुँचे हैं कि दशपादी 'पाठ' ही मूलतः पाणिनिकृत या पाणिनिप्रोक्त रहा प्रतीत होता है।

इसमें सन्देह नहीं कि भट्टोजि ने पंचपादी को ही पाणिनीय माना है किन्तु अनेकत्र वे दशपादी के पाठों को भी उद्धृत करते हैं। उनसे पर्याप्त पूर्व

---

१. वही, पृ० १७३।
२. वही, पृ० १७४-७।
३. दश० १.१६.३।
४. नि० टी०, २.५.१९।

प्रक्रियाकौमुदी के व्याख्याता विट्ठलाचार्य ने दशपादी को ही प्रमाण स्वीकार किया था।

अन्तर : समानता

० मूलत: पंचपादी में विषय और वस्तु की दृष्टि से अन्तर नहीं है। दोनों में एक ही से सूत्र और एक ही सी शब्दसिद्धियां हैं। मुख्य अन्तर है उनके पुनर्विभाग और पुनर्व्यवस्थापन में। दशपादी में प्रत्ययों को अन्त्य वर्ण के क्रम से लिया गया है, जबकि पंचपादी में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं हैं। कहा जा चुका है कि उणादि कहलाने पर भी दशपादी का प्रथम प्रत्यय 'अनि' है, पंचपादी के समान 'उण्' नहीं।

त्रिपादी उणादि

श्री मीमांसक ने पाठपद्धति के विवेचन द्वारा यह स्थापित किया है कि कदाचित् पञ्चपादी उणादिपाठ का मूल स्वरूप या आधार त्रिपादी के रूप में रहा होगा। इस सम्बन्ध में उन्होंने निरुक्त और शतपथब्राह्मणादि की पाठ-पद्धति की भी तुलना की है।[1]

किन्तु हमें लगता है कि उन्हें इस निर्णय में प्रभावित करने में सर्वाधिक श्रेय चान्द्र व्याकरण को प्राप्त है, जिसके अंगभूत उणादियों का पाठ तीन पादों में ही किया गया है। किन्तु चन्द्राचार्य्य ने तो अपनी शिक्षा को भी तीन पादों में ही रचा है। सच तो यह है कि वे पाणिनिप्रोक्त सम्पूर्ण व्याकरण निकाय के ही महाभाष्यानुसारी पुनरुद्धार के कार्य में प्रवृत्त हुए थे। इसीलिए उन्हें उणादि और शिक्षा के भी तर्काश्रित और विधिवत् पुनर्गठन की आवश्यकता अनुभव हुई। किन्तु इससे हमें उणादि को भी त्रिपादी मानने की बात का विरोध प्रतीत होता है। कारण यह कि चन्द्राचार्य्य का मूल उद्देश्य संक्षेप, परिष्कार और पूर्णता लाना था। अतः त्रिपादी के रूप में उणादियों के पुनर्गठन का प्रथम श्रेय उन्हीं को जाना चाहिए। उनसे पहले 'त्रिपादी' के अस्तित्व को स्वीकार करने की अनिवार्यता हमें प्रतीत नहीं होती।

उणादि के वृत्तिकार : पंचपादी

श्री मीमांसक ने कुल मिलाकर प्राप्य-अप्राप्य ऐसी २२ वृत्तियें या वृत्ति-

---

१. मी०, द्वि० भा० १७८।

कारों के विविधकालिक अस्तित्व का उल्लेख किया है, जिनका आधार 'पंचपादी' पर रहा है। इनमें से हम केवल उन प्रसिद्धतम वृत्तिकारों का ही नामोल्लेख करेंगे, जिनकी वृत्तियां सम्प्रति उपलब्ध हैं।

उज्ज्वलदत्त[१]:

'पंचपादी उणादि' के यह सर्वप्रसिद्ध वृत्तिकार हैं। इनकी वृत्ति का प्रथम सम्पादन आफ्रेक्ट ने किया था। इनका काल 'माधवीया धातुवृत्ति' के रचयिता सायण और मेदिनीकोषकार के काल के मध्य का है। सायण ने उज्ज्वलदत्त का नामोल्लेख किया है, जब कि उज्ज्वलदत्त ने मेदिनीकार का उल्लेख किया है। 'माधवीया धातुवृत्ति' का समय हम चौदहवीं शती ईस्वी के अन्त पर निर्धारित कर चुके हैं। मेदिनीकार का समय मीमांसक जी १२वीं शती ईस्वी का पूर्वार्ध मानते हैं।[२] उधर उज्ज्वलदत्त ने पुरुषोत्तमदेव का भी उल्लेख किया है। उनके बाद के किसी लेखक का उल्लेख उनकी वृत्ति में नहीं है। स्पष्ट है कि उज्ज्वलदत्त की उणादिवृत्ति पुरुषोत्तम के लगभग समकाल या कुछ बाद में लिखी गई। यह समय १२ वीं शती का मध्य ही ठहरता है। उनका आधार उणादि के प्राच्य पाठ पर रहा है।

श्वेतवनवासी[३]

दूसरे प्रसिद्ध वृत्तिकार श्वेतवनवासी हैं। इनकी वृत्ति का सम्पादन और प्रकाशन मद्रास विश्वविद्यालय से हुआ है। इन्होंने अपने वंश, अभिजन और पितृनाम का उल्लेख किया है। उत्तरमेरु के इन्द्र ग्राम के निवासी गार्ग्य गोत्र के आर्यभट्ट के घर इनका जन्म हुआ। इनकी वृत्ति के सम्पादक श्री चिन्तामणि ने इनका काल ११ वीं और १७ वीं शती के मध्य माना है। किन्तु मीमांसक जी अनेक प्रमाणों पर विचार के बाद उनका समय ११५० ई० और १२५० ई० के मध्य स्थिर करते हैं। इनकी वृत्ति का आधार मीमांसक जी दाक्षिणात्य पाठ को स्वीकार करते हैं।[४]

भट्टोजि दीक्षित

इनके सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा पहले की जा चुकी है। इनको ही इस बात का सर्वप्रथम श्रेय जाता है कि इन्होंने पंचपादी को पाणिनीय व्याकरण का

---

१. वही, १८४-६।
२. वही, १८६।
३. वही, १८७-६।
४. वही, १८६।

अभिन्न अंग मानकर अपनी 'सिद्धान्तकौमुदी' में उसे अन्तर्गृहीत किया, और उस पर वृत्ति लिखी। 'सिद्धान्तकौमुदी' के सभी परवर्ती टीकाकारों ने इनकी वृत्ति पर ही टीका लिखी।

महादेव वेदान्ती

इनकी वृत्ति अत्यन्त लघु है। इसका प्रकाशन मद्रास से हो चुका है। ये सांख्यदर्शन के भी वृत्तिकार हैं। इनका नामोल्लेख विविध रूपों में मिलता है। उज्ज्वलदत्त और श्वेतवनवासी के बाद इनकी उणादिवृत्ति को ही सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त है। इनका समय १७वीं और १८वीं शती के मध्य माना जाता है, यद्यपि उदयवीर शास्त्री इसे १३वीं शती और रिचर्ड गार्बे १६०० ई० मानते हैं।

अन्य

इनके अतिरिक्त 'प्रक्रियासर्वस्व' के रचयिता नारायण भट्ट, रामभद्र दीक्षित, वेंकटेश्वर, पेरुसूरि, नारायण सुधी, शिवराम, रामशर्मा और स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी इन्हीं उणादि सूत्रों पर अपनी वृत्तियां या टीकाएं लिखीं। इनमें से सम्पादन-प्रकाशन सब का नहीं हो पाया है।

वृत्तियां : दशपादी

कहा जा चुका है कि दशपादी उणादि का परिज्ञान बहुत पहले से रहा है। केवल इसमें ही पाए जाने वाले कुछ सूत्रों का उल्लेख पतंजलि और देवराज यज्वा द्वारा किया गया है। पंचपादी के वृत्तिकार भी इसके अस्तित्व और पाठभेद से परिचित रहे हैं।[1] मीमांसक जी ने दशपादी का आधार पंचपादी को स्वीकार किया है।[2] इसकी तीन वृत्तियां उपलब्ध होती हैं। इनमें से एक खण्डित अवस्था में है और अपूर्ण है। इसके लेखक का भी परिज्ञान नहीं है। दूसरी है 'प्रक्रियाकौमुदी' के टीकाकार विट्ठलाचार्य की। इन्होंने प्रक्रियाकौमुदी के अंगरूप में ही दशपादी उणादि की वृत्ति और व्याख्या की है। तीसरी वृत्ति का सम्पादन श्री मीमांसक ने किया है। इसका प्रकाशन वाराणसी से हुआ है। इसके लेखक का नाम अज्ञात है। मीमांसक जी इसे ६५० ई० से पूर्व का मानते हैं। उन्होंने यह तुलनात्मक पाठों द्वारा सिद्ध किया है।

---

१. वही, पृ० २०८-१; दे० तुलनात्मक तालिकाएं।
२. वही, पृ० २०२-४।

परवर्त्ती उणादिकार

मीमांसक जी ने पाणिनि से परवर्त्ती उणादिकारों की संख्या १२ मानी है। हम यहां इनमें से केवल मुख्यतम का ही उल्लेख करेंगे।

कात्यायन वररुचि

'कातन्त्र' व्याकरण के प्रसंग में हम कह आए हैं कि उसके कृदन्तभाग का कर्त्ता कात्यायन वररुचि को माना जाता है। उणादि का ग्रहण भी कृदन्त के अन्तर्गत ही होता है। अतः स्वाभाविक ही है कि 'कातन्त्र' से सम्बद्ध 'उणादि' को भी कात्यायन की ही कृति माना जाए।

इस उणादि की विशेषता यह है कि यह छह पादों में विभक्त है। इस पर 'कातन्त्र' के व्याख्याकार दुर्गसिंह ने वृत्ति लिखी है, जो कि मद्रास से प्रकाशित भी हुई है। इस वृत्ति का प्राचीनतम हस्तलेख १२ वीं शती के उत्तरार्ध का पटना में विद्यमान है।

चन्द्राचार्य

कह चुके हैं कि चन्द्राचार्य ने 'सम्पूर्ण' या 'पंचांगपूर्ण' व्याकरण का सृजन किया था। उन्होंने ऐसा सम्भवतः पाणिनि के ही अनुकरण पर किया होगा। उनका मुख्य उद्देश्य था पाणिनीय व्याकरण की संशुद्धि और पूर्णता।

यह उणादिपाठ तीन पादों में पूर्ण हुआ है। इसका संकलन भी दशपादी उणादि के अनुकरण पर अन्त्य वर्णों के क्रम से किया गया है। सम्भव है तीन पादों में विभाजन की यह बात भी उन्होंने किसी पूर्ववर्त्ती परम्परा से ग्रहण की होगी : मीमांसक जी का अनुमान है कि लींबिख ने चान्द्र के कृदन्त भाग का सम्पादन उस पर विद्यमान चान्द्र वृत्ति के आधार किया होगा।[1]

देवनन्दी

'जैनेन्द्र व्याकरण' के प्रणेता ने भी चान्द्र से प्रेरणा लेकर पंचांगपूर्ण व्याकरण के सृजन की प्रतिज्ञा की थी। निश्चय ही उन्होंने 'उणादि' का भी सृजन किया होगा, यद्यपि उसका मूल रूप इस समय अनुपलब्ध है। अपनी 'जैनेन्द्रमहावृत्ति' में अभयनन्दी ने इनमें से अनेक उणादिसूत्रों को उद्धृत किया है। मीमांसक जी तुलना के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि 'जैनेन्द्र' के उणादि का मूलाधार पाणिनीय परम्परा के पंचपादी उणादि के प्राच्य पाठ पर रहा होगा।[2] 'जैनेन्द्र' के उणादि में भी मूल व्याकरण की भाँति ही संक्षेप विद्यमान है।

१. वही, २१४।   २. वही, २१५।

पाल्यकीर्त्ति शाकटायन

इन्होंने भी अपने 'शाकटायन व्याकरण' के साथ किसी उणादि का सृजन अवश्य ही किया था। टीकाकार यक्षवर्मा के कथन से भी ऐसा सिद्ध होता है।[1] अपने ४.३.५७ और २८० में पाल्यकीर्त्ति 'उणादय:' का स्वयं ही उल्लेख करते हैं। पर यह पाठ अब उपलभ्य नहीं है।

भोजदेव

'सरस्वतीकण्ठाभरण' के प्रणेता भोजदेव के सर्वतोमुखी उद्धार की भावना से भरे प्रयास की चर्चा की जा चुकी है। वह पहले आचार्य थे, जिन्होंने चन्द्राचार्य द्वारा आरम्भ किये गए 'पाणिनीय व्याकरण के परिष्कार' के प्रयास को पूर्णता तक पहुंचाया। उन्होंने प्रथम बार गणपाठ और उणादिपाठ को मूल व्याकरण का अभिन्न अंग बना लिया। विगत अध्याय में भोजदेव की चर्चा में हम बता आए हैं कि उनके इस प्रकार के प्रयास के पीछे भावना कितनी ही ऊँची रही हो, उससे पाणिनि और पूर्ववर्त्ती आचार्यों की भावना की उपेक्षा ही हुई है।

'कण्ठाभरण' के व्याख्याकारों को ही 'उणादि के व्याख्याकार' भी माना जा सकता है।

हेमचन्द्र

'पंचांग व्याकरण' की कल्पना लेकर ही हेमचन्द्र भी बढ़े थे। उन्होंने पाणिनि, चन्द्र, शाकटायन और भोज आदि सभी से सहायता ली है। उनका उणादि पाठ सबसे विस्तृत है। उसमें कुल मिलाकर १००६ सूत्र हैं। उन्होंने इसकी विस्तृत व्याख्या भी की है।

हेमचन्द्र की ही 'बृहद्वृत्ति' के संक्षेप के रूप में एक व्याख्या 'उणादिगण-सूत्रावचूरि' के नाम से मिलती है। जोन किर्स्टे ने इसका सम्पादन किया है।

एक अन्य वृत्ति शुभशील द्वारा रचित 'उणादिनाममाला' के नाम से मिलती है।

गणपाठ

पीठिका

पाणिनि[2] के प्रसंग में ही हमने पहले 'गणपाठ' का अर्थ और उसकी

१. आरम्भिक श्लोक, ११।
२. अध्याय, पाणिनियुग : पाणिनि, पृ० १६४-६।

आवश्यकता स्पष्ट की है। वास्तव में धातु, प्रातिपदिक और प्रत्यय—तीनों ही अर्थवत् शब्दराशियों—का सामूहिक निर्देश शब्दानुशासन में बहुधा अभीष्ट रहता है। इस सामूहिक निर्देश को ही सामान्यतः 'गण' कहा जाता है। इन गणों में से 'धातुगणों' के एकत्र पाठ को 'धातुपाठ' के नाम से हम पहले ही चर्चित कर आए हैं। प्रत्ययों के प्रत्याहार, कृत्, कृत्य, प्रोक्तादि, तद्धित, आदि अधिकांश गणों की व्यक्तिशः चर्चा पाणिनीय शब्दानुशासन में ही समाहित है। केवल 'उणादि' की व्यक्तिशः चर्चा वहां नहीं होने से उनका पाठ पृथक् से किया गया। इसे हम 'उणादिपाठ' के नाम से अभी देख आए हैं। शेष रह गए प्रातिपदिक! इनकी चर्चा मुख्य व्याकरण में कई प्रकार से हुई है। अधिकांश शब्दों का निर्देश अदन्त, आदन्त, आवन्त, षान्त, नान्त, इ्यन्त, हलन्त, आदि के रूप में हुआ है। ऐसे गणों के पृथक् पाठ की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे स्वरूपतः पहचान लिए जाते हैं। अन्यत्र उनका परिगणन लिङ्ग-निर्देश के द्वारा पुंल्लिग, स्त्रीलिंग, और नपुंसकलिंग के रूप में हुआ है। इसी आधार पर 'नामप्रकरण' का दूसरा नाम व्याकरण में 'षड्लिंगप्रकरण' भी व्यवहृत होता है। यह लिंगनिर्देश प्रायः सभी ज्ञात शब्दराशि के लिए होता है। अतः इसे विशिष्ट गणों से भिन्न रूप में पढ़ा जाना अभीष्ट समझ कर ही वैयाकरणों ने 'लिंगानुशासन' को पृथक् से पढ़ा है। इस पर भी व्याकरणगत प्रत्ययकार्यादि की दृष्टि से समानकार्य वाले शब्दसमूहों या गणों का एकत्र पठन अभीष्ट हो जाता है, क्योंकि सूत्रों में उस प्रकार से उनका निर्देश है। सर्वादि, बह्वादि, नडादि, यस्कादि, कस्कादि, त्यदादि, आदि गण इसी प्रकार के हैं। इनमें से अधिकांश से कुछ निश्चित शब्दराशि ही अभिप्रेत होती है, परन्तु बहुधा उनसे आकृतिगण या समानरूप शब्दों का पाठ भी अभिप्रेत होता है। इस प्रकार के सूत्र-निर्दिष्ट प्रातिपदिकगणों के एकत्र पाठ को ही 'गणपाठ' नाम से अभिहित किया जाता है।

यह 'गणपाठ' पंचांग व्याकरण का अभिन्न अंग है।

नामकरण

इस गणपाठ को कुछ अन्य नामों से भी स्मरण किया गया है। 'शब्दपाठ' और 'प्रातिपदिकपाठ' नाम देखने में भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, परन्तु उक्त 'गण-पाठ' के वे नामान्तरमात्र ही हैं। लगता है नामों के गणपाठ को पहले इन्हीं नामों से पुकारते होंगे। काशिकाकार ने 'उपदेश' की व्याख्या की है: 'उपदेशः

शास्त्रवाक्यानि, सूत्रपाठः खिलपाठश्च'। इनमें 'खिलपाठ' के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए न्यासकार ने लिखा है: 'खिलपाठो धातुपाठः। चकारात् प्रातिपदिकपाठश्च'। इससे स्पष्ट है कि खिलपाठों में 'धातुपाठ' और प्रातिपदिकपाठ दोनों का समावेश होता था। महाभाष्य में वर्णित बृहस्पति द्वारा इन्द्र को दिये गए उपदेश के प्रसंग में 'शब्दपारायण' की चर्चा आई है। हम कह आए हैं कि इस नाम से कदाचित् बृहस्पति-प्रोक्त किसी ग्रन्थ का अभिप्राय रहा होगा। 'धातुपाठ' के प्रसंग में हमने यह भी देखा है कि तत्सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों को 'धातुपारायण' नाम दिया गया है। स्पष्ट है कि 'शब्दपारायण' नाम इसके समकक्ष प्रातिपदिकों सम्बन्धी गणपाठ की सूचनार्थ ही रहा होगा। उत्तरवर्त्ती काल में इसीको 'नामपारायण' भी कहा जाने लगा। इस नाम से बाद में कई ग्रन्थ बने।

यद्यपि संस्कृत के व्याकरणों में 'लिंग' और 'प्रातिपदिक' संज्ञाएं समानान्तर भी पाई जाती हैं, और इस आधार पर 'लिंगानुशासन' और 'प्रातिपदिकानुशासन' समानार्थक ग्रहण किये जाने चाहिएं; इस पर भी 'लिंगानुशासन' के नाम से ज्ञात 'पाठ', को प्रस्तुत 'प्रातिपदिकपाठ' या 'गणपाठ' से भिन्न विधा के रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए।

पाणिनिपूर्व

कह ही चुके हैं कि पाणिनि ने जहां अपने से पूर्वनिर्मित शब्दानुशासनों से लाभ उठाया, वहां उन्होंने आवश्यकतानुसार परिवर्त्तन के साथ-साथ अपने से पूर्ववर्त्ती 'गणों' को भी अपना लिया। आपिशलि, काशकृत्स्न, भर्तृहरि, आदि की चर्चा में हम पहले भी बता आए हैं कि 'गणों' का उल्लेख पाणिनि-पूर्व से ही स्थापित परम्परा मे मिलता है। उनसे पूर्व के जिन आचार्यों का नामोल्लेख इस विषय में नितान्त अनिवार्य है, उनमें तीन प्रमुख हैं: भागुरि, काशकृत्स्न और आपिशलि। हम यहां इनके सम्बन्ध में अत्यन्त संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

भागुरि

प्रातिपदिकगणों और शब्द-विशेष के पाठ के सम्बन्ध में भागुरि का नामोल्लेख विकीर्ण रूप में बहुधा मिलता है। 'नप्ता' और 'नप्त्री' को लेकर उनके मत के सम्बन्ध में परवर्त्ती विवाद की चर्चा मीमांसक जी ने विस्तार से की है।[1]

१. मी०, द्वि० भा०, पृ० १२०।

इसके अतिरिक्त 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' में भागुरि-सम्बन्धी श्लोकों में उनके द्वारा मान्य मुण्डादि, कृतादि, सत्यादि, पुच्छादि, और श्लोकादि गणों का निर्देश मिलता है।

भागुरि के उपलब्ध मतों में पाणिनीय मतों से भिन्नता मिलती है।

काशकृत्स्न

काशकृत्स्न के शब्दानुशासन (सूत्रपाठ) और धातुव्याख्यान की चर्चा हम पहले यथास्थल कर ही आए हैं। उनके एक सूत्र 'क्षिप्नादीनां न नो णः' का उल्लेख करके मीमांसक जी इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि पाणिनि द्वारा पठित 'क्षुभ्नादि गण' की जगह काशकृत्स्न ने 'क्षिप्नादिगण' का पाठ किया था। इससे यह स्वतःसिद्ध है कि काशकृत्स्न के व्याकरण में 'गणों' का उल्लेख भी था, और वे गण पाणिनि द्वारा मान्य गणों से भिन्न रूप में भी थे। यह बात उनके धातुगणों से भी सिद्ध हो जाती है, संख्या और स्वरूप में जो पाणिनीय धातुगणों से किंचिद् भिन्न हैं।

आपिशलि

आपिशलि उन पाणिनिपूर्व आचार्यों में सर्वप्रमुख थे, जिनका प्रभाव पाणिनीय व्याकरण पर प्रत्यक्ष रूप में पड़ा दीखता है। दोनों की 'शिक्षाविषयक' समानता की चर्चा हम पहले कर ही आए हैं। महावैयाकरण भर्तृहरि ने एक उल्लेख ऐसा किया है, जिससे आपिशलि के गणपाठ की पाणिनीय गणपाठ से भिन्नता का परिचय मिलता है: 'इह त्यदादीन्यापिशलेः किमादीन्यस्मत्पर्यन्तानि, ततः पूर्वापरावरेति(त्रि० १. १. ६. २७)। इसमें 'त्यदादि' और 'किमादि' की चर्चा स्पष्टतः हुई है। यहां भर्तृहरि 'सर्वादीनि सर्वनामानि' (पा०१.१.६.२७) के प्रसंग में सर्वादिगण पर विचार कर रहे हैं। 'त्यदादि' का स्वतन्त्र उपवर्ग या उपगण, सर्व, विश्व, आदि के उपगण से भिन्न करके, मानना अनिवार्य ही है: 'त्यदादीनामः' (पा०७.२.१०) आदि कार्यों की दृष्टि से। पाणिनि जिसे 'त्यदादि' कहते हैं, भर्तृहरि के वक्तव्य के अनुसार, उसे ही आपिशलि 'किमादि' के रूप में ग्रहण करते हैं, जिसका पाठ वे 'किम्' से लेकर 'अस्मद्' तक करते हैं; पूर्व, पर, अवर, आदि का प्रसंग वे बाद में ही उठाते हैं। 'पूर्व' से आरम्भ होने वाले इस गण को ही पाणिनि ने 'पूर्वादि' के नाम से भी माना है।[1] उन सब को व्यक्तिशः गिनाने के बाद[2], उन्हें 'पूर्वादि' नाम से

---

१. पा० ७.१.१६। २. पा० १.१.३४।

पढ़ना, इस बात को सूचित करता है कि पाणिनि द्वारा अपनाया 'पूर्वादिगण' पहले से मान्य इसी नाम के गण से कदाचित् कुछ अंश में भिन्न रहा होगा।

पाणिनि

'धातुपाठ' की भांति 'गणपाठ' की पाणिनीयता के सम्बन्ध में भी वैयाकरणों और व्याख्याकारों में मतवैविध्य पाया जाता है। एक ओर महाभाष्यकार और उनके अनुयायी हैं जो गणपाठ को पाणिनिकृत मानते हैं[1], तो दूसरी ओर न्यासकार और उनके मतानुयायी हैं जो 'गणपाठ' को पाणिनिकृत स्वीकार नहीं करते[2]; यद्यपि मीमांसक जी ने जिनेन्द्रबुद्धि के कथनों में परस्पर विरोध पाया है। वह न भी हो, तब भी इस मतभिन्नता को स्वीकार करने में आपत्ति न होनी चाहिए। आचार्यों में मतभेद होते ही हैं। हाँ, यह निश्चित है कि पाणिनि के अभिमत किसी न किसी गणपाठ की सत्ता को स्वीकार करना ही होगा, अन्यथा उनके द्वारा सूत्रों में पठित सभी नामगण अर्थहीन हो जाएंगे। यही समस्या उनके धातुपाठ और उणादि के सम्बन्ध में कही जा चुकी है।

'धातुपाठ' की भांति यहां भी पाणिनि ने 'गणों' और 'उपगणों' के रूप में विभाजन किया है। 'सर्वादि' और 'त्यदादि' की चर्चा की ही जा चुकी है: सर्वादि एक 'गण' है, जबकि त्यदादि को उसका 'उपगण' कहा जा सकता है।

पाठ का स्वरूप.

सूत्रों और धातुओं के पाठ की भाँति 'गणपाठ' के सम्बन्ध में भी वही समस्याएँ हैं। पहली समस्या है 'संहितापाठ' और 'छेदपाठ' के सम्बन्ध में : पाणिनि ने 'गणपाठ' किस रूप में किया था ? दूसरी समस्या 'लघुपाठ' और 'वृद्धपाठ' के सम्बन्ध में है।

जहाँ तक प्रथम समस्या का सम्बन्ध है, महाभाष्यकार एवं पदमञ्जरीकार आदि का मत 'उभयथा ह्याचार्येण शिष्याणां प्रतिपादनात्' के द्वारा व्यक्त हो जाता। स्पष्ट है कि गणपाठ की उपदेश-वेला में पाणिनि ने गणों का पाठ 'संहिता' के रूप में ही किया होगा, जबकि शिष्यों के अध्यापन के समय उन्होंने 'छेदपाठ' का ही आश्रय लिया होगा। दूसरी समस्या हमें प्रमाणहीन

१. प्रमाण के लिए देखें, मी०, द्वि० भा०, पृ० १२६।
२. वही, पृ० १२७-८।

दिखाई देती है, यद्यपि मीमांसक जी ने इसे पर्याप्त महत्त्व दिया है।[1] इस सम्बन्ध में 'क्रोष्टु' और 'क्रोष्ट्री' से सम्बद्ध जो उद्धरण उन्होंने महाभाष्य से दिया है[2], उससे 'वृद्धपाठ' के पृथक् अस्तित्व की कल्पना कुछ दूर की कौड़ी ही प्रतीत होती है।

गणों के रूप :

ऊपर 'गणों' और 'उपगणों' की चर्चा की गई है : सर्वादि और त्यदादि के रूप में। इसके अतिरिक्त गणों का एक अन्य भेद भी है, जिसके माध्यम से प्रायः प्रातिपदिकमात्र का समावेश पाणिनि इन गणों में कर लेते हैं। ऐसे गणों को आकृतिगण कहा जाता है। विशिष्ट गण से आकृतिगण का अन्तर यह है कि विशिष्ट गण की समाप्ति पर 'वृत्' शब्द पढ़ा जाता है, जबकि आकृतिगण का निर्देश गण के अन्त में 'च' या 'आदि' के प्रयोग से होता है।

व्याख्याता

पाणिनीय गणपाठ के व्याख्याताओं में प्रमुखतम नाम क्षीरस्वामी, स्वामी दयानन्द और यज्ञेश्वरभट्ट के लिए जा सकते हैं। इनमें से क्षीरस्वामी की गण-वृत्ति का उल्लेख 'माधवीया धातुवृत्ति' में अनेकत्र हुआ है, किन्तु वह उपलब्ध नहीं है। शेष दोनों की 'वृत्तियां' उपलब्ध हैं। ये दोनों ही वैयाकरण आधुनिक हैं। दोनों ही समकालीन भी हैं। स्वामी जी की रचना कुछ पहले की है, जबकि यज्ञेश्वरभट्ट ने १८७३ ई० (१९३० वि०) में लिखी।

पाणिनीयेतर गणपाठ

इस सम्बन्ध में हम केवल इन प्रमुखतम गणकारों का ही उल्लेख करेंगे : कातन्त्र-गणकार, चन्द्राचार्य, पाल्यकीर्त्ति, भोजदेव और हेमचन्द्र सूरि। इनके अतिरिक्त अनेक गणकारों ने 'गणपाठ' और व्याख्याग्रन्थों का निर्माण किया है।

कातन्त्र-गणकार

कातन्त्रकार ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार इसे 'सम्पूर्ण' या 'पंचांगपूर्ण' बनाया था। सम्प्रति 'कातन्त्र' के साथ उसका 'गणपाठ' भी मिलता है। 'कातन्त्र' का विभाजन तीन भागों में है : आख्यातान्त, कृदन्त और छन्दः-प्रक्रिया। मीमांसक जी ने इन तीनों भागों के अलग गणों की सूची दी है। इनमें से नामिक प्रकरण के अन्तर्गत आठ गण हैं। 'सर्वादि' और 'त्यदादि'

---

१. वही, १२९।
२. वही, १३०।

को अलग-अलग गण मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि 'त्यदादि' स्वतः 'सर्वादि' का ही एक उपगण है। कृदन्त में सात और छन्दःप्रक्रिया में चार गणों का समावेश है। इस पर किसी की व्याख्या पृथक् से नहीं मिलती।

चन्द्राचार्य

व्याकरण की भाँति गणपाठ में भी चन्द्राचार्य ने पाणिनि का अन्धानुकरण नहीं किया है। उन्होंने अपने से पूर्व के समस्त गणपाठों का अध्ययन किया था। महाभाष्य में भी पाठभेद के संकेत विद्यमान ही थे। कुछ स्थान पर उन्होंने नामान्तर भी कर दिया है। कुछ गण ऐसे भी हैं, जिनमें पाणिनि द्वारा प्रस्तुत और वार्त्तिककारों द्वारा सुझाए गणों को एक कर दिया गया है। दूसरी ओर, पाणिनि द्वारा गिनाए कुछ गण छोड़ भी दिये गए हैं।[1] इससे जहां पाणिनीय गणपाठ को कुछ अंशों में व्यापकता प्राप्त हुई है, वहां दूसरी ओर पाणिनि को न समझने के कारण भिन्नता भी समाविष्ट हुई है।

पाल्यकीर्त्ति

इनके शाकटायन नामकरण की चर्चा की जा चुकी है। पाणिनि ने जिसे 'गोषद' गण माना है, उसे इन्होंने 'घोषद' पढ़ा है। यह अन्तर ऋग्वेद की दो शाखाओं के पाठभेद के कारण है। इसी आधार पर मीमांसक जी ने 'घोषद' पाठ को स्वीकार करने वाले पाल्यकीर्त्ति को तैत्तिरीयशाखाध्यायी शाकटायन गोत्र का स्वीकार किया है।

'शाकटायन व्याकरण' का गणपाठ स्वतन्त्र रूप से मिलता है। 'पंचांग व्याकरण' की पूर्णता पाल्यकीर्त्ति का भी लक्ष्य थी। फिर उन्होंने पाणिनीय, महाभाष्यीय, जैनेन्द्र एवं चान्द्र आदि सभी पूर्ववर्त्ती परम्पराओं से अपने सूत्र-निर्माण में लाभ उठाया। इस सम्बन्ध में मीमांसक जी के निष्कर्ष निम्न हैं[2]: (क) इसी प्रसंग में उन्हें 'गणों' का वर्गीकरण और नामकरण भी नए सिरे से करना पड़ा। (ख) पाणिनि द्वारा अपनाए 'लोहितादि' की जगह 'निद्रादि' एवं 'अश्वपत्यादि' की जगह 'धनादि' आदि नामों का प्रयोग करते समय सम्भवतः उनका लक्ष्य 'लघ्वी संज्ञा' अपनाना रहा है। कुछ जगँह उन्होंने छोटे-छोटे गणों को अलग से न पढ़कर, उन शब्दों का पाठ सूत्र में ही समाहित कर

---

१. इसकी विस्तृत चर्चा के लिए देखें, मी०, द्वि० भा०, पृ० १४३ से १४८।

२. विस्तार के लिए देखें, वही, पृ० १५१-४।

लिया है। कुछ जगह पाणिनीय सूत्रों में आए शब्दों के समुदायों को उन्होंने नए गणों के रूप में बदल दिया है : यथा देवादि, श्रितादि, आदि गणों के रूप में। (ङ) कुछ जगह 'तेन प्रोक्तम्' (पा० ४. ३. १०१) जैसे सूत्रों में गण अनुक्त होने पर भी शाकटायन ने अपने 'मोदादि' जैसे गणों का पाठ किया है। (च) पाणिनि द्वारा पढ़े गए कुछ 'गणपाठस्थ सूत्रों' को अपने मूल शब्दानुशासन के सूत्रों के रूप में अपना लिया है। (छ) कुछ जगह विविध गणों को मिलाकर एक कर दिया है। (ज) चान्द्र व्याकरण में अपनाए गणनामों में भी क्वचित् अन्तर किया गया है : 'हिमादि' के स्थान पर 'गुणादि' (३. ३. १५८) एवं 'कलाप्यादि' के स्थान पर 'मोदादि' (३. १. ७०) आदि। पाल्यकीर्त्ति ने गणपाठ को अपनी 'अमोघा वृत्ति' के अंगरूप में पढ़ा था। यक्षवर्मा की लघुवृत्ति 'चिन्तामणि' की समाप्ति पर यह पृथक् से मुद्रित मिलता है।

भोजराज

कहा जा चुका है कि महाराज भोजराज ने अपने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में गणपाठ, उणादिपाठ, आदि की पृथक् आवश्यकता का अवकाश नहीं रखा। उन्होंने यथास्थल सूत्रों में ही गणों का पाठ कर दिया है। इससे कुछ सूत्रों का आकार भले ही दीर्घ हो गया है, किन्तु इससे भ्रान्ति की सम्भावना भी अवश्य मिट गई है। मीमांसक जी के अनुसार ऐसा करते हुए भोज ने निम्न बातों का ध्यान रखा है :

(१) आकृतिगणों के निर्देश के लिए 'आदि' शब्द पढ़ दिया है।

(२) वार्त्तिकादि में पठित शब्दों को भी सूत्रों में समाहित कर लिया है।

(३) कुछ जगह नए नामगण भी बनाए हैं : किंशुकादि, जपादि, आदि।

(४) कुछ जगह नामान्तर भी अपनाए हैं : यूपादि (अपूपादि), शोणादि (वह्वादि), आदि।

(५) शब्दों के विविध पाठान्तरों को पृथक् शब्दों के रूप में स्वीकार किया है : यथा 'कुर्वादिगण' में 'मुर' और 'पुर' दोनों पाठभेदों का अन्तर्ग्रहण इत्यादि।

हेमचन्द्र सूरि

कहा जाचुका है कि आचार्य हेमचन्द्र भी 'पंचांगपूर्ण व्याकरण' के सृजन

---

१. वही, १५४-५।

में प्रवृत्त हुए थे। 'गणपाठ' को उन्होंने भी, पाल्यकीर्त्ति की भाँति, अपनी 'बृहद्वृत्ति' के प्रसंग में ही यथास्थल समाहित किया है। परवर्त्ती व्याख्याताओं ने इन्हीं 'गणों' को पृथक् से पढ़कर 'हैम गणपाठ' को गठित कर लिया।

कहा जा चुका है कि आचार्य हेमचन्द्र ने पाणिनि की परम्परा में चलते हुए भी सर्वाधिक अनुकरण पाल्यकीर्त्ति शाकटायन का किया है। कुछ जगह उनकी प्रतिभा का अपना चमत्कार भी स्पष्ट हुआ है। मीमांसक जी ने उनके गणपाठ की निम्न विशेषताएं बताई हैं :

(१) उन्होंने कुछ नए गणों को निर्धारित किया : यथा सायाह्नादि।

(२) कुछ जगह नाम भी बदले हैं : पाल्यकीर्त्ति के 'अर्थादि' की जगह 'हितादि' (दोनों का आधार पाणिनि सूत्र २. १. ३६ है)।

(३) कुछ गणों को विभाजित करके पढ़ा है : यथा 'पुष्करादि' को 'पुष्करादि' और 'अजादि' में विभक्त करके।

(४) सभी पाठान्तरों को अपने पाठ में समाविष्ट किया है।

लिंगानुशासन

नामकरण

हम यह बात पहले भी कह चुके हैं कि पाणिनीयेतर व्याकरण में 'प्रातिपदिक' की एक अन्य संज्ञा 'लिंग' भी थी। किन्तु बाद में अन्यान्य संज्ञाओं के विकास के बाद 'लिंग' का प्रयोग 'प्रातिपदिक' के एक लक्षण-विशेष के रूप में, 'लिंग' के शाब्दिक अर्थ में, होने लगा। 'लिंग' का यह शाब्दिक अर्थ है—'लक्षण' या 'पहचान-चिह्न'।

'लिंग-सम्बन्धी पाठ' को 'लिंगपाठ' न कहकर 'लिंगानुशासन' कहने से एक महत्त्वपूर्ण संकेत यह मिलता है कदाचित् आरम्भ में 'उणादि पाठ' के अतिरिक्त शेष गणपाठों के दो ही भाग रहे होंगे : धातुपाठ और लिंगानुशासन अथवा 'प्रातिपदिकपाठ'। यह बात काशिका के प्रसिद्ध वचन—'सूत्रपाठः खिलपाठश्च'—और न्यासकार द्वारा उसकी व्याख्या—'खिलपाठो धातुपाठश्चकारात् प्रातिपदिकपाठश्च'—के द्वारा भी सम्पुष्ट होती है। यह भी सम्भव माना जाता है कि कभी उणादि पाठ, प्रातिपदिकपाठ और लिंगपाठ एक ही बृहत् 'लिंगानुशासन' के अंग रहे होंगे।

विषय और समस्या

किन्तु यहां हम जिस 'लिंगानुशासन' पर विचार कर रहे हैं, उसका अभिप्राय उन सूत्रों और उस पाठ से है जिनका सम्बन्ध प्रातिपदिकों के पुंस्त्रीनपुंसकादि लिंगों से है। इस विषय पर पाणिनि द्वारा रचित सूत्र और पाठ प्रसिद्ध हैं। पाणिनीय परम्परा कम से कम ऐसा मानती है। परन्तु अन्यत्र की भाँति यह बात भी विवादास्पद मानी जाती है।

इस पर भी इसमें सन्देह नहीं कि पाणिनि से पूर्व इस विषय पर पर्याप्त विचार हो चुका था। कम से कम **आचार्य व्याडि** का नाम इस विषय के सर्वप्रमुख विचारक के रूप में सप्रमाण प्रस्तुत किया ही जा सकता है।

व्याडि

हर्षप्रोक्त **'लिंगानुशासन'** में सर्वप्रथम व्याडि को ही लिंग-प्रवक्ता के रूप में स्मरण किया गया है,[1] हो सकता है उसमें स्मृत शंकर उनसे भी पूर्ववर्ती रहे हों। पर पाणिनि, वररुचि और चन्द्र का नाम निश्चय ही व्याडि के बाद आता है। **वामन** ने भी व्याडि को ही सर्वप्रथम स्मरण किया है: **'व्याडिप्रणीतमथ वाररुचं सचान्द्रम्'**।[2] अतः इस विषय में उनके अग्रणी होने में सन्देह नहीं किया जा सकता।

स्वरूप

व्याडि ने **'लिंगानुशासन'** के रूप में कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा था, या **'संग्रह'** के ही अन्तर्गत विस्तार से लिंग-सम्बन्धी विचार किया था, यह बात स्पष्ट नहीं है। **वामन** ने एक स्थल पर लिखा है कि व्याडि आदि ने अपना लिंगानुशासन सूत्र और विस्तार दोनों रूप में लिखा था: **'पूर्वाचार्यैर्व्याडिप्रमुखैर्लिंगानुशासनं सूत्रैरुक्तं ग्रन्थविस्तरेण च'**।[3] परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह वचन केवल व्याडि के ही विषय में कहा गया है। यह वक्तव्य सभी पूर्वाचार्यों के कृतित्व के विषय में समवेत रूप से दिया गया है। यह भी समझ लेना अभीष्ट है कि इस वक्तव्य में **'लिंगानुशासन'** का प्रयोग किसी ग्रन्थ नाम के लिए न होकर 'विषय' के लिए हुआ है।

---

१. 'व्याडेः शंकरचन्द्रयोर्वररुचेर्विद्यानिधेः पाणिनेः।' हर्ष, श्लोक ८७।
२. वामन, 'लिंगानुशासन' की समाप्ति पर, श्लोक-३१।
३. वही, पृ० ३।

कम से कम एक प्रमाण हमारे पास ऐसा अवश्य है, जिससे यह सिद्ध होता है कि व्याडि ने लिंग-विचार को अपने 'संग्रह' के अन्तर्गत ही, प्रसंग विशेष के रूप में, प्रस्तुत किया था। यह प्रमाण है हेलाराज द्वारा 'वाक्यपदीय' के 'लिंग-समुद्देश' में उद्धृत 'संग्रह' का एक वचन, जिसे वे तीनों लिंगों के मुख्य लक्षणों के स्पष्टीकरण के लिए प्रस्तुत करते हैं।[1] यह सूत्र रूप में न होकर विस्तृत रूप में है। सम्भव है कि संग्रह की प्रवृत्ति उभयात्मक रही हो। पर इससे यह तो स्पष्ट ही है कि व्याडि ने लिंग-सम्बन्धी विमर्श 'संग्रह' के अन्तर्गत ही किया था। साथ ही इस उद्धरण से उनके विचार की दार्शनिकता भी स्पष्ट है।

लक्षण

भर्तृहरि ने अपने 'वाक्यपदीय' के तृतीय काण्ड में एक पूरा समुद्देश 'लिंगसमुद्देश' के नाम से लिखा है। इसमें उन्होंने तीनों लिंगों के लक्षणों को स्थिर करना चाहा है। अपने सम्पूर्ण 'वाक्यपदीय' में वे व्याडि के 'संग्रह' से कितने ही प्रभावित रहे हों, इस 'लिंगसमुद्देश' के विचार की प्रेरणा तो उन्हें मिली ही व्याडि के विमर्श से प्रतीत होती है। हेलाराज ने इस सत्य को समझ लिया था। उन्होंने अपनी वृत्ति में व्याडि का यह वचन 'संग्रहकार' के नाम से उद्धृत किया है : 'संस्त्यानं संहननं तमो निवृत्तिरशक्तिरुपरतिः प्रवृत्ति-प्रतिबन्धस्तिरोभावः स्त्रीत्वम्...इत्यादि।'[1] यह सिद्धान्त सांख्य मत में भी स्वीकृत हुआ है[2]। पतंजलि ने भी इसे अपना आधार स्वीकार किया है[3]।

निष्कर्ष

इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं :

(१) व्याडि ने लिंगविचार पूरी तरह किया था,

और (२) उनका विचार दार्शनिक प्रवृत्ति का था।

पाणिनि

व्याडि के बाद प्रमुख नाम पाणिनि का ही आता है। इनका लिंगविचार

---

१. वा० ३.१३. १-२ की टीका में उद्धृत।

२. वा० ३.१३. १-२ की हेलाराज की टीका में उद्धृत।

३. वही : 'सांख्याः सत्त्वरजस्तमसां...इत्यादि।'

४. वही : 'तदेतद् भाष्यकारमतमिदं दर्शनम्। संस्त्यानप्रसव...इत्यादि।'

'लिंगानुशासन' नाम से अब भी सुरक्षित और उपलब्ध है। इसका स्वरूप मूलतः सूत्रात्मक है। कीथ जैसे अनेक विद्वान् इसकी प्राचीनता को सन्दिग्ध मानते हैं। इन सूत्रों में दार्शनिकता का आधार नहीं लिया गया है। शुद्ध व्याकरणात्मक उपयोगिता ही प्रधान रही है।

मीमांसक जी ने पाणिनीय लिंगानुशासन के सूत्र 'अविशिष्टं लिङ्गम्, अव्ययं कतियुष्मदस्मदः' के साथ कात्यायन और पतंजलि के वचनों की तुलना करके यह निष्कर्ष निकाला है कि वे दोनों निश्चय ही पाणिनि के 'लिंगानुशासन' से परिचित थे[1]।

इसीको प्रामाणिक मानकर प्रक्रियाकौमुदीकार रामचन्द्राचार्य्य, सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित, प्रक्रियासर्वस्वकार नारायण भट्ट, भैरवमिश्र, एवं तारानाथ तर्कवाचस्पति आदि ने इसकी व्याख्या की है। भट्टोजि ने तो 'शब्दकौस्तुभ' में भी इसकी ही व्याख्या की है।

कात्यायन वररुचि

पाणिनि के बाद सम्भवतः 'कातन्त्र' और 'चान्द्र' व्याकरणों में भी 'लिंगानुशासन' जैसा प्रकरण रचा गया होगा। 'चान्द्र' का उल्लेख भी मिलता है[2]। किन्तु 'निरुक्तसमुच्चय' और 'कातन्त्रपरिशिष्ट' के कर्त्ता वररुचि कात्यायन ही ऐसे हैं, जिनका लिंगानुशासन' आज भी मूल और व्याख्यासहित रूप में सुरक्षित उपलब्ध होता है। परन्तु इसकी समाप्ति का जो पाठ मीमांसक जी ने उद्धृत किया है, उससे यह प्रतीत होता है कि इसे वे किसी विस्तृत व्याकरण-ग्रन्थ के भाग के रूप में लिख रहे थे। 'कातन्त्र' के साथ उनके सम्बन्ध को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उनकी लिखी यह 'लिंगविशेषविधि' कदाचित् 'कातन्त्र' व्याकरण से ही सम्बद्ध रही होगी।

यह कारिका रूप में है। 'काशिका' में इसका उद्धरण 'लिंगकारिका' नाम से दिया गया है। हर्षवर्धन ने भी अपने 'लिंगानुशासन' में इसकी एक कारिका उद्धृत की है। होशियारपुर के वैदिक संस्थान की जिस प्रति का मीमांसकजी ने उल्लेख किया है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्वयं वररुचि ने ही इसकी एक व्याख्या भी लिखी थी[3]।

---

१. मी०, द्वि० भा०, पृ० २२६।
२. वही, पृ० २२८-९।
३. मी०, द्वि० भा०, पृ० २३०।

हर्षवर्धन से पूर्व

हर्षवर्धन का समय सातवीं शती का है। उससे पूर्व और कात्यायन के बाद कमसे कम तीन वैयाकरण और लिंगानुशासनकार हुए हैं : अमरकोषकार अमरसिंह, जैनेन्द्रकार देवनन्दी, और शंकर। शंकर के 'लिंगानुशासन' की चर्चा और उसके उद्धरण अनेकत्र विकीर्ण रूप में मिलते हैं।

हर्षवर्धन

हर्षवर्धन का 'लिंगानुशासन' जर्मनी और मद्रास से प्रामाणिक रूप में सम्पादित होकर छपा है। उसमें हर्ष स्वयं को **'श्रीवर्धनस्यात्मजः'** के रूप में कहते हैं। मीमांसक जी इससे इतिहासप्रसिद्ध सम्राट् हर्षवर्धन का ही ग्रहण करते हैं[1]। आफ्रेख्ट का मत इससे भिन्न है। इसके कालनिर्णय के सम्बन्ध में मीमांसक जी का कहना है कि इसमें वामन के **'लिंगानुशासन'** का कोई भी संकेत न होने के कारण इसे उनसे पूर्व का ही मानना चाहिए[2]।

इस पर एक व्याख्या भी मिलती है।

दुर्गसिंह

एक व्याख्यासहित 'लिंगानुशासन' दुर्गसिंह के नाम से पूना से प्रकाशित हुआ है। व्याख्याप्रसंग में **कातन्त्रसूत्रों** के उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि इसका सम्बन्ध भी **'कातन्त्र'** से ही रहा होगा। सम्भवतः यह दुर्गसिंह कातन्त्र व्याकरण का वृत्तिकार दुर्गसिंह ही है।

वामन

सबसे अधिक संक्षिप्त किन्तु बहुधा उद्धृत 'लिंगानुशासन' का प्रणयन वामन ने किया था। ३३ कारिका वाले इस लिंगानुशासन की वृत्ति भी उन्होंने स्वयं ही लिखी। सम्प्रति यह भी मुद्रित मिलता है। इसका रचयिता काशिकाकार वामन है या उससे भिन्न कोई अन्य आचार्य, यह बात विवादास्पद है। इसमें हर्ष के 'लिंगानुशासन' की एक पंक्ति उद्धृत मिलने से मीमांसक जी का अनुमान है कि इसकी रचना हर्ष के बाद हुई होगी। किन्तु क्या इसके विपरीत होना सम्भव नहीं है?

---

१. वही, पृ० २३२।
२. वही।

वामन : 'धर्मशब्दः धर्मसाधने योगादौ वाच्ये। इदं धर्मम्। तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् (ऋ० १. १६४. ४६)[1]।'

हर्ष : 'क्रतौ धर्मम्—क्रतौ धर्मक्रतौ यज्ञे तत्साधने वर्त्तमानं धर्मं नपुंसकम्। यथा—तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्[2]।

इन दोनों वचनों की तुलना इस बात को स्पष्ट कर देगी कि वामन ने मूल बात कही है, हर्ष ने उसी को विस्तार से कहा है। यदि यह अनुमान सत्य हो, तब इस वामन को काशिकाकार वामन से अभिन्न मानने में काल की आपत्ति न रहेगी।

अन्यत्र दिए वैदिक उदाहरणों से भी यह सिद्ध होता है कि इस वामन को वेद का पर्याप्त ज्ञान था। दोनों ही काशिकाकार वेदज्ञ थे।

पाल्यकीर्त्ति

इनके गणपाठधातुपाठादि की चर्चा पहले की ही जा चुकी है। 'गणपाठ' का पुनरुद्धार तो इनकी अपनी ही स्वोपज्ञा 'अमोघा वृत्ति' से किया गया है। 'लिंगानुशासन' का पाठ भी 'अमोघा वृत्ति' में ही पृथक् रूप में किया गया है। वास्तव में इसे एकत्र रूप में शाकटायन ने प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद के प्रथम सूत्र 'नपोऽचो ह्रस्वः' की व्याख्या के अन्तर्गत ६९ कारिकाओं के रूप में पढ़ा है। इसमें नपुंसकलिंग, पुंल्लिंग, स्त्रीलिंग, उभयलिंग, त्रिलिंग और अलिंग का क्रम अपनाया गया है।

इसकी एक टीका भी मिलती है। सम्भवतः इसका कर्त्ता भी यक्षवर्मा ही होगा। हमारा यह अनुमान इस आधार पर है कि यक्षवर्मा ने 'चिन्तामणि' में इस सूत्र की मूल 'अमोघा वृत्ति' का तो लगभग शब्दशः अनुगमन किया है, जब कि इन कारिकाओं को बिल्कुल ही छोड़ दिया है। स्पष्ट है कि उन्होंने ही कदाचित् इन्हें 'लिंगानुशासन' के रूप से पृथक् से व्याख्यात किया होगा। यह 'लिंगानुशासन' व्याख्यासहित मद्रास से प्रकाशित हुआ है।

टीकाकार के प्रमाण के आधार पर कहा जा सकता है कि इन कारिकाओं में कुछ संज्ञाएं प्राचीन आचार्यों की भी प्रयुक्त हुई हैं। सम्भव है ये

---

१. वामनीय लिंगानुशासन, पृ० ८।
२. हर्ष, लिंगानु०, पृ० ३४।

कारिकाएं भी प्राचीन हों। पर, यहाँ शाकटायन ने इन्हें अपना लिया प्रतीत होता है।

भोजदेव, बुद्धिसागर सूरि एवं अरुणदत्त ने भी अपने-अपने 'लिंगानुशासन' सम्भवतः लिखे थे। उनका उल्लेख अनेकत्र मिलता है। किन्तु हेमचन्द्र का 'लिंगानुशासन' इन सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं व्यापक रहा है। इसमें १३८ कारिकाएं विविध छन्दों में हैं।

इसकी व्याख्या भी अनेक ने की है। स्वयं हेमचन्द्राचार्य, कनकप्रभ, जयानन्द सूरि, वल्लभगणि का नाम व्याख्याकारों की दृष्टि से प्रमुख है।

अन्य

अन्य परवर्त्ती प्रवक्ताओं में रामसूरि, वेंकटरंग और नवकिशोर शास्त्री का नाम लिया जा सकता है। मीमांसक जी ने सायण द्वारा उल्लेख होने के कारण हेलाराज को भी इसी कोटि में माना है। पर सत्य यह है कि हेलाराज ने 'वाक्यपदीय' के तृतीयकाण्ड के पूर्वोक्त 'लिंग-समुद्देश' पर व्याख्या के प्रसंग में ही बहुत सी बातें कही हैं। उस दृष्टि से तो 'भर्तृहरि' ने 'लिंग' के विषय में दार्शनिक विचार किया ही है : एक पृथक् समुद्देश के रूप में। पर इतने से उन्हें भी लिंगानुशासन का प्रणेता नहीं कहा जा सकता।

व्याकरण के दार्शनिक व्याख्याता

पीठिका

यह कहना अत्युक्ति न होगी कि भारतीय व्याकरण या वाक्-विचार में दार्शनिकता का प्रवेश आरम्भ से ही हो गया था। इसकी आरम्भिक अभिव्यक्ति हमें ऋग्वेद के सूक्तों में मिलती है। ऋग्वेद के १. १६४, ४. ५८ एवं १०. ७१ सूक्तों में यह विचार अत्यन्त प्रौढ़ता के साथ स्पष्ट हुआ है। 'महादेव वृषभ' के साथ तुलना[1] और वाणी के चार पादों या भागों की कल्पना[2] इसी प्रौढ़ता के प्रतीक हैं। अन्यत्र भी इस प्रकार की अभिव्यक्ति विकीर्ण रूप में मिलती है।

बाद में ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों में भी वाग्विषयक यह विचार पर्याप्त प्रौढ़ता के साथ प्रत्यक्ष हुआ। वाणी को दो भागों में बाँटने अथवा वाणी को 'निधि' या 'शेवधि' आदि रूप के वर्णन करने के पीछे इसी दार्शनिकता का हाथ था। बाद में न्याय दर्शन और मीमांसा में तो वाक्-विषयक यह विचार चरम सूक्ष्मता तक पहुँच गया। मीमांसा में 'लक्षणा' के रूप में जो चर्चा आरम्भ हुई, वह बाद में काव्य-शास्त्रियों द्वारा शब्द-शक्तियों के रूप में विस्तृत विमर्श का आधार बनी।

व्याकरण में प्रवेश : पाणिनि से पूर्व

एक ओर मीमांसा की विचारधारा काव्यशास्त्रीय 'शब्दशक्तियों' के जन्म का कारण बन रही थी, तो दूसरी ओर उस विचारधारा के समानान्तर व्याकरण और निरुक्त का वह विमर्श विकसित हो रहा था, जिसके मूल में वाक् की अखण्डता का सिद्धान्त काम कर रहा था। जिन आरम्भिक वैयाकरणों ने इस दिशा में सर्वप्रथम आवाज़ उठाई, उनमें से औदुम्बरायण का परिचय हमें यास्क के निरुक्त से मिलता है। वे वाणी की अखण्डता में विश्वास रखते थे। गार्ग्य आदि अन्य कुछ आचार्यों द्वारा वाक् के अर्थपक्ष पर विचार की सूचना भी हमें यास्क से मिलती है। उपसर्गों की अर्थवत्ता, नामों की

---

१. ऋ० ४.५८.४।
२. ऋ० १.१६४.४५।

आख्यातमूलकता, आदि के सम्बन्ध में इस आचार्य के विचार उस धारा के विरोधी थे, जिसे शाकटायन सम्पुष्ट कर रहे थे। गार्ग्य और शाकटायन को हम दो विरोधी विचाराधाराओं का प्रतिनिधि कह सकते हैं, यद्यपि दोनों ही वैयाकरण रहे और दोनों को ही नैरुक्तकारों से भी सम्मान मिला। यास्काचार्य नैरुक्त होते हुए भी स्वयं व्याकरण के दार्शनिक कहे जासकते हैं। उन्होंने ही हमें सर्वप्रथम वाक् की अखण्डता, चार पद, नामों की धातुमूलकता, प्रकृति-प्रत्यय विभाग, आदि की समस्याओं एवं उनके सम्बन्ध में उठे विविध विवादों से परिचित कराया।

पाणिनि

पाणिनि जितने ही महान् वैयाकरण थे, उनका उतना ही दार्शनिक पक्ष भी दृढ़ था। यह बात हम उनसे सम्बद्ध प्रसंग में कह आए हैं। किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना अभीष्ट है कि उनकी यह दार्शनिक अभिव्यक्ति केवल कुछ सूत्रों में ही स्पष्ट हो पाई है। इस अभिव्यक्ति को उनकी प्रधान प्रवृत्ति का परिणाम नहीं कहा जा सकता। उन्होंने मूलतः दर्शन को अपना आधार नहीं बनाया था।

पाणिनि के व्याख्याकार : मुनित्रय

कात्यायन, पतंजलि और भर्तृहरि के रूप में हम पाणिनि के ऐसे तीन व्याख्याताओं से परिचित होते हैं, जिन्होंने व्याकरण की दार्शनिक भूमिका को सही और तर्कयुक्त आधार प्रदान किया। 'महाभाष्य' के प्रथम आह्निक में प्रयुक्त प्रायः सभी वार्त्तिक इसी दार्शनिक आधार को लेकर बढ़े हैं। इन्हीं के विचार-प्रसंग में पतंजलि को वह अवकाश मिला, जिसके कारण वह व्याकरण से सम्बद्ध सभी जिज्ञासाओं का सहेतुक उत्तर ढूंढने में प्रवृत्त हुए। और यह कथन अत्युक्तिपूर्ण नहीं है कि उनका सम्पूर्ण महाभाष्य ही शब्द-विषयक जिज्ञासा में पलट गया है। इस ग्रन्थ ने व्याकरण को सुदृढ़ दार्शनिक आधार प्रदान करने में महान् योग दिया। इसमें प्रथम बार 'न्याय' का दृढ़ आधार लिया गया।

भर्तृहरि इससे भी एक कदम आगे बढ़े। उन्होंने जिस गुरु से दीक्षा ली, उसने न्याय और मीमांसा दोनों के आधार पर व्याकरण की जिज्ञासाओं पर विचार किया था। निस्सन्देह भर्तृहरि 'मीमांसा' के महान् पण्डित थे। उनकी 'मीमांसावृत्ति' भले ही आज अनुपलब्ध हो, उसमें व्यक्त मतों का अनुमान

सहज ही हो सकता है। यह स्पष्ट है कि व्याकरण के 'स्फोटवाद' का आधार वाक् की जिस अखण्डता पर है, 'मीमांसा' की शब्दविषयक धारणा उससे भिन्न आधार पर बढ़ रही थी। भर्तृहरि ने इसीलिए 'मीमांसा' की व्याख्या फिर से करनी चाही होगी। उनकी दृष्टि में 'अर्थविचार' के इन दो सिद्धान्तों के बीच मतभेद इतना उग्र नहीं था। 'वाक्यपदीय' के 'द्वितीय काण्ड' (वाक्य-काण्ड) में मूलतः मीमांसा और व्याकरण की इन धारणाओं के बीच तालमेल का यत्न और उनकी सही व्याख्या की दिशा में प्रयास ही महत्त्व ग्रहण कर गया है। 'वाक्यपदीय' के प्रथम काण्ड (आगमकाण्ड) और तृतीय काण्ड (पदकाण्ड) में मुख्यतः 'न्याय' का आधार लिया गया है। विशेषकर प्रमाणों की उपयोगिता और 'प्रत्यक्ष' के महत्त्व के विषय में विचार तो है ही न्याय की पुनः व्याख्या का प्रयासमात्र।

महाभाष्य की अपनी टीका (त्रिपदी) में भी भर्तृहरि इस प्रकार के युक्ति-क्रम को अपनाने में पीछे नहीं रहे हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है कि वह टीका हमें अतिस्वल्प खण्ड के रूप में ही मिल पाई है। इस पर भी महाभाष्य और त्रिपदी की प्रकृति का अन्तर उतने से ही स्पष्ट है। पहुंच और निष्कर्ष एक होते हुए भी, 'त्रिपदी' के युक्तिक्रम और दृष्टिकोण की व्यापकता उसे स्पष्ट ही महत्त्वपूर्ण स्थान देती है।

इन दोनों ग्रन्थों में परम्परागत व्याकरण और आधुनिक भाषाविज्ञान के प्रायः सभी पक्षों पर बहुत खुले रूप में विचार हुआ है। सच तो यह है कि व्याकरण-विषयक विमर्श में अपनी दार्शनिक पहुँच के कारण ही भर्तृहरि अधिकांश ऐसी बातें स्पष्ट कर पाने में समर्थ हुए हैं, जिन्हें बिना जाने आज भी आधुनिकम्मन्य भाषाविद् अधिकांशतः अन्धकार में ही भटक रहे हैं।

काश, उनकी 'मीमांसावृत्ति' और 'शब्दधातुसमीक्षा' भी हमें उपलभ्य हो पाती।

उत्तरपाणिनि और पाणिनीयेतर

पाणिनि से उत्तरवर्त्ती व्याकरण के दार्शनिक अनुचिन्तन को हम पाणि-नीय और पाणिनीयेतर के रूप में दो धाराओं में बाँट सकते हैं। 'पाणिनी-येतर' दार्शनिक अनुचिन्तन किन्हीं पाणिनीयेतर व्याकरण-विशेषों की देन नहीं है। यहाँ हमारा अभिप्राय उन दार्शनिक विमर्शों से है, जिन्हें बौद्ध और

जैन विचारकों ने व्याकरण से सम्बद्ध रूप में प्रस्तुत किया। इस विषय में हम जैनों के अनेकान्तवाद एवं बौद्धों के अपोहवाद नामक सिद्धान्तों की ओर इंगित करना चाहेंगे। वास्तव में देवनन्दी के प्रथम सूत्र 'सिद्धारनेकान्तात्' को कात्यायन के प्रथम वार्त्तिक 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' का रूपान्तरमात्र ही नहीं कहा जा सकता। जहां कात्यायन 'लोकतः' के रूप में एकमात्र लोक को शब्दार्थ-सम्बन्धों की नित्यता का आधार मानते हैं, वहां पूज्यपाद देवनन्दी और दूसरे जैन वैयाकरण 'अनेकान्त' और 'अर्हन्' की चर्चा को 'लोकतः' से भी पहले समाविष्ट कर लेते हैं। इस प्रकार व्याकरण में आध्यात्मिकता के अंश का समावेश जैन विचारधारा की एक देन है।

बौद्धों का 'अपोह सिद्धान्त' शब्दार्थ-सम्बन्ध की समस्या से सम्बद्ध है। 'न्याय' का व्याकरण-चिन्तन में प्रवेश व्याडि और पतंजलि के समय से हुआ था। परन्तु भर्तृहरि की सूचनानुसार वैजि, सौभव, हर्य्यक्ष, आदि विद्वानों ने 'शुष्क तर्क' का समावेश करके व्याकरणागम को भ्रष्ट कर दिया था।[1] इसी शुष्क तर्क का एक परिणाम बौद्धों के 'अपोहवाद' के रूप में भी सामने आया। यह सिद्धान्त 'मीमांसा' और 'न्याय' के सिद्धान्तों से तो विपरीत है ही, इसका मूल विरोध कात्यायन के 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' की मान्यता से भी है। स्पष्ट है कि जैन वैयाकरणों की लोकतः सिद्धि की धारणा से भी यह विपरीत ही ठहरता है। इसके अनुसार किसी शब्द का अपना कोई स्थिर अर्थ या संकेत नहीं होता; प्रत्युत अन्य अर्थों के 'अपोह या अपाकरण' के द्वारा ही कोई शब्द किसी वस्तु-विशेष की ओर इंगित करता है।

बौद्धों के इस अपोह-सिद्धान्त ने प्रतिक्रिया की एक शृंखला का सृजन किया, जिसकी चरम परिणति 'नव्य न्याय' के रूप में हुई। इसके समानान्तर शब्द और अर्थ का यह विषय काव्यशास्त्र में भी अनुशीलित हुआ। काव्यशास्त्रीय अनुशीलन मूलतः 'मीमांसा' की पद्धति पर बढ़ा था। उसके द्वारा शब्द-शक्तियों के सिद्धान्त की स्थापना हुई। स्वभावतः व्याकरण के स्फोट-सिद्धान्त के यह विपरीत था। शब्द-शक्ति और स्फोटसिद्धान्त के इन विषयों पर बाद में बहुत कुछ लिखा गया; किन्तु जगदीश तर्कालंकार की 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' और मण्डनमिश्र और भरतमिश्र के 'स्फोटसिद्धि' नाम के ग्रन्थ

१. वा० २.४८०।

क्रमशः इन दोनों मतों के प्रतिनिधि ग्रन्थ कहे जा सकते हैं। मण्डनमिश्र प्रसिद्ध मीमांसक थे।

किन्तु शब्द और अर्थ के अतिरिक्त व्याकरण की अन्य समस्याएं भी इस उत्तरपाणिनि युग में अछूती नहीं रहीं। कम से कम भट्टोजि दीक्षित का 'शब्दकौस्तुभ' कौण्डभट्ट के तदाधारित 'वैयाकरणभूषण' एवं 'वैयाकरणभूषण-सार' एवं नागेश भट्ट के 'सिद्धान्तमञ्जूषा', 'लघुमञ्जूषा' एवं 'परमलघुमंजूषा' आदि ग्रन्थ इस दिशा के मुख्यतम प्रकाश-स्तम्भ कहे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी कई लेखक और ग्रन्थ इस प्रसंग में उल्लिखित किये जा सकते हैं।

कौण्डभट्ट का एक संक्षिप्त दार्शनिक ग्रन्थ 'वैयाकरणभूषणसार' के नाम से अत्यन्त ख्यात है। उनका मूल ग्रन्थ है 'वैयाकरणभूषण'। वास्तव में उन्होंने भट्टोजि के 'शब्दकौस्तुभ' में उद्धृत भर्तृहरि की वाक्यपदीयस्थ कुछ कारिकाओं और भट्टोजिरचित कुछ कारिकाओं को विषयानुसार संचित करके, उनके आधार पर व्याकरण के सभी मुख्य विषयों पर विचार किया है। 'धात्वर्थ-निर्णय', 'स्फोटनिर्णय', 'लकारार्थनिर्णय', आदि ऐसे ही प्रमुख विषय हैं। उनका चिन्तन कुछ जगह दार्शनिकता से बोझिल हो उठा है। इस पर भी भर्तृहरि और भट्टोजि की भावना को स्पष्ट करने में वे पर्याप्त सफल रहे हैं। 'भूषणसार' अपने मूल ग्रन्थ 'भूषण' का केवल विवेचनगत संक्षेप ही है; मूल कारिकाएं समान हैं। इस ग्रन्थ की टीकाएं भी कई हुईं। भैरवमिश्र की टीका अत्यन्त प्रसिद्ध है।

नागेशभट्ट का नाम व्याकरण के दार्शनिक विचारकों में प्रमुख है। 'मञ्जूषा' के तीन संस्करण उन्होंने प्रस्तुत किये : वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा, लघुमञ्जूषा और परमलघुमञ्जूषा। परवर्त्ती दोनों ग्रन्थ मूल के ही संक्षिप्त-तर संस्करण हैं। इन तीनों ग्रन्थों में मूलतः 'वाक्यपदीयस्थ' सभी विषय गृहीत होगये हैं। इनकी प्रमुख विशेषता यह है कि काव्यशास्त्रियों द्वारा उस समय तक उपलब्ध प्रगति का भी इनमें ध्यान रखा गया है। साथ ही, कौण्डभट्ट जैसे प्रौढ़ विचारकों की उपलब्धियों पर भी उनकी दृष्टि रही है। अनेक स्थलों पर नागेश के मत भर्तृहरि के मतों से भिन्न हैं। इस पर भी उनका अपना चिन्तन सजग है। वैद्यनाथ पायगुण्ड ने इसकी भी टीका लिखी है।

जगदीश तर्कालंकार की 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' अपने विषय का अनूठा ग्रन्थ है। इसका प्रधान आधार 'न्याय' पर है। इसमें यद्यपि व्याकरणात्मक

चिन्तन का भी ध्यान रखा गया है, तथापि दार्शनिक ग्रन्थ होने से इसमें व्याकरण का पक्ष प्रौढ़ नहीं रहा है। इसकी टीकाएं कृष्णानन्त विद्यावागीश और रामभद्र सिद्धान्तवागीश ने की हैं।

सारांश

इस संक्षिप्ततम पर्यालोचन से भी हम जान सकते हैं कि व्याकरण का दार्शनिक चिन्तन कितनी प्रौढ़ता के साथ हुआ था। इस सम्बन्ध में हमने जो भर्तृहरिपूर्व के औदुम्बरायण, शाकटायन, गार्ग्य, यास्क, कात्यायन और पतंजलि आदि का नामोल्लेखमात्र ही किया है, वह इस कारण कि इनके विषय में हम पहले यथास्थल विस्तार से लिख आए हैं। भट्टोजि के 'शब्दकौस्तुभ' पर भी हमने पहले संक्षेप में प्रकाश डाला ही है।

विस्तार की दृष्टि से तो यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय है।

परिशिष्ट : प्रत्याहार-सूत्र

प्रत्याहार सूत्र : स्वर और अन्तःस्थ ध्वनियां

पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' के आरम्भ से पूर्व चौदह प्रत्याहार सूत्रों के उल्लेख और परिगणन की परम्परा, उस व्याकरण-ग्रन्थ के समान ही, पुरानी है। महर्षि पतंजलि से लेकर आज तक इस व्याकरण के जितने भी भाष्यकार हुए हैं, सबने इस क्रम को और इन सूत्रों को सिद्ध मानकर ही इन पर विचार किया है। पतंजलि ने एक-एक ध्वनि की सत्ता पर गम्भीर विचार किया है; पर वे भी इस क्रम पर कोई गम्भीर शंका लेकर नहीं बढ़े।

आज के भाषाविदों ने जहाँ पाणिनि की व्याकरणात्मक प्रतिभा का लोहा मानना आरम्भ कर दिया है[1], वहाँ उन्होंने उनके द्वारा पठित प्रत्याहार-सूत्रों और उनमें प्रस्तावित ध्वनिक्रम पर भी विस्तृत विचार किया है। अब तक इन सूत्रों के निर्माण का उद्देश्य पाणिनि द्वारा अभीष्ट 'प्रत्याहारों' की उपलब्धि को स्वीकार किया गया था। पाणिनि के व्याकरण में ध्वनियों का वर्गीकरण कुछ प्रत्याहारों में आबद्ध करके सर्वत्र उन्हीं से काम चलाया गया है। मध्ययुगीन भारतीय वैयाकरणों ने इस ध्वनिक्रम को तोड़ना चाहा था। किन्तु आज का पाश्चात्य और भारतीय भाषाविद्, पूरे यत्न के बाद भी, इससे अच्छे ध्वनि-वर्गीकरण को खोज नहीं पाया है। 'भाषाविज्ञान' की नई खोजों के आधार पर इनमें कदाचित् कुछ संशोधन भी सुझाए गए हैं। परन्तु वे सुझाव, संस्कृत ध्वनियों के सम्बन्ध में न होकर, मूल भारोपीय या प्राग्भारोपीय ध्वनियों से अधिक सम्बद्ध हैं।[2]

इस सम्बन्ध में हमारा नम्र निवेदन यह है कि मूल भारोपीय और प्राग्भारोपीय ध्वनियों की जिन कुछ ध्वनि-समस्याओं को गहन और उलझी हुई समझा जाता है, उनके सुलझाव के लिए भी हमें इन प्रत्याहार-सूत्रों से सहायता और संकेत मिल सकते हैं। सत्य यह है कि पाणिनीय व्याकरण मात्र संस्कृत भाषा का ही व्याकरण नहीं है। उसमें उल्लिखित ध्वनि-सम्बन्धी

---

१. एलन, पॉल थीमे, जोशुआ ह्वाट्माऊ, आदि की तत्सम्बद्ध स्वीकृतियां।

२. भारोपीय में 'लृ' का संस्कृत तत्सम ध्वनि से भिन्न होना, ह्रस्व 'अँ', महाप्राण ध्वनि के तीन या चार भेद, आदि। ए, ओ, के ह्रस्व रूपों की चर्चा भी इसी में गृहीत हो जाती है।

नियम प्राय: सभी भाषामात्र पर समान रूप में घटित होते पाए जाते हैं। पाणिनि द्वारा उल्लिखित इन ध्वनिनियमों का कुछ संकेत और आधार हमें इन्हीं माहेश्वर या प्रत्याहार-सूत्रों में मिल जाता है।

यहाँ हम माहेश्वर-सूत्रों पर सामान्य विचार करते हुए, उनकी एक दो प्रमुख बातों पर विचार करेंगे।

माहेश्वर-सूत्रों में क्रम

इन सूत्रों में जिस क्रम से ध्वनियों को रखा गया है, उन्हें प्राय: स्वर, अन्तःस्थ और व्यंजन के रूप में कहा जाता है। इन सब पर विचार करने से प्रकरण लम्बा हो जाएगा। अतः यहाँ हम केवल स्वरों और अन्तःस्थों की स्थिति पर ही विचार करेंगे; यद्यपि उसकी संख्या और विस्तृति भी कम नहीं है।

स्वर और अन्तःस्थ

इस सम्बन्ध में जिन प्रमुख बातों पर विचार आवश्यक हो जाता है, वे निम्न हैं :

(१) मूलस्वरों की समस्या।
(२) ऋ, लृ की मौलिकता।
(३) स्वर-सन्धि।
(४) सम्प्रसारण।
(५) अन्तःस्थ।
(६) 'अण्' और सवर्ण।
(७) 'ह' की स्थिति।

मूल स्वरों की समस्या

भारोपीय भाषाओं की मूल स्वर-ध्वनियों पर विचार करते हुए प्राय: अधिकांश विद्वानों ने अ, एँ, ओँ को मूल स्वरध्वनि स्वीकार किया है। इन्हीं के दीर्घ स्वर आ, ए, ओ के रूप में स्वीकार किए गए हैं। सातवाँ शुद्धस्वर, जिसे मूलस्वर 'अ' से भिन्न समझना चाहिए, अँ (ə) स्वीकार किया गया है, जिसे हम 'अ' का क्षीण या हीनबल रूप भी कह सकते हैं।[1] माना यह जाता है कि अ, एँ, ओँ मूलस्वरों का परवर्त्ती समीकरण संस्कृत में 'अ' में हो गया, और वहाँ ए, ओ की सत्ता समाप्त हो गई। यहाँ यह सत्य अवधेय है कि

१. विस्तार के लिए टी. बरो, बटेकृष्ण घोष और भोलाशंकर व्यास लिखित तत्सम्बद्ध प्रकरण देखें।

संस्कृत के भाषाशास्त्रियों[1] और वैयाकरणों ने बहुत पहले से ही ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' की सत्ता स्वीकार की है। स्वयं पाणिनि ए, ओ, ऐ, औ की ह्रस्व-स्थितियों को मानने के पक्ष में हैं।[2] पतंजलि ने तो इस पर विस्तृत विचार किया है।[3]

पर फिर भी यह सत्य है कि संस्कृत के समान प्राचीन अन्य भारोपीय भाषाओं में संस्कृत का 'अ' उक्त तीनों रूपों में उपलब्ध होता दीखता है।

प्रचलित धारणा के अनुसार इ, उ—और उनके दीर्घ रूप ई, ऊ भी—मूलागत स्वर हैं। परन्तु आज के भाषाविद् इन्हें मूल स्वर, इसी रूप में, नहीं स्वीकार करते। वे इनका विकास कहीं मूल भारोपीय ऍं, ऑं से होता पाते हैं, कहीं ह्रस्व अ (अँ=ə) से, और कहीं य्, व् के कोमल रूप से होता पाते हैं। कुल मिलाकर, वे भारोपीय में 'इ', 'उ' की सत्ता तो स्वीकार कर लेते हैं: भले ही उन्हें 'अ' के त्रिविध रूपों के समकक्ष रखकर उन पर विचार न करते हों।

स्वर-सन्धि और सम्प्रसारण की चर्चा में इ-उ का य्-व् में और य्-व् का इ-उ में परस्पर परिवर्तन स्वीकार किया गया है। अइ, अउ अथवा आइ, आउ का अय्, अव् अथवा आय्, आव् में बदलना तथा य्, व् का इ, उ में बदलना ही 'इ', 'उ' की मूल स्थिति का निर्णायक नहीं मान लेना चाहिए। अधिकांश विद्वानों ने ई, ऊ को मूल भारोपीय स्वर माना है। परन्तु इन्हें वे दीर्घ स्वर मानते हैं। इसके अतिरिक्त 'इ' का परिवर्तन ह्रस्व 'अँ' (ə) के स्थान पर भी होता पाया गया है।

'हित्ती' भाषा के प्रकाश में आने के बाद से प्राग्भारोपीय स्वरों की संख्या में अन्तर आ गया है। भारोपीय के सात स्वरों की जगह वहां पांच स्वर ही पाए जाते हैं: ह्रस्व ऍं, ए, ह्रस्व ऑं, ओ, तथा स्वर-हीन ऍं (ə)। इनके भी विस्तृत विवेचन के बाद विद्वान् इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि मूल स्वर ह्रस्व ऍं ही रहा होगा। उनकी दृष्टि में शेष सब स्वर ध्वनियों का विकास इसी से सम्भव हुआ होगा। पर यहां पर यह भी न भूलना चाहिए कि सामी भाषाओं की मूल ध्वनियों पर विचार करने के बाद यह ज्ञात होता है कि

---

१. सिद्धेश्वर वर्मा, 'फोने०' में तत्सम्बद्ध प्रकरण।

२. 'एच इग्घ्रस्वादेशे' (पा० १.१.४८)।

३. म० १.१.२ भा० सू० ३-४।

उनके प्राचीन भाषाविद् और लिपिविद् 'अ' और 'उ' को हीं मूल ध्वनि स्वीकार करते थे। वहां 'इ' की स्वतन्त्र स्वर-ध्वनि के रूप में सत्ता ही नहीं मिलती। यह बात अन्यथा भी पुष्ट होती है। भारतीय श्रुति के अनुसार 'ओं' ही मूल ध्वनि है, जिसकी मूल मात्राएँ तीन हैं : अ, उ, म्।

एक ओर भारोपीय और प्राग्भारोपीय ध्वनियों की परस्पर तुलना से हम तीन (अ, एँ, ओँ) अथवा एक (एँ) स्वर-ध्वनि के मूल होने के निर्णय पर पहुँचते हैं, जिनमें स्वभावतः तालव्य ध्वनि की सत्ता मुख्य मानी गई है, तो दूसरी ओर हमें तालव्य ध्वनि की सत्ता के सर्वथा विपरीत एक दृष्टिकोण मिलता है। प्राग्भारोपीय ध्वनियों का अध्ययन जिन मूल स्वर-ध्वनियों (अ, एँ, ओँ) की सत्ता का निषेध करता है, दूसरा वर्ग उन्हीं दोनों ध्वनियों को मूल मानता प्रतीत होता है।

सत्य के परिज्ञान के लिए दृष्टि को अधिक विशाल करना होगा। ध्वनियों पर विचार करते हुए हमें संसार की अन्य भाषा-ध्वनियों पर भी विचार करना चाहिए। तब हम जान पाएँगे कि 'इ' स्वर की मूल सत्ता से निषेध नहीं किया जा सकता। फिर, पाणिनि जिस सिद्ध सत्य को लेकर विश्लेषण करने बढ़े थे, उसमें मूल तालव्य की सत्ता स्वीकार किए बिना काम नहीं चल सकता था। इसीलिए उन्होंने 'ओंकार' या 'प्रणव' पर आधारित 'नाद-ब्रह्म' सिद्धान्त की इस भौतिक व्याख्या को अस्वीकार कर दिया कि मूल ध्वनियां केवल अ, उ, म् ही हैं।

दो वर्ग : दूसरी ओर, माहेश्वर सूत्रों की इस मान्यता को भी पाणिनि ने स्वीकार किया है कि अ, इ, उ और ऋ, लृ, के रूप में मूल या ह्रस्व स्वरों के दो वर्ग हैं। यही कारण है कि अ, इ, उ के वर्ग का प्रयोग जितनी बार पाणिनि ने किया है, उनमें ऋ, लृ का समावेश किसी भी रूप में हो ही नहीं सकता। इसके विपरीत सत्य यह भी है कि ऋ और लृ का उन्होंने अन्य स्वरों में परिवर्त्तन होते पाया है। 'उरण् रपरः' (पा० १.१.५१) अकेला सूत्र ही हमारी बात को स्पष्ट कर देगा। ऋ और लृ का स्थानान्तरण अ, इ और उ द्वारा पृथक्-पृथक् स्थान पर होता देखा गया है। इस स्थानान्तरण को हम 'गुण' या अन्य कोई नाम दे सकते हैं। इनके बाद र्, ल् का जुड़ना स्वतः ऋ, लृ में 'र्' अंश और 'ल्' अंश की सत्ता को स्वीकार करना है। कात्यायन और

पतंजलि ने भी इस सत्य को अधिक स्पष्टता से स्वीकार किया है[1]। अतः इन दोनों को उन्होंने, 'अर्ध-व्यंजन' जैसी कोई संज्ञा न देकर भी, अ, इ, उ इन तीन मूल स्वरों और ए, ओ, ऐ, औ जैसे सन्धि-स्वरों के बीच की अवस्था का माना है।

इस आधार पर हम चाहें तो यह कहलें कि पाणिनि ने मूल ह्रस्व स्वर पाँच माने हैं, या यह कि मूल ह्रस्व स्वर उन्होंने तीन माने हैं और शेष उनकी विकृतियाँ हैं। विकृतियों को हम दीर्घ, गुण और वृद्धि स्वरों के रूप में कह सकते हैं।

ऋ-लृ की विशेष स्थिति

इस पर भी ऋ, लृ की विशेष स्थिति को माहेश्वर सूत्रों में ध्यान में रखा गया है। इन्हें 'अ' जैसा शुद्ध स्वर भले ही न माना गया हो, किन्तु सम्प्रसारण, गुण और वृद्धि में ये इ, उ के समकक्ष ही ठहरते हैं। गुण, वृद्धि और सम्प्रसारण की सीमा से बाहर केवल 'अ' ही शुद्ध स्वर ठहरता है। उसका उच्चारण, शुद्ध कण्ठ्य न होकर, विविध स्थानों से भी हो सकता है। आपिशल शिक्षा के 'सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके'[2] में इसी सत्य को स्वीकार किया गया है। पर, इसकी भी एक स्थिति 'गुण' के रूप में मानी गई है।

इ, उ, ऋ और लृ इस बात में समान हैं कि इनमें सन्धिगत, गुणगत और वृद्धिगत परिवर्तन लगभग एक समान ही होता है। य्, व्, र्, ल् से इनका सम्बन्ध उभयविध स्थिति-विनिमय का है। ए, ओ, ऐ, औ, अ तथा आ से भी इनका सम्बन्ध इसी रूप में है।

इस प्रकार, एक ओर, ऋ, लृ मूल स्वरों के समीप स्वीकार किए गए हैं, दूसरी ओर, ये अ, इ, उ से भिन्न प्रकृति के भी स्वीकार किए गए हैं।

स्वर-सन्धि

इनमें गुण स्वर—ए, ओ—तथा वृद्धि-स्वर—ऐ, औ—का परिगणन किया जाता है, जिनके लिए पाणिनि और अन्य वैयाकरण संक्षेप में 'एच्' संज्ञा का प्रयोग करते हैं। प्रातिशाख्य इन्हें 'सन्ध्यक्षर' के नाम से पुकारते हैं[3]। 'गुण'

१. म० १.१.२ भा० सू० २, म० १.१.४, पा० १०, वा० ५ की व्याख्या में : "वर्णैकदेशाश्च वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते।"

२. म० १.१.४, पा० १०, वा० ६—'सर्वमुखस्थानमवर्णमेक इच्छन्ति।'

३. ऋ० १.१.२, मा० ३-४, वा० १ (सन्ध्यक्षरेषु०), एवं ऋ० प्रा० आदि में।

और 'वृद्धि' नाम भी उसी सत्य का संकेत करते हैं, जिसे 'सन्धि' नाम संकेतित करता है। ये स्वर-मूल नहीं हैं। इनका जन्म अइ, अउ, आइ, आउ के विलयन से होता है। स्वरों की यह सन्धि बिना किसी क्रम के नहीं हो जाती। गुण और संन्धि स्वरों को आचार्यों ने, एक वर्ग में न रखकर, भिन्न वर्गों में रखा है। इसका एक मात्र कारण यह है कि वे इन दोनों की प्रकृति में अन्तर को पहचानते हैं। 'सन्ध्यक्षर' नाम से इन्हें एकत्र कहते हुए प्रातिशाख्यकारों ने इनमें अन्तर्हित एकता अथवा एक-प्रकृतिता को भी पहचान लिया था। यह एकता और भिन्नता निम्न रूपों में है।

ऐक्य

दोनों स्वरभेद इस दृष्टि से एक वर्ग के हैं कि दोनों की प्रकृति दो उच्चारण स्थानों या दो उच्चारण ध्वनियों के मिलने से बनी है। हम इसे अ+इ का मिलन कहें या कण्ठ+तालव्य स्वरध्वनियों का एकत्र रूप; 'ए' की व्याख्या अन्य किसी रूप में सम्भव ही नहीं है। 'ओ' के साथ भी यही बात है। वहाँ संयोगी ध्वनियाँ अ+उ हैं[1], जो कण्ठचौष्ठ्य हैं। सामान्यतः ऐ, औ में भी यही क्रिया होती है।

वैविध्य

इन दोनों ध्वनि वर्गों में एक प्रमुख वैविध्य भी है। सामान्यतः आ+इ तथा आ+उ के संयोग को ऐ और औ का प्राग्रूप (आइ, आउ) या प्रकृत-रूप समझ लिया जाता है। यह बात आपत्तिजनक है भी नहीं। पर संस्कृत वैयाकरणों ने यहां भी दो सन्धियां स्वीकार की हैं। इन दोनों के मिलते ही ए, ओ भी बन सकते हैं ऐ, औ भी। इसकी एक व्याख्या कदाचित् संस्कृत वैयाकरण यह करेगें कि अपने व्याकरण के प्रथम दो नियमों में पाणिनि ने 'अ' और 'आ' को क्रमशः गुण और वृद्धि स्वर कहा है। अतः उनके द्वारा निर्मित स्वर-संधि भी वैसी ही होगी। परन्तु इससे भी समस्या का हल नहीं होता। पाणिनि वहां स्वयं अ और आ को गुण और वृद्धिस्वर कह रहे हैं,[2] न कि गुण और वृद्धि स्वरों के निर्माण में समर्थ ! साथ ही 'आ+इ' से 'ए' के निर्माण की समस्या फिर भी उलझी रहती है।

---

१. आद् गुणः ॥ पा०६.१.२६ ॥

२. अदेङ्गुणः । पा० १.१.२ । वृद्धिरादैच् ॥ पा०१.१.१ ॥

जहां तक सन्धि की स्थिति का प्रश्न है, वह दोनों दशाओं में उपलब्ध होती है : गुणस्वरों में भी और वृद्धि-स्वरों में भी। वैशिष्ट्य यह है कि दोनों के संयोग से जो संयुक्त स्वर या संधि-स्वर बनता है, उसे कात्यायन और पतंजलि के अनुसार 'उत्तरभूयः'[1] अथवा 'प्रबलित उत्तर अंश वाला' कहा जाता है। यदि कहीं पूर्व अंश प्रबलित होता, तब वह इ, उ को अपने में खपा लेता। किन्तु यहां उत्तर अंश की प्रबलता इसी बात से सिद्ध है कि दोनों ध्वनियों का संयोग जिस गुण या वृद्ध स्वर को जन्म देता है, वह उत्तर-ध्वनि के मौलिक गुण या वृद्धिगत रूप के अनुकूल और समान होता है। अर्थात् इ, उ के गुण और वृद्धि रूप क्रमशः ए, ओ और ऐ, औ हैं। अ और आ के संयोग में इ, उ के आने पर भी ये दो ही रूपान्तर सामने आते हैं।

यह सत्य है कि यहाँ 'उत्तरभूयः' होने के कारण पूर्वस्वर अपना महत्त्व और रूप तो खो ही बैठता है, पर वह उत्तर स्वर के रूप पर भी प्रभाव छोड़ जाता है। किन्तु इन दोनों स्वर रूपों में परस्पर अन्तर यह है जहाँ गुण-स्वरों में सन्धि-प्रक्रिया एक बार होती है, वहाँ वृद्धि-स्वरों में वह दो बार होती है। पहले अ+इ मिलकर गुणस्वर 'ए' का रूप ग्रहण करते हैं। तब फिर अ+ए मिलकर वृद्धि-रूप 'ऐ' ग्रहण करते हैं। 'औ' की स्थिति भी ऐसी ही है।[2] 'गुण' की 'वृद्धि' को ही वृद्धि-स्वर कहा गया है : यह गुण स्वर का बढ़ाया हुआ या 'एकस्टेण्डेड' रूप है। पर, इस पर भी, सत्य यही है कि दोनों ही बार परतर या उत्तर अंश ही बलवान् रहा है। उसने ही पूर्वतर अंश को आत्मसात् करके अपना विस्तार किया है।

मूलरूप

इस पर ए, ओ, ऐं, औ को मूल स्वर माने जाने के विषय में शंका उठती है। लगता है, इस समस्या पर भी भारतीय भाषाविदों ने पर्याप्त विचार किया था। पाणिनि एक स्थिति-विशेष का, 'ह्रस्वादेश' के रूप में, उल्लेख करते हैं: 'एच इग्घ्रस्वादेशे'[3]। इसके अनुसार जिस तरह भाषा-निर्माण में 'स्वर-सन्धि'

---

१. ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वात् म० १.१.७, पा० सू० ४६, वा० ४ तथा; म० १.१.२. माहे० ३-४, वा०४ की व्याख्या में। यह संज्ञा भी प्रातिशाख्यों की है।

२. वृद्धिरेचि ॥ पा० ६.१.८८ ॥

३. पा० १.१.४८ ॥

सम्भव है, उसी तरह सन्धि-स्वरों का 'संकुचन' भी सम्भव है। वे इसे वैयाकरण होने के नाते 'ह्रस्वादेश' की संज्ञा देते हैं।

यहाँ यह स्मर्तव्य है कि जिस प्रकार गुण और वृद्धि किसी अन्य मूल अवस्था का संकेत करते हैं, उसी तरह 'ह्रस्वादेश' भी किसी अन्य मूल अवस्था से ही सम्भव हो सकता है। इस प्रकार एक ओर ए, ओ, ऐ, औ की रचना दो या अधिक स्वरों के मिलने से सम्भव होती है, तो दूसरी ओर इनका मूल रूप भी किसी न किसी रूप में सम्भव सिद्ध होता है।

यह बात प्रातिशाख्यों और महाभाष्य[1] के प्रमाण से भी सिद्ध होती है। 'अर्धैकार' और 'अर्धौकार'—अर्थात् अर्ध एकार और अर्ध ओकार—की स्थिति को उन्होंने अनेकत्र स्वीकार किया है। यह स्थिति उन प्राग्भारोपीय मूल स्वरों से अभिन्न सिद्ध होती है, जिन्हें क्रमशः ह्रस्व एँ, ओँ के रूप में स्वीकार किया गया है। प्राग्भारोपीय के उपस्थापक तो 'अ' की सत्ता भी इन्हीं मूल स्वरों से आगत समझते हैं। 'अर्ध एकार' आदि की स्थिति तभी सम्भव हो सकती है, यदि उसके दीर्घ रूपों को 'ए' और 'ओ' के रूप में स्वीकार कर लिया जाए। लगता है कि वैदिक समय से पाणिनि के समय तक ऐसे बहुत से अर्ध सन्धिस्वर और भी अधिक ह्रस्व हो गए थे। अर्थात् उनका रूप संकुचित होकर इ, उ के रूप में शेष रह गया था। भारतीय प्रवृत्ति के अनुसार इसे ही हम 'सरलीकरण की प्रक्रिया' कह सकते हैं। दीर्घ ए, ओ का गुण रूप में तथा ऐ, औ का वृद्धि रूप प्रयोग में चलता रहा; किन्तु इनका 'अर्ध' रूप धीरे-धीरे संस्कृत में इ, उ के रूप में संकुचित हो गया।

इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि ए, ओ, ऐ, औ के मूल स्वर कभी ह्रस्व एँ, ओँ ही रहे होंगे, जिनका प्रयोग वैदिक काल तक चलता रहा। किन्तु बाद में, संस्कृत की अन्य सरलीकरण प्रक्रियाओं के अनुकूल, इनका उच्चारण मूल स्वरध्वनि इ, उ के तुल्य रह गया। इसी कारण इनकी सत्ता का संकेतमात्र तो वैयाकरणों ने दिया है, पर इन्हें संस्कृत के स्वर-पाठ या ध्वनियों के वर्गीकरण में अन्तर्गृहीत नहीं किया।

सारांश : इस प्रकार इ, उ तथा ए, ओ के बारे में निम्न तीन तथ्य प्रकट होते हैं :

---

१. "एचो इग्घ्रस्वादेशशासनेषु अर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वा मा भूदिति।............ छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते"। म० १.१.२. माहे०३-४, वा० ४ की व्याख्या में।

(१) इनके मूल ह्रस्व स्वर भारोपीय और प्राग्भारोपीय भाषाओं में किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान थे।

(२) इनके दीर्घ, गुणित, या वृद्धिकृत रूप भी हमें प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं।

(३) मूल, गुण और वृद्धि स्वरों के अन्तर्विनिमय में 'अ' या 'आ' स्वर-अंश का गौण महत्त्व रहता था। विसन्धीकृत रूप में यह पृथक् महत्त्व ग्रहण कर जाता था।

स्वर-सन्धि और सम्प्रसारण

अभी हमने ए, ओ, ऐ और औ के 'विसन्धीकृत' रूप की चर्चा की है। वस्तुतः संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से इसे 'सन्धिगत' रूप ही कहना होगा। इन रूपों में यह सत्य फिर से अवधेय है कि ये चारों स्वर, क्रम से अय्, अव्, आय्, आव् के रूप में पलटते हुए[१], अ और आ के अंशों को पूर्ववत् सुरक्षित रखते हैं, जबकि इनका उत्तरवर्त्ती—इ, उ—स्वरांश सन्धिगत परिवर्तन को वहन करता है। यह बात भी उनके 'उत्तरपदभूयः' रूप को ही सूचित करती है।

यहाँ सन्धिगत रूप में इ और उ का अंश क्रमशः य्, व्, में बदल जाता है। इसकी व्याख्या हम यूँ भी कर सकते हैं कि वस्तुतः ए, ओ, ऐ, औ की सत्ता उच्चारण सौकर्य के कारण सन्धि-स्वर के रूप में है; अन्यथा इनके मूल रूप तो अइ, अउ, आइ, आउ के रूप में ही रहते हैं। यही कारण है कि जब परवर्त्ती स्वर या व्यंजन से सन्धि होती है, तब उसका प्रभाव, अ या आ के पूर्ववर्त्ती अंश पर सीधा न पड़कर, परवर्त्ती अंश इ, उ पर ही पड़ता है।

यहीं स्वर-सन्धि के नियमों की याद आ जाती है। माहेश्वर सूत्रों का निर्माण जिसने भी किया हो, इतना तो निर्विवाद कहा ही जा सकता है कि ध्वनिशास्त्र के नियमों का उससे बड़ा पारखी अन्यत्र खोज पाना असम्भव है। इ और उ के क्रम में गुण-स्वरों और वृद्धि स्वरों का पाठमात्र ही इस बात का प्रमाण नहीं है। आश्चर्यजनक बात तो यह है कि इ, उ, ऋ, ऌ के रूप में परिवर्तनीय स्वरों के क्रम से उस महावैयाकरण ने ध्वनि-परिवर्तन के एक बड़े सिद्धान्त को भी स्पष्ट कर दिया है। इन चारों स्वरों से सम्बद्ध चार विभिन्न स्थितियाँ पाणिनि ने स्वीकार की हैं :

---

१. पा० ६.१.७८ (एचोऽयवायावः)।

(१) इन चारों पर ही गुण और वृद्धि की प्रक्रिया का आधार स्थित है : इको गुणवृद्धी ।[1]

(२) गुण-वृद्धि के निराकरण या स्थानापन्न 'ह्रस्वादेश' की स्थिति में ये चारों स्वर फिर से सामने आते हैं : एच इग्घ्रस्वादेशे ।[2]

(३) इन चारों स्वरों का स्थान, सन्धि की अवस्था में, क्रमशः य्, व्, र्, ल् ले लेते हैं : इको यणचि ।[3]

(४) य्, व्, र्, ल् की विसन्धि या विभजन-स्थिति में क्रमशः ये उक्त स्वर ही स्थानापन्न हो जाते हैं : इग्यणः सम्प्रसारणम् ।[4]

इनमें से पहली दो स्थितियों की चर्चा गुण और वृद्धि स्वरों के प्रसंग में की जा चुकी है । अन्तिम दो स्थितियों की चर्चा यहाँ अभीष्ट है ।

स्पष्ट है कि शुद्ध स्वरों की स्थिति-समाप्ति के तुरन्त बाद, 'ह' की शुद्ध महाप्राण घोष ध्वनि को अलग से गिनाते ही, ठीक उसी क्रम में इ, उ, ऋ, लृ के ही क्रम और स्थान पर, क्रमशः य्, व्, र्, ल् को गिनाया गया है । 'अ' की तुलना में 'ह' को गिनवाने के कारणों पर हम बाद में विचार करेंगे । पर यदि उनमें किसी प्रकार के अज्ञात-सम्बन्ध को किसी तरह कल्पित मान कर भी बढ़ा जाए, तब भी पहली ही नज़र में यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि 'इक्' की तुलना में 'यण्' को रखा गया है, और उस आधार पर उक्त तीसरे और चौथे नियम का निर्माण किया गया है । यह बात अचानक अथवा अकारण घटित नहीं हुई है । यह एक क्रमबद्ध योजना का अंग है ।

तीन भाग

कहा जा चुका है कि माहेश्वर-सूत्रों में सम्पूर्ण ध्वनियों का वर्गीकरण तीन वर्गों में किया गया है : स्वर, अन्तःस्थ और व्यंजन । स्पष्ट है कि स्वर और व्यंजन की दो स्पष्टतः पृथक् कोटियों के बीच 'अन्तःस्थ' का निधान साभिप्राय ही है । इन्हें हम 'न स्वर न व्यंजन' अथवा 'उभयरूप' ध्वनियां कह सकते हैं ।

परन्तु यहीं पर हमें सावधान भी होना है : इन सूत्रों में 'ह' की स्थिति

---

१. पा० १.१.३ ।
२. पा० १.१.४८ ।
३. पा० ६.१.७७ ।
४. पा० १.१.४५ ।

गड़बड़ पैदा कर देती है। संस्कृत के वैयाकरणों ने 'यम्' अर्थात् य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न् को अन्तःस्थ माना है : स्वरों को वे 'अच्' नाम से स्वीकार करते हैं। तब बीच में स्थित 'ह्' को कहाँ माना जाए ?

इस प्रश्न पर अधिक विचार तो हम आगे करेंगे, किन्तु यहां इतना संकेत देना ही पर्याप्त है कि हमें 'ह्' की भी 'अन्तःस्थ' स्थिति स्वीकार करनी ही पड़ेगी। य्, व्, र्, ल्, न् और म् की स्थिति को तो वर्तमान भाषाविदों ने भी 'अर्धस्वरों' के रूप में स्वीकार कर ही लिया है। 'ञ्, ङ्, ण्' की मूल सत्ता में ही उन्हें सन्देह है; वैसे वे इन्हें भी न्, म् का ही विकृत या परिवर्तित रूप मानते हैं। य्, व्, र्, ल् में से य्, व् को वे स्वर और व्यंजन दोनों स्थितियों में विद्यमान स्वीकार करते हैं। 'ल्' की ऋ, लृ से अन्तः-परिवर्तनशीलता को भी उन्होंने स्पष्टतः स्वीकार किया है। न्, म्, के दीर्घ स्वर-रूपों की कल्पना तक भाषाविदों ने की है। अतः स्पष्ट है कि 'अन्तःस्थों' की संस्कृत-वैयाकरणों की कल्पना को उन्होंने, उसके मूलवर्ती रूप में, समझने का प्रयास किया है। 'ह्' की स्थिति पर उनका मत भिन्न है।

पाणिनि ने 'सवर्ण' की स्थिति में 'अण्' के द्वारा 'ह्, य्, व्, र्, ल्' का समावेश भी स्वीकार किया है।[1] जिस स्थिति में य्, व्, र्, ल् को अर्ध-स्वर या अन्तःस्थ मान कर उनकी सवर्ण-कल्पना की गई है, उसी आधार पर 'ह्' की भी कल्पना की गई है। सवर्ण-कल्पना का अर्थ है ह्रस्व, दीर्घ आदि रूपों की कल्पना अथवा उनमें पूर्वरूप, पररूप आदि की सम्भावना को स्वीकार करना।

यहाँ इन सब बातों पर विचार करने से प्रसंग अत्यधिक लम्बा हो जाएगा। अतः यहां हम केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझेंगे कि पाणिनि ने अंतःस्थ कल्पना को पूर्णतम रूप में ठीक समझा है। पर माहेश्वर-सूत्रों की भावना से 'ह' भी अन्तःस्थों में ही ठहरता है। पाणिनि इस सत्य को समझते थे। यह इस बात से ही सिद्ध होता है कि उन्होंने 'अण्' को सवर्णवाची स्वीकार करते हुए 'ह्' की सवर्ण स्थिति की भी सम्भावना स्वीकार की है। इस प्रकार अंतःस्थों की समस्या स्वरों से नितान्त सम्बद्ध हो जाती है।

---

१. अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः। पा० १.१.६९।

'ह्' की स्थिति :

इस सम्बन्ध में अन्तिम प्रश्न 'ह्' का रह जाता है। माहेश्वर-सूत्रों में इसका पाठ दो जगह हुआ है। संस्कृत में जिस 'हल्' शब्द से व्यंजनों का बोध होता है, वह इन्हीं सूत्रों से गृहीत प्रत्याहार है[1]। इसका आरम्भ 'ह्' से होता है, और अन्त भी 'ह्' पर ही होता है। यदि अन्तःस्थों की व्यंजनों से स्वतन्त्र स्थिति स्वीकार की जाए, तब यह समस्या उठती है कि 'ह्' को दो बार क्यों पढ़ा गया ? यदि हम प्रथम को अन्तःस्थों का अंग समझते हैं, तब यह शंका उठती है कि अन्तःस्थ 'ह्' और व्यंजन 'ह्' में क्या अन्तर है ? ऊपर हम इस सम्बन्ध में कुछ चर्चा कर आए हैं। यहाँ इस पर कुछ विस्तार से विचार करना अभीष्ट होगा।

पश्चिम के तुलनात्मक-भाषाविज्ञान-वेत्ता बहुत समय तक 'ह्' को मूल महाप्राण ध्वनि के रूप में स्वीकार करते रहे। ग्रीक ध्वनियों में तो यह 'ह्' ध्वनि, स्वतन्त्र अस्तित्व वाली न स्वीकार की जाकर, स्वरों का ही अभिन्न अंग मान ली गई। प्राचीन यूरोपीय तुलनात्मक भाषाविज्ञानियों ने तथा भारत के भी बहुत से प्राचीन वैयाकरणों ने, पतंजलि के समय से ही, 'ह्' के द्विधा-परिगणन पर आपत्ति प्रकट की थी। समाधान करने वालों ने उत्तर दिया था कि पाणिनि कुछ जगह स्वरसदृश कार्यों ('अट्' से सूचित) में 'ह्' की गणना करना चाहते हैं, और कुछ जगह वे विशुद्ध व्यंजनों ('झल्' से सूचित) में उसका परिगणन करना चाहते हैं।[2] यह उत्तर पूर्ण वैज्ञानिक नहीं लगता। आखिर क्यों वे उसे स्वर-सदृश और व्यंजन-सदृश दोनों रूपों में स्वीकार करना चाहते हैं ? माहेश्वर सूत्रों का निर्माण पाणिनि ने नहीं किया। उसने तो उनका उपयोगमात्र किया है। फिर भी वे इस वर्गीकरण को पूर्ण स्वीकृति क्यों देते हैं ?

तुर्की के बोगाजकुई नामक स्थान पर इस सदी के आरम्भ में जो शोध हुई, और उससे जो शिलालेख प्रकाश में आए, उनकी भाषा के अध्ययन के बाद अनेक विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला कि महाप्राण ध्वनि के वहां चार रूप पाए जाते हैं। इन्हें 'कण्ठनालीय ध्वनियां' कहा गया। इन के चिह्न, क्रमशः ;-X-:-ह् के रूप में स्वीकार किए जा सकते हैं। इनमें से पहली दो को केवल

---

१. 'हयवरट्'॥ मा० ५॥ से 'हल्'॥ मा० १४॥ तक सूत्रों में गृहीत वर्णों से निर्मित।

२. म० १.१.२. मा० ५, वा० १-३।

प्रभावक ध्वनियाँ कहा जा सकता है। उनका उच्चरित रूप उपलब्ध नहीं होता। तीसरी और चौथी ध्वनि को अघोष और सघोष महाप्राण ध्वनि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। अघोष महाप्राण ध्वनि का उच्चारण सम्भवतः 'ह्' और ':' (विसर्ग) के बीचका रहा होगा; जबकि सघोष महाप्राण ध्वनि शुद्ध 'ह' के रूप में रही दिखाई देती है। सत्य यह है कि इन चारों ही रूपों को, 'महाप्राण' न कहकर, प्रायः सबने ही 'कण्ठनालीय ध्वनियां' कहा है। यह अद्भुत साम्य है कि स्वयं 'ह्' को भारतीय शिक्षाग्रन्थों में 'कण्ठ्य' ध्वनि माना गया है और उसे 'अ' के वर्ग में ही रखा गया है।[1] यही स्थिति वहां विसर्गों की भी स्वीकार की गई है : 'अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः'। परन्तु इतने मात्र से ही यह निष्कर्ष निकाल लेना भ्रामक प्रतीत होता है कि इन सबका अवशेष संस्कृत और वैदिक में, 'ह' और 'विसर्ग' के रूप में, केवल सघोष महाप्राण और अघोष महाप्राण ध्वनियों के रूप में रह गया था। और इसी आधार पर यहां तक कह देना भी अनुचित है कि माहेश्वर सूत्रों में परिगणित दोनों 'ह्' ध्वनियां क्रमशः शुद्ध सघोष महाप्राण 'ह्' ध्वनि एवं अघोष महाप्राण विसर्गध्वनि ':' का प्रतिनिधित्व करती हैं।[2] शिक्षा-ग्रन्थ इस बात के प्रमाण हैं कि विसर्गों का स्थान 'व्यंजन', 'स्वर' या 'अन्तःस्थ' में से किसी एक जगह निश्चित नहीं है। उनका परिगणन सभी जगह हो सकता है[3]। वह ध्वनि य् (इ), उ, स् आदि ध्वनियों को जन्म दे सकती है, या उसका स्थानान्तरण जिह्वामूलीय और उपध्मानीय ध्वनियों द्वारा हो सकता है। परन्तु पाणिनि ने जो दूसरी बार 'ह्' पठित किया है, वह अघोष ध्वनि-क्रम में होने पर भी इन सब विशेषताओं से युक्त नहीं हैं। वह अत्यन्त सीमित एवं बंधा है। वह शुद्ध व्यंजन है। जिस 'स' और 'ह' का आपसी परिवर्तन होता है, वह उसी अघोष महाप्राण ध्वनि का प्रतीक है। ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, में जो महाप्राण ध्वनि-अंश है, वह भी इसी अघोष महाप्राण

---

१. 'नाज्झलौ। पा० १.१.१०।' में पाणिनि अ, ह् के सवर्ण होने का विरोध करते प्रतीत होते हैं। किन्तु वैयाकरण इसे 'नाऽऽज्झलौ' के रूप में पढ़कर 'आ' और 'ह' के सवर्णत्व का विरोध करते हैं। उनके इस विरोध का कारण यह है कि वे 'ह्' के स्थान पर 'ढ्' आदि के आदेश को 'आ' में होने से रोकना चाहते हैं। 'सवर्ण' का अर्थ केवल इतना नहीं है। यों 'अ' और 'आ' के भी कार्य एक से नहीं हैं। यहाँ केवल स्वर और व्यंजन की समानता का प्रश्न है।

२. भोलाशंकर व्यास, 'संस्कृत का भाषा०', पृ० ८६, १०९।

३. म० १.२. मा० ५, वा० ६-७। केवल "जैन शाकटायन व्याकरण" में इन्हें 'शषस' और 'ह' के बीच पढ़ा गया है।

ध्वनि से मिलता है। उन ध्वनियों का प्राकृत आदि में स्थानान्तरण भी इसी अघोष महाप्राण 'ह्' से हो पाता है।

पूर्ववर्ती 'ह'

स्पष्ट है कि पहला 'ह' भिन्न स्थिति में है। पाणिनीय व्याकरण में जिसे 'अश्' प्रत्याहार कहा गया है, वह आरम्भ से सघोष ध्वनियों का एकत्र वर्गीकरण है। इसके बाद की सभी ध्वनियां अघोष हैं। शुद्ध स्वरों ('अच्' प्रत्याहार) और तथाकथित अन्तःस्थों ('यम्' प्रत्याहार) के बीच में 'ह' की ध्वनि निश्चय ही 'सघोष' है, किन्तु वह इस तरह फँसी हुई प्रतीत होती है जैसे उसे किसी लाचारी और विवशता में ही वहाँ रखा गया हो।

यह उत्तर किसी सीमा तक उचित प्रतीत होता है कि स्वरों के तुरन्त बाद शुद्ध महाप्राण ध्वनि गिनाना आवश्यक था; क्योंकि भले ही अन्तःस्थ ध्वनियां पूर्ण-व्यंजन न हों, फिर भी वे व्यंजन-स्पर्शी अवश्य हैं; जबकि शुद्ध सघोष महाप्राण ध्वनि 'व्यंजन' कहलाकर भी स्वतन्त्र ही कहलाने योग्य है। वह ध्वनि सघोष महाप्राण (घ्, ध्, भ्) आदि का स्थान भी ले सकती है, [illegible]रों के स्थान पर या उनसे मिलकर भी आ सकती है। पाणिनि के एक नियम के अनुसार स्थानी का 'अन्तरतम' अथवा 'सदृशतम' होना नितान्त आवश्यक है।[1] स्पष्ट है कि 'स्' के स्थान पर आने वाली 'ह्' ध्वनि किसी भी रूप में महाप्राण नहीं कहला सकती। इतना ही नहीं, विसर्ग को तो किसी प्रकार शुद्ध 'महाप्राण' ध्वनि तक नहीं कहा जा सकता; भले ही वह कण्ठ्य या कण्ठनालीय ध्वनि महाप्राण-ध्वनि जैसी प्रतीत हो। इन्हें 'श्वास-सहित' अवश्य कहा गया है[2], पर हैं ये अघोष ही।

प्राचीन ग्रीक ध्वनियों और 'ध्वनि-संकेतों' का अध्ययन इस बात को स्पष्ट कर देगा कि स्वर और 'शुद्ध महाप्राण ध्वनि' के दो वर्ग न होकर, वस्तुतः स्वरों के ही दो वर्ग थे : एक 'अल्पप्राण घोष' और दूसरे 'महाप्राण घोष'। 'हयवरट्' माहेश्वर-सूत्र की पद्धति पर 'इको यणचि[3]' और 'इग्यणः सम्प्रसारणम्[4]' कहने वाले पाणिनि का संकेत 'ह' को निराश्रित या अनिर्णीत स्थिति में छोड़ने का नहीं है, बल्कि निश्चय ही वे इसे 'अ' का महाप्राण

---

१. स्थानेऽन्तरतमः ॥ पा० १.१.५० ॥

२. 'एते श्वासानुप्रदानाः अघोषाश्च विवृण्वते। का० १ ॥' शि० कौ० सं० प्र०, सू० १२। ३. पा० ६.१.७७। ४. पा० १.१.४५।

'स्वर' रूप ही घोषित कर रहे हैं। इसमें व्यंजनत्व का अंश प्रबल नहीं है। इसलिए यह 'अन्तःस्थों' में भी गृहीत नहीं हुआ। उनमें आधा अंश तो व्यंजनत्व का है ही। घ्, ध्, भ्, ढ् आदि में से द्, ग्, ब्, ड् -आदि अंश निकलने पर जो शुद्ध 'ह्' ध्वनि शेष रहती है, वह स्वर-स्थानीय ही है। उसमें 'अ' को जुड़ा मानना हमारी अपनी रुचि पर निर्भर है। वस्तुतः वह 'अ' का ही महाप्राण रूप है।

महाप्राण ध्वनियों के पाँच रूप

इस प्रकार पाणिनि की परम्परा में चल कर हम कह सकते हैं कि उन्होंने महाप्राण-कण्ठ्य ध्वनियों के पाँच रूप स्वीकार किये हैं। टी० बरो आदि विद्वान् इन ध्वनियों की संख्या चार से तीन अथवा दो तक सीमित करना चाहते हैं। पर पाणिनि की दृष्टि में यह संख्या पाँच ही ठहरती है। इन्हें हम इस प्रकार गिना सकते हैं :

(१) सघोष महाप्राण 'ह्' ध्वनि,
(२) अघोष महाप्राण 'ह्' ध्वनि,
(३) अपूर्ण महाप्राण ':' (विसर्ग) ध्वनि,
(४) जिह्वामूलीय ध्वनि '⨯' ध्वनि,
और (५) उपध्मानीय ध्वनि '⌣' ध्वनि।

इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

सघोष महाप्राण 'ह्' ध्वनि

इस ध्वनि को न हम शुद्ध व्यंजन कह सकते हैं, न शुद्ध स्वर। स्वर और व्यंजन के बीच की शुद्ध महाप्राण सघोष 'ह्' ध्वनि स्वतन्त्र भी दिखाई देती है; घ्, ध्, भ् आदि के अवशेष रूप में भी दिखाई देती है; 'अ' से स्थान बदलती भी दीखती है; और स्वरों के साथ स्वाभाविक रूप में मिलती भी दिखाई देती है। विसर्गों का साम्य इस 'ह' ध्वनि से नहीं है। इसका प्रभाव पूर्ववर्त्ती विसर्गों के लोप के रूप में ही न पड़कर उनके पूर्व स्वर से संगत हो जाने के रूप में भी पड़ता है। इसे यदि हलन्त के रूप में—'ह्' इस रूप में—न लिखकर शुद्ध 'ह' के रूप में लिखें, तो अधिक ठीक रहेगा। इसके उच्चारण में 'अवरोध' की शर्त नहीं आती। हाँ, 'अ' की अपेक्षा यहां प्रयत्नाधिक्य अवश्य होता है। इसे पाणिनि ने स्वरों के तुरन्त बाद पढ़ा है। उदाहरण निम्न हैं :

१. 'नाभ्झलौ' की स्थिति स्पष्ट की जा चुकी है। वह स्थिति सवर्णदीर्घ आदि के प्रसंग के लिए है।

(अ) स्वरों से अनायास अन्तःपरिवर्तन :

(क) एवम् आह (सं०)=हेवं आह (अशोकी प्राकृत) ;
अस्ति (सं०)=हस्ती (फ़ा०) ।

(ख) हे (सं०) =ए, अयि, ऐ (प्रा०, सं०, हिं० आदि) ;
हाहा>आहा, हंहो> अंहो, आदि ।

(ब) घोष महाप्राण व्यंजन से अन्तःपरिवर्त्तन :

(क) हि=धि (जुहुहि=जुहुधि) (सं०) ।
हहान=घघान=जघान (सं०) ।
हस्त (सं०)=घस्त (लुप्त रूप)=दस्त (फ़ा०) ।

(ख) घो, भो=हो (सं०) अघ, अध, अभ=अह (सं०, प्रा०),
अघो=अहो (सं०) ।
वाक्+हसति=वाग्घसति (सं०) ।
तद्+हितम्=तद्धितम् (सं०) ।

(स) विसर्गों पर प्रभाव :
मनः+हरः=मनोहरः, आदि ।

अघोष महाप्राण 'ह्' ध्वनि

माहेश्वर सूत्रों में इसे श्, ष्, स् के बाद पढ़ा गया है। पर इतने से ही यह सोष्म ध्वनि सिद्ध नहीं हो जाती। यह महाप्राण ध्वनि का सबसे सरलतम रूप है। यह अघोष है। उसी क्रम में पढ़ी भी गई है। ख्, थ्, फ्, छ्, ठ् में जिस महाप्राण तत्त्व का निवास है, यह 'ह्' ध्वनि उसकी समवर्त्ती है। 'स्' का रूपान्तर इसी 'ह्' ध्वनि में होता है। 'तुभ्यम्' या 'तुह्यम्' का 'तुझे या तुज्झे' रूप 'ह्' का 'सघोष महाप्राण' में परिवर्तन है, जबकि 'अस्माकम्'= हमारा, आह्+क्त (सं०)=आक्खया (पंजाबी), आदि में 'स्' का 'ह्' या 'ह्' का 'ख्' में परिवर्तन उसकी अघोषावस्था का सूचक है। 'अस्ति' से 'हस्ती' बनते समय 'अ' का 'ह' में सघोष महाप्राण के रूप में रूपान्तरण हुआ है, किन्तु अस्ति=अत्थि=अथइ=अहइ=हइ=है में 'स्' का 'ह्' में अघोष महाप्राण के रूप में, रूपान्तरण हुआ है। भूतः=हुआ (या, भू=हो) में स० म० व्यंजन का स० म० 'ह' में रूपान्तरण हुआ है, किन्तु अथ=अह या षोडश= सोरस=सोलह में अ० म० व्यंजन का अ० म० 'ह' में रूपान्तरण हुआ है।

'अघोष' होने के अतिरिक्त, दूसरी 'ह्' ध्वनि से, इसमें यह अन्तर भी है कि इसे स्वरों का स्थानीय या उनसे सहज-समवेत नहीं कहा जा सकता। सघोष होने से स्वर सघोष महाप्राण ध्वनि से ही अभिन्न या समवेत हो सकते हैं।

अपूर्ण महाप्राण विसर्ग (:) ध्वनि

वस्तुतः विसर्ग को 'महाप्राण' कहना भ्रामक ही है[1]। परम्परावश ऐसा मानें तो अलग बात है। अन्यथा यह 'अ' से भी पूर्ववर्त्ती, 'ह्' से भिन्न, मूल कण्ठ्य ध्वनि है। व्यंजन यह है नहीं। स्वर की स्थिति को यह प्राप्त नहीं हो सका। अतः इसका समावेश सर्वत्र करें या कहीं न करें, बात एक ही है। अपूर्ण-ध्वनि होने के कारण ही, इसका व्यवधान होने पर भी, षत्व और णत्व जैसी विधियाँ नहीं रुकतीं। यह स्वतः 'उ', 'स्' आदि अपूर्ण श्रुतियों में परिवर्तित भी हो सकती है, उनका स्थान भी ले सकती है, अथवा लुप्त भी हो सकती है। व्यवहार में इसकी स्वतन्त्र सत्ता, लेखन में भले ही अधिक हो, प्रयोग में वह बहुत ही कम है; और वह भी अल्पप्राण ध्वनि के रूप में ही मिलती है। अन्यथा कण्ठ्य और ओष्ठ्य ध्वनियों से पूर्व यह क्रमशः 'जिह्वामूलीय' और 'उपध्मानीय' ध्वनियों के रूप में पलट जाती है।[2] यूं भी कह सकते हैं, वे ध्वनियाँ इसका स्थान ले लेती हैं।

जिह्वामूलीय

जिह्वामूलीय को हम कण्ठनालीय या कण्ठ्य ध्वनि भी कह सकते हैं। संस्कृत व्याकरण में इसे विसर्ग के स्थान पर आई ध्वनि माना जाता है। इसका प्रयोग-स्थल केवल 'क्' से पहले होता है। वस्तुतः 'क्' शुद्ध कण्ठच ध्वनि है। 'जिह्वामूलीय ध्वनि' 'क्' से पूर्ववर्त्ती उस अपूर्ण-कण्ठ्य ध्वनि का नाम है, जो अपूर्णता में विसर्ग से मिलती-जुलती होकर भी उस जैसी स्वतन्त्रता से बोली नहीं जा सकती। इसका अस्तित्व पूर्ववर्त्ती ह्रस्व और उत्तरवर्ती 'क्' या 'ख्' ध्वनि के सह-अस्तित्व के समय ही सामने आता है। यदि ये दोनों शर्तें न हों, तब यह ध्वनि ' : ' (विसर्ग) के रूप में या 'स्' आदि में परिवर्त्तित होकर ही रहती है।

---

१. श्वासानुप्रदानाः ॥ का० १ ॥

२. कुप्वोः ⨯क ⨯पौ च ॥ पा० ८.३.३७ ॥

उपध्मानीय

यह इसी अपूर्ण स्थिति का दूसरा रूप है, जिसकी सत्ता परवर्ती 'प्' पर निर्भर करती है। शेष बातें पूर्ववत् हैं। 'प्' ओष्ठ्य ध्वनि है। उसका जन्म 'ध्मान' से होता है। अतः उससे पूर्व की अपूर्ण व्यंजन स्थिति को 'उपध्मानीय' कहा गया : अर्थात् 'ध्मान' से पूर्व की अपूर्ण स्थिति।

उक्त दोनों ही अपूर्ण ध्वनियाँ हैं, जो व्यंजन के समीपतर होकर भी 'व्यंजन' नहीं कहला सकतीं। इन दोनों का अस्तित्व हित्ती भाषा में स्वीकार किया गया है।[1]

उपसंहार

यह लघु विवेचन यह स्पष्ट कर देगा कि माहेश्वर सूत्रों को अपनाते हुए पाणिनि ने पूर्ण वैज्ञानिक दृष्टि को सामने रखा था, और उसे पूरी तरह समझा था। बाद में इस क्रम को बदलने के प्रयास कितने भ्रमावह थे, यह सिद्ध करना यहाँ अभीष्ट नहीं है। फिर भी यह समझ लेना चाहिए कि पाणिनीय व्याकरण इन सब स्थितियों से पूर्णतया परिचित है।

इस विवेचन से आज के तुलनात्मक भाषाविज्ञान की कुछ समस्याओं के समाधान की राह भी खोजी जा सकती है।

---

१. विसर्ग, जिह्वामूलीय, आदि की समस्या 'अयोगवाहों' की बृहत्तर समस्या का अंग है। इसकी चर्चा म० १.१.२, मा० सू० ५, वा० ६-८ की व्याख्या में की गई है।

ग्रन्थ-सूची

[सूची के विस्तार भय से यथावश्यक ग्रन्थों और लेखकों के नाम देकर ही सन्तोष किया गया है। इससे अधिक की आवश्यकता, इस प्रकार के लघु ग्रन्थ में अनुभव नहीं की गई। केवल प्रसिद्धतम ही उद्धृत किए जा रहे हैं।

—लेखक]

अ. आगम-ग्रन्थ

(क) वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद (शुक्ल, कृष्ण), अथर्ववेद।

(ख) ब्राह्मण—शतपथ, गोपथ, ऐतरेय।

(ग) आरण्यक—ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य।

(घ) उपनिषद्—एकादशोपनिषत्संग्रह।

(ङ) पुराण—वायु, स्कन्द और अग्निपुराण।

(च) आयुर्वेद—चरक, सुश्रुत, अष्टांगसंग्रह, अष्टांगहृदय।

(छ) दर्शन—सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा और वेदान्त।

(ज) गृह्यधर्मसूत्र—आश्वलायन, गोभिलीय, शौनकीय, आपस्तम्ब। ...इत्यादि।

आ. वेदांग

(क) निरुक्त

१. यास्कीय निरुक्त—सभी संस्करण, दुर्गवृत्तिसहित।

२. वाररुच निरुक्तसमुच्चय—मद्रास वि० वि० एवं युधिष्ठिर मीमांसक के संस्करण।

३. बृहद्देवता—शौनक, लाहौर।

(ख) प्रातिशाख्य : व्याकरण

१. ऋग्वेदप्रातिशाख्य—(दोनों भाग)—सम्पा० डा० मंगलदेव शास्त्री।

२. वाजसनेय प्रातिशाख्य।

३. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य।

४. अथर्वप्रातिशाख्य—सं० डा० सूर्यकान्त शास्त्री, लाहौर ।
५. अथर्ववेदप्रातिशाख्य (शौनकीय चतुरध्यायी)—सं० व्हिटने ।
६. मैत्रायणीय प्रातिशाख्य ।
७. ऋग्विधानम्—शौनक, सं० जगदीश शास्त्री ।
८. ऋक्तन्त्रम्—शौनक, सं० डा० सूर्यकान्त, लाहौर ।
९. लघुऋक्तन्त्रम्—„ „ „ ।
१०. प्रतिज्ञापरिशिष्टम्—कात्यायन, सं० विद्याधर विद्यालंकार, लाहौर ।

(ग) शिक्षा

१. शिक्षासंग्रह—पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित ।
२. सर्वशिक्षासंग्रह—काशी से प्रकाशित ।
३. पाणिनीयशिक्षा—डा० मनमोहन घोष, स्वामी दयानन्द, गुरुप्रसाद शास्त्री, डा० रघुवीर, श्री मीमांसक आदि द्वारा सम्पादित सभी संस्करण ।
४. आपिशलशिक्षा—श्री मीमांसक द्वारा सम्पादित ।
५. चान्द्रशिक्षा—मीमांसक आदि द्वारा सम्पादित सभी संस्करण ।
६. भारद्वाजशिक्षा ।
७. माण्डूकी शिक्षा (अथर्ववेदीय)—पं० भगवद्दत्त ।...इत्यादि ।

इ. मूल व्याकरण-ग्रन्थ

१. काशकृत्स्नव्याकरणम्—युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित ।
२. अष्टाध्यायी—श्रीशचन्द्र वसु, शंकरराम शास्त्री, आदि द्वारा सम्पादित सभी उपलभ्य संस्करण ।
३. कातन्त्रकलापव्याकरणम् (शर्ववर्मा)—की दुर्गसिंह, दुर्गगुप्तसिंह आदि वृत्तियों से युक्त, कलकत्ता से बंगाक्षरों में मुद्रित ।
४. चान्द्रवृत्ति—चन्द्रगोमी, सं० लीबिख ।
५. चान्द्रव्याकरण—चन्द्रगोमी, सम्पा० क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय ।
६. जैनेन्द्रव्याकरण—देवनन्दी; अभयनन्दी की महावृत्ति सहित ।
७. मुग्धबोधव्याकरण—बोपदेव प्रणीत ।
८. शाकटायनव्याकरणम्—पाल्यकीर्त्ति जैन प्रणीत (अमोघा एवं चिन्तामणि से युक्त संस्करण) ।

९. सरस्वतीकण्ठाभरण—भोजराजप्रणीत ।
१०. सिद्धहेमशब्दानुशासनम्—हेमचन्द्रसूरिप्रणीत, हैमबृहद्वृत्तिसहित ।
११. सारस्वतव्याकरणम्—अनुभूतिस्वरूपाचार्यप्रणीत ।
१२. प्राकृतप्रकाशः—वररुचिप्रणीत ।
१३. षड्भाषाचन्द्रिका—लक्ष्मीधरप्रणीता ।
१४. शब्दार्णव—गुणनन्दीप्रणीत ।...इत्यादि ।

ई. भाष्य-वृत्ति-ग्रन्थ

१. महाभाष्य—(पतंजलि)—कीलहॉर्न, अभयंकर, क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय, आदि द्वारा सम्पादित एवं कैयट के 'प्रदीप', नागेश के 'प्रदीपोद्योत', वैद्यनाथ की 'छाया' आदि से उपबृंहित सभी संस्करण ।
२. महाभाष्यटीका—(भर्तृहरि)—स्वामिनाथन् द्वारा सम्पादित ।
३. शब्दकौस्तुभ (भट्टोजि)—चौखम्बा सीरीज़ ।
४. अष्टाध्यायीभाष्यम् (स्वामी दयानन्द)—सम्पा० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ।
५. काशिका(वामनजयादित्यरचिता)—सम्पा०अनन्तशास्त्री फडके,काशी ।
६. काशिकाविवरणपञ्जिका (न्यास)—जिनेन्द्रबुद्धि, सं० श्रीशचन्द्र चक्रवर्त्ती ।
७. पदमञ्जरी—हरदत्त, काशी ।
८. काशिका (न्यासपदमञ्जरीसंहिता), छहों भाग—स्वामी द्वारिकाप्रसाद शास्त्री एवं कालिकाप्रसाद शुक्ल द्वारा सम्पादित ।
९. भागवृत्तिसंकलनम्—सम्पा० पं० युधिष्ठिर मीमांसक ।
१०. भाषावृत्तिः—पुरुषोत्तमदेव, सम्पा० श्रीशचन्द्र चक्रवर्त्ती ।
११. अष्टाध्यायी, मिताक्षराटीका—अन्नम्भट्ट ।
१२. अष्टाध्यायी, व्याकरणदीपिका टीका—ओरम् भट्ट ।
१३. वृत्तिदीपिका—श्रीकृष्णभट्ट ।...इत्यादि ।

उ. प्रक्रिया-ग्रन्थ

१. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (भट्टोजिदीक्षित)—भट्टोजि की प्रौढमनोरमा, वासुदेव दीक्षित की 'टीका', हरिदीक्षित के 'शब्दरत्न', नागेश के 'शेखर' एवं भैरवमिश्र की 'मिश्री' आदि टीकाओं से युक्त विविध संस्करण ।

२. मध्यसिद्धान्तकौमुदी—वरदराजाचार्यप्रणीता।
३. लघुसिद्धान्तकौमुदी—वरदराजाचार्यप्रणीता।
४. प्रक्रियाकौमुदी—रामचन्द्रप्रणीत एवं विट्ठलकृत प्रसादटीकायुक्त।
५. प्रक्रियासर्वस्व—नारायणभट्टप्रणीत।
६. हैमप्रकाशमहाव्याकरणम्—विनयविजयगणिरचित प्रक्रिया।
७. हैमलघुप्रक्रिया—विजयनेमिसूरि, नेमिदर्शन ग्रन्थमाला।
८. सारस्वतप्रक्रिया—काशी।
९. दुर्घटवृत्ति—शरणदेवप्रणीत; गणपतिशास्त्री तथा लुईरेणु द्वारा सम्पादित दोनों संस्करण।
१०. रूपावतार—धर्मकीर्त्ति, काशी।
११. जैनेन्द्रप्रक्रिया।
१२. वेदांगप्रकाश—स्वामी दयानन्द, सभी चौदह भाग, अजमेर।
१३. स्वर-वैदिक-प्रक्रिया से सम्बद्ध विविध ग्रन्थ।
१४. वैयाकरणसिद्धान्तचन्द्रिका—राम शर्मा।
१५. स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका—श्रीनिवास यज्वा।
१६. व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि—चौखम्बा।
१७. क्षेमेन्द्रटिप्पण—क्षेमेन्द्ररचित।

अ. शेष व्याकरणांग

१. धातुपाठ, उणादिकोश, लिंगानुशासन, गणपाठ, परिभाषा संग्रह एवं फिट्सूत्र आदि के प्रकाशित विविध संग्रह।
२. माधवीया धातुवृत्तिः (क्षीरतरंगिणीसहिता)—सायण, क्षीरस्वामी, काशी से प्रकाशित दोनों संस्करण।
३. क्षीरतरंगिणी—क्षीरस्वामी, युधिष्ठिर मीमांसक सम्पादित।
४. पाणिनीय धातुपाठ समीक्षा—भगीरथप्रसाद त्रिपाठी, स० भ० सीरीज़।
५. काशकृत्स्नधातुव्याख्यानम्—चन्नवीरकवि, अनु० युधिष्ठिर मीमांसक।
६. दशपाद्युणादिवृत्तिः—युधिष्ठिर मीमांसक।
७. उणादिकोश—महादेव वेदान्ती, सम्पा० कुञ्जुन्नीराजा।
८. *Uṇādi Sūtras in Various Recensions*—Ed : T. R. Chintamaṇi, M. U. Series, मद्रास।
९. औणादिक पदार्णव—पेरुसूरि, मद्रास।

१०. पाणिनीयलिंगानुशासनम्—सिद्धान्तकौमुदी के साथ मुद्रित।
११. लिंगानुशासन (कातन्त्रीय)—दुर्गसिंहकृतवृत्तिसहित, सं० कोपारकर।
१२. वामनीय लिंगानुशासन—वामनीयटीकासहित, बड़ौदा।
१३. हर्षवर्धनीय लिंगानुशासन—मद्रास।
१४. नाममाला—धनञ्जय।
१५. त्रिकाण्डशेष—पुरुषोत्तमदेव।
१६. परिभाषावृत्तिः—पुरुषोत्तमदेव, सं० दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य।
१७. परिभाषेन्दुशेखर—नागेशभट्ट, सं० कीलहॉर्न।
१८. लिंगानुशासनवर्गः—सं० मुकुन्द शर्मा।
१९. गणरत्नमहोदधिः—वर्धमान सूरि, सं० जूलियस ऐगलिङ्।
२०. दैवम्. पुरुषकारव्याख्योपेतम्—लीलाशुककवि, सं० मीमांसक। ...इत्यादि।

ऋ. काव्यशास्त्र एवं काव्यग्रन्थ

१. काव्यालंकार—भामह।
२. काव्यादर्श—दण्डी।
३. काव्यप्रकाश—मम्मट।
४. ध्वन्यालोक—अभिनवगुप्त।
५. भट्टिकाव्य—भट्टिस्वामी।
६. शतकत्रय—भर्तृहरि।
७. रघुवंश—मल्लिनाथ, हेमाद्रि की टीका सहित।
८. शिशुपालवधम्—माघ।
९. किरातार्जुनीयम्—भारवि।
१०. कृष्णचरित—समुद्रगुप्त।
११. मुद्राराक्षस—विशाखदत्त।
१२. देवीचन्द्रगुप्त—विशाखदत्त।
१३. कुमारपालचरित—हेमचन्द्र सूरि।
१४. प्राकृत-द्व्याश्रय काव्य—हेमचन्द्र सूरि।
१५. राजतरंगिणी—कल्हण, विविध संस्करण।
१६. कथासरित्सागर—सोमदेव।
१७. पंचतन्त्रम्—विष्णुशर्मा। ...इत्यादि।

लृ: दार्शनिक व्याकरण ग्रन्थ

१. वाक्यपदीयम् (भर्तृहरि)—काशी, पूना, त्रिवेन्द्रम्, दिल्ली आदि से प्रकाशित विविध संस्करण।
२. वाक्यपदीय—प्रो० के० ए० सुब्रह्मण्य एयर द्वारा सम्पादित एवं अनूदित, दक्कन कॉलेज से प्रकाशित विविध भाग।
३. वाक्यपदीय—पं० चारुदेव द्वारा सम्पादित प्रथम एवं द्वितीयकाण्ड।
४. वाक्यपदीय—पं० रघुनाथ शर्मा द्वारा सम्पादित एवं उनकी अम्बाकर्त्री टीका सहित प्रथम दोनों काण्ड।
५. वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकाण्डम्)—डा० सत्यकाम वर्मा कृत त्रिभाषी व्याख्या।
६. स्फोटसिद्धिः—मण्डनमिश्र, सम्पा० राजनाथ शास्त्री।
७. श्लोकवार्त्तिक—कुमारिल, चौखम्बा।
८. वैयाकरणभूषण—कौण्डभट्ट।
९. वैयाकरणभूषणसार—कौण्डभट्ट।
१०. वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा—नागेशभट्ट, चौखम्बा।
११. वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा—„ „ ।
१२. „ परमलघुमञ्जूषा „ „ ।
१३. कविकल्पद्रुम—बोपदेव।
१४. उक्तिव्यक्तिप्रकरण—जिनविजयमुनि, सिंघी जैन सीरीज़।
१५. विभक्त्यर्थनिर्णय—गिरिधर उपाध्याय, चौखम्बा।
१६. शब्दशक्तिप्रकाशिका—जगदीश तर्कालंकार।...इत्यादि।

ए. कोषग्रन्थ

१. अमरकोषः—अमरसिंह, निर्णयसागर।
२. अभिधानचिन्तामणिकोष—हेमचन्द्राचार्यः।
३. वाचस्पत्यम्।
४. शब्दकल्पद्रुमः।
५. *Dictionary of Sanskrit grammar*—K. V. Abhyankar.
६. *Dictionary of Pāṇini*—S. M. Katre.
७. *Terminologie Gramaticale du Sanskrit*—L. Renou.
८. *Technical Terms of Sanskrit Grammar*—K. C. Chattopadhyaya.

Etc.

ओ. समालोचना ग्रन्थ : Critical Studies

Aggrawal, V. S.—*India As Known to Pāṇini*, Benares.

Allen, W. S.—*Phonetics in Ancient India*, London.

Bhaṭṭāchārya, B.—*A Study in Language and Meaning*, Calcutta.

Biardeau, M.—*Sphoṭasiddhi par Maṇḍana Miśra*, Pondichery.

—, *Theorie de la connaissance et Philosophie de la Parole dans le brahmanisme classique*, Paris.

Brough, J.—Audumbarāyaṇa's Theory of Language, BSOAS. Vol. XIV.

Brunot, F.—*La Pansee et la langue*, Paris.

Buishkol, H. E.—*Tripādi*.

Burrow, T.—*Sanskrit Language*, London.

Chakravarti, P. C.—*The Philosophy of Sanskrit grammar*, Calcutta.

—, *The Linguistic Speculations of The Hindus*, Calcutta.

Chārudeva Shastri, *Vyākaraṇa Chandrodaya*, 3 pts, Delhi.

Chavarria, Agulair, *Lectures in Linguistics*, Poona.

Dasgupta & De, *A History of Sanskrit Literature*, Calcutta.

Dvivedi, Kapildeva—*Arthavijñāna Aur Vyākaraṇadarśana*, Allahabad.

Ghosh, B. K.—*Linguistic Introduction to Sanskrit*, Calcutta.

Heimann, Betty—*Sphoṭa and Artha*, Poona.

Iyer, Subramania. K. A —All the Works, including (i) *Bhartṛhari*, (ii) *Vākyapadīya* (all Volumes), and (iii) *Sphoṭasiddhi*, etc.

Jesperson, O.—*Philosophy of Grammar*, London.

Joshi, S. D.—*Sphoṭanirṇaya* of Kauṇḍa Bhatta, Poona.

Kielhorn, F.—Edition of *Mahābhāṣya;* assorted articles in Indian Antiquary on different Indian grammarians and Grammars, and "*Kātyāyana and Patañjali*".

Kieth, A. B.—*History of Sanskrit Literature* (Hindi Tr.), Delhi.

Lakshman Sarup—*Nighaṇṭu And Nirukta.*
Macdonell, A. A.—*History of Sanskrit Literature*, London.
—, '*Vedic grammar*' and '*Sanskrit grammar*', London.
Mīmāṁsaka, Yudhiṣṭhira—*Saṁskṛta Vyākaraṇa Śāstra kā Itihāsa*, Parts I & II.
Mishra, A P.—*Prakriyā-Kaumudi-Vimarśaḥ*, Benares.
Palsule, G. B.—*Concordance of Sanskrit Dhātupāṭhas.*
Pāndeya, Rāmājñā, (i) *Vyākaraṇa-darśana-bhūmikā*, (ii) *Vyākaraṇa-darśana-pīṭhikā*, SBS, Benares.
—, Harishankar—*Ārṣam Pāṇinīyam Vyākaraṇam.*
Rājā, Kunjunni, *Indian Theories of Meaning*, Adyar.
Renou, L.—Different articles and works on Indian grammar & grammarians.
Śāstrī, Gaurīnātha—*The Philosophy of word & Meaning*, Calcutta.
Sharma, M. K.—Different articles on *Vākyapadīya*, *Bhartṛhari* and others, alongwith his book on Pāṇini, Kātyāyana and Patañjali.
Sharma, Venkat Ram—Critical studies on Katyāyana's, *Śukla-Yajurveda-Prātiśākhya.*
Varmā, Satyakāma, '*Bhāṣātattva aur Vākyapadīya*', Delhi.
—, '*Vyākaraṇa Kī Dārśanika Bhūmikā*', Delhi.
—, '*Vākyapadīyam - Brahmakāṇḍam*'—with his trilingual commentary, Delhi.
Varma, Siddheshwar—*Ancient Indian Phonetics*, London.
Vyāsa, Bholāshankar—*Saṁskṛta Kā Bhāṣāśāstrīya Adhyayana*, Benares.
Wilson, H. H.—*Sanskrit Language.*
Etc, Etc.

सन्दर्भ-सूची





